

साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक



साक्षी है
सौंदर्यप्राश्निक



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

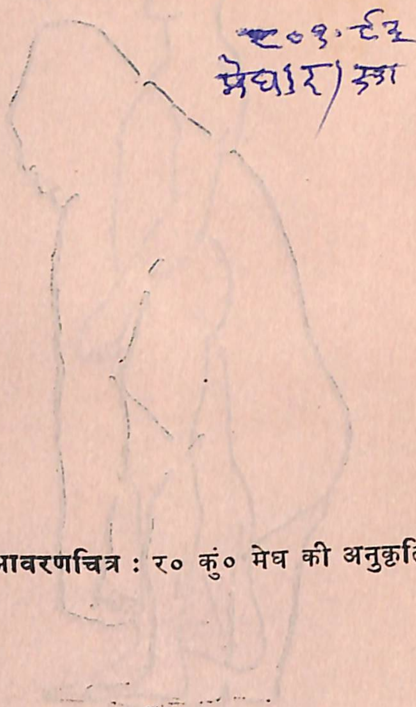


साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक

रमेश कुंतल मेघ

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३ दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३



आवरणचित्र : र० कुं० मेघ की अनुकृति

मूल्य : १००.००

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : १९८० / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित ।

गुरुवर
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
को
साक्षात् समर्पित करने की
शेष महत्त्वाकांक्षा



तुम्हीं बताओ, सौंदर्यप्राश्निक

सौंदर्यप्राश्निक के इन नव प्रश्नों-साक्ष्यों की विवादप्रिय भूमिका

आदिम मनुष्य इंद्रियगम्य तथा बोधगम्य के बीच एक पुल है। आदिम घटनाएं ही दिक् (स्पेस) में **अनुष्ठान** (राइट) में रूपांतरित हुईं; और काल (टाइम) में **कर्मकांड** (रिचुअल) बनीं। अर्थात् इनमें देश-काल की शून्यता हुई; अर्थात् सभी दिक् में घटा, अर्थात् घटित ही देश से मुक्त होकर 'पवित्र' एवं 'अमूर्त्त' हो गया तथा काल से छूटकर 'शाश्वत्' एवं 'अपरिवर्तनीय' हो गया। संयुक्त रूप में देश-काल से मुक्त हुआ अनुष्ठान हमेशा और एकसाथ घटने लगा, अर्थात् घटना में 'परिवर्तन' नहीं होता; बल्कि घटना अनुष्ठान में 'रूपांतरित' (ट्रांस्फार्म) होती है, अर्थात् घटना और उसका अनुष्ठान **शाश्वत** है, और **चमत्कारपूर्ण** भी है। अतः वैसी घटना के संदर्भ में अनुष्ठान एक **संरचना** हो गया तथा उसकी अभिव्यक्ति 'नाम' (भाषा) हो गई। सारांश में, आदिम मानस में **घटना** पवित्र तथा चमत्कारपूर्ण (जादुई) है। ऐसी घटना **अनुष्ठान** है। अनुष्ठान एक ऐसी **संरचना** (स्ट्रक्चर) है जिसके कई प्रतीकात्मक रूप (सिंबालिक फार्म्स) तथा **रूप-कुलक** हैं: मिथक और भाषा, जादू और विज्ञान (अभ्यास), कला और नीति (एथिक्स), श्रम और सृजन, रूपक (नाट्य एवं नृत्य) और रूपक (मेटाफर); इत्यादि। अनुष्ठान की प्रारंभिक संरचनाओं की अर्थवत्ता अधिकांशरूपेण **अधिभाषा** (मेटा-लैंग्वेज) है, जो पवित्र तथा चमत्कारपूर्ण है।

फलतः घेरेबंद समाजों तथा घनिष्ठ-गुंथे-बझे समुदायों (गोत्र, नृकुल, कबीले, प्रजाति) में **कला** भी एक अनुष्ठान है, नाना प्रकार की संरचना है, जादुई (चमत्कारपूर्ण) तथा पवित्र है। तथापि विरोधाभास यह है कि बंद समुदायों में उसके रहस्य खुले हुए हैं। उसके प्रथम एवं प्राथमिक रूपों में श्रम तथा कर्म की कांत मैत्री है।

आदिम मानव के बचपन तथा आधुनिक शिशु-मानस के बीच समन्विति है। आदिम मानव का मस्तिष्क आधुनिक शिशु-मानस के जैसा था; और है।

पुरातन समाजों में कला का जीवंत प्रधर्म इस संसार **में** तथा इस विश्व **से** एक सफल सहभागिता या साझेदारी रही है। पूर्वेतिहास में तथा प्राचीन और सामंतीय मध्यकालों तक कला 'अतिप्राकृतिक' (सुपर नेचुरल) में हिस्सेदारी करती रही थी

क्योंकि तब तक भी सामाजिक **मनुष्य का व्यक्तित्व** आदिम मानव के शिशुमानस के-जैसा था; वह वैयक्तिक (आधुनिक) अवचेतन के अंधेरे में पूरी तरह अस्तमित नहीं हुआ था। तब तक लोगों का विश्वास था कि धार्मिक तथा आनुष्ठानिक कलाएं **यथार्थ की घटनाओं** में सक्रिय हस्तक्षेप करती हैं तथा उनके पक्ष में मुनासिब कार्य-वाही करती हैं।

इसलिए कला का यह चरण काल-अक्ष पर पूर्वेतिहास, प्राचीन तथा सामंतीय मध्यकालों को समेटता है; तथा प्रकृति-अक्ष पर जादुई (अतिप्राकृतिक कला) से शुरू होकर दैवी तथा आध्यात्मिक (अलौकिक) कलारूपों तक का अंगीकार करता है। तब तक कला-व्यापार की आधुनिक वैज्ञानिक धारणाओं का विकास नहीं हुआ था।

काल-अक्ष, तथा कलाप्रकृति-अक्ष के ये पहले **दोनों संश्लेष** रेखांकित किए जाने चाहिए।

तीसरा संश्लेष इनका उपप्रमेय है। 'पूर्वेतिहास—प्राचीन—सामंतीय मध्य-कालों' की 'जादुई—दैवी—अलौकिक' कला की विभिन्न संरचनाएं भी घुली-मिलीं। चित्र (गुफाएं), उर्वरता (स्तूप), शब्द (मंत्र, ऋचा), काव्य (श्रम), स्वर (राग, लय) तथा चित्रलिपि (चित्र एवं शब्द), उद्‌गीथ (काव्य एवं गान), नाट्य (कर्म एवं काव्य) आदि का एक **विचित्र** या चमत्कारपूर्ण सांझा हुआ। इससे 'अनुकृति' तथा 'विस्मय' के बोध जगे क्योंकि श्रम (कर्म, कार्य) तथा सृजन का संयोग नये-नये प्राकृतिक माध्यमों को उन्मीलित कर रहा था जिससे प्रकृति के मानवीयताकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन) की प्रक्रिया भी चल रही थी। सारा कर्म तथा समूची कला मानवतारोपी (एंथ्रोपोमार्फिक) थी (मानवताकेंद्रित एंथ्रोपोसेंट्रिक अवस्था परवर्ती है)।

चौथे संश्लेष ने व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी) की धारणा पर गहरा संघात किया; क्योंकि आदमी एकसाथ पांचों कर्मेंद्रियों तथा पांचों ज्ञानेंद्रियों को पुंजीभूत करके नये प्रत्यक्षीकरण तथा नये अनुभव प्राप्त कर रहा था। इस मिश्रित अनुभव-कुलक में रूप (चित्रकला और चित्रलिपि), शब्द (काव्य, नाट्य), स्वर (श्रम, गान) की त्रयी थी। इसमें स्वर का भावावेश, शब्द का संज्ञान, चित्र का सौंदर्य तथा चित्रलिपि का प्रतिबिंब घुलमिल गया था। कम से कम हमारी कई इंद्रियों के मिलेजुले धर्मों का यह ऐसा चमत्कारिक उद्‌घाटन था जो धुंधला, अंतर्ज्ञानपरक, कल्पनाशील होने के कारण विलक्षण अनुभूति एवं अनुभव का आनंद एवं आतंक बना। 'केवल बहिर्मुखी ढंग से मनुष्य की सारत्वपूर्ण सत्ता के वैभव के उन्मीलन में ही अंतर्मुखी मानवीय वैभव (संगीतमोहित कान, रूपसौंदर्य के हेतु लोचन—संक्षेप में, वे सभी इंद्रियां जो मानवीय परितोषण में, मनुष्य की मूलभूत शक्तियों की परिपुष्टि में समर्थ हों) निहित है। यह या तो अर्जित किया जाता है, अथवा सहज होता है।'[१]

१. "इकोनामिक एंड फिलासाफिकल मेनुस्क्रिप्ट्स आफ १८४४", कार्लमार्क्स, मास्को, १९६७, पृ० १०।

कई कलाओं के विशिष्ट ऐंद्रियक बोधों तथा माध्यमों के विचित्र (चमत्कारिक) संयोग को (आज) हम **सौंदर्यबोधानुभव** (एस्थेटिक एक्सपीरियेंस) कहते हैं। प्रथमतया यह मनुष्य के संवेगात्मक संसार से जुड़ा मानवीयताकारी अनुभव है। यह संसार केवल नैतिक भावनाओं की व्यवस्था तक सीमित नहीं है; बल्कि संश्लिष्ट है। किसी एक क्षेत्र में व्यावहारिक या उपयोगितावादी, तथा नैतिक या मर्यादावादी पक्ष गौण हो जाते हैं, या वे माध्यम में ढलकर अन्य सारांश रूपों में प्राप्त होते हैं। कला के विशिष्ट माध्यम से अनुकूलित होने पर 'कर्त्ता' (कृती या सामाजिक) की बहिर्मुखी जगत के प्रति एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति मौजूद होती है जो उपयोगितावादी नहीं है; व्यावहारिक हो सकती है तथा आत्मिक होगी। ऐसी संरचना 'सौंदर्यबोधानुभव' की है।

अब हम **पांचवां संश्लेष** भी उपलब्ध कर लेते हैं। **सौंदर्यबोध** (एस्थेटिक सेंस) आद्य मानव का, उसकी संपूर्ण(पंच) इंद्रियों के अनुभवों का ऐसा पुंज है जिसमें सामूहिक-वैयक्तिक, बहिर्मुखी-अंतर्मुखी, रचनात्मक-उत्पादक, शारीरिक-मानसिक, व्यावहारिक-भावात्मक, अंतर्ज्ञानात्मक-तर्कात्मक, स्तब्ध-उन्मुक्त आदिद्वंद्वों का सामंजस्य है। इसमें आनंद (सुख) तथा आतंक (यातना) की समकालिकता है। इनकी आस्वाद-भूमि में साधारणता (लौकिकता) तथा चमत्कार (विस्मय) का **समन्वय** है। इसके अनुकृत अथवा सृजित संसार में प्रारब्ध तथा कार्यकारणादि का द्वंद्व है (यह चौथा संश्लेषण हमारा ऐतिहासिक प्रयाण बिंदु भी बना जब सामंजस्य तथा समन्वय को अलग-थलग कर दिया गया अर्थात् हमारे विश्व या ब्रह्मांड को बीच से फाड़ डाला गया)। इस द्वंद्व(डायलेक्टिक्स) को **द्वैत** (ड्यूएलिज़्म) में चीरने पर भयंकर उथल-पुथल हुई।

× × ×

उपर्युक्त पांचों संश्लेष मानवीय **प्रत्यक्षीकरण** तथा **व्यावहारिक क्रियाशीलता** की कई संरचनाओं की प्रकृति की अभिव्यक्ति करते हैं।

क्रियाशीलता या कायिकी (एक्टिविटी) **श्रम** से जुड़ी है। श्रम (लेबर) का उद्देश्य निश्चित उपयोगिता होता है। श्रम के द्वारा ही व्यावहारिक या प्रतीकात्मक रूपांतरण होता है। कर्त्ता उसे, वस्तु तथा माध्यम के हेतु से, कोई **रूप**(फार्म) प्रदान करता है। रूप प्रमेय (आब्जेक्ट) भी है जो कलाकृति अथवा उत्पाद (प्रोडक्ट) है। प्रमेय कुछ तुष्टि देता है जो स्थूल ढंग से सुख (प्लेजर) देती है, क्योंकि मानवीय श्रम के उत्पाद भौतिक ढंग से उपयोगी हैं।

मानवीय श्रम के कई रूप हैं। निर्बाध या **मुक्त श्रम** में उत्पाद की भौतिक उपयोगिता है तथा उत्पादक अपनी अस्मिता भी पा लेता है। **परकीयकृत** (**एलियेनेटेड**) **श्रम** में उत्पाद की भौतिक उपयोगिता क़ायम रहती है लेकिन उत्पादक गुमशुदा हो जाता है। **सृजनात्मक श्रम** प्रमेय को उत्पाद के बजाय एक (कला-) कृति बना देता है, उसे मानवीयकृत कर देता है। यहां रचयिता की अस्मिता तथा आकुंडलन है। अतएव मुक्त श्रम ही गुणात्मक छलांग लगाकर सृजनात्मक श्रम में

रूपांतरित हो जाता है (ये दोनों श्रम पूंजीवादी परकीयकृत श्रम के बैरी हैं)। अतः **श्रम और कला**, दोनों की जड़ें मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता में फैली हैं। ये दोनों ही ऐतिहासिक तथा सामाजिक ढंग से अनुकूलित होते हैं; दोनों ही मूर्त्त-ऐंद्रियक प्रमेयों में प्रकाशित होते हैं। अतः श्रम का चरित्र जब-जब, जहां-जहां रचनात्मक होगा तब-तब, तहां-तहां वह ज़रूर कला के नज़दीक होगा। तथापि श्रम और कला तदात्मक नहीं हैं। किंतु वे परस्पर इतने विरोधी (एंटोगॉनिस्टिक) भी नहीं हैं जैसा कि इन्हें अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती), तथा पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध) जैसे अद्वैतवादियों, एवं कांट और हीगेल जैसे आदर्शवादियों ने बना डाला। विश्व-दृष्टिकोण में **द्वैतवाद** की विरासत की पराकाष्ठा इन्हीं दार्शनिकों में मिलती है।

द्वैतवाद ने विश्व या ब्रह्मांड को बीच से चीर-फाड़ डाला। फलतः हमारा चौथा **संश्लेषण** भी छितर-बितर हो गया। मसलन, कांट (अठारहवीं शती) ने तार्किक तथा काल्पनिक या संज्ञान (अंडरस्टैंडिंग)-परक को, बहिर्मुखी तथा अंतर्मुखी को पृथक्-पृथक् कर दिया। कांट ने श्रम तथा कला को तो निर्विकल्प ढंग से परस्पर विरोधी बना ही डाला। उन्होंने सौंदर्य को मनुष्य की (उपयोगितावादी के साथ ही) व्यावहारिक मांगों से भी अलग कर दिया। अतः उन्होंने **सौंदर्य की निस्संगता का सिद्धांत** प्रचारित किया। वस्तुतः कांट के दिमाग में केवल उभरते हुए पूंजीवादी भौतिक उत्पादन के 'परकीयकृत श्रम' की ही परिकल्पना थी। उन्होंने इस पूंजीवादी रूप को ही सार्वभौम बना दिया। यह परकीयकृत श्रम बेगार वाला, तथा दुःखात्मक है। फलतः कांट-सम्मत '**निर्णय**' (जजमेंट) तार्किक बिल्कुल नहीं है; बल्कि मिथक-बुनाई जैसा है; इसमें सुख (प्लेज़र) तथा प्रयोजनात्मकता (पर्पज़िवनेस) के बोध शामिल हैं; अर्थात् इसमें प्रकृति के वैज्ञानिक नियमों के बजाय उसकी प्रयोजनता पर आग्रह है। प्रकृति की प्रयोजनता सहजतः **अंतर्मुखी** है जो हमारे 'विमर्शपूर्ण निर्णय' में परिलक्षित होती है। अतएव कांट ने 'कल्पना' की धारणा को सृजनात्मक भी नहीं रखा तथा उसे वैज्ञानिक ज्ञान से विलग्न कर दिया। कल्पना की 'स्वतंत्रता' का स्वभाव उन्होंने नैतिकता की तर्कणा पर थोप दिया। उन्होंने 'प्रयोजनात्मकता' को केंद्र में रखा जिसके संदर्भों में 'नियति' (फेट) तथा 'सौभाग्य' (फार्चून) गुंथे हैं।

विश्व की यह द्वैतवादी फाड़ ही बूर्ज़्वा समाज की युगचेतना है। **जीवन** के लिए अंतर्ज्ञान (इंट्यूशन) की पद्धति तथा **भूत** के लिए विश्लेषण की पद्धति का पार्थक्य हेनरी बर्गसां (१८५९-१९४१) ने किया। इसी कड़ी में जीवन-रूप संसार तथा पदार्थ-रूप जगत की धारणाएं आईं। आगे ये क्रमशः स्पेंगलर (१८८०-१९३६) द्वारा **इतिहास-रूप संसार** तथा **प्रकृति-रूप संसार** में विकसित हुईं। इतिहासरूप-संसार में **प्रारब्ध** का विचार तथा प्रकृतिरूप-संसार में **कारणता** का विचार धुरी बने। प्रारब्ध के लिए **साम्यानुमान** (एनॉलाजी) का, तथा कारणता के लिए **गणितीय नियमों** का तकनीक स्वीकार किया गया।...प्रारब्ध के साम्यानुमानों की अभिव्यक्ति के लिए **संवेगीय** (**इमोटिव**) **भाषा** का इस्तेमाल किया गया (खुशी, उदासी, भक्ति,

पतन, पश्चाताप जैसे शब्द); तथा कारणता के नियमों के लिए **अभ्युद्देशीय** (**रिफरेंशियल**) **भाषा** (प्रत्यक्षीकरण, विवरण, वर्गीकरण, अमूर्त्तीकरण, तादात्म्यीकरण जैसे शब्द) का व्यवहार हुआ। इतिहासरूप-संसार में कारणता के वैज्ञानिक नियम नहीं लगाए गए जिससे हमारा यह संसार नियति के बोझ से कुचला जाता रहा; अर्थात् **इतिहास** और **नियति** मानो एक तुल्यरूपता हो गए; अर्थात् **इतिहास** और **कारणता** परस्पर विद्वेषी हो गए; अर्थात् ज्ञान की पद्धति (कारणता) के द्वारा इतिहास में जीवन का स्पंदन नहीं छुआ जा सकता, क्योंकि वहां नियति की निर्मम निरंकुशता है।

द्वैतवाद की क्रियाशीलता की यह खतरनाक परिणति इतिहास-दुश्मन तथा समाज-दुश्मन साबित हुई। इसने श्रम को कला का बैरी बना दिया : हमारे व्यावहारिक उल्लास को सौंदर्य के आनंद से बिल्कुल अलग-थलग कर डाला; हमारी प्रत्यक्ष दैनिक त्रासदी की गहरी व्यथा को दूरगतिक नाटकीय त्रासदी के संत्रास से बेहद घटिया घोषित कर डाला ! किस तरह ?

यह दूसरा महाप्रश्न है : **यथार्थता** (रियलिटी) और **प्रतीति** (एपीयरेंस) के संबंध क्या हैं ?

प्रतीति 'प्रत्यक्षीकरण' (पर्सेप्शन) का ही फेनामना है। **प्रतीति** के प्रमुख रूप हैं : बिंब (इमेज), भ्रांति (इल्यूज़न), स्वप्न, आदि। प्रतीतियां भी हमारे ऐंद्रियक ज्ञान के दावों की वैधता का सवाल उठाती हैं। नीत्शे (उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध) इन्हें सर्वोपरि मिथ्याकरण मानते रहे। वस्तुतः प्रतीति एक ढंग भी है। जिसके द्वारा किसी प्रमेय के **सारत्व** (एशेंस) का उद्‌घाटन होता है। अतः प्रतीति सारत्व है। इन दोनों में विरोध नहीं, अंतर्विनिमय है। प्रतीति तात्कालिक और प्रकट है, जबकि सारत्व संगुप्त। प्रतीति में अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) तथा अतिशयगर्भता (हाइपर्बोल) होती है। प्रतीति-सारत्व के ये अंतर्विरोध ज्ञातता की प्रक्रिया से जुड़े हैं। अतः प्रतीति से यथार्थता(सारत्व) की ओर संक्रमण के कई रूप हैं। यदि विज्ञान में यह निरीक्षण, विवरण तथा व्याख्या का त्रिपुट है तो कला में प्रत्यक्षीकरण, भग्नावरणचित्त तथा चमत्कार का त्रिकोण है। अतः प्रतीति कला एवं विज्ञान, दोनों में आवश्यक है; क्योंकि वह अन्वेषण है, मिथक है, भाषा है भ्रांति है, और रूपक है।

भ्रांति की लालसा भी आदिम है (विभ्रम—डेल्यूज़ंस—भी मानवीय चिंतन में होते हैं)। रूपकों की सृष्टि भी मनुष्य की मूलभूत मनोवृत्ति है। अतः कला की सौंदर्यबोधात्मक भ्रांतियां सचेतन प्रविधियां हैं जो एक प्रति-संसार की सर्जना करती हैं। ये मंतव्यपूर्ण अभिव्यंजनाएं हैं। वस्तुतः ये मनुष्य का 'भ्रांति के लिए संकल्प' पेश करती हैं ताकि वह (स्वप्नों तथा भ्रांतियों में ही न डूबा रहे बल्कि) यथार्थता के मानवीय साक्षात्कार के ऐश्वर्य को पा सके। अतएव प्रतीति के वृत्त के 'मिथक' और 'रूपक', 'बिंब' और 'प्रतीक' आदि मूलतः कला-सौंदर्य तथा जीवंत मानवीय अनुभव के मेरुदंड हैं। हमने इन्हें **सौंदर्यबोधदर्शन** की बुनियादी प्राश्निक इकाइयां माना है (४ : साक्ष्य प्रश्न; ५, ६, ७ : उत्तरसाक्षी)।

तो, कला (और विज्ञान) की ऐसी **पुनर्प्रस्तुतियां** या प्रतिरूपण (रिप्रेज़ेंटेशंस) **क्या** हैं ? अरस्तू (तीसरी शती पू०) और नाट्याचार्य भरत (तीसरी से पांचवीं शती प०) के समानांतर विभिन्न कालों में ये क्रमशः **अनुकृति** और **अनुमिति** थीं। **फिर ये प्रतीत इतिहासों** (महाकाव्यों, त्रासदियों, पुराणों) की प्रतिरूपण बनीं क्योंकि (अनुष्ठानों वाले चरणों के पश्चात्) ये ही नैतिक तथा धार्मिक सद्गुणों का संश्लेषण साबित हुईं। सातवीं-छठी शताब्दी में इनके रूप **प्रतीक** और अन्योक्तिपरक **अन्यापदेश** (ऐलिगरी) रहे जो गुप्त सत्यों के उद्घाटक माने गए। ये यथार्थता के प्रति मनुष्य की सौंदर्यबोधात्मक संबंधता वाले ज्ञाततामय पक्ष हैं जिन्हें हम **सौंदर्य-बोधात्मक ज्ञातता** (ऐस्थेटिक काग्निशन) कह सकते हैं। इनके सामाजिक प्रभाव आनुष्ठानिक सहभागिता से लेकर अवचेतनपरक उन्माद तक रहे हैं।

यह सही है कि जिस तरह कला और श्रम में तादात्म्य नहीं है उसी तरह **विज्ञान की पद्धति** तथा **कला की पद्धति** में अंतर हैं। **विज्ञान** एक ऐसा दृष्टिकोण रहा है जिसमें सत्य का गुण उसकी पावनता में नहीं, तर्काश्रयता में है; जो घटित को अलौकिक से मुक्त करता है; जो विधाता (नियति) को भी स्वयं (=विज्ञान) से प्रतिस्थापित करता है। आज (i) विज्ञान प्रागनुभव (ए-प्रायरी) के स्वर्गिक सिद्धांतों की घोषणाओं को अस्पष्ट तथा गैर-सटीक पाता है। अब स्वयंसिद्ध अथवा अंतर्ज्ञात कोई भी ज्ञान-संरचना मंजूर नहीं होगी; (ii) विज्ञान को ब्रह्मांड तथा जगत की तस्वीर यांत्रिक के बजाय विरोधाभासमूलक दिखी : द्वैतपरक, द्विमुखी विरोधमय, द्वंद्वात्मक, इत्यादि। (iii) विज्ञान नृतत्त्वारोपी (एंथ्रोपोमार्फिक) स्थितियों से मुक्त होकर अधिकाधिक मानवीयकृत हुआ क्योंकि उनमें निर्मानवीय वस्तुओं पर मानवीय गुणवत्ता थोपने की आस्था थी। अतः ज्ञान के बाबत यह धारणा विलुप्त होती गई कि वह दैवी चमत्कार अथवा कोई अपौरुषेय इल्हाम है। (iv) विज्ञान सीधे तथा अंतर्मुखी निरीक्षण (प्रयोग) से भी विमुक्त होता गया जिससे वह **प्रकृति** की वस्तुमुखी गहराइयों में आता गया। इसने निरीक्षण में **प्रतीति** या आभास को नकार दिया। **ज्ञातता की समस्या** के लिए अब व्यवस्था (सिस्टम), संरचना (स्ट्रक्चर), कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) भी इस्तेमाल हुए। (v) विज्ञान स्वयंसिद्ध प्रस्तावनाओं के बजाय **साधारणीकृत अवधारणाओं** को ज्यादा कीमती सिद्ध करता है। ये अवधारणाएं अब (क) दिक्काल की अनुधारक, (ख) ब्रह्मांड और विकास की प्राक्कल्पक, तथा (ग) गतियों एवं भारों एवं दूरियों की मापक हैं।

इनके परिणामों के फलस्वरूप (अ) औद्योगिक एवं तकनालॉजिकल परिवर्तन, फिर सामाजिक परिवर्तन हुए जिससे मनुष्यों की चिंतन-प्रणाली तथा दृष्टि-प्रसार में परिवर्तन हुआ; (आ) मानव-ज्ञान की वृद्धि की दर असंख्य गुना हो गई; (इ) सापेक्षता (रिलेटिविटी) के सिद्धांत ने चौथा आयाम जोड़ दिया जिससे न्यूटन की यांत्रिकी समाप्त हो गई; (ई) ज्ञान तथा यथार्थता की नयी धारणाओं से आमना-सामना हुआ—बहिर्गत यथार्थता, भौतिक यथार्थता, ज्ञानगोचरता (माइक्रो-, मैक्रो-, इन्फ्रा-, अल्ट्रा-, टेलि-, ट्रांस-, आदि); निश्चयवाद (कारणता); वास्तविकता और

संभावना; यथार्थता और संभावना; सरल और जटिल; जटिल और संश्लिष्ट; भूत तथा संरचना के ऐलिमेंटरी पार्टिकल, आदि-आदि। **विज्ञान** **'प्रकृति के पक्षों'** (भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र आदि) का अनुसंधान तथा रूपायन करता है। यह यथार्थता का विश्लेषण करता है या फिर अनुभववादी है। कला-दर्शन 'यथार्थता की प्रकृति' का अनुमान तथा रूपांतरण करता है। वह विश्लेषणात्मक बुद्धि के बजाय **संश्लेषणात्मक कल्पना** पर ज्यादा बल देता है। अतः वह 'यथार्थता की पुनर्प्रस्तुति' करता है। विज्ञान में **प्राक् कल्पना** (हाइपोथीसिस) की बराबरी की भूमिका होती है जो रचनात्मक एवं संश्लेषणात्मक कल्पना से संवलित है। विज्ञान की स्वभावगत वस्तुनिष्ठता है जो कला की स्वभावगत आत्मनिष्ठता के साथ अंतर्विरोध रखती है। तथापि यह आंतरिक अंतर्विरोध है क्योंकि आज कला-दर्शन तथा विज्ञान-दर्शन, दोनों ही रूपकों, अनुकृतियों, संरचनाओं, अवधारणाओं की अदल-बदल कर रहे हैं। जे० ब्रोनोवस्की ने दोनों की **सृजन-प्रक्रियाओं** के सारत्व का अवगाहन किया है और यही पाया कि दोनों में ही 'रूपक' तथा 'कल्पना' की छलांगें लगती हैं ताकि सत्यानुभव या सत्यानुभूति का युगल प्राप्त हो। दोनों का सरोकार मानव-गरिमा तथा मानव-प्रगति से है।[1]

हमारे **इस ग्रंथ** का प्रस्थान-कलश भी यही है कि हमने कला-साहित्य को वैज्ञानिक एवं इहलौकिक आकृतिबंध दिया है। हमने अपनी आलोचनात्मक भाषा को संवेगीय ध्रुवांत से छुड़ाकर, उसे तर्कणा तथा अभ्युद्देश्य के मानक पर अंकित करके, 'आलोचना की 'प्राविधिक भाषा' की धारणा विकसित की है। हमारी सिद्धि यह हो सकती है कि हमने विश्व के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की दरार को बताया है। इस दृष्टिकोण ने कला और श्रम की शत्रुता, लौकिक अनुभव तथा सौंदर्यानुभव की शत्रुता, आनंद और आतंक का केवल संघर्ष, यही सब उभारा है। फलतः एक ओर **सौंदर्य की निस्संगता का सिद्धांत, सामाजिक की निर्वैयक्तिकता (स्वपरान्यसंबंधमुक्ति), सौंदर्यबोधानुभव** में निष्क्रियता (समाधि), प्रतिबद्धताविहीनता (सहृदयत्व), कारणताविरोध (चमत्कार) आदि ही शताब्दियों तक परिव्याप्त रहे तो दूसरी ओर बाद में कला-साहित्य के अनुभव की धुरी केवल सुख (प्लेज़र) अथवा **आनंद** (ब्लिस) बनी। हम इस **द्वैतवाद** (ड्यूएलिज़्म) तथा **अध्यात्मवाद** (मेटाफिज़िक्स) के दार्शनिक, सामाजिक, व्यावहारिक तथा सांस्कृतिक विरोधी हैं।

× × ×

अपने अध्ययन और अन्वेषण के लिए हमने दो प्राचीन, तदपि एक कुटुंब वाले, नृकुलों को लिया है—आर्य तथा ग्रीक। उनके आदिम मानस से लेकर आधुनिक ज्ञान तक का ऐतिहासिक संश्लेष खोजा है। उनके इतिहासों के बहुविध (कलात्मक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक आदि) अंतरण ही आधुनिकीकरण तथा आधुनिकताबोध की अनिवार्यता तक ले आए हैं जहां एक ओर वर्ग-संघर्ष तथा आत्मनिर्वासन है तो दूसरी ओर आधुनिक **त्रासदी** और **क्रांति** भी हैं जो

१. दे० 'साइंस एंड ह्यूमन वेल्यूज़', पैंग्विन बुक्स, लंदन, १९६४।

संपूर्ण उद्धार का एकांतिक पंथ हैं। हमारा 'आधुनिक' सौंदर्यबोधानुभव आतंक और आह्लाद के सहवर्ती अक्ष पर, तथा आतंक (संत्रास) एवं यंत्रणा (व्यथा) के अनुवर्ती सक्रिय-अभ्यासी कविकर्म पर सुदृढ़ है।

हमें मालूम है कि किसी विशिष्ट कला(-कृति) की जड़ें वर्गीय नज़र आती हैं लेकिन तिस पर भी वह कालजयी हो जाती है। मार्क्स ने इस समस्या का संदर्शन किया। उन्होंने देखा कि ग्रीक कला अपने सामाजिक अनुकूलन से आत्मोत्तीर्ण हो गई अर्थात् विशिष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक आधारभूमि पर उसकी अभिवृद्धि हो गई। वह काल के आर-पार, सामाजिक विभाजनों के आर-पार एक सेतु तथा सिड्रोम है। अतः ग्रीक कला दासत्व की विचारधारा वाली **विशिष्टता** (पर्टीकुलेरिटी) का अतिक्रमण कर गई। **अतिक्रमण** (ट्रांसेंडेंस) सार्वभौम मानव-समस्याओं से जूझता है। यह सभी कलाओं में तथा यथार्थता में क्रमशः मनुष्य और प्रमेयों की एक विशिष्टतामुखी धारणा या संदर्शन होता है।

चौथी शती के ग्रीकों (यूनानियों) के लिए **सौंदर्य** तथा (ललित) **कलाएं** विभिन्न श्रेणी की थीं। प्लेटो तो कला को **प्रकृति** का बेहद घटिया विकल्प मानते थे जो (अर्थात् कला) जीवन के सत्यों को हड़प लेती है तथा महज़ एक मिथ्यानुकृति है। प्लेटो की चिंता **सौंदर्य** थी जो पाइथागोरस के प्रभाव से गणित में अमूर्तीकृत हुई। अरस्तू की चिंता **कला** थी जो सोफ़ोक्लीज़ की वजह से इतिहास में यथार्थीकृत हुई।

इन्हीं समस्याओं के इर्दगिर्द 'हिप्पियाज़ मेजर' में एक बहस भी छेड़ी गई। श्रीमान् हिप्पियाज नामक एक सोफिस्ट भी सुकरात और प्लेटो के कट्टर दुश्मन थे। दोनों की मुलाकात हुई। हिप्पियाज़ सुकरात की भांति **सौंदर्य** की परिभाषा नहीं बता सका। अलबत्ता उसने उदाहरण दिए। उसने एक 'सुंदर कुमारी' में सौंदर्य की गोचरता बताई। सुकरात ने 'सुंदर घोड़ी' तथा 'सुंदर वीणा' को भी सुंदर कहा। ज्यों ही हिप्पियाज़ सहमत हुआ, सुकरात ने 'सुंदर कलश' भी जोड़ दिया। इसका हिप्पियाज़ ने प्रतिरोध किया। वारी कहते हैं कि उस परिवेश में सौंदर्य के भेद शायद एक ओर आवेग तथा दूसरी ओर पसंदगी की चीज़ (प्रमेय) को जोड़कर किए जाते थे, क्योंकि हिप्पियाज़ 'सुंदर कुमारी' तथा 'सुंदर कलश' को समकक्ष मानने को रज़ामंद नहीं था। तो फिर सुकरात ने प्रत्युत्तर दिया कि एक 'सुंदर कुमारी' भी एक 'सुंदर देवी' के समकक्ष नहीं है। अतः सुंदर कलश और सुंदर वीणा और सुंदर घोड़ी के बीच का, तथा सुंदर कलश और सुंदर कुमारी और सुंदर देवी के बीच का द्वैत-द्वंद्व समन्वय (हॉर्मनी) की एकैक रेखा पर एकसमान हो जाता है।[1] यह प्रकृति तथा दिव्य को, मानवीय कला तथा भौतिक उत्पाद को एकतान कर देता है। इस प्राचल में रूपीय सौंदर्य (कुमारी) तथा प्रकार्यात्मक सौंदर्य (घोड़ी), दृश्य सौंदर्य (कलश) तथा श्रव्य सौंदर्य (वीणा)—सभी अपनी उपयोगिता अथवा द्विऐंद्रियकता के

१. 'ग्रीक एस्थेटिक थियोरी', जे० जी० वारी, मेथ्यून, लंदन, १९६२, पृ० १०-१४।

कारण—**सुखद** हो गए। ऐसा 'व्यक्तित्व' की धारणाओं के कारण होता रहा है। प्लेटो की 'रोमांटिक सौंदर्य' की सकल अवधारणा भी तत्कालीन ग्रीक व्यक्तित्व के रूपायनों पर निर्भर है।

कला की संरचना में भी तत्कालीन ग्रीक समाज के जटिल यथार्थ की दीप्ति है। **त्रासदी** की संरचना में समाज रंगमंचरूप हो गया है, तथा रंगमंच समाजरूप। अतः भीषण इतिहास और आतंकपूर्ण यथार्थता की व्यासरेखा एक हो गई है। इस रेखा पर ऐतिहासिक कारणता की गांठें मानवीय प्रारब्ध (नेमेसिस, हेमार्शिया) खोलता है। अरस्तू ने कहा है कि सर्वाधिक त्रासबिद्ध गुण वाले **कार्य** पीड़ामय कर्म होते हैं जिन्हें 'उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो प्रेम के नैसर्गिक बंधनों से बंधे होते हैं'; जैसे 'जब एक भाई दूसरे भाई की हत्या करता अथवा करने का इरादा रखता है, या एक पुत्र पितावध करता है।' ऐसे कार्य **नैतिक आतंक** का आह्वान करते हैं। सो इनका 'शुद्धीकरण' (विरेचन) आवश्यक है।

तथापि अरस्तू यह सवाल उठाते हैं कि त्रासबिद्ध नायक (कर्त्ता) ऐसे जघन्य कृत्य (जैसे पितावध, माता से विवाह) करता ही क्यों है? क्योंकि उसमें **अनभिज्ञता** (इगनोरेंस) है, कोई त्रासदीय भ्रंश है, गंभीर त्रुटि है! ऐसी मानवीय दशा में **अभिज्ञान** (रेकग्निशन) का ज़बर्दस्त संघात लगेगा। त्रासबद्ध नायक (ओडिपस) जब अपने कार्यों का 'अनुसंधान' करता है तो उसे अभिज्ञान होता है जो उसका **संत्रास** (हॉरर) बनता है। इसी संत्रास के माध्यम से नायक की मूलभूत शुचिता का उद्घाटन होता है। अतएव अनुसंधान-अभिज्ञान-उद्घाटन के एकतान व्यापार में एक ओर तो नायक को संत्रास (आतंक) से शुचिता प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर शुद्धीकरण से हम सामाजिकों में (नायकों के प्रति) **करुणा** (पिटी) का बोध आविर्भूत होता है।

अब, दूसरा पाणिवृत्त! आर्य गोत्रों में ऋचाएं सामाजिक दशाओं और भौतिक सुखों का विराटीकरण करती हैं। यहां **स्वस्ति** का अभिषेक हुआ है। नास्ति पक्ष तो लगभग उपेक्षित है। आर्यों का '**ऋत्**' (नैतिक व्यवस्था) के **मंगल-पक्ष** पर प्रबल विश्वास है। उनका प्रत्यक्षीकरण अपौरुषेय-सा है। वे हत्याओं तथा आतंक को अपने पक्ष से कभी भी नहीं जोड़ पाए। उनके वैदिक युग में प्राकृतिक ऐश्वर्य तथा जीवन का उल्लास था। वे ऊर्जा तथा भोग से संचारित थे। वैदिक सौंदर्यबोधवृत्ति '**स्वस्ति**' तथा '**सोम**' से जुड़ी थी। सोम उल्लास तथा स्फूर्ति का देवता है। वही प्रकारांतर से **सौंदर्य** का प्रतीक बना। सोम **आत्मा** का रूपक भी हो गया। अस्तु, वही 'ब्रह्मांड का सौंदर्य' है।

उपनिषद्-युग में आर्य मनीषी यज्ञ के बजाय **ज्ञान** से, कवि के बजाय **वाक्** से, जगत के बजाय **आत्मा** से उद्विग्न हो उठे। उन्होंने 'प्रकृति' के बजाय 'आत्मा' के ऐश्वर्य की खोज की। आत्मा आनंद हुई। आत्मा **प्रकाश** हुई। उन्होंने आयुर्वेदिक सोमरस के 'परिपाक' तथा 'स्वाद' (निष्पत्ति) आदि का कायाकल्प **रसानंद** के दर्शन में कर दिया। इस तरह से '**रस=आत्मा=आनंद**' का समीकरण शताब्दियों तक व्याख्यायित होता रहा।

ऋग्वेदकालीन समाज-व्यवस्था और चिंतन के बाबत श्रीनिवास सरदेसाई ने कहा है कि वे (आर्य) लोग 'पशुपालन अवस्था में थे, पशुपालन ही उनकी जीविका का मुख्य साधन था, और यह सर्वविदित ही है कि अभी वे घुमंतू अवस्था में थे।··· शिकार भी उनकी जीविका का एक साधन था, पर वह गौण था। उनको कृषि की जानकारी नहीं थी, कम-से-कम स्थायी कृषि की तो निश्चय ही नहीं।···पता नहीं चलता कि सोमरस किस वल्लि से तैयार किया जाता था, किंतु उसे पीकर धुत्त पड़े रहने का उन्हें बड़ा शौक था। वे ही नहीं, उनके देवता भी सोमरसपान के बड़े शौकीन थे।···आरंभिक आर्य लोगों का जीवन भरा-पूरा था; वे बड़े अलमस्त और रोबीले थे। लड़ाई में जैसे शूर और आक्रामक थे, वैसे ही मद्य, मांस व मदिराक्षी की अभिरुचि में भी किसी से हारने वाले नहीं थे।···इस प्राथमिक अवस्था में (उन्हें) आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष की चिंता अथवा कल्पना नहीं थी।···आर्यों की समाज-व्यवस्या कबीलाई स्वरूप की थी—जैसी कि भौतिक प्रगति की इस अवस्था में अन्य समाजों की रही है।···यह गण-व्यवस्था (आर्य) कबीलों की आदिम साम्यवादी अवस्था थी; जिनमें एकपत्नीत्व अथवा एकपतित्व की परिवार व्यवस्था अस्तित्व में में नहीं आई थी।···उपनिषदों के समय तक ऋत की कल्पना पूर्णत: नष्ट हो चुकी थी। उपनिषदों का काल चातुर्वर्ण्य और राजसंस्था प्रस्थापित होने का काल था; भारत के प्रथम तीव्र वर्गसंघर्ष का काल था।'[1]

वैदिक ऋषियों तथा औपनिषदिक दार्शनिकों की व्यक्तित्व संबंधी अवधारणाओं की तुलना से हम यही पाते हैं कि **ऋषि** तो गोत्रीय मनुष्य की सामूहिक सामाजिक शक्ति का विराटीकरण करते हैं जिसमें 'आतंकमोहक आश्चर्य' है, लेकिन **दार्शनिक** देवत्व का समाधिभूत चिंतन करते हैं जिसमें अंततोगत्वा 'व्यक्तित्व का बोध' बेहद आसानी से विलीन होता जाता है। अतः रस-प्रक्रिया की जो अनुभववादी व्याख्याएं भट्टनायक (नवीं-दसवीं शती का मध्य) से शुरू हुईं वे उज्ज्वल रस, भक्ति रस तथा मधुर रस की चर्वणाओं तक चलती रहीं। उनके केंद्र में ब्रह्मानंद के सहोदर 'रसानंद' का रूपक रहा। इसके कंट्रास्ट में भाषिक धुरी पर शरीर (काव्यपुरुष, काव्य-रमणी) के सांगरूपकों ने व्याकरण के सौशब्द्य की, तथा अलंकारों के सौंदर्य की विचिकित्सा की। वे ज्यादातर 'सौंदर्य' तथा 'शोभा' के लक्ष्य की ओर उन्मुख रहे। एक अनोखी बात यह है कि ऋषियों, दार्शनिकों की लड़ी में कई शताब्दियों के बाद के **आचार्य** तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रवर्धक हुए लेकिन **मुनि** (जो ज्यादातर दार्शनिकों के बाद तथा आचार्यों से कई शताब्दियों पहले हुए) दार्शनिकों से न जुड़कर ऋषियों से मानसिक निकटता पुनः स्थापित करते हैं। भरत मुनि, वात्स्यायन मुनि, कपिल मुनि, गौतम मुनि आदि कलाओं के व्यवहार, उपयोगिता तथा आत्मिक अनुभव को इहलोक के सामाजिक यथार्थ से समन्वित करते हैं। उनका मानवीय प्रादर्श कोई

१. "भारतीय दर्शन : वैचारिक और सामाजिक संघर्ष", पी-पी-एच, बंबई. १९७९, पृ० ३६-४१, ५०।

योगी नहीं, बल्कि एक **संस्कारित सवर्ण सामाजिक है।**

× × ×

हमने ग्रीकों तथा आर्यों की व्यक्तित्व संबंधी विभिन्न ऐतिहासिक धारणाओं को आदिम संस्कृति-मंडलों में (१ : महाप्रश्न), कला-सौंदर्य-इतिहास की पश्चिमी धारा में (२ : महाप्रश्न), भारतीय शिल्पकला के त्रिपार्श्व में (३ : साक्ष्य प्रश्न), मार्क्सवादी प्रतिमानों और आयामों में (४ : साक्ष्य प्रश्न) निरूपित और विश्लेषित किया है। हमने सृजनोल्लास तथा सौंदर्यबोधानुभव में लगभग वाद-प्रतिवाद का द्वंद्व पाया है—(i) एक ओर स्वयं से विमुक्ति अर्थात् निर्वैयक्तिकता है तो दूसरी ओर अनादि वासना वाले आदिम मानवत्व में लीनता। (ii) कलाकृति में एक ओर अनभिज्ञता तथा दूसरी ओर अभिज्ञान है। दोनों में ही चमत्कार (दीप्ति) है। लगता है कि सहृदय के मन के 'मुकुर' का सौंदर्यबोधशास्त्रीय रजिस्टर दार्शनिक 'माया' की भ्रांति, यातना और सम्मोहन की त्रयी का आधिभौतिक अर्थवाहक हो गया।

'४ : साक्ष्य प्रश्न' के बाद हम प्रत्यक्षीकरण और यथार्थ की, कल्पना और प्रकृति की, कला और विज्ञान की, प्रारब्ध और कारणता की समस्याओं से जूझे हैं। यहां हमने 'संदर्भात्मक इकाइयों' तथा 'अभ्युद्देशीय अवधारणाओं' को आमूलचूल बदल डाला है क्योंकि इनका द्वैतवादी पार्थक्य नहीं, बल्कि द्वंद्ववादी अस्मिता-अंतरता ही मानवीय सरोकारों वाले हमारे आधुनिक संसार की बहुधर्मी व्याख्याएं प्रस्तुत कर सकती है। अतएव हमारी इकाइयों एवं अवधारणाओं के कुलक में पुरातन **मिथकें** बनाम आधुनिक **भाषा** (५ : उत्तर साक्षी), चिति की लीला में **प्रतीक** के इंद्रजाल (६ : उत्तर साक्षी), **बिंबों** का सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण (७ : उत्तर साक्षी), सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में **विचार** (८ : उत्तरसाक्षी) को लेकर साक्षी-अध्याय बनाए गए हैं। सबसे आखीर में '९ : अनागत उत्तरसाक्ष्य' के अंतर्गत हमने आधुनिक जीवन की **त्रासदी** तथा **क्रांति** के महाप्रश्न उठाए हैं। हमने **आतंक** को **आनंद** का एककालिक तथा संश्लेषक पाया है। इस तरह अंततोगत्वा हमने साहित्य तथा कलाओं के सौंदर्यबोधानुभव को—पारिभाषित सीमाओं के अंतर्गत—दैनिक-लौकिक-सामाजिक जीवन के यथार्थ से तथा वैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धतियों से द्वंद्वात्मक भूमि पर समन्वित किया है।

जिस तरह साहित्य तथा कलाओं के सौंदर्यबोधानुभव (एस्थेटिक एक्सपीरियंस) को दैनिक सामाजिक जीवन के यथार्थ एवं लौकिक मानवीय अनुभव-संश्लेष से पृथक् तथा विलक्षण बना दिया गया और फलतः उसे निर्वैयक्तिक, निस्संग तथा निर्सामाजिक भूमि पर समाधि एवं सुषुप्ति के वृत्तों में घेर दिया गया, बहुत कुछ उसी तरह **कला-साहित्यालोचन की धाराओं** तथा **भाषा** के साथ भी हुआ है।

यह स्वयंसिद्ध है कि शारीरिक श्रम के **औज़ारों** की तरह मानवीय चिंतन के औज़ारों अर्थात् **शब्दों** का निर्धारण भी 'ऐतिहासिक विकास' के नियमों द्वारा होता है। आदिम दशा में श्रम और नाट्य, कविता और संगीत एक ही अनुभव-व्यापार में गुंथे थे (कॉडवेल)। इसीलिए 'भाषेतिहास' चिंतन का एक सामाजिक साधन है (दोरोज़ेव्स्की)। 'शब्दार्थेतिहास' तो रूपीय तर्कशास्त्र के अलावा शैलीविज्ञान के क्षेत्र के बाहर का अनुशासन है। एडम शॉफ़ शब्दार्थों ('साहित्य' नहीं) के 'इतिहास' को भाषिक अर्थविज्ञान (सीमेंटिक्स) के अंतर्गत रखते हैं।[1] वे यह सवाल भी उठाते हैं कि 'भाषा' (जो यथार्थता के हमारे बिंब की **सर्जना** करती है) तथा 'यथार्थता' (जो भाषा द्वारा **बिंबित**, प्रतिरूपित, मानचित्रांकित होती है)—इन दोनों में से कौन ज्यादा आदिम है? "सारांश में, विश्व-बिंब का **निर्माता** खुद भी उसी विश्व का **उत्पाद** है। ...अगर हम एक बार यह समझ लें कि भाषा एक **सामाजिक उत्पाद** है, आनुवंशिक तथा प्रकार्यमूलक ढंग से मनुष्य की **सामाजिक कार्यिकी** से संबद्ध है, तो हमें यह अनुमान हो जाता है कि किसी प्रदत्त भाषा द्वारा व्यंजित अथवा आरोपित विश्व-बिंब यादृच्छिक नहीं है और न ही वह स्वेच्छाचारी ढंग से बदला जा सकता है।'[2]

यथार्थता के चार आयाम हैं—प्राकृतिक (विज्ञान), सामाजिक, मनस्तात्त्विक (कला) और भाषिक। अतएव भाषा और यथार्थता आमने-सामने आपस में स्पर्धा करती हैं। अर्थविज्ञान की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा प्रकृतिवैज्ञानिक भाषा-बहिर्भूत आयाम हैं। इसलिए 'भाषा केवल संप्रेषणीय का ही संप्रेषण नहीं है, बल्कि असंप्रेषणीय का भी प्रतीक है' (वाल्टर बेंजामिन)। अतः जब तक वाचिक और लिखित शब्द की **अनुवृत्ति** में गहराई नहीं बढ़ेगी, अर्थात् जब तक भावों और विचारों की, विचारों और कर्म की संगति वाली एक ऐसी भाषा का प्राचल नहीं प्राप्त किया जाएगा जिसमें **प्रकृति** और **कल्पना** दोनों ही सक्रिय संचार कर सकें, तब तक साहित्यिक कृतियां और आलोचनात्मक कर्म अपूर्ण बने रहेंगे। लेखन तथा कर्म के बीच की खाई ने आज साहित्य-कलाकृतियों को बहुत कम, या लगभग नहीं, ठहरने लायक रखा है (बेंजामिन)। अगर आज साहित्य-कला-आलोचना केवल साहित्य-कला **में/की** होती है तो वह आधुनिक चिंतन, शक्ति और कर्म की कसौटी पर खरी नहीं उतरेगी। वर्षों से हमारी दुविधा यही रही है।

भाषा के प्रतीकायनकारी प्रकार्यों को लेकर आग्डेन तथा रिचार्ड्स (१९२३) ने उसके दो प्रभेद कर डाले—अभिव्यंजना के गैर-वैज्ञानिक प्रकार्य निभानेवाली **संवेगीय** (इमोटिव) भाषा, तथा अभिधान के वैज्ञानिक प्रकार्य निभानेवाली **अभ्युद्देशीय** (रेफरेंशियल) भाषा। विज्ञान की भाषा के 'अस्तिपक्षीय प्रकथन' हैं, जबकि मिथक, धर्म, काव्य, नीतिशास्त्र, आध्यात्मिकता आदि के 'छद्म-प्रकथन' हैं

१. दे० 'इंट्रोडक्शन टु सीमेंटिक्स', पर्गामोन प्रेस, लंदन, १९६४, पृ० १४।

२. 'लैंग्वेज एंड रियेलिटी', एडम शाफ, "डायोजीन्स" सं० ५१, फाल १९६५, यूनेस्को, पेरिस, में छपा लेख, पृ० १५१।

जिनमें अभिव्यंजक गुण अवश्य होते हैं; जिनमें ज्ञातता की भूमि पर अर्थवत्ता नहीं होती (कार्नाप); जिनमें मुख्यत: अनुभूतियों और संवेदनाओं का संज्ञान तथा अंतर्ज्ञान होता है। वस्तुत: यह द्विफांक वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा कल्पनात्मक कृतियों की भाषा के संकीर्ण प्रतिफलन की है। हमारी आलोचनात्मक भाषा में अभिव्यंजना के साथ-साथ अभिधान तथा अभ्युद्देश्य पर बराबर आग्रह रहा है। इससे दुविधा और नयी कठिनाइयां आई हैं, तथापि हमारी 'भाषा-आयोजना' (लैंग्वेज प्लानिंग) लगातार अभिवृद्धि की ओर बढ़ती आ रही है। तथापि रिचार्ड्स वाली भाषा-धुम्रांतता या विरुद्धता हमसे छूटती गई है।

वास्तव में 'अभ्युद्देश्य' और 'अभिव्यंजना' के बीच शत्रुतापूर्ण अंतर्बिरोध नहीं हैं। वे महज़ आंतरिक अंतर्विरोध हैं जिसकी वजह से उनके संवर्गों के बीच ध्वनि, संकेत एवं अर्थ की एकता भी है। अत: विशिष्ट प्रोक्ति या प्रकथन साथ-साथ ही संवेगीय तथा अभ्युद्देशीय हो सकता है। पिछले कुछ दशकों से **विज्ञान** (प्रकृति) तथा **कल्पना** (कला) की समस्याओं के बीच एक अनवरत परिसंवाद 'वस्तु' (थिंग), 'विचार' (आइडिया) और 'शब्द' के तिहरे रंगमंच पर चल रहा है। " 'वस्तु' के मंच पर यह अनुभव के दो प्रकारों के बीच विभेद है जिसका सरोकार क्रमश: **प्रकृति** और **कला** से है। 'विचार' के मंच पर यह क्षमताओं या प्रकार्यों के बीच विभेद है जिन्हें क्रमश: **संज्ञान** (अंडरस्टैंडिंग) तथा **कल्पना** कह सकते हैं। 'शब्द' के मंच पर यह प्रोक्ति (डिस्कोर्स) के दो पैंतरों के बीच विभेद है जो क्रमश: **विज्ञान की भाषा** और **साहित्य की भाषा** प्रदान करते हैं।"[१]

आज हमारे भाषा-लेक्सिकॉन में प्लेटो की संगीत की भाषा, पाइथागोरस की गणित की भाषा, भरत मुनि की अभिनय की भाषा, उदयशंकर की नृत्य की भाषा, आइंस्टाइन की बीजगणितीय भाषा, मार्क्स की भौतिकवादी द्वंद्वन्याय की भाषा, पिकासो की खंडित दिक्भाषा इत्यादि हैं। इनमें से कई **निर्भाषाएं** हैं अर्थात् शब्दार्थों से निर्मुक्त ! ये भाषाएं संकेत तथा चिह्न, बिंब तथा मुद्रा, वर्ण तथा अंक, ध्वनि तथा अक्षर, अभिप्राय तथा प्रतीक, पारिभाषिक तथा अवधारणा से मढ़ी-जड़ी हैं। ये मानो संपूर्ण मानवता की **वैश्वक (यूनिवर्सल) भाषाएं** हैं।

इस वजह से हमने जिस भाषा-निर्माण की लड़ाई छेड़ी है उसमें साहित्य-संस्कृति तथा समाज-विज्ञान का सामंजस्य है। हमारे इस भाषा-प्रकार में तर्कशास्त्रीय (आलोचनात्मक), प्राविधिक (वैज्ञानिक) तथा समाजवैज्ञानिक का समाहार हुआ है। हमारी यह भाषा रचनात्मक साहित्य की 'संवेगीय' अथवा 'रूपकात्मक' तो लगभग है ही नहीं। यह आलोचनात्मक भाषा 'वैज्ञानिक' भाषा भी नहीं है। यह तकनॉलाजी तथा साहित्य-विज्ञान की संयुक्त भाषा है। इसीलिए इसकी तर्करेखाओं में पहले, दूसरे, तीसरे पक्ष; अथवा एक, दो, तीन···जैसे प्रस्थापना-बिंदु आदि की भरमार है।

१. 'लिट्रेचर, फिलॉसफ़ी एंड दि इमेजिनेशन', एलबर्ट विलियम लेवी, इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन, १९६२, पृ ३२।

हमारी इस भाषा में रूपकाभासी सूत्र ('रस → आनंद'), **रूपक** ('रस ही ब्रह्म है') तथा **समीकरण** (रस = आनंद = ब्रह्म) अथवा तीनों के समाहार{रूपकसूत्रसमीकरण [रस (सोम) = आनंद (अमृत) → आत्मन् (ब्रह्म)]} आदि का अभिषेक होता रहा है।

हमारी **'आलोचना की प्राविधिक भाषा'** में अग्रगामिता (फोर ग्राउंडिंग) ही सब कुछ नहीं है। इसमें पृष्ठभूमि की भाषिक व्यवस्था की बेहद तैयारी हुई है अर्थात् इसमें रूपकों के व्याकरण, वाक्य-विन्यास, पारिभाषिक शब्दावलियों के विभिन्न 'पारिवारिक सादृश्य', अवधारणाओं के पुंज, अभ्युद्देश्यों के भंडार आदि हैं। अत: यह भाषा बिंबों एवं संमूर्त्तनों, भावों एवं विचारों, मिथकों एवं प्रतीकों को ही 'मुखरित करने वाली' भाषा नहीं है। यह **स्वयं विचारों तथा चिंतन को आकारित करने वाली भाषा है।** यह व्यक्ति (प्रदाता और आदाता) की मानसिक कार्यवाहियों के लिए एक कार्यक्रम है, एक घोषणापत्र है, एक निर्देशिका तथा सांस्कृतिक कार्य के लिए मार्गदर्शिका भी है। इसमें विचार तथा कर्म के बीच अनवरत संवाद तथा व्यावहारिक प्रत्यावर्तन हो रहा है। हमारी इस भाषा की सिद्धि महान् विचारों द्वारा ही हो रही है जो—वाल्टर बेंजामिन के शब्दों में—वाक्य-विन्यास की शिराओं में भाषा का लहू दौड़ाते हुए पोर-पोर में पहुंच जाते हैं।

अलबत्ता हमारी इस 'आलोचना की प्राविधिक भाषा' में परिभाषिकों के सचेत एवं सचेष्ट प्रयोग का **आलंकारिक चयन** सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है (जो कि शीर्षकों तक में ध्यातव्य है)। इसके साथ **शैलीय चयन** भी है जो हमारे वैज्ञानिक व्यक्तित्व तथा सांस्कृतिक चिंतन का निरंतर सहज अंग हो गया है। यह चयन **'मिथक और स्वप्न'** से लेकर **अथातो सौंदर्यजिज्ञासा** तक के हमारे दसों ग्रंथों में बराबर हुआ है। हमारी शैली भाषिक चिंतन में दूर-नज़दीक तक मुक्त विचरण करती रही है और इसी वजह से वह घिसे-पिटेपन का शिकार नहीं बनी।

हमारा विश्वास है कि, संप्रेषण की कुछ शब्दभंडारीय मुश्किलों के बावजूद, भाषा के 'अर्थवैज्ञानिक द्वैतवाद' (आग्डेन, रिचार्ड्स, ह्वीलराइट) से हम सदैव बचे रहें। यही हमारी उपलब्धियों तथा असफलताओं की कसौटी होगी। इसी के साथ हमने 'आध्यात्मिक द्वैतवाद' (बर्गसां, स्पेंगलर), 'ज्ञानमीमांसात्मक द्वैतवाद' (कांट, कैसीरर), 'अनुभववाद' तथा 'यांत्रिक विकासवाद' आदि का भी विरोध किया है। हमने समाज और संस्कृति की आवयविक संपूर्णता को ग्रहण करने के लिए सामाजिक इतिहास और मार्क्सवाद की आधारशिला को मज़बूत किया है। इसलिए केवल भाषा को लेकर हमारे लेखन एवं कथ्य के आत्म-संघर्ष तथा वैचारिक युद्ध से बचना भारत की षडदार्शनिक परंपरा के भी विरुद्ध है। पंद्रह-बीस वर्षों से हमारी रचनाओं के विचारों से न टकराने के बहानों में-से फक़त हमारी भाषा—विशेष रूप से उसमें आए बहुप्रयोजनीय पारिभाषिकों—की दुरूहता की दुंदुभि बजाई जाती रही है। अब लगभग पंद्रह वर्षों बाद इस ग्रंथ के कुरुक्षेत्र में हम पुन: वैचारिक संघर्ष का खुला शंखनाद करते हैं।

वस्तुतः हिंदी के मध्यदेश के जनचित्त तथा जनमानस को महानगरीय संत्रास तथा आधुनिक संगठन, विज्ञान तथा कला आदि के विरोध में संस्कारित किया गया

है। यह लंबी मध्यकालीन सामंतीय मानसिकता है। यह द्वंद्व सामाजिक प्रगति, सांस्कृतिक मूल्यचक्र तथा मानवीय संज्ञान को बीच से चीर देता है। भाषा और साहित्य के आधुनिकीकरण तथा सामाजिकीकरण के किए अब मात्र व्याकरण अथवा धर्मशास्त्र, मात्र कामशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र से काम नहीं चलेगा। आचार्य शुक्ल ने अपने सामाजिक संस्कार में काव्यशास्त्र के अलावा मनोविज्ञान का समावेश करके नया भाषा-व्यवहार चलाया जिससे वे अभी तक 'दुरूह' हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र के अलावा सांस्कृतिक इतिहास और सौंदर्यबोधशास्त्र का समाहार किया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉक्टर रामविलास शर्मा ने पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के अतिरिक्त भाषाशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, मार्क्सवादी दर्शन, इतिहास आदि का संश्लेषण किया जिससे वे अप्रासंगिक भी घोषित किए गए थे। अपने भाषा-व्यवहार में हम विज्ञानों (तकनालॉजी समेत), समाजविज्ञानों (इतिहास-दर्शन समेत) तथा मनोविज्ञानादि (रचनाशास्त्र और साइबर्नेटिक्स समेत) के सामंजस्य की कोशिशें जारी रखे हुए हैं। अपनी 'आलोचना की प्राविधिक भाषा' द्वारा हम हिंदी में ज्ञानगंगा के इन भगीरथों के कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प लिए हुए हैं। अतः आज के सामान्य हिंदी-पाठक को सर्वज्ञ या शुद्ध-पवित्र होने की भ्रांति को त्यागना ही पड़ेगा। उसकी अनगढ़ प्रतिभा के लौह फलक को आधुनिकीकरण की भट्ठी में लाल होने दो! उसकी प्रतिभा के लाल फ़लक पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों के हथौड़े पड़ने दो ताकि उससे औज़ार और सितार ढल सकें! आज के हिंदी-'पाठक' को भी यही चुनौती है कि वह राष्ट्रीय जीवन को आधुनिक प्रासंगिकता देने वाले विषयों की यथेष्ट मात्रा का पर्याप्त ज्ञान रखता हो। उसके लिए भी शर्त है कि वह विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों से ग्रहीत पारिभाषिक शब्दावली तथा अवधारणाओं के विभिन्न 'रजिस्टरों' को जानता हो। सारांश में, आज चिंतक लेखक (आलोचक) और पाठक की यह समझदारी एकबराबर होनी चाहिए कि विज्ञानों ने कम-से-कम हमारे परिदृश्य के बोध के वृहत्तर विकास को सुलभ बनाया है।

यह कार्य ज्यादातर भाषा-आयोजना (लैंग्वेज प्लानिंग) तथा भाषा-निर्माण (लैंग्वेज कंस्ट्रक्शन) के अंतर्गत होता है जिससे एक सर्वग्राही, स्पष्ट तथा भली प्रकार समझी जाने वाली **आधुनिक भाषा** का पुनर्निर्माण हो सके। **साहित्यिक भाषा** हिंदी की 'पारिभाषिक शब्दावलीय व्यवस्थाओं' को लेकर अब एक लंबा विवाद छेड़ा जाना चाहिए क्योंकि किसी भी साहित्यिक भाषा की नींव में एक लिखित रूप होता ही है और वह सामान्यीकृत हुई भाषा होती है। साहित्यालोचना की द्विमुखी भाषा अब ब्रज या अवधी बोली, अथवा काव्यशास्त्र या धर्मशास्त्र से आगे बहुत लंबी छलांग लगा चुकी है। एक ही भाषा-व्यवस्था के एक-जैसे शब्द-संभार का इस्तेमाल विभिन्न दृष्टियों, धाराओं, आंदोलनों, ज्ञानानुशासनों के कृती तथा विचारक कर रहे हैं। अतएव अब हमें आलोचना-भेदों एवं आलोचना-शैलियों, आलोचना-स्तरों एवं आलोचना-प्रतिपाद्यों में विभिन्न संक्षेत्रों के शब्द-संभारों का 'शब्दावलीय (टर्मिनालाजिकल) **एटलस** मिल रहा है जिसमें बेहद तीव्र तथा ज्यादा आव्रजन-निर्गमन है।

शब्दभंडार (वाकेब्युलरी) या शब्दावली के संक्षेत्र राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, संस्कृति, विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा सौंदर्यबोधशास्त्र आदि हैं। हिंदी भाषा जितनी अधिक विकसित होगी, उतनी ही इन शब्दावली-संक्षेत्रों की उसमें अभिवृद्धि होगी। हमारी इस भाषा-आयोजना में इनका संविन्यास ज्यादातर संस्कृत, अंग्रेजी और अन्य राष्ट्रीयताओं की भारतीय भाषाओं के सहकार से हुआ है। हम समझते हैं कि किसी भी आधुनिक भाषा की आवश्यकताएं अंतर्राष्ट्रीय हैं और उसका विकास राज्य तथा सरकार की भाषा-नीति से बंधा हुआ है। तथापि अपनी सीमाओं में हमने अंतर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली को ग्रहण किया है—अनुवाद के माध्यम से। ऐसे पारिभाषिकों को (आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के दिशा-निर्देश का अनुपालन करते हुए) हिंदी फोनेमिक्स में भी ढाला गया ताकि इनका हिंदीकरण हो जाए, जैसे :—तकनीक, फांतासी, फासीवाद, मिथक, निजंधर, नर्मिल, क्लासिकी, रोमानी, त्रासदी, इत्यादि। तथापि यह बेहद सीमित कोशिश रहेगी और इस प्रकार के ऋणग्रहण में अनुवाद की भूमिका सर्वतोमुखी होगी। तथापि शनैः-शनैः भाषा-हस्तक्षेप की ऐसी झंझावाती प्रविधियों द्वारा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं और कुछ अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं का एक सांझा, छोटा-सा, शब्द-संभार बनता जा रहा है। हमारे वृत्त की सभी भाषाएं भारोपीय-परिवार की हैं। इसलिए यह कार्यवाही ज्यादा सरल तथा सुलभ हो सकेगी। वस्तुत: पारिभाषिक शब्दावली ही हिंदी को व्यवस्थाकरण (सिस्टेमाइज़ेशन) की ओर ले जाएगी तथा हमारे चिंतन की गुणात्मकता को भी ऊर्ध्वगामी करेगी। शुरू की अनुवाद, ऋण, रूपांतरण, संप्रेषण आदि की दिक्कतों को रघुवीर और आचार्य शुक्ल तथा रामविलास शर्मा से लेकर इस बरखुरदार तक को झेलना ही पड़ेगा।

विभिन्न शब्दावली-संक्षेत्र के पारिभाषिक शब्द-पुंज खुद भी 'प्रकरण' की अज्ञातताओं के कारण सरल भाषा या तार्किक भाषा के संप्रेषण को कठिन बना देते हैं। इनके कोशीय कुलकों (लेक्सिकल ग्रुप्स) के स्वनिमिक एवं रूपविज्ञानीय अभिलक्षणों के कारण भी सामान्य साहित्यालोचन की भाषा अव-घनिष्ठ (डि-फेमिलियराइज़) हो जाती हैं अर्थात् विलक्षण-सी बन जाती है। अत: नये साज़-सामान के बिना संप्रेषण-नलिकाएं प्रवाहित नहीं हो सकतीं।

उदाहरण के लिए हम कुछ कुलकों (ग्रुप्स) को प्रस्तुत करते हैं—

[अ] **सौंदर्यबोधशास्त्रीय** : सुंदरता, उदात्तता, किमाकृत, असौंदर्य, लावण्य, चारुता, शोभा, छवि, चमत्कार, रमणीयता, आह्लादकता, मधुरता, मोहकता, सौष्ठव, पेशलता, रूप, कौशल, माध्यम, सृजनात्मक कृत्य, सृजन-प्रक्रिया, सौंदर्यबोधानुभूति, सौंदर्यानुभव, रुचि, सौंदर्य-बोधाभिव्यंजना;

[आ] **दार्शनिक** : मानस, मन, चित्त, चैतन्य, प्रकाश, विमर्श, प्रज्ञा, प्रभा, निर्विकल्प समाधि, अंतरात्मा, चिति, चेतना;

[इ] **मनोवैज्ञानिक :** मस्तिष्क [ब्रेन], मानस [माइंड], चेतना [कांशसनेस], अवचेतन [अनकांशस], उपचेतन [सबकांशस], चिति [साइके], कुंडलिनी [लिबीडो];

[ई] **वैज्ञानिक :** ऊर्जा [एनर्जी], शक्ति [पावर], बल [फोर्स], कर्म [एक्शन], कार्य [वर्क];

[उ] **समाजविज्ञानीय :** सामाजिक कर्म [सोशल एक्शन], सृजनात्मक कृत्य [क्रियेटिव एक्ट], सामाजिक कार्यिकी [सोशल एक्टिविटी], समूहगत प्रकार्य [ग्रुप फंक्शन], ऐतिहासिक प्रक्रिया [हिस्टोरिकल प्रोसेस];

[ऊ] **राजनीतिक :** वैधता [लेजिटिमेसी], प्रभुसत्ता [सावरेनिटी], सत्ता [पावर], अधिकार [अथारिटी], परकीयकरण [ऐलियेनेशन], व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, राजतंत्र, कुलीनतंत्र, प्रजातंत्र, गणलोकतंत्र, अधिकारवाद, अधिनायकवाद, फासीवाद, नाज़ीवाद।

हम जानते हैं कि काव्य एवं कला सृजनधुरी में अस्तित्वमान हैं। इनकी सृजनात्मक भाषाप्रणालियों में सौंदर्यानुभूति की अंतर्ज्ञानात्मक **अभिव्यक्ति** की समस्या है। इसके सहकार में **संप्रेषण** के साधारणीकरण अथवा परकीयकरण के प्रभावों वाले नाटकीय ध्रुवांत हैं। किंतु हमारी **आलोचना की प्राविधिक भाषा** की प्राथमिक शर्त ही विभिन्न शब्दावली-संक्षेत्रों के कोशीय कुलकों का ग्रहण है तथा उनके अंतर्संबंधों द्वारा एक संश्लिष्ट तर्कप्रणाली का विधान है। हमें अंतर्ज्ञानानुशासनों के 'रजिस्टरों' का निर्धारण करना पड़ता है। अतः हम 'प्रकरण' की अपेक्षा व्यापक आयामों में अंतर्वाक्यीय व्याकरण का इस्तेमाल करते हैं और, अभिधा-लक्षणा-व्यंजना के अतिरिक्त, निश्चित या सूक्ष्म अर्थ का निर्धारण तथा प्रमापन करते हैं। हमारी यह भाषा काव्यात्मक सौशब्द्यों की सूक्ष्मता की अपेक्षा तकनीकी संकेतविज्ञान (सेमिओलाजी) तथा सिस्टम-विधान की सूक्ष्मता को अपना लक्ष्य मानती है। तकनीकी पद्धति तथा महीन अर्थछवियों की वजह से शब्दों के मनमाने प्रयोग की हमारी क्षमता संकुचित है। अपने प्रतिपाद्य के कई अंकुशों के कारण सर्वमान्य एवं बहुसंक्षेत्रीय शब्दावली को निश्चित, सुस्पष्ट, सुपरिचित तथा सुलभ करने की चुनौती हमारी सबसे बड़ी समस्या रही है, तथा रहेगी। मात्र साहित्यिक आलोचना बहुधा अपनी भूलभुलैयां तथा रूपाकात्मक आंखमिचौनी से 'व्यंजना' का संविश्चचमत्कार हो जाती रही है। लेकिन अब हमारा आलोचनात्मक दायित्व एक भाषा-आयोजक तथा विशेषज्ञ का भी हो गया है।

ऊपर के बहुविध संक्षेत्रों में एक एकल संक्षेत्र के शब्द-कुलक या एक 'पारिवारिक सादृश्य' वाली शब्द-टोली के विभिन्न शब्दों में जो समरूपताएं (सिमिलेरिटीज़) होती हैं वे सामान्य की अपेक्षा विलक्षण हैं। तुलना के लिए अगर दो प्रकार की शब्द-टोलियों को, अथवा दो प्रकार के पूर्णतः भिन्न धारणाओं वाले शब्द-कुलकों को लें तो उनके पुलिंदों (बंडल्स) में उनके बीच वैचारिक द्विमुखी विरुद्धता (बाइ-

नरी अपोजीशन)—भी होती है। 'संदेश' के संवहन में **'द्विमुखी विरुद्धताएं'** संप्रेषण की अर्थभ्रांतियों का परिहार करती हैं। ये विभिन्न शब्द-टोलियां प्रतिबद्ध बिचार-टोलियां भी तो हैं। अतः प्रतिबद्धता के कारण ये गुत्थमगुत्थ होती हैं और एक नयी यथार्थता की सर्जना तथा बिबायन करती हैं। उदाहरणार्थ इस ग्रंथ के तीसरे **साक्ष्यप्रश्न** में हमने त्रिआयामी शिल्पकला (सौंदर्यबोधशास्त्र) तथा त्रिपार्श्व (प्रिज़्म : विज्ञान) के पारिभाषिकों को लेकर काल तथा कला की दो कांच-सतहों पर शिल्प की महा-किरण के अपवर्तन के फलस्वरूप उसके सप्तरंगी वैविध्य को वैज्ञानिक नियम से लक्षित किया है—'भारतीय शिल्पकला के त्रिपार्श्व में काल तथा कला के दर्शन सूत्र। इसी ग्रंथ की छठी **उत्तर साक्षी** का शीर्षक है : 'चिति की लीला में मंत्रमुग्ध प्रतीक के इंद्रजाल !' यहां दो कुलकों का अंतरावलंबन है जिनमें चिति (परमशिव की शक्ति; मनोविज्ञान की साइके), लीला (वैष्णव मत में परब्रह्म की सृष्टि क्रीड़ा; स्वेच्छाचारी प्रक्रियाएं), मंत्रमुग्ध-इंद्रजाल (दोनों शब्द जादू तथा मिथक-संक्षेत्र के हैं), प्रतीक (साहित्यशास्त्रीय 'दो यथार्थताओं का द्वंद्वात्मक सामंजस्य', अवगुंठित इद्म का नैतिक मन के स्तर पर 'निराकरण', समाजशास्त्रीय मुहावरों में 'प्रकार्य') सार्थकता के लिए इस्तेमाल हुए हैं।

वस्तुतः हम यहां किसी **एक समस्या** के परस्पर विरोधी साधनों से नहीं जूझ रहे होते हैं (क्योंकि हमारा पैराडाइम 'सुपरिगठन' है), बल्कि **विभिन्न** समस्याओं के समाधानों से जूझते हैं; हम दुविधाओं तथा द्वंद्वों तथा अंतर्विरोधों का निराकरण करते हुए सामाजिक यथार्थता को प्रतिबिंबित करते हैं, मनोवैज्ञानिक यथार्थता की रचना करते हैं तथा नये भाषिक संसार द्वारा खुद भी निर्मित किए जाते हैं। विज्ञान की धारणाओं का एक समूह होता है तो धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र इत्यादि के दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें आदि। परंपराव्रती साहित्यालोचना इनमें द्वंद्व मानती है। इनके द्वंद्वात्मक रिश्ते बहुधा नकारती है।

आधुनिक बूर्ज्वा-दर्शन में यह सर्वग्रासी **द्वैतवाद** (ड्यूअलिज़्म) चहुंओर परिव्याप्त है। दर्शन और इतिहास के क्षेत्र में इन्हें अंतिम छोर तक अलगाना तो वैचारिक अंधता फैलाना है। **प्रणाली** (सिस्टम) तथा **पद्धति** (मेथडलॉजी) के क्षेत्र में इनकी क्षमताओं का भरपूर उपयोग एवं प्रयोग होना चाहिए। हम यह स्वीकार करते हैं कि विज्ञान की पद्धति तथा कला-साहित्य की पद्धति में कई अंतर हैं। किंतु उनमें-से बुनियादी तथा सहकारी अंतरों की समझ लाजिमी है। हमारे पास आधुनिक समाज ने इतने अधिक, विविध, बहुल धारणात्मक पुलिंदे (कांसेप्चुअल बंडल्स) उपलब्ध कराए हैं कि हम साइबर्नेटिकल विभिन्न संप्रेषण-नालियों के मॉडल का इस्तेमाल करके संकेतविज्ञान, मिथकालेखनशास्त्र, शैलीविज्ञान, रूपांतर-प्रजनक व्याकरण, संरचनावाद, प्रकार्यवाद आदि के क्रांतदर्शी मार्गों के दावेदार तथा यायावर होने का तकनीकी कौशल पा गए हैं। उपर्युक्त विभिन्न पद्धतिशास्त्रों के द्वारा इन पुलिंदों से अनूठे सृजनात्मक आकल्पन तथा आकृतिबंध तैयार किए जा सकते हैं।

उदाहरण के लिए एलबर्ट विलियम लेवी ने एक तुलनात्मक रूपतालिका दी है[1]—

अर्थों की वैज्ञानिक शृंखला	**मानववादी संश्लेष**
(संज्ञान-अंडरस्टैंडिग—की भाषा)	(कल्पना की भाषा)
"सही" तथा "मिथ्या" प्रस्तावनाएं	"यथार्थता" तथा "प्रतीति"
"कार्यकारणता" तथा "वैज्ञानिक नियम"	"प्रारब्ध" तथा "मानवीय प्रयोजन"
"भविष्यकथन" तथा "संयोग"	"भाग्य" तथा "सौभाग्य"
"तथ्य"—"वास्तव में"	"रूपक"—"नाटकीय घटना"
"प्रतियोगिता"—"जैविक अभिवृद्धि"	"त्रासदी"
"व्यवस्थाओं" की "स्थैतिकी" या "साम्यावस्था"	"प्रशांति", "संविद्विश्रांति"

विज्ञान तथा मानविकी के उक्त शब्दावली-कुलक को हम बीचों-बीच से नहीं चीरते। हमारे लिए तो यह बात हथकंगना है कि इनके पृथक्-पृथक् संवर्गों (कैटेगरीज़) में ही विज्ञान तथा कला की **पद्धति की समस्याएं** गुत्थमगुत्थ हैं (ये गड्डमड्ड नहीं हैं)। इन्हें अनुपात के नियम द्वारा अब ज़्यादा सही ढंग से समझा जा सकता है—'यथार्थता-विश्लेषण-प्रकृति-प्राकृतिक नियम-कारणता-संवेदन' : : (क्रमशः) 'प्रतीति-अंतर्ज्ञान-भाग्य-इतिहास-प्रारब्ध-बिंब'।

अतएव एक महासूत्र में हम कह सकते हैं कि विभिन्न शब्द-कुलकों के सादृश्यों अथवा टोलियों के बीच **ज्ञान के समाजशास्त्र** का सहस्रदल कमल अक्सर तीन ढंग से खिलता है—(अ) परस्पर **व्यवहार** द्वारा, (आ) **शब्दों के रजिस्टरों** की अदला-बदली से; तथा (इ) **रूपकों** के द्वारा अंतर्बंधन से [जैसे, चिति की लीला, विचारों का उत्पादन, शिल्पकला का त्रिपार्श्व, वैज्ञानिक ऊर्जा की क्रियाशीलता से सामाजिक क्रियाओं का साम्य (मेर्टन, मिलर), कंप्यूटर-सम्मत सूचनाव्यवस्था (लेवी स्ट्रास) आदि]।

प्रोक्ति (डिस्कोर्स) या प्रकथन के विभिन्न क्षेत्रों के अपने-अपने विलक्षण भाषिक लक्षण होते हैं। हम उपर्युक्त विधियों से संवलित कुछ उदाहरण अपने ग्रंथों की अपनी ही 'आलोचना की प्राविधिक भाषा' के लेंगे :

(क) 'The clinical thermometer is used [**for**, to] measuring [body's, **body**] temperature. It [contains, includes, **consists of**] a tube made [**of**, from, with] glass, which [**contains**, consists of, comprises] a certain [**amount**, number] of mercury. When mercury is [hot, **heated**], it [**expands**, extends, increases] and [raises, **rises**] up the tube, which is graduated in degrees Fahrenheit or Centigrade [according, **depending**] on the country of manufacture.' —"The Structure of Technical English",

१. वही, पृ० ४७।

A. J. Herbert, English Language Book Society, London 1978, p. 43.

[इस पदबंध में 'भौतिकी' (फ़िज़िक्स) के अंतर्गत **ताप** (हीट) नामक ऊर्जा, उसके मापन का उपकरण, तथा प्रविधि आदि की तकनीकी शब्दावली के चयन के लिए विकल्प में सामान्य भाषा की सदृश शब्दावली देकर **विज्ञान की भाषा** के निर्माण की विधि बताई गई है जिससे तकनीकी सूक्ष्मता के साथ-साथ सत्यापनीय तथ्यों का व्यवहार होता है। यह बाहरला उदाहरण केवल एक विज्ञान-शाखा के एकल संक्षेत्र का है]।

(ख) 'इस तरह इतिहास भी मिथकीय हो गया; और मिथकीय कथाओं पर आगमों के प्रतीकों का आच्छादन हो गया। अभिनवगुप्त कृत मध्य-कालीन सांस्कृतिक प्रतीकों की रचना के रहस्य इस प्रक्रिया में निहित हैं। वे आगमों के अनुसार भावों तथा घटनाओं का परिमेयकरण करते हैं। फलतः इतिहास और मनुष्य का दैवीयकरण [divinization] हो जाता है और तब कार्यकारणश्रृंखला के बजाय चमत्कार और उन्मेष, लौकिक के बजाय अलौकिक, मनुष्य के बजाय शिव आदि का सन्निवेश भी हो जाता है। हिंदू-राजतंत्र की छाया परमशिव की पांच शक्तियों में पूर्णतः चंचल हो उठती है जहां मनुष्य की मनोवृत्ति पारलौकिक हो गई है। अभिनवगुप्त ने अपने रसदर्शन में **काल के दर्शन, सामाजिक प्रक्रिया के आदर्शरूप** तथा **मनुष्य की चेतना के उत्कर्ष** को भी संयोजित किया है।'

["**मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध**", पृ० १७२।]

('आलोचना की तकनीकी भाषा' के इस पदांश में **पलेह** तो मुख्यतः धार्मिक, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक शब्द-कुलकों का आमना-सामना कराया गया है। **फिर** 'दैवीयकरण' एवं 'परिमेयकरण' की प्रक्रियाओं द्वारा इतिहास तथा मनुष्य के रूपांतरण की मध्यकालीन पद्धति समझाई गई है। **तदुपरांत** एक सूत्रवेदिका है जिसमें रसदर्शन की व्यासरेखा पर इतिहास, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के रूपायनों का पदान्वय किया गया है।

विश्लेषण के तीनों सोपानों पर तीन प्रकार के शब्द-कुलकों का वरीयता के आधार पर अभ्यास है।)

(ग) 'परवर्ती कालखंडों में एक ऐतिहासिक भाषिकीय क्रांति यह हुई कि शैली-भूगोल और भाषा-भूगोल का सामंजस्य हो गया। राजेश्वर का रूपक इसका एक जीवंत अभिलेख और एटलस है। इसमें आधुनिक पात्रता-संबंध की तरह कवि-शैली-संबंध, तथा कवि-प्रदेश-संबंध मिलते हैं। फिशमैन ने समाज-भाषिकी में **दो 'मूल्य-पुंजों'** या 'सांस्कृतिक

तादात्म्यों' की बात की है। उच्च संस्कृति क्लासिकल है जो दुरूहता और सत्ता से जुड़ी है [गौड़ी]। निम्न संस्कृति रोमांटिक है जो सहजातता (चौम्स्की), सहभाग (फिशमैन), वर्ण-बंधता (स्पाइत्ज़र) से जुड़ी है [प्राकृतें]। अतः भाषा-प्रकार के चयन, भाषा-प्रकार की शैली के चयन आदि में वैयक्तिक (कुंतक) और सामाजिक नियंत्रण (दंडी) की भूमिका बनी रहती है।'

['**कलाशास्त्र और मध्यकालीन भाषिकी क्रांतियां**', पृ० १०]

(इस पदबंध में उसी भाषा में पहले चरण में सांस्कृतिक इतिहास तथा भाषा के अंतर्बंधों को स्पष्ट करने के लिए कल्पना की भाषा में सांगरूपकों की शैलीय भूमिका रेखांकित की गई है।

दूसरे चरण में संस्कृति के दो समकालिक (सिनक्रोनिक) स्वरूपों की पहचान उनके कुछ पारिभाषिक लांछनों के द्वारा की गई है जो अत्याधुनिक शब्दावली में हैं।

तीसरे चरण में भाषिकीय तथा शैलीय चयन में 'मनोभाषिकी' एवं 'समाज-भाषिकी' की भूमिकाओं का संकेतन हुआ है।

मूल रूप से यहां काव्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्र के 'पारिवारिक सादृश्यों' को लिया गया है। उनके 'मिश्रित पुलिंदों' (बंडल्स) द्वारा संस्कृति एवं शैली के 'द्विमुखी विरुद्धों' (बाइनेरी अपोजीशंस) को भी स्पष्टतः परिलक्षित किया गया है। इस तरह भाषा एवं शैली द्वारा संस्कृति की गहरी (अर्थीय) संरचनाओं को खोला गया है)।

(घ) 'क्लासिकल दर्शन के इतिहास में विच्छेद ने मनुष्य की समस्या उठाई। पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण ने अवमानवीयकरण की दशा पैदा की। चुनावरहित स्वतंत्रता तथा सृजनोल्लासहीन कार्य ने 'आत्मपरायेपन' (सेल्फ-ऐलियेनेशन) की अवस्था उत्पन्न की। इस तरह आधुनिक बोध की पीठिका मनुष्य की समस्या, समाज-संबंधों में अवमानवीयकरण की दशा, और सामाजिक स्थिति में आत्मपरायेपन या आत्मनिर्वासन की अवस्था में स्थापित होती है। आधुनिकताबोध के भी दो ध्रुवांत हैं, जिनके बीच कई संस्थान-बिंदु भी हैं। पहला ध्रुवांत अवमानवीयकृत आधुनिकबोध का है, तो दूसरा मानवीयकृत आधुनिक बोध का।'

['**आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण**', प्रस्तावना, पृ० ११-१२,]

(इस पदबंध में उसी भाषा में 'आधुनिकता-बोध' की विवरणात्मक-विश्लेषणात्मक परिभाषा का आकलपन हुआ है।

दर्शन के इतिहास, पूंजीवादी व्यवस्था, तथा उभयकर्ण सामाजिक क्रियाशीलता वाले पहले त्रिकोण द्वारा 'आत्म-परायेपन' की अवस्था के प्रत्यय का केंद्रीयभवन हुआ। इसके उप-प्रमेय में उपर्युक्त त्रिकोण से उभरे क्रमशः इतिहास में 'विच्छेद', व्यवस्था के 'शोषण' तथा सामाजिक प्रक्रिया के 'कार्य' को दूसरे त्रिकोण में लिया गया।

तदुपरांत **तीसरे त्रिकोण में** (दूसरे त्रिकोण द्वारा पहले के विकसित आयामों के आधार पर) मनुष्य की 'समस्या', अवमानवीकरण की 'दशा' तथा आत्म-परायेपन की 'अवस्था' को मिलाकर 'आधुनिकताबोध' का अभिधान हुआ है।

अंततः 'आधुनिकताबोध' की द्वंद्वात्मक प्रकृति को स्पष्ट करने के हेतु एक चुंबकीय मापदंड का रूपक उठाया गया है जिससे संतुलित समीकरण बन सके। इस कालक्रमिक तर्क-पद्धति में वैज्ञानिक व गणितीय मॉडलों का इस्तेमाल करके एक समाजशास्त्रीय प्राक्कल्पना (हाइपोथीसिस) का पुनराभ्यास हुआ है)।

(ङ) ' 'मृगनयनी' में वर्मा ने रोमान का जनवादीकरण भी कर दिया है और इसमें ऐतिहासिक रोमांस एवं ऐतिहासिक उपन्यास की उभय विधाओं का अंतर्व्यूह भी रचा है। रचनातंत्र की दृष्टि से गहरी-संरचना की पर्तें इसके वास्तुरूपात्मक सुपरिगठन का उत्थान तथा उन्मेष करती हैं।'

[**'क्योंकि समय एक शब्द है'**, पृ० २६३]

(इस पदबंध में प्रथमतया **आलोचनात्मक भाषा** में **'गल्प'** (फिक्शन) के विभिन्न ऐतिहासिक 'कलारूपों' तथा रूपांतरणों वाले साहित्यिक पारिभाषिक हैं। फिर एक विशिष्ट 'कलाकृति' (उपन्यास) की संरचना तथा सुपर-सिस्टम (सुपरिगठन : स्ट्रेटा) के अंतर्ग्रंथन हुए हैं। इसका सारा शब्द-संसार 'उपन्यास की सैद्धांतिकी' वाला और विवेचनात्मक पद्धति की दृष्टि से एकल-सादृश्यसंदर्भी है। इसलिए भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से इसमें बस सरल एकायामी प्रस्थापनाएं हुई हैं।)

× × ×

उपर्युक्त उदाहरणों के पश्चात् हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारी इस 'आलोचना की प्राविधिक भाषा' का जो अंतर्वाक्यीय व्याकरण है वह तर्कशास्त्र की पद्धतियों के क्रमों, चरणों, संबंधों, संयोजनों, समानांतरताओं, आवृत्तियों, आवर्तनों आदि के द्वारा गुंथा हुआ है। इसकी वाक्यरचनाएं लंबी तो अवश्य हैं किंतु वैसी जटिल नहीं। इसमें विरामचिह्नों तथा क्रमिक तथ्यों का सतर्कतापूर्वक विधान है। इसमें जो उपवाक्यों का छंद है, उनमें जो अंतिम शब्द नेपथ्य, सूच्य, जनांतिक या भविष्य-कथन के सूचक एवं संकेतक हैं—वे सब हिल-मिलकर पदबंधों को महाछंद की-जैसी गति देते हैं। वाक्यांशों के तोड़े, रूपक, सूत्र, समीकरण के पटक आदि जानबूझकर ज्ञान **की संरचना** के रहस्य-लोक की कूट-कुंजियां दे देते हैं। इनमें चिंतन तथा अभिलषित को विश्राम, विराम, ध्यान, विक्षोभ, एकाग्रता, असहमति आदि के क्षणों और बिंदुओं पर अभियोजित करने के लिए जानबूझकर आवेगात्मक ताल-लय के तनाव-खुलाव का संयोजन तथा समतोलन (साइनेस्थेसिस) हुआ है। अतः इस भाषा-प्रकार में **संप्रेषण** की समस्या इतनी प्रबल नहीं है, जितनी कि विभिन्न **पारिभाषिक शब्दकुलों** से खून-के-जैसी नाते-रिश्तेदारी की; तथा **पाठ्य** (टैक्स्ट) के अत्यंत मनोयोगपूर्वक गहन अध्ययन-अनुशीलन की। इस भाषा में वैसी ही खबरदारी की अपेक्षा है जैसी किसी

राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रयोगशाला में सूक्ष्म एवं जटिल एवं कीमती उपकरणों का इस्तेमाल करते वक्त विभिन्न पाठ्यांकों को नोट करने पर होती है ताकि, आखीर में सही प्रमाण, परिणाम, निष्कर्ष, सारांश, संदेश, कूट, प्रोग्राम, आदि संप्राप्त हो सकें।

अतएव इस शताब्दी के अंत तक हमारा वयोवृद्ध राष्ट्र तथा बेचारा हिंदी-महादेश ज्यों-ज्यों सामंतीय-पूंजीवादी शोषण से, सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन से, स्वार्थ और उत्पीड़न से, गरीबी और अशिक्षा के कुसंस्कारों से उद्धारित होता जाएगा, त्यों-त्यों हिंदी-भाषी जनता के भाषा-संसार के भी मानविकी-परक, वैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक, प्रशासनिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक पिछड़ेपन; फूहड़ता तथा त्रासदी आदि का खात्मा होता चलेगा। उस स्थिति में, एक ज्यादा सही तथा बेहतर सामाजिक व्यवस्था में, हमारी तरह ही असंख्य भाषाविद्, समाजशास्त्री, दार्शनिक, वैज्ञानिक, तकनालॉजिस्ट, इतिहासकार, नृकुलवंशशास्त्री आदि हमारे राष्ट्र के भाषा-विकास की समस्याओं से उत्तरोत्तर जूझेंगे और इतिहास को जवाबदेह होंगे !

अतएव हमें पक्का विश्वास है कि बहुत कुछ हमारी जैसी ही **आलोचना की प्राविधिक भाषा** अगले दशक से समूची हिंदी की **प्रमानक आलोचनात्मक भाषा** बनकर रहेगी। यह भाषा दैनिक अखबारों की अथवा पाठ्य पुस्तकों की कुंजियों वाली लोकप्रिय या सरल-सुबोध भाषा नहीं हो सकती। निस्संदेह आगामी इक्कीसवीं शताब्दी की समग्र अभिव्यंजनाओं वाली, जनजीवन को पूर्णत: उद्धारित करने वाली, सामाजिक यथार्थ का नंगा साक्षात्कार करके उसे बदलने वाली वह भाषा एक **संश्लिष्ट (टोटल) कला-वैज्ञानिक भाषा** ही होगी। अपन ने तो पहले से ही उस भारती के स्वागत में बंदनवार सजा लिए हैं ! 'हम विषपायी जनम के, सहें कि बोल कुबोल !!'

इन कारणों से मेरी पूर्ववर्ती **'अथातो सौंदर्यजिज्ञासा'** (१९७८) शीर्षक सौंदर्य-बोधशास्त्र की संहिता से बिलकुल पृथक् संविधान इस ग्रंथ में हुआ है तथापि उसका पूरक मानकर यदि इसका अध्ययन किया जाए तो मुझे संतोष होगा। मेरा प्रयास रहा है कि यह ग्रंथ न केवल मेरे बौद्धिक विकास का कैलासशिखर हो, बल्कि हिंदी में गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन, मानविकीपरक अधिग्रहण तथा विचारधारात्मक विवाद का भी खरा निकष बने।

मेरी यह महत्त्वाकांक्षा तथा अभिलाषा जीवनपर्यंत शेष ही रह गई कि वसंत में उस दिन अपनी इस अब तक की 'सर्वोत्तम' रचना को बिना बताए, अचानक, अपने गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के कर-कमलों में भेंट करके नतशिर होकर उनके चरणों के पास चुपचाप बैठ जाता ! अब तो केवल चुप्पी है।

—रमेश कुंतल मेघ

१९ मई, १९८०।

१

आर्य और ग्रीक

आदिम संस्कृतिमंडलों के सखा तथा
आर्केटाइपल निश्चितता के सौंदर्यधन्वा ! !

'अपोलो-१५' की समानव चंद्रयात्रा और वियतनामी मुक्तियुद्ध, ग्रीस में फ़ौजी तानाशाही और क्यूबा में क्रांतिकारी रिनैसां, चीन की सांस्कृतिक क्रांति और भारत की समाजवाद प्रतीक्षा—ये सभी यह प्रत्यक्षगोचर कराती हैं कि आज तकनॉलाजी और सामाजिक संबंधों के बीच, साम्राज्यवाद और मुक्तियुद्धों के बीच, मनुष्य के दुर्भाग्य और संभावना के बीच, आत्मपरायेपन और संयुज संघर्ष के बीच प्रबल अंतर्विरोध हैं : विश्वव्यापी अंतर्विरोध। ये हमारी चेतना और संस्कार, हमारे समाज और इतिहास को एक विश्वदृष्टिकोण से अनुस्यूत कर, महत् गुणात्मक परिवर्तनों के सिंहद्वार पर ले आये हैं।

ऐसी 'संयुज संस्कृति' और 'नये मनुष्य' की यथार्थ संभावना के संदर्भों में कला-साहित्य को राजनीति-अर्थतत्त्व जैसे मूलांगों से अलग नहीं किया जा सकता। अगर 'संपूर्ण सत्य' को पाना है तो वह—'एक-और-अनेक न्याय' के मुताबिक—छोटे-छोटे सत्यों का अतिरिक्त एवं विलक्षण संयोग होगा। इसलिए कला में भी एक समस्त दृष्टिकोण ही हमें एक पूर्ण तथा सही साक्षात्कार के समीप ले जा सकता है। अतएव हमें एक वैज्ञानिक द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिदर्शन ही सही, सच्चा तथा संपूर्ण साक्षात्कार करा सकता है। अतः वही सांस्कृतिक आधुनिकता-बोध है। हम उसे ही स्वीकारते हैं।

क्या हम ऐसे आधुनिकता-बोध के सहारे और ऐतिहासिक भौतिकवाद के ज़रिये पुराने ज़मानों का आधुनिकीकृत संदर्शन हासिल कर सकते हैं जो सार्थक और प्रामाणिक और सामयिक भी हो ? हां ! ज़रूर ! !

हमने ग्रीकों और आर्यों को इसलिए चुना है कि—साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक सबूतों के अनुसार—भारत-आर्य, आर्य-योरोपीय (एकेयन, आयोनियन तथा डोरियन)

तथा भारत-योरोपीय (यवन, आर्य एवं रोमक) प्रजातियों के कबीले ई० पू० १२०० के लगभग काकेशश तथा कैस्पियन सिंधु के इलाक़ों के मूलवंशी आर्यजन थे जो ऐजियान-द्वीपपुंज (यूनान), आर्यान (ईरान) तथा भारत में फैलते हुए बस गये। अतः 'जातीय अतीत' की एकधर्मिता के कारण हम ग्रीकों के ग्रामणी महाकाव्यों तथा शहरी त्रास-बोध, एवं भारतीय आर्यों के अनुवंशीय महाकाव्यों और वर्गीय आनंद-बोध की तुलना करके आधुनिक सांस्कृतिक संक्रांति और आदिम रचना-संसार को समझ सकते हैं। यह समझ एक सापेक्ष तथा संयुज् तथा **वैज्ञानिक साक्षात्कार** है। अतः यही अपने आधुनिकता-बोध का **विचार-व्यापार** है।

इसलिए बुनियादी सवाल उठता है कि यवनाचार्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) और भरत (ईसा पश्चात् दूसरी से तीसरी शती) में, अरस्तू की 'पोएटिक्स' और भरत के 'नाट्यशास्त्र' में, अरस्तू के 'कैथार्सिस' और भरत के 'सामान्यगुणयोगेन' (अर्थात् परवर्ती 'साधारणीकरण') में, ग्रीकों के सौंदर्यात्मक मनोविज्ञान तथा भारतों के दार्शनिक मनोविज्ञान में, ग्रीकों के औषधिशास्त्र के प्रवर्तक हिप्पोक्रेटीज़ के सिद्धांतों तथा भारतीयों के आयुर्वेद-प्रवर्तक चरक के सिद्धांतों के कलात्मक अवदान में क्या-क्या खूबियां रहीं जिनसे एक ही प्रजातिगत सामूहिक अवचेतन वाले आर्यवंशी दो विभिन्न आर्केटाइपल बिंबों के सौंदर्यधन्वा बन गये; प्रत्युत वे आदिम संस्कृतिमंडलों के सखा भी बने रहे।

मिथक से इतिहास तक की संस्कृति-यात्राएं

ईसा से करीब दो हज़ार साल पहले आर्यों के दलों में से एक ने भारत में मोहनजोदड़ो और हरप्पा की शहरी सभ्यता को तथा उनकी दूसरी टोलियों ने 'एजियन क्षेत्र (यूनान) को जीता। दोनों शाखाओं ने ही अपनी पूर्ववर्ती प्राचीन सभ्यताओं को विखंडित कर डाला : क्रीट की मिनोअन-संस्कृति को तथा मोहनजोदड़ो-हरप्पा की द्रविड़ संस्कृति को।

आर्यों में 'श्रेष्ठ' होने का आदिम अभिमान था। वे **घुमंतू तथा चरवाहे** थे। गोत्रों वाली कबीलाई शक्ति तथा कठिन श्रमों वाले श्रेष्ठतर हथियारों के द्वारा अल्प-संख्यक आर्यों ने द्राविड़ों से विजयोन्मुख संघर्ष किया और द्राविड़ों की स्थिर और क्षयशील शहरी सभ्यता का विध्वंस कर डाला। ईंटों से बने द्रविड़ शहरों को बर्बाद करके आर्यों ने उन्हें 'दास' या 'दस्यु' बना दिया। उन्हें 'शिश्न देवता', 'अनव्रात', 'निरग्नि', 'अहि'-जैसी गालियों से संबोधित किया। उनका देवता इंद्र था—एक युद्ध-देवता! हमलावर आर्यों का वह युद्ध-देवता सोमरस की मस्ती में भी डूबने वाला था। इन्द्र 'पुरन्दर' था, 'सोम-पा' और 'वृत्त-हन' था; इन्द्र वज्रपाणि भी था। अतः ऊर्जस्वित आर्य-घुमंतुओं के सामने मोहनजोदड़ो-हरप्पा की शहरी संस्कृतियों की उप-लब्धियों की कोई कीमत नहीं थी। वे तेज़ रफ़्तार के लिए अश्वों का इस्तेमाल करते थे जबकि द्राविड़ों के पास यह साधन नहीं था; वे अजों और मेषों (भेड़-बकरियों) के झुंडों से ऊनी वस्त्र बुनते थे और वृषभों का इस्तेमाल खेती के लिए

करते थे। अतः युद्ध-रथों के लिए **अश्व** और अन्न गाड़ियों के लिए **बैल**—ये उनकी तकनीकी दक्षता साबित हुए। फलतः वे शनैः-शनैः गोप-जीवन से ग्रामीण अर्थतंत्र की ओर, और अंततः शहरी अर्थतंत्र की ओर आते गये। इस क्रम में अश्वमेध (यज्ञ की हिंसा) विलुप्त हुई, गो अघ्नन्य होने के साथ स्वयं पृथ्वी का प्रतीक बनने के अलावा संस्कृति का स्वरूप भी बनी (गो-पुरम्, गो-धूलि, गोधूम, गवाक्ष आदि); और वृषभ नंदी के रूप में 'नाट्यशास्त्र' नामक पंचमवेद में पूजित पशु बना। आर्य ही संस्कृति के 'नेता' और नायक बने। दास 'दस्यु' बने। बाद के महाकाव्यों और पुराणों में 'राक्षस' और 'बंदर' भी बने। उनका सोमरस ही नाट्य रस में रूपांतरित होकर 'आनंद' से जुड़ा। लेकिन इस प्रक्रिया में मौखिक इतिहासों के उद्‌गाता आर्य द्राविड़ों की सभ्यता की भौतिकता से भी मुग्ध हुए।

ई० पू० २०००-१००० के समय में आर्यों तथा द्राविड़ों के बीच सहअस्तित्व और दोनों संस्कृतियों के बीच सामंजस्य का सिलसिला रहा। मोहनजोदड़ो की मुहरों पर अंकित 'योगी' ही ऐतिहासिक हिंदुत्व का 'पशुपति' बना जो कालांतर में 'शिव' हुए। उनका वाहन भी हरप्पा-संस्कृति का 'नांदी' हुआ। अतः आर्येतर शिव महादेव हो गये। आर्यों की 'होम' और 'अर्चा' पद्धतियों में द्राविड़ों की 'पूजा' का मेल हुआ और पशुबलि का चलन क्षीण होता गया। दायें से बायें घूमने वाले अनार्यों के 'स्वस्तिकों' ने, कर्मचक्र और कालचक्र की धारणाओं ने आध्यात्मिक इतिहासदर्शन की नींव डाली जिससे नाट्य का कार्य-व्यापार संविधानित हुआ, और त्रासदी-धारणा निर्वासित की गयी। द्रविड़ संस्कृति शांतिप्रेमी और अवकाशभोगी थी। अतः द्रविड़ 'योगी' की समाधि (उपनिषद् काल में) ब्रह्मज्ञान का, तथा लोक कलाओं की धारा में तन्मयीभवन का सादृश्य हुई। द्रविड़ सभ्यता में जो विशाल अन्नभंडार और उनके नज़दीक जो मजदूरों के मकानों की कतारें मिली हैं उनसे साबित होता है कि उनकी नागरिक संस्कृति में बेगार वाली गुलाम-मेहनत नहीं थी। भरत के समय तक नागरिक संस्कृति में केवल 'कुलीन' ही नहीं, बल्कि 'सवर्ण' की स्थापना हो चुकी थी; और शूद्र गुलाम बन चुके थे। इस तरह शुंगों और कुषाणों के युगों तक हिंदू-नागरिक-संस्कृति कुलीनतंत्र (एरिस्टोक्रेसी) का आरक्षित क्षेत्र बन गयी थी जिसमें कामकला में निष्णात 'नागरिक', अभिजात रुचियों वाला 'प्रेक्षक' और शूद्रों तथा दासों को पशु मानने वाले 'सुमनस्' ही प्रवेश पा सकते थे। वही तो त्रिधर्मयुक्त 'सामाजिक' बना; वैसे ही, जैसे चतुर्धीरत्व (उदात्त, उद्धत, ललित, प्रशांत) से युक्त सद्‌वंशीय कुलीन ही 'नायक' बना। यह भारतीय आर्य-टोली की संघर्ष-गाथा है।

उधर ग्रीक आर्य-टोली अपने वज्रपाणि देवता 'ज़ियस' (=इन्द्र) के नेतृत्व में एथेंस तथा कोरिंथ की निचली भूमियों में बस गयी। ग्रीक जीवन पर कबीलाई रूपों का ही विशेष आधिपत्य रहा। यदि **स्पार्टा** में यह जीवन विरूपित तथा अवरुद्ध हुआ तो **एथेंस** में नये अर्थों और नवलतर संदर्भों से संयुक्त। भारतीय आर्यों को पुरोहितों तथा भूपतियों ने 'गोत्रों' की संकीर्णता से विमुक्त करके 'वर्णों' के वृत्त में बांधा था किंतु ग्रीस में यह नहीं हो सका। इसके अलावा ग्रीक आर्यों के मूल्यों की शुरुआत

ही वीरोचित मूल्यों (हीरोइक वेल्यूज़) तथा देश-प्रस्थान (पोलिस) से हुई जबकि भारतीय आर्यों को महाकाव्यों से पूर्व के भी वेद, स्मृति, उपनिषद् के कालों के मूल्यों की विरासत मिली। जब भारतीय आर्यों का वैदिक से लेकर स्मृति का काल समाप्त होता है तब ग्रीक आर्यों का 'अंधकार युग' (ई० पू० ११००-७५०) शुरू होता है। इस युग की मूल नैतिकता 'प्रतिद्वंद्व' थी। युद्ध में, आखेट में, रथदौड़ में, खेल में, प्रेम में—सभी में **प्रतिद्वंद्व** और **प्रदर्शन** था। होमर के महाकाव्य इसके साक्षी हैं क्योंकि वे यूनानी अंधकार-युग से 'आर्ष युग' (ई० पू० ७५०-४८०) के संक्रमण के काल में हुए थे। कबीलाई ग्रीक जीवन के दो ध्रुव थे : पहला **स्पार्टा** का (जिसमें कठोरता और तपस्या थी); दूसरा **आयोनिया** का (जिसमें विलास और विश्राम था)। इन दोनों के आपसी संघर्षों तथा ईर्ष्याओं को होमरीय महाकाव्यों का रूप दे दिया गया (ई० पू० ६०० तक)। इनसे ज़ाहिर होता है कि ओडिसियस के ज़माने के लोग अर्द्ध-दैवी नायक थे और देवताओं के रिश्तेदार भी। उस युग में प्रतिद्वंद्विता और प्रदर्शन की वजह से एक ओर ऐश्वर्यपूर्ण मनोरंजनों तथा विराट् दावतों का आयोजन मिलता है, तो दूसरी ओर लालसा (पैशन) तथा भय (फिअर) की केंद्रीय मनोवृत्तियां। उस यूनानी अनुभव में करुणा (पिटी) को स्थान नहीं मिल सका था। करुणा का अभ्युदय तो एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति में हुआ। तब 'क्लासिक युग' (ई० पू० ४८०-३२३ [अलेक्सांदर की मौत तक]) शुरू हो गया था और 'त्रासदी' (ट्रैजेडी) का भी अभ्युदय हो गया था। पहले केंद्रीय यूनानी अनुभव लालसा का था; बाद में करुणा का हो गया। पहले का खंडन प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) ने किया तो दूसरे का मंडन अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने। लेकिन वीर युग से क्लासिकल युग तक आद्योपांत 'भय' की स्थायी भावना अमिट रही। अतः लालसा से करुणा की ओर आने में यूनानियों के जातीय मनोविज्ञान में क्रांति हुई और एक नया व्यक्तित्व उद्घाटित हुआ। पहले के अर्द्ध-दैवी मनुष्य अब मानवीय इंसान बन गये। इस बुनावट में अर्थात् लालसा से करुणा के रूपांतरण में नारी की भी प्रमुख भूमिका थी। इस बुनावट के कारण महाकाव्य युग के स्थूल **इंद्रिय-बोध** के स्थान पर मार्मिक **वेदना-बोध** का विकास हुआ। वेदना-बोध के विकास के कारण ही समाज को त्रासदी-गठन के रूप में पुनरानुभूत किया गया तथा कबीलाई एवं आदिम 'लालसा' के बजाय 'करुणा' का अनुभव हुआ। क्यों?

ई० पू० छठी शती में ही द्वंद्वात्मक विपरीत धारा के प्रतिफलन से थेलस जैसे दार्शनिक और सोलोन जैसे सम्राट का अभ्युदय हुआ जिन्होंने व्यवस्था (आर्डर) और क़ानून (लॉ) की नींव रखी। सोलोन के आदर्श पर ही ई० पू० चौथी शती में प्लेटो ने कहा था कि एक दार्शनिक को ही सम्राट होना चाहिए तथा सम्राट को दर्शन सिद्ध करना चाहिए। यद्यपि सोलोन के बाद ही पाइसिस्ट्रेटस का निरंकुशतंत्र (ई० पू० ६०५-५२७) आरंभ हुआ, लेकिन परवर्ती दो सौ वर्षों में प्रथाओं और व्यक्तियों की अपेक्षा **क़ानून का शासन** ही ग्रीक अनुभव बना। यह अनुभव एक ओर **क़ानून** और **व्यवस्था** की एकता स्थापित कर चुका था, तो दूसरी ओर **प्रकृति**

और समाज की एकता भी। यह दुहरा उद्धार था। अतः 'व्यक्तित्व' का भी एकीकरण हुआ।

महाकाव्यों के युग में समलैंगिक रति (होमो-सेक्सुअलिटी) ही प्रधान थी और वासना का निरुद्देश्य निष्कासन ही 'प्रेम' था। अतः मृत्तिका-कलशों में चित्रित कुमारियां 'किशोर जैसी' (ब्वाइश) हैं, उनके कुच 'सेब-जैसे' (एपल-लाइक) हैं, उनमें मनुष्य की पुंसता है तथा उनकी मांसपेशियां पुरुष की-सी हैं। यहां नारी शयनशाला के बजाय व्यायामशाला के आदर्शों वाली है। महाकाव्य युग की समलैंगिक रति के कारण 'प्रिया' से ज्यादा 'सखा' प्रिय था। देवेंद्र ज़ियस के पास गनीमोन नामक एक सुंदर किशोर था; सुंदर नार्सीसस की आसक्ति में कई प्रणयी पुरुषों ने आत्महत्या कर ली थी; लेस्बास द्वीप की कवयित्री सेफ़ो सुंदर युवतियों की प्रणयिनी थी; इत्यादि। अतः उस युग में नारी लालसा को अग्नि की तरह धधकाने वाली दीपशिखा थी। अतः एक मूढ़ पत्नी और एक गृहबंदिनी माता के रूप में नारी की हीनता ने और समलैंगिक रति के विकृत मनोविज्ञान ने ग्रीक संस्कृति के अंतर्ग्रंथन को छिन्न-भिन्न कर दिया था। "अंत में, हैलेनिक नारी ने जीवन के संतुलन को दुबारा स्थापित किया। वह अविवेकमय और रहस्यमय को वापस ले आयी। घने जंगलों से **बेकाए** (Bacchae) की उद्दाम पुकार आरपार गूंज उठी, और उद्धार के लिए स्वयं सुरा-देवता **डायोनीसस** का आविर्भाव हुआ। मापदंडों (मेज़र) वाले अपोलोनियन धर्म ने मनुष्य का पूरा मापन कभी नहीं किया था।"[१] जंगलों के आदिम भय से थर्राता और अंगूर बागों की पाशविकता से मदमाता नया देवता 'बेकस' आया। वह देवताओं के पर्वत ओलिम्पस के लिए एक अजनबी था। बेकस की अनुयायिनी नारियां आतंकित और अपमानित तो हुईं किंतु अनुकूल मौके पर पावन भी हो गईं; **पाप** का बोझ हटा और उद्धार का बोझ जागा। यूरीपिडस (ई० पू० ४८५-४०६) ने बेकस के उत्सव पर ही एक रंगनाटक लिखा है। यह हैलेनिक युग (ई० पू० पांचवीं शती) में व्यर्थता और अपराध के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। वस्तुतः यह ऐरिस्टोक्रेटिक संत्रास (हारर) की अभिव्यक्ति है क्योंकि राजनीतिक और सामाजिक अंतर्विरोधों के कारण जो संकट उत्पन्न हुए थे उनका निराकरण अभिजात-तंत्र नहीं कर सका। वस्तुतः डायोनीसस का आगमन किसी कृषि-विद्रोह की उपज है। यह कृषक-लोक के उन संप्रदायों के अनुप्रवेश का सूचक है जो शहरों की व्यवस्था के प्रतिकूल थे; लेकिन इस विद्रोह के कारण—कबीलाई क्षेत्रों से उभर कर—नये-नये संदर्भों को प्राप्त कर रहे थे। सामाजिक पक्ष से थियोग्निस ने कुलीन संत्रास को प्रकट किया है: **"शहर अभी भी शहर है, लेकिन आबादी बदल गयी है। पहले उन्हें क़ानूनों का कोई इल्म नहीं था, वे अपने शरीर को बकरी खाल से ढंकते थे और शहर की दीवारों के बाहर हरिणों की तरह उछलते रहते थे; लेकिन अब वे कुलीन हैं।..."**[२]

१. लेवी ममफोर्ड, 'दि कंडीशन आफ़ मैन', सेकर एंड वारबर्ग, लंदन, १९६३, पृ० २५।

२. जैक लिंडसे, 'दि एंशियेंट एज', वाइडेनफेल्ड एंड निकलसन, लंदन, १९६८, पृ० ५६।

यहां त्रासदी (ट्रेगास=बकरे की खाल) के कृषकीय जन्म और उसके आभिजात्यपूर्ण हो जाने की प्रक्रिया का उद्घाटन हुआ है। अतः एक ओर सुरा और सुंदरी और असुर उन्माद के देवता डायोनीसस ने, तो दूसरी ओर पाताल (=खनिकों और पहाड़ी घाटियों के मज़दूरों-गुलामों) के देवता **ऑर्फियस** ने अविवेकशील और रहस्यमय तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया अर्थात् कुलीन ग्रीक इतिहासदर्शन में यह दरार डाल दी कि कुलीन नायकों और शहर-प्रजातंत्रों के वर्गनिर्मित नियमों से अधिक ताकतवर निम्नवर्गों का यह स्वतःप्रवर्तित विद्रोह हुआ। अतः शहर के स्वामियों ने डायोनीसियाक-पंथ का तब तक विरोध किया जब तक कि उन पर 'दुर्भाग्य' की बिजली नहीं गिरी अर्थात् जब तक कि उनके गुलामों ने कोई खौफ़नाक वारदात नहीं की। ओर्फियस का उदय कुलीनों के मानवीय न्याय की पूर्ण अस्वीकृति तथा इहलोक में सुख से पूर्ण हताशा की अभिव्यक्ति है। ग्रीक शब्द 'मोइरा' (Moira) का अर्थ कबीलाई समाज में जमीन का अलाटमेंट है जो बाद में भाग्य का सूचक बन गया। होमर के बाद तक आवश्यकता और गुलामी को एकबद्ध किया जाता था लेकिन ओर्फ़ियसवादी खनिक-मज़दूरों ने आवश्यकता और मोइरा को एकबद्ध करके यंत्रणा और उद्धार, दोनों को अभिव्यक्त किया। इस तरह त्रासदी में बेकस, ओर्फ़ियस और डायोनीसस जैसे देवताओं के माध्यम से, वर्ग-संघर्ष की प्रवृत्यात्मक अभिव्यक्तियां हुई हैं जो अंत में कुलीनता में रंगारंग हो गयीं। इससे स्पष्ट है कि सभी यूनानी कुलीनतंत्री मूल्यों के उपासक नहीं थे। समलैंगिक रति का आधार वह कुलीनतंत्री नैतिकता थी जो युद्ध और क्रीड़ा पर आधारित थी। अतः कुलीन नायक के त्रास-बोध के साथ-साथ सहज लोकजीवन के नर-नारी के रति-जीवन की प्रतिष्ठा हुई (किंतु उभयलैंगिक प्रतीक 'हर्माफ्रोडाइट' के रूप में इस वर्ग ने उसे कामोत्तेजक बिंब के रूप में इस्तेमाल किया : एक आकर्षक नग्न युवती द्वारा छिपे लिंग को अंकुरित करते हुए)। अतएव उपर्युक्त तीनों देवताओं ने एक 'नये व्यक्तित्व' की उद्भावना को प्रकाशित किया। इस तरह 'त्रासदी' ने नारी को विमुक्त किया, मनुष्य में 'करुणा' का संचार किया और आपसी हत्या-भरी लड़ाइयां समाप्त कीं। ईस्किलस (ई० पू० ५२५-४५६) तथा सोफ़ोक्लीज़ (ई० पू० ४९६-४०६) भी अपने समाज की व्यवस्था के बुनियादी अंतर्विरोध नहीं सुलझा सके जिसके कारण ही गुलामों के सहज विद्रोहों का विस्फोट हो उठता था अथवा अचानक कोई तथ्य इतिहास संबंधी क़ानूनी नज़रिये को धुंधला बना देता था। उक्त दोनों त्रासदीकार बारंबार आगाह करते हैं कि केवल मनुष्य (=व्यक्तिवाद) की चेतन शक्तियों तथा चेतन विवेक पर घमंड नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार भी जब निर्दोष या निरपराध यातना झेलते हैं तब ज़रूर ऐसी कोई भूल या त्रुटि है जिसका कोई भी इलाज नहीं है। किंतु विश्व के ये महान् त्रासदीकार, तत्काल का अतिक्रमण करके, 'समग्र मनुष्य' को 'मानवता की समग्रता' में भी रूपांतरित करते हैं। ईस्किलस ने भोले प्रोमेथिउस को ईश्वर तथा समस्त ब्रह्माण्ड से विद्रोह करने वाला दिखाया है।

आखीर में, ग्रीक राज्यतंत्र में भी—भारतीय आर्य समाज के 'सवर्ण' एवं

'शूद्र' के विभाजन की तरह—'कुलीन' (पुरोहित, योद्धा और व्यापारी) एवं 'गुलाम' ढाक के तीन पात की तरह मिलते हैं। युद्ध में जीते गये दुश्मन को मौत के घाट उतारने के विकल्प के रूप में गुलामी (स्लेवरी) का उद्भव एक नैतिक अच्छाई थी। लेकिन कालांतर में गुलामों को पकड़ने के लिए ही युद्ध किये जाने लगे। इस अमानवीय संबंध की अविवेकशीलता का औचित्य सिद्ध करने के लिए गुलामों को निम्न और अधम प्राणी बताया गया। गुलामों के शोषण और बेगार पर ही संपूर्ण ग्रीक समाज और संस्कृति का महान् सुपरिगठन खड़ा हो सका। उनके अनुसार 'स्वतंत्र मनुष्य' तत्त्वतः अवकाश (लेज़र) वाला है। अरस्तू तो मज़दूरी करने वाले मनुष्य को स्वतंत्र या इंसान मानने में भी हिचकते हैं। वे 'अवकाश' में जीवन के सुख, कल्याण तथा सौभाग्य को निहित मानते हैं। उनके अनुसार अवकाश के लिए विवेकप्रीति आवश्यक है। गुलामाश्रित समाज में कर्म और क्रिया को संदेह और नफ़रत से देखा जाता था। अतः अवकाश के समाधिमूलक विनोद और अन्वेषण में ही आत्म-पूर्णता स्वीकृत हुई। अरस्तू ने तो यहां तक कह डाला कि स्वतंत्र मनुष्य का मेरुदंड बिल्कुल सीधा होता है किंतु गुलाम आदमी की शरीर-रचना कठोर होती है ताकि वह अनिवार्य मेहनत कर सके। अतः अरस्तू **शरीर-सौंदर्य** की कीमत पर **आत्म-सौंदर्य** की उपेक्षा करते हैं। इसके कंट्रास्ट में 'कुलीन' प्रतिष्ठित हैं। कृषक-अभ्युत्थानों के फलस्वरूप हम कुलीनों के संत्रास का ज़िक्र कर चुके हैं जो 'त्रासदी' में त्रासबिद्ध नायक (ट्रेजिक हीरो) के रूप में भी प्रतिबिंबित हुआ है। हम यह भी बता चुके हैं कि 'क्लासिकल युग' (ई० पू० ४८० से अलेक्सांदर की मृत्यु तक) में पेलोपोनेशियन युद्धों की हिंसा बढ़ी थी और वर्ग-संघर्ष तेज़ हुए थे। अतएव वहां सामाजिक संकट के गहराने का नतीजा कुलीन का त्रास-बोध है। छोटे-छोटे कुलीनों में, व्यापारियों और किसानों में भी यह जागरूकता आ गयी थी कि उन पर मुट्ठीभर विशेषाधिकारी शासन कर रहे हैं। अतः कुलतंत्रियों (आलिगार्क्स) ने आपस में लड़ाई-झगड़े, मारकाट करके अपना पतन स्वयं कर लिया। अतः एक अकेले कुलीन ने शक्ति पर अधिकार जमा लिया और निरंकुश शासन कायम कर लिया। सोलोन ने (ई० पू० ५५०) समाज की पुनर्व्यवस्था की, क़ानूनों को मानवीय बनाया और नागरिकों को चार वर्गों में बांटा। उसने मध्यमान का सिद्धांत (डाक्ट्रिन आफ़ मीन) लागू किया जो दोनों छोरों की अतियों का मध्यम है। कवि हेसियड ने भी कुलीनों के अन्यायों की बड़ी शिकायत की है। हास्य के कवियों ने कुलीन युवकों की जिंदगी को 'सरदर्द, जलस्नान, असली शराब, आलस्य और पीना' बताया है। वे हसीन छैला और नाज़ुक युवक थे। ऐरिस्टोफेनीज़ (ई० पू० ४४८-३८०) ने कुलीन युवकों के बीच प्रचलित समलैंगिक किशोर संभोग की नैतिकता के खिलाफ़ नारियों की वकालत की है। सुखान्तकी में हमेशा स्वतंत्र और कुलीन लौंडों पर ही समलैंगिक मैथुन के लिए प्रहार किये गये हैं। कुलीनों के ऐसे ही हसीन लड़के (Kaloi) उत्तम मनुष्य (Strategoi) होते थे। अतः कुलीन की पूरी पदवी 'सुंदर और उत्तम' (Kalos kagathos) रही है। अतः ई० पू० ४११ और ४०३ में निरंकुश कुलीनों के

आकस्मिक विप्लव एक प्रकार से डाकुओं के छलछंद बन गये। ये ही सुंदर और उत्तम कुलीन बाज़ार में व्यापार पर नज़र रखने वाले और हरेक से ज्यादा-से-ज्यादा काम कराने वाले शोषक बन गये। अतः त्रासदी का भद्र (सुंदर और उत्तम) नायक लोभी वणिक 'Oikonomicos' में बदल गया। "अपने त्रासद असमंजस में नायक (अभिज्ञान के) उस नये स्तर पर तो नहीं चढ़ सका (जब नायक का खात्मा हो जाता है), लेकिन उसने दूसरों में इसके (अर्थात् कर्म में न सुलझने वाले द्वंद्व का संवेगात्मक ढंग से निराकरण) प्रति जागरूकता उत्पन्न कर दी। अतः व्यथा और विमुक्ति का संघुलन हुआ: इसे अरस्तू ने 'कैथार्सिस'—शुद्धीकरण (पर्गेशन) एवं पवित्रीकरण (प्योरीफिकेशन) के रूप में देखा। कवि और दर्शकों ने वह निराकरण प्राप्त कर लिया जिससे नायक वंचित रहा। लेकिन वंचित इसीलिए रहा कि वह दुःखद परिणति तक पहुंचने तक द्वंद्व में निरत रहा। सारी शताब्दी भर कवि अनुभव करते थे कि कुछ गड़बड़ हो गयी है कि, उत्तम संकल्पों वाले मनुष्य येनकेन प्रकारेण विरुद्ध स्थितियों में ढल रहे हैं; और इसी अनुभूति ने त्रासदियों को शक्ति और गहराई प्रदान की; इसी अनुभूति में करुणा, व्यथा, आतंक और विडंबना अंतर्निहित है।"[१] (कोष्ठक मेरे हैं)। इसी स्थिति का दूसरा पहलू हर्षोल्लास रहा है: त्रासदी की करुणा के विपरीत। सुखांतिकी में खलनायक उभरा। जो खलनायक निराकृत प्रस्फोटन में बाधा बनता है उसकी खिल्ली उड़ाई जाती है, उसका भड़ौआ बनाया जाता है, उसका नकटा किया जाता है और एक नयी विमुक्त-कारिणी ज़िंदगी हासिल की जाती है। असलियत में तो त्रासदी कुलीनों का तथा सुखांतिकी किसानों और विद्रोहियों का नाट्यरूप है। ऐरिस्टोफेनीज़ यूरीपिडीज़ से थोड़ी छोटी उम्र वाले समकालीन थे। सोफ़िस्टों को नापसंद करके वे किसानों की दुनिया की ओर, छोटे-छोटे किसानों की ओर मुड़ कर सरल और परंपरागत जीवन की खोज करने में तल्लीन हो गये। अतः उन्होंने सुकरात जैसे दार्शनिक तक की खिल्ली उड़ाई है, लोगों की शक्ति-लालसा के हेतु राजनीतिक तिकड़मों का विरोध किया है और युद्ध को अस्वीकार किया है। उन्होंने नारियों की स्वतंत्रता का भी प्रतिपादन किया है क्योंकि कुलीनों के समलैंगिक किशोर मैथुन के विपरीत नारियां जीवन की संपूर्णता का अर्धांग हैं। प्लेटो ने भी नारियों को संकुचित घरेलूपन से आज़ाद कराने के लिए स्पार्टा-प्रारूप प्रतिपादित किया अर्थात् पत्नियों, पतियों और संतानों की अभिभावकों के बीच में साझेदारी। उन्होंने स्पार्टा-प्रारूप के आधार पर ही नारियों को शयनशाला से निकाल कर व्यायामशाला में लाकर खड़ा कर दिया था; और स्पार्टा-प्रारूप के आधार पर ही मनुष्य में साहस के आभिजात-गुण की चरम परिणति स्पार्टनों में मानी थी। इस तरह स्पार्टा और आयोनिया का यह अंतरावलंबन चलता रहा। फलतः एक तो आत्यंतिक बौद्धिक स्पष्टता की साधना और दूसरी, उद्दाम संवेगों की अग्नि में स्वाहा होने की कामना—ये दोनों ही ग्रीक-

१. लिंडसे, वही, पृ० ११७।

चारित्रिकता बन गयीं; और इनका प्रतिबिंब त्रासदी पर भी पड़ा : एक ओर उसमें विवेकी अनुचिंतन है तो दूसरी ओर अनियंत्रित संवेग-विस्फोट। यूरीपिडस की त्रासदियों में इनका कठोर आमना-सामना भी होता है। अस्तु।

लेकिन हेलेनिक समाज के अंतर्विरोधों ने प्लेटो के सामाजिक विचारों को अप्रासंगिक तथा नाकारा बना दिया क्योंकि वे 'हेलैनों और बर्बरीकों के बीच, गुलामों और आज़ादों के बीच, ग्रामीण अर्थरचना और व्यापारी अर्थरचना के बीच की खाइयां नहीं पाट सके। उनके सामने ही **फ़ौजी ताकत** और **धन की ताकत** इतनी मज़बूत हो रही थीं कि प्रजाति और प्रजाति के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच, शहर और शहर के बीच संकीर्ण मनोवृत्तियां फन फैलाने लगीं। प्लेटो ने केवल अपने वर्ग और केवल अपनी कुलीन संस्कृति को संबोधित किया। इतने दंभपूर्ण तथा घातक प्रांतीयतावाद में पल कर हेलैनिक मनुष्य बर्बाद हो गया। 'परिवार पर गर्व, शहर पर गर्व, बुद्धि पर गर्व, सभी तो आत्म-पराजयी थे।'[1] तो, इस तरह ग्रीक नाटकों में त्रासबिद्ध नायक अवतरित हुआ। वह हेलैनिक सभ्यता की असफलता, किंतु प्रगाढ़ यथार्थ स्वीकृति की उपज है, जबकि भारतीय धीरनायक कल्पित आदर्श का फलागम है। अतः अरस्तू कुलीन त्रासबिद्ध पात्र में किसी त्रुटि अथवा असफलता की 'अनिवार्यता' पर बल देते हैं। वे उसे देवता, फरिश्ता, संत या पैगम्बर न बनाकर 'हम-जैसा' बनाते हैं ताकि हम एक 'नवीन (कुलीन) अस्मिता' में अनुप्रवेश करें। कैथार्सिस-प्रक्रिया के कारण अस्मिता-दशा का यह भावन अल्पकालिक है। त्रासबिद्ध नायक अपने विनाश का असली कारण नहीं जानता क्योंकि स्वयं त्रासदीकार कवि और त्रासदी के सिद्धांतवेत्ता दार्शनिक भी तो असली कारण नहीं जान सकते थे, क्योंकि उस युग में, तब **आवश्यकता** (या अनिवार्यता) **भाग्य** से जुड़ी थी। अत: ऐतिहासिक परिवर्तन उस आवश्यकता की अभिव्यक्ति बने जो 'भूल' अथवा 'असफलता' है अर्थात् इस आवश्यकता से कार्य-कारण श्रृंखला गायब हो गयी और यह मानवीय स्थितियों से बेकाबू हो गयी। अतः यह आवश्यकता एक अंधी और अतिमानवीय शक्ति बन कर स्थापित हुई; और कर्म से छिटककर दुर्भाग्य से जुड़ गयी। अतएव **आवश्यकता** का संयोग **स्वतंत्रता** से नहीं हुआ। अत: वहां 'क्रांति की त्रासदी' के बजाय 'भाग्य (या दुर्भाग्य) की त्रासदी' का अभ्युदय हुआ। दुर्भाग्य से चंद साल पहले ग्रीस में ही फ़ौजी तानाशाही कायम थी। यह भी आधुनिक ग्रीक त्रासदी है जिसका ज्वलंत प्रतीक संगीतज्ञ मितीस थियोडोराकिस हैं।

सांस्कृतिक नृतत्त्व और कलारूपों के आकृतिबंध

भारतीय आर्य और द्राविड़ के लंबे संघर्ष तथा आयोनियन और स्पार्टान वासियों के संघर्ष के नतीजों से एक ओर तो दासों के स्वामित्व वाली व्यवस्था पनपी; दूसरी ओर पृथक् जीवन-धाराओं में विश्वदृष्टिकोण के स्वरूप बदल गये।

1. लेवी मम्फोर्ड, वही, पृ० ३२।

दृष्टिकोणों का यह बदलाव सामाजिक व्यवस्था और प्राकृतिक वातावरण का परिणाम है। इस परिवर्तन के साथ क्रमशः नयी मनोवृत्तियों का अन्वेषण हुआ जिससे नयी-नयी व्यक्तित्वधारणाएं उद्‌घाटित हुईं। यह अन्वेषण और उद्‌घाटन मानवीय इतिहास के विकास में कुछ ऐसा था कि दार्शनिकों और सौंदर्यवेत्ताओं ने झटिति प्रत्यय के साथ लौकिक कार्यकारण-शृंखला को खोल फेंका और अपने नये सृजनात्मक उल्लास को 'चमत्कार' या 'आश्चर्य' (Peripeteia) का नामकरण दिया। चमत्कार या आश्चर्य : अर्थात् लौकिक कार्यकारण की शृंखला से नितांत भिन्न लीला और अभिव्यक्ति !! यह पुराकालीन मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया थी और तब वह आत्मान्वेषण के विवेक (ग्रीक) या भावोल्लास (आर्य) में अनुप्रीत था।

वैदिक आर्यों का जीवन इहलौकिक था। वे पशुधन और संपत्ति, स्वास्थ्य और दीर्घायु, संतान (वीर पुत्र), शत्रु-विजय आदि के कामी थे। चहुंव्यापी विश्व के **प्राकृतिक आश्चर्यों** से मुग्ध वैदिक ऋषियों की मनोदशाएं 'संहिताओं' में दृष्टि-गोचर होती हैं। **इंद्र** उनका देवता है। कालांतर में उन्होंने यह अन्वेषण किया कि प्रकृति और मानवीय प्रकृति दोनों पर **वरुण** का शासन है। वरुण शांतिप्रिय देवता है, शासक है। वह 'ऋत' अर्थात् विश्व में एवं मानव जीवन में नैतिक नियमों का अधिशासक है। अतः वरुण 'ऋत' (=नैतिक व्यवस्था या नियमशीलता) का रक्षक है। अतः 'ऋचा' के लिरिकल गायन तथा 'ऋत' के जीवन-रक्षण से आर्यों को भावनाओं तथा विवेक के संसार के अंतर्लोक समझ में आये। इंद्र और वरुण के साथ उन्होंने **अग्नि** और **सूर्य** को भी पूजा। सूर्य से वैदिक कवियों ने स्वर्ण के संकेत दिये, तथा सृष्टि एवं काल के बोध प्राप्त किये। जयशंकर प्रसाद[1] ने प्राचीन आर्यों को सदैव से आनंद, उल्लास और प्रमोद का उपासक बताया है। किंतु तभी समानांतर एकेश्वरवाद और आत्मवाद की उभय शाखाएं पल्लवित हो रही थीं। एकेश्वरवाद के प्रतिनिधि वरुण, तथा आत्मवाद के इंद्र हैं। लेकिन कालांतर में—आर्य-द्राविड़ संघर्ष की तरह—वरुण को देवताओं का अधिपति पद छोड़ना पड़ा। इस तरह न्यायपति राजा और विवेकपक्ष की यह पहली हार हुई। यह बुद्धिवादी दृष्टिकोण की भी हार थी। इसके विपरीत आत्मवादी दृष्टिकोण की विजय से इंद्र की प्रतिष्ठा हुई और आनंदवाली धारा बह चली। आनंद का स्वभाव ही उल्लास है जिसकी प्राप्ति कर्मकांडों और बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा हुई। अतः आनंद-सिद्धांत में प्रेम और प्रमोद शामिल हुए; और आनंदात्मक आत्मा की उपलब्धि के लिए तर्कों तथा विकल्पात्मक बुद्धि को त्याग दिया गया। स्पष्ट है कि इंद्र जसे सोमपायी यज्ञ-भोगी एवं युद्ध-प्रेमी देवता का अभिषेक आध्यात्मिक रहस्य और अविवेक का अन्वेषक हुआ (यहां इंद्र ने तरुणों को स्वतंत्र करने में डायोनीसस के जैसी भूमिका निबाही)। अतएव 'ऋत' के बजाय 'आत्म' केंद्र बना। ऋत-केंद्र वाले आर्य पूर्व में मगध, अंग, वृज्जि आदि

१. दे० 'रहस्यवाद', और 'रस' शीर्षक दोनों लेख; 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में संगृहीत (भारतीभंडार, इलाहाबाद)।

की ओर चले गये और **व्रात्य** कहलाने लगे। वे अंतर के आत्मवाद तथा बाहर के याज्ञिक उल्लासों के बंधनों से भी विमुक्त हो गये। अतः पहली बार उन्हें यज्ञ की हिंसा और आत्मा में आनंदभोग के अविवेक का आभास हुआ। उनमें 'अहिंसा' और 'दुःख' के भाव जगे। अतः याज्ञिक आनंदवादी धारा की टक्कर में अयाज्ञिक बुद्धिवादी धारा में सामाजिक यथार्थ को ज्यादा सही रूप में देखा गया : संसार दुःखमय प्रतीत हुआ और दुःख से छूटना ही 'मोक्ष' हुआ ! अतः अगर विवेक-केंद्र दुःख की सच्चाई के सम्मुख ला खड़ा करता है तो आनंद-केंद्र उल्लास के भावावेश में तंद्रिल बना देता है। फलतः विवेकवादी **मनीषी** और आनंदवादी **कवि** का अन्योन्याश्रय खंडित हुआ। आनंदवादियों ने विवेकवादियों के बुद्धिवाद को 'अविद्या' अर्थात् **इहलोक का तार्किक ज्ञान** कहा क्योंकि वह **कर्म** और **विज्ञान** की उन्नति करती है और **नानात्व** (द्वैत) को बताती है। इस तरह सारस्वत-धुरी के आनंदवादी तरुण आर्यों ने 'आत्म' एवं 'अद्वैत' के, तथा विवेकवादी प्रौढ़ आर्यों ने 'चेतना' एवं 'विकल्प' के मूल्यचक्र चलाये। आनंदवादी आर्यों के दार्शनिक विचारधारकों ने एलान किया कि तर्क एवं विकल्प के द्वारा आनंद अथवा आत्म की उपलब्धि ही नहीं हो सकी। अपनी अद्वैतवादी तर्क प्रणाली के अनुसार अंततः उन्होंने पहले 'आत्मा=आनंद' का समीकरण दिया; तदुपरांत 'आत्मानंद' का नया रहस्यानुभव भी स्थायी वृत्तियों (विवेक की नहीं) की भूमि पर कायम किया। एक आदिम रहस्यमूलक मनोविज्ञान का यह पहला 'प्रकाश' है।

उधर पूर्व में **मगध-धुरी** में 'यज्ञ' के बजाय 'ज्ञान' की तलाश शुरू हुई; 'आनंद' से अधिक महत्त्व 'दुःख' को दिया गया; प्रमोद और उल्लास की अपेक्षा 'समाधि' और 'तपस्या' की प्रतिष्ठा हुई (जनक, वशिष्ठ आदि)। अतः 'भोग' और 'अपरिग्रह'—कालांतर में प्रेयस् और श्रेयस्—के धुव्रांत कायम हुए। फलतः क्रमशः 'कवि' और 'मनीषी' भी पृथक् हुए।

उपनिषदों में आकर इन ध्रुवों का द्वंद्वात्मक संयोग होता है। ई० पू० १०००-५०० के बीच लगभग सभी उपनिषद् रचे जा चुके थे अर्थात् शैशुनाक-काल (ई० पू० ७२७-३६६) तक यह कार्य संपादित हो चुका था। वैदिक काल के तैंतीस देवताओं को 'ब्रह्म' में तिरोभूत करके एकेश्वरवाद के निकट पहुंचा गया; यज्ञ के बजाय 'ज्ञान' को प्रभुसत्ता दी गयी, तथा 'आत्म' और 'ऋत' के ज्ञान को अनन्य बताया गया। यज्ञ के बजाय 'ज्ञान' ही नहीं, 'योग' भी प्रतिष्ठित हुआ। अतः इसका नतीजा यह हुआ कि आनंदवादी साधनाएं (ज्ञान एवं योग के नये उपयोग से) गुप्त एवं रहस्यात्मक होती गयीं।

इसकी टक्कर में व्रात्य दर्शनों का भी प्रसार हुआ। उनमें विचार का परीक्षण (विकल्प) करने की पद्धति प्रमुख हुई। अतः पूर्व भारत में ही बौद्ध और जैन दर्शन, न्याय और मीमांसा दर्शन पल्लवित-पुष्पित हुए। विवेक के आधार पर तर्कों को परमपद तक ले जाने के फलस्वरूप जगत भौतिक मिला, संसार दुःखमय लगा और मानव जीवन का पुरुषार्थ **निर्वाण** (=दुःख से निवृत्ति) हुआ। यही यथार्थवादी त्रास-बोध का अंकुर है। जब-जब **आत्मा** की अस्वीकृति हुई है, तब-तब **आनंद** भी प्रश्नांकित हुआ है,

तथा दुःख, भय, करुणा आदि की दबायी गयी भावनाओं में प्रकंपन और विद्रवण, प्रस्फोट और विस्फोट हुआ है। विज्ञानवादी बौद्ध और स्याद्वादी जैन तथा भूतवादी लोकायतिकों ने मूल में 'शक्ति' की तलाश की। उन्होंने शक्ति-संपादन के प्राकृतिक रहस्यों को प्रकृति और मनुष्य में ढूंढ़ना चाहा। अतः उसकी 'प्रज्ञा', 'प्रकृति', 'माया', 'नारी' आदि के रूप में व्याख्याएं हुईं। अतः पहले धरातल पर ही चैतन्य की भिन्नता मिली। अतः जगत की तरह जीवन और रस सुखात्मक-दुःखात्मक दोनों हुआ : उभयात्मक !! यह अंतर्विरोध स्थायीभाव और रस तक चला आया और आज तक अनिराकृत है। स्थायीभाव ही पचित होकर रस होता है। रस एक है किंतु स्थायी-भाव अनेक। यही अंतर्विरोध भक्ति के, नट-पात्र के, प्रेक्षक-कवि के, कवि-पात्र के आदि द्वैतों को इस तरह जकड़ता है कि आधुनिक द्वंद्वात्मक विश्लेषण के द्वारा आनंद-वादी रसवाद की दोनों धाराओं का प्रचंड रूप में संघर्ष चल पड़ता है। 'आनंद=आत्मा=ब्रह्म' के त्रिमुखी समीकरण और तद्भत तीन संबंधों (आत्मानंद, ब्रह्मानंद, ब्रह्मात्मा) की तार्किक निर्मितियों पर यह रहस्यवादी तिलिस्म खड़ा है जिसको मज़बूत करने के लिए बारंबार 'महा' उपसर्ग लगाया गया है (जैसे महारस, महाभाव, महारास, महाकाल, महाभूत, महामुद्रा, महाकाव्य, महावाक्य, आदि)। इसी त्रिमुखी समीकरण की नींव पर 'साधारणीकरण' (संकल्पपद्धति और आत्मबोध की दशा) टिका है। 'साधारणीकरण' के हटते ही वैचित्र्य आयेगा और **धीरनायकत्व** की धारणा का स्थान **व्यक्तिवैचित्र्य** ले लेगा। इसी तरह 'आनंद=ब्रह्म' का समीकरण हटाते ही समाधि, चैतन्य, विश्रांति की स्थितियां विलुप्त होंगी और उनका स्थान वेदना, चेतना और संघर्ष ले लेगा। अतः दुःखमय जीवन को स्वीकार करके संसार में संघर्ष करने की ग्रीक पुकार, और दुःखमय जीवन को स्वीकार करके संसार को त्याग देने की आर्य पुकार, इन दोनों के केंद्र में संघर्ष रहा है, न कि समाधि। किंतु ग्रीक त्रासदी में यह संघर्ष भाग्य से टक्कर लेता है और कुछ भारतीय दर्शनों में यह मात्र 'करुणा' बन जाता है। अतः यह तो स्पष्ट हुआ कि लगभग एक ही समय में ग्रीस और भारत में 'करुणा' (पैथॉस) का बोध प्रबल हुआ। ग्रीस में मनुष्य को दुर्दमनीय प्रकृति और पराक्रमी स्पार्टनों से निरंतर संघर्ष करना पड़ा। अतः उन्होंने आनंद के बजाय करुणा को स्वीकारा, तथा चरित्रनिर्मात्री वासनाओं के आनंदमय साधारणीकरण के बजाय उनका त्रासमय कैथार्सिस किया। अतः मानवजीवन की नियति में ग्रीकों ने **मृत्यु** को पाया, तो आर्यों ने **मुक्ति** को। अतः उपनिषद् काल में ही मोक्ष या मुक्ति या अमृतत्व की तलाश हुई। कालांतर में सांसारिक भोग एवं ऐश्वर्य के प्रति **वैराग्य-भावना** और जगत की **नश्वरता** पर बल देना परवर्ती भारतीय आर्य-चेतना की शैली बन गया। फलतः एक ओर 'नाट्यशास्त्र' पंचम वेद है, दूसरी ओर भरत पुरोहित हैं और तीसरी ओर प्रेक्षक योगी है। जाहिर है कि यहां कई ऐतिहासिक परिवर्तनों तथा दार्शनिक जीवन-दृष्टियों का संगम हो गया है।

इस परिवर्तन में कई क्रांतदर्शी लोचनों का समवेत युग-बोध है, कई सम-कालीन अनुभूतियां हैं और कई सृजनात्मक दिशाएं हैं। वैदिक (ब्राह्मण, श्रुतियां,

उपनिषद्, निगमादि) काल से रामायण-महाभारत काल (ई० पू० १५००-५००) तक आर्य **ऐश्वर्य** तथा **सुखपूर्ण** ऐहिक जीवन के कामी थे। **अर्थ** और **काम** जैसे पुरुषार्थ वैदिक युग की उपज हैं। **मोक्ष** का मूल्य उपनिषद्-काल की देन है; तथा **धर्म** प्रधानतः—ऋक से उगा हुआ—'महाभारत' में रूपायित हुआ। ये चारों पुरुषार्थी मूल्य असंख्य बाहरी-भीतरी द्वंद्वों का सारांश हैं जो सामाजिक गतिविधियों तथा वैयक्तिक आकांक्षाओं को प्रस्तुत करते हैं। ये 'कर्म' और 'संघर्ष' के फल हैं। अतः महाभारत को 'इतिहास' कहा गया है। 'रामायण' में वेदना-बोध इसलिए तीव्र है कि —महाभारत में एक ही संस्कृति के विघटन के विपरीत—वहां दो विभिन्न सभ्यताएं एवं संस्कृतियां टकराती हैं। अतः वहां कर्म के बजाय 'संवेदना' को और संघर्ष के बजाय 'सौंदर्य' को ज्यादा महत्त्व दिया गया। इसलिए 'महाभारत' **इतिहास** और 'रामायण' **काव्य** है। इनसे चतुर्वर्ग तो प्राप्त हुआ ही; मूल वृत्तियां भी प्राप्त हुई हैं। महाभारत में वीरता प्रधान थी। अतः **वीर** रस ! वीरता का एक आतंकवादी (टेररिस्ट) बाहरी रूप **रौद्र** है तो दूसरा संत्रासवादी (हॉररिस्ट) अंदरूनी रूप **बीभत्स**। यह युद्ध की धुरी की देन है। यहां युद्ध के विभिन्न अनुभवों का एक महान् मनोवैज्ञानिक भाष्य मिलता है। यह अनुभव-चक्र विजेता पक्ष का है, जटिल है, अद्वितीय है। अतः इसको तीन स्थायी वृत्तियों में गूंथा गया। लेकिन अभी कुछ और जन्म ले रहा था। वैदिक **ऋचागान** के बाद ब्राह्मणग्रंथों में पुरोहित ने **मंत्र-अनुष्ठान** का जाल फैलाया। अब देवताओं की कृपा के बजाय उनकी 'शक्ति' को अनुष्ठानों द्वारा संपादित करवा लेने की अद्भुत भावना फैली। यह वैज्ञानिक आवश्यकता की वह उपज है जो जादू और धर्म को पृथक् करने की दिशा में पहली दस्तक है। फलतः भीष्म और द्रोण, अर्जुन और कर्ण, राम और रावण, लक्ष्मण और मेघनाद इत्यादि अपने बाणों तथा अन्य अस्त्रों को अभिमंत्रित करके प्रहार करते हैं। अति-मानवीय पात्रों के अलौकिक करिश्मों से उद्भूत दशा को **अद्भुत** रस में उन्मीलित किया। अतः यह दशा असामान्य मनोविज्ञान और असाधारण सामाजिक संशयों का फल है। अठारह शताब्दियों बाद भट्टनायक को भी पार्वती की रति, भीम के पराक्रम और हनुमान के पर्वतोत्तोलन की असामान्य भावदशाओं और असाधारण सामाजिक संशयों का सामना करना पड़ा; तभी उन्होंने एक अभिनव सौंदर्यदर्शन हाज़िर करने का कमाल कर डाला।

इतिहास के प्रभामंडल में दुबारा झांकने पर उन्मादी कर्मकांडों तथा हिंसात्मक यज्ञों के रौद्र-बोध के विपरीत बौद्धों एवं जैनों की प्रतिक्रिया पाते हैं—अहिंसात्मक 'करुणा' की। करुणा के मंडल में वेदना, दया, सहानुभूति, दुःख आदि नाना भाव-दशाएं संकुल होकर एकाकार हो गयीं। यह सामूहिक चेतना के विच्छिन्न होने तथा आत्म-यंत्रणा के फूट पड़ने का नतीजा था। यह करुण पुकार दया, क्षमा और शांति की थी। इसमें ग्रीक त्रासदी की 'व्यथा' के वृत्त वाला भय, घृणा, संघर्ष, आदि नहीं था। बौद्धों के इतिहास में ही हम मौर्यकाल (ई० पू० ३२५-३०२) में चंद्रगुप्त के पौत्र महान् अशोक (ई० पू० २७७-२३६) के युद्धानुभव में नये हाशिये उभरते पाते

हैं। कलिंग-आक्रमण के एक सफल अभियान के बाद भी अशोक आत्म-परास्त होते हैं और युद्ध की विभीषिका और राक्षसी नृशंसता की परिस्थिति में उनमें आत्म-लक्ष्यी **संत्रास** (सब्जेक्टिव हॉरर) तथा **पश्चाताप** का अनुभव होता है। वैदिक परिवेश में युद्ध (इंद्र) और ऋक का आनंद (सोम रस) था; महाभारत-संदर्भ में युद्ध और निरर्थकता की विरक्ति थी; रामायण-प्रसंग में युद्ध और मर्यादा का आदर्श था; बौद्धों के परिदृश्य में युद्ध और हत्या से घृणा थी; तथा अशोक की यातना में युद्ध और पश्चाताप का भय था। अतः सामाजिक हाशियों पर संत्रास तथा हिंसा की सामूहिक एवं वैयक्यिक सार्थकता की तलाश रही है—दार्शनिक एवं सौंदर्य-बोधात्मक तलाश। इसी अन्वेषण के अंतराल से मनुष्य की खोज हुई। इसी अन्वेषण से आदिम स्थितियों में दार्शनिक मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक मनोविज्ञान का जन्म हुआ; और इसी स्थायी नियति के अभ्यास से मानव चरित्र में 'धीरता' नाभिनाल बनी। यह एक विवेकधर्मा मनुष्य की निशानी थी, अतएव महाकाव्यों-इतिहासों एवं राजाओं की परंपरा से छनकर युधिष्ठिर जैसे **उदात्त**, राम जैसे **प्रशांत**, उदयन जैसे **ललित** और भीम जैसे **उद्धत** चरित्रगुण वाले नरोत्तम पेश हुए। महाकाव्यों-इतिहासों तथा अशोक के अनुभवों ने मिलकर **भयानक** रस के स्थायी अनुभवों को भी पेश कर ही डाला। भारतीय इतिहास के ये स्थायी अनुभव ही 'संस्कार' तथा 'वासनाएं' बने। ग़ालिबन मानवमात्र की एक मनोदार्शनिक कल्पना भी पूर्ण हो गयी क्योंकि उसके नश्वर शरीर में अमर आत्मा की सत्ता भी स्थापित हो गयी। इस तरह भारतीय आर्य-अनुभव में प्राथमिक वीर, रौद्र तथा बीभत्स की उत्साह, क्रोध एवं जुगुप्सा नामक स्थायी वृत्तियां; और परवर्ती इतिहास-सत्य के आलोक में उनसे उभरे क्रमशः अद्‌भुत, करुण और भयानक की स्मय, शोक एवं भय की स्थायी वृत्तियां 'छै मूल प्रवृत्तियों वाले मनुष्य' का मनो-जन्म कराती हैं जिसकी सांस्कृतिक एवं वैश्वक अभिव्यंजनाएं छै रस हैं।

एक अनुभव शेष रह जाता है: रति का। एक सांस्कृतिक अभिव्यंजना छूट रही है: श्रृंगार की। वेद से लेकर उपनिषद् (वेदांत) तक की युग-चेतना में काम और सौंदर्य के आयाम झिलमिलाते भर हैं। महाभारत और रामायण में भी ये छट-पटाते मात्र हैं। किंतु काम सोम से जुड़ा है। इतिहास-महाकाव्य के दायरों में काम एक पुरुषार्थ बन जाता है। सोम मधु और अमृत है। अतः सोम पीकर मर्त्य मनुष्य और मानवता भी अमर हो जाती है। अतः सोम का लौकिक तत्त्व काम है। सोम स्वस्तिमान् भी है। अतः सोम आनंद और सौंदर्य भी है। सोमलता ही मानव-वंश की लता है। अतः सोमसूक्तों में भारतीय सौंदर्य-तत्त्व का सूत्र गुंथा है जो चेतना और आनंद से निःसृत है; शुभ है। स्पष्ट है कि यहां श्रृंगार और रति की धारणा का वांछित उन्मीलन नहीं हुआ है क्योंकि यह पुरोहितों और योद्धाओं के अनुभव-संसार की अपेक्षा लोक-जीवन और लोक-मन में जन्म लेने वाला आवेग है। यह देवों की अपेक्षा गंधर्वों का उपहार है। वस्तुतः गंधर्व और कंदर्प एक ही शब्द हैं। आर्यवृत्त में इस आर्येतर कबीलाई देवता का अभिषेक ग्रीकवृत्त में वनदेवता डायोनीसस के समान ही क्रांतिकारी साबित हुआ। आर्येतर कबीलाई—पहाड़ों और घाटियों की—प्रजातियों ने

पर्जन्य, पूषण, कंदर्प देवों को शामिल किया। अतः अभिमंत्रित बाणों का स्थान अरविंद-आम-अशोक-नीलोत्पल-नवमल्लिका के फूलों से बने बाण ने ले लिया; और यौद्धेय धनुष को कंदर्प के टूटे हुए पुष्प-धनुष ने विस्थापित कर दिया। टूटी मूठ चम्पे का फूल, नाह मौलसिरी का फूल; कोटि पाटल का फूल, मध्यदेश चमेली का फूल तथा निम्नकोटि बेला का फूल बन गयी। इस तरह कंदर्प एशियाई प्रकृति के भारतीय यौवन (वसंत) का श्रृंगार भी बन गया।[1] अतः मानवीय शोभा और प्राकृतिक श्रृंगार, अथवा मानवीय श्रृंगार और प्राकृतिक शोभा परस्पर दर्पण-दीपक-भाव से संयुक्त हो गये। आरतीय आर्यों की सौंदर्य-दृष्टि की मूलचिति यही है! कंदर्प और/या गंधर्व यक्ष जाति के थे। यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता माने जाते हैं। अतः विलास और कामना से भरी सुंदरियां इनके पास जाकर विमुक्त होती हैं। अतः श्रृंगार और शोभा, सौंदर्य और रति, श्रृंगार और रति अनन्य हुए। यह कठोरता से कोमलता की दिशा का एक अनिर्वचनीय अनुभव था। यह एकांत, गोपनीयता और समृद्धि का अनुभव होकर जब सामंतों और सम्राटों के शयन-कक्षों में पहुंचा, तब परिष्कृत होकर **रसराज** हो गया। सम्राट उदयन की रोमांटिक कथाओं की ललित छायाओं ने भी श्रृंगार का कुलीनीकरण किया है। अतः ऋतुराज वसंत और रसराज श्रृंगार अभिजाततंत्रीय व्यवस्था के विलास हो गये। ब्राह्मण राजाओं के शुंग-काल (ई० पू० १८८-३०) में दो बार अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पुष्यमित्र के समय तक चौड़ी कटिमेखला पहने हुए प्रायः नग्न सुंदरियों के संतान-कामिनी होकर यक्षों के पास जाने की स्वीकृति मिल जाती है। सांची और भरहुत की मूर्तियों में ऐसी ही स्त्रियां अंकित हैं और उनकी प्रमुखता है। यह 'दोहद' रति की भूमिका बना। अतः **श्रृंगार** रस की प्रतिष्ठा हुई। इसके साथ ही राज-परिवेश के उत्सवादि (मदनोत्सव, लोकरंजन) के साधनादि (विदूषक, नट) के कारण श्रृंगारोद्भूत सहकारी **हास्य**—रस भी स्वीकृत हुआ।

शुंग-काल में वैदिक धर्म ब्राह्मण धर्म (हिंदुत्व) में ढला। इसी काल में 'महाभारत' और 'रामायण' को, 'मनुस्मृति' और 'कामसूत्र' को, 'नाट्यशास्त्र' और पुराणशास्त्र को अंतिम रूप मिला। ब्राह्मण शुंग-राजाओं के इस काल में ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा हुई तथा 'अनुवंश्य' संपूर्ण एवं विविध ज्ञान-सूत्रों, शास्त्रों, स्मृतियों में संकलित कर लिया गया। वस्तुतः यह काल भारतीय ज्ञान के अन्वेषण और आश्चर्य से भरपूर है। इसे हम भी—उपनिषद्काल के पश्चात्—**दूसरा भारतीय रिनैसां** मानते हैं।

वस्तुतः शुंग-काल बौद्धों के दुःखवाद और गणराज्यवाद के विरुद्ध एक परंपराव्रती प्रतिक्रिया थी जिसके सांस्कृतिक नेता ब्राह्मण बुद्धिजीवी थे। इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' में भी श्रृंगार का अभिजाततांत्रिक रूप-स्वरूप है और 'विवेक=दुःख' की यथार्थवादी लौकिक जीवन-दृष्टि के बजाय 'आत्म=आनंद' की अद्वैतवादी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी का ललित लेख, 'अशोक के फूल'।

आदर्श जीवन-दृष्टि की ही आधिकारिक सत्ता है। वही ढाक के तीन पात ! किंतु सूत्रकार भरत पुरोहित भी चार मूल रसों में (शृंगार के बाद) वीर, रौद्र और बीभत्स को; तथा तद्भूत रसों में (हास्य एवं अद्भुत के बाद) करुण और भयानक रसों को प्रतिष्ठित करते हैं। पांच रसों का यह रसघट भारतीय आर्यों का सामूहिक जातीय अनुभव है, उनका ऐतिहासिक राष्ट्रीय चरित्र है तथा मूलरूपेण वेदनाभोग (सफ़रिंग) से उपजा है। अत: यह सामाजिक एवं यथार्थवादी अनुभवकोष है। इन रसों के भी ऊपर आनंद का घनाच्छादन भरत का विचार-विवादी (पोलेमिकल) धोखा है जो विवेक एवं वेदना का इतना कृत्रिम नेतिकरण करके अंधेरा करता है। हे मुनि, तुम्हारे आनंदघन का आच्छादन तो शृंगार पर ही औचित्यसिद्ध है ! किंतु विलास और उत्सव-चक्र हमें केवल दो रस ही (शृंगार, हास्य; बाद में वात्सल्य) दे सके; जबकि संघर्ष और वेदना-चक्र ने वीर, रौद्र, करुण, बीभत्स, भयानक जैसे पांच नित्य अनुभव दिये जो इतिहास की स्मृति (नियति) और मनुष्य का सामूहिक अवचेतन (संस्कार) बन गये।

इस दृष्टि से ग्रीक अनुभव में लालसा (विलास एवं भोग), करुणा और भय की त्रयी प्रधान रही। उनके यथार्थवादी एवं बुद्धिवादी जीवनदर्शन में—भारतीय 'आनंद' के बजाय—'वेदना' प्रमुख रही। हम तो यही फान्तासी करते हैं कि अगर भरतमुनि शुंग-युग के बजाय अशोक के समय में हुए होते तो निश्चय ही नाट्यशास्त्र में रस की धुरी 'आनंद' के बजाय 'करुणा' (व्यथा) होती और भारतीय सौंदर्यतत्त्व चिंतन बिल्कुल ही बदला हुआ होता अर्थात् उसमें विवेकवादी-बुद्धिवादी-यथार्थवादी धारा की भी टकराहट होती। प्रत्युत: भरत में एक ओर बौद्ध संस्कृति के विरुद्ध पौराणिक प्रतिक्रिया है तो दूसरी ओर लोकधर्मिता से उठकर अभिजात संस्कृति के परिष्कार करने का उल्लास ! ! आश्चर्य है कि अपने युग में कपिशा, पुष्करावती, तक्षशिला, शाकल (मिनांडर का स्यालकोट) जैसी ग्रीक बस्तियों के सांस्कृतिक जीवन से भी भरत ने अपना अंतरंग भावकल्प नहीं किया !

अलबत्ता गुप्त सम्राटों के स्वर्ण-युग (ई० पू० ३२०-६०० ईस्वी) में जब सम्राट समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ और दिग्विजय करके परमभागवत होने की घोषणा की तब वैष्णव-बोध से 'शृंगार' ढला; अवतारों की लीला से अद्भुत तथा 'वात्सल्य' और 'शांत' की नयी भूमिकाएं मिलीं, तथा सौंदर्य-दृष्टि में सूक्ष्म एवं अलंकरणमूलक परिष्कार हुआ। यह बाद की कहानी है। लोकलक्षी भरत के मानस में तो आनंद की विनोदमय और शुभ उपाधियां ही थीं (ब्रह्म और प्रकाश के संयोजन तो बाद के हैं)।

'नाट्यशास्त्र' कुछ और ऐतिहासिक रहस्यों को अर्पित करता है। यह बौद्ध दर्शन के विरुद्ध पुराणसंग्राहक ब्राह्मण-प्रतिक्रिया है और विवेकवादियों के वेदनाभोग को भी पांच निषेधी रसों में समाहित कर डालता है। यही नहीं, यह रसवाद के विरोधी यथार्थवादियों के अलंकार-मतवाद को भी समाहित कर लेता है (सत्रहवां अध्याय)। यह तथ्य सिद्ध करता है कि अब बुद्धिवादी अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग भाषाक्रांति लाने में भी करने लगे। किंतु लगता है कि यह प्रयोग उनकी खंडित सौंदर्य-

दृष्टि का खंडनात्मक आक्रोश है। नाट्य और काव्य के खंड-खंड के प्रभाव की पृथक्ता का सिद्धांत प्रचारित करके उनके अलंकारवादी बंधुओं ने सौंदर्य की रचना तथा कला की रचना-प्रक्रिया की तह में पैठने की कोशिश की, लेकिन सौंदर्य के प्रभाव के अन्वेषण एवं आश्चर्य से दूर-से हो गये। वे शब्द के सिद्ध सुश्रुत बन गये; न कि संपूर्ण काव्य शरीर के प्रणयी!! शायद वह ('नाट्यशास्त्र') मूलरूप में **सूत्रात्मक** था; फिर सूत्रों के **भाष्य-खंड** जुड़े; और अंत में **कारिकाओं** के अंतर्गत विषयों का प्रतिपादन हुआ। भरत को भी कोहल नामक आचार्य से पर्याप्त संकलित ज्ञानराशि मिली थी ('शेषं प्रस्तारतंत्रेण कोहलः कथयिष्यति')। किंतु भरत ने इसे केवल अपने ही मत एवं सिद्धांत का प्रतिपादक बना डाला (दे० अभिनव गुप्त की 'अभिनव भारती' के समारंभ की साखी)। कालिदास ने भरत को देवताओं का नाट्याचार्य बताकर उनका सबसे प्राचीन उल्लेख ('विक्रमोर्वशीयम्' २/८) किया, लेकिन उन्हें मिथकीय गोधूलि में भी रंगरंजित कर दिया। उन्होंने यह ज़रूर बताया कि भरत का असली लक्ष्य आठ रसों का विकास करना था। इस प्रयत्न में उन्हें अप्सराओं (अर्थात् नर्तकियों, लोक गायिकाओं, राजरमणियों, वारिविलासनियों) ने सहायता दी। इसीलिए चौबीसवें अध्याय में स्त्रियों के स्वभावज और अयत्नज अलंकारों के उल्लेख, काम की दस अवस्थाओं और अष्टविध नायिकाओं के लक्षण, और दिव्यांगनाओं के स्वरूप एवं व्यवहारों का वर्णन है। पच्चीसवें अध्याय में वेश्याओं और दूतियों का विभाजन है; चौंतीसवें अध्याय में राजाओं के अंतःपुर की स्त्रियों का वर्णन है। इसका उत्कर्ष यह हुआ कि भरत के इस शास्त्र में **नाट्य** और **नृत्य** (गीत और अभिनय) तथा संगीत की कलाओं से युक्त शक्ति-त्रिकोण बन गया। एक अंतिम रहस्य और मिलता है। सातवें अध्याय के सैंतीसवें श्लोक में नाट्यप्रक्रिया में 'सिद्धि' अंतिम चरण मानी गयी है जिसका अभ्युदय प्रेक्षक-चित्त में होता है। अतः यह आस्वाद-प्रक्रिया की अंतिम अवस्था होने के कारण 'रस' से भिन्न है। किंतु भरत के बाद 'सिद्धि' की धारणा रस में ही तिरोभूत हो गयी। यह था शुंगकाल के पुरोहित और रमणी-प्रशंसक भरतमुनि का क्रांतदर्शी विस्मयपूर्ण विधान!!

इसकी तुलना में अरस्तू के दार्शनिक संसार में भी 'त्रासदी' के अनेक रहस्य-सूत्र खुल पड़ते हैं।

प्लेटो और अरस्तू, दोनों के ज़माने (ई० पू० ४२८-३२२) तक धन की ताकत और फ़ौज की ताकत (टिमोक्रेसी) में उभार आ चुका था, तथा विवेक की ताकत अवसन्न हो रही थी। आत्म-निर्भर नगर-राज्य अब आश्रित हो चले थे। अतः ईजिप्ट, क्रीट, एशिया, फोनीशिया, कार्थेज के व्यापारी ग्रीस पर आर्थिक सत्ता मजबूत बनाते जा रहे थे। समुद्री व्यापार ने ग्रीस में उपभोक्ता मालों की भरमार कर दी थी; विदेशियों की दौलत के प्रदर्शन और विलास ने शहरों में लोभ और भ्रष्टाचार की भूख फैला दी थी। अतः भूमिधर कुलीनतंत्र का संतुलन लड़खड़ा गया। इसीलिए प्लेटो को योद्धा-कवि के बजाय 'दार्शनिक-राजवेत्ता' की धारणा पेश करनी पड़ी; और कुलीन वर्गों के अहंकारपूर्ण तथा अनुकृति-विलासी दायरों में सिकुड़ना पड़ा।

ईसा पूर्व चौथी सदी तक अरस्तू ने साहूकार वर्ग के अदृश्य शासन को भली भांति पहचान लिया था। अतः उन्होंने कहा कि साहूकार वर्ग का शासन सबसे ज्यादा राक्षसी है। प्लेटो के समय तक 'डेल्फिक देववाणियां' प्रभावहीन हो चुकी थीं तथा (काव्यगोष्ठियों एवं राजमंत्रणाओं के काम करने वाली) 'ओलिम्पिक क्रीड़ाएं' उत्सवों का पेशेवर उन्माद बन गयी थीं। अतः अंतर्मुखी **भ्रष्टाचार** और बहिर्मुखी **हिंसा** ने प्लेटो-अरस्तू के समय में समाज को खोखला और भयानक बना दिया था। 'लॉ' के लेखन-काल में ही उनके सामने डायनोसियस का निरंकुश शासन हो चुका था। अतः प्लेटो कलाओं एवं मानविकी शास्त्रों को ई० पू० पांचवीं शती में प्राप्त पुराने भुवनों में अभिषेकित नहीं कर सकते। नीति और राजनीति का अधोपतन हो चुका था। सुकरात और सोफोक्लीज़ जैसी हस्तियों की पूर्ति नहीं हो पा रही थी। अतः ग्रीक सांस्कृतिक संकट के जमाने में प्लेटो ने 'लालसा' को और अरस्तू ने 'करुणा' (दया) को सामाजिक सामूहिकता की कसौटी पर क्रमशः अस्वीकृत और स्वीकृत किया।

अतः प्लेटो ने 'संतुलित मनुष्य' की, और अरस्तू ने 'वेदनाशील मनुष्य' की धारणाओं का अनगढ़ सामाजिक मनोविज्ञान रचा। संतुलित मनुष्य के चार गुण हैं: दर्शन के वरदानस्वरूप **विवेक**; स्पार्टनों के उदाहरणस्वरूप **साहस**; हिप्पोक्रेटिक औषधि के रेचनस्वरूप **संयमन**; और विवेक तथा साहस से संयोगस्वरूप **न्याय**। इनमें से विवेक दार्शनिकों के लिए, तथा साहस सैनिकों के लिए विशेष माना गया। यह सब कुलीन वर्गों को संबोधन है!

किंतु प्लेटो के निकट अतीत में (पांचवीं शती के पहले) सोलोन का शासन था और प्लेटो ने उसे ही आदर्श शासक का प्रारूप माना। सोलोन के बाद पाइसिस्ट्रेटस की निरंकुशताएं चल पड़ीं। किंतु अतीत में एक नया कायारूपांतरण (मेटामार्फोसिस) होता रहा था: सामूहिक सहयोग वाला—प्रजातंत्र और नाट्यशाला और ओलिम्पस में! लेवी मम्फोर्ड के शब्दों में, "अगर प्रथाएं क़ानून में रूपायित हो गयीं, तो कर्मकांड और मिथक ईस्किलस एवं सोफोक्लीज़ की धार्मिक त्रासदियों में स्थानांतरित हो गये; और बृहद् ज्वार की उच्छलित लंपटता में ग्राम की अश्लील कामुकता ऐरिस्टोफेन्स की सुखान्तिकियां बन गयीं जिनमें स्वच्छ काजल में वैदग्ध्य, बौद्धिक आलोचना, राजनीतिक भर्त्सना मिली है।"[१] इस सभ्यता का यह सृजनात्मक पल था। इस महालक्षण की अनुभूति 'प्रकृति एवं समाज की एकता' का महाबोध था। यही ग्रीकों का संस्कृति-सूत्र है, भरत के रससूत्र की तरह। (इस एकता का मूल 'आत्मा=+आनंद' से तुलनीय है)। अतः अंतर्कुंठाओं एवं बाह्य विपत्तियों से मुक्त **व्यक्तित्व** का एकत्व भी उपलब्ध हुआ। उनके विश्व-दृष्टिकोण के तीन ध्रुवबिंदु झिलमिला उठे: तर्कयुक्ति (रीज़न), माप या मानक (मेज़र) और संतुलन (बैलेंस)।

पार्मेनाईडीज़ के अनुसार इंद्रिय बोधों की अपेक्षा **तर्कयुक्ति** अधिक सच्ची है।

१. 'दि कंडीशन ऑफ मैन', पृ० २१।

तर्कयुक्ति ही ऐंद्रिकता, स्तब्ध अनुभूतियों और जैविक ईहाओं तथा आदतों के बंधन से आज़ाद करती है।

मानक या **मानदंड** हमें संभ्रम और गड़बड़ी से मुक्त करता है। नियमों और औज़ारों के जरिये परिशुद्धता और ज्यामितिक सौंदर्य की उपलब्धि होती है। मानक के द्वारा ही मंदिरों, महलों, रथों, नौकाओं, कलशों, तीरों, धनुषों, भालों आदि का निर्माण होता है। मानक हर क्षेत्र में आदर्श अनुपातों को सुलझता है। अतः गणितीय व्यवस्था और जैविक व्यवस्था (समाज और प्रकृति, कला और सौंदर्य) दोनों की एकता अभिलषित है। प्लेटो ने ज्यामितिक सौंदर्य को सौंदर्य का सर्वोच्च रूप स्वीकार किया है क्योंकि यह आदर्श अनुपातों को हल करता है। अतः **संतुलन** आता है जिसका प्रतिफल **सुव्यवस्था** (आर्डर) है।

सुव्यवस्था के प्रचारक स्टोइक (ज़ेनो, ई० पू० ३००) थे। उन्होंने प्रकृति की निर्वैयक्तिक समदृष्टि को मानवीय समाज के लिए उचित पैटर्न माना। मानव-समाज सुव्यवस्थित सरकार पर आधारित होता है; सुव्यवस्थित सरकार प्रकृति के आद्य क़ानूनों पर आधारित होती है; और प्रकृति के आद्य क़ानून ही मानव-हृदय में पुनर्जन्म लेते हैं। प्लेटो ने इस तत्त्व का विस्तार करके क़ानून को स्वतंत्रता की नींव बताया। क़ानून अविवेकशील पर विजय पाने का माध्यम है; कर्मक्षेत्र तथा विचारक्षेत्र में स्वतंत्रता का आधार है; और समाज का आदर्श मानक है। इस तरह ग्रीकों ने 'क़ानून' को 'ऋक' की तरह ही अंगीकार किया। उनका वरुण देव श्री **अपोलो** था। मानक के अपोलोनियन धर्म के मानने वाले ग्रीकों की जीवन-दृष्टि अविवेकगामी ऐतिहासिक उथल-पुथलों से धुंधली हो गयी। कुलीनों में अपराध-भावना और हताशा फैली तो गिरिजनों तथा दासजनों के विद्रोहों के झटके बेकस, डायोनीसस, आर्फियस नामक देवताओं के नेतृत्व में लगे। कुलीन भारतीय आर्यों को भी ऐसे ही संघात गंधर्वों (कंदर्प), यक्षों (कुबेर), वन्य-कबीलों (रुद्र) से झेलने पड़े थे जिससे 'शृंगार' का रक्तोत्पल और 'रौद्र' का धूमकेतु प्रकट हुआ था।

सारे मानक और तर्कशील को भुलाकर ग्रीक कुलीन प्रभुओं ने दासों को पशु समझा, सुकरात को मार डाला, निरंकुश तानाशाहों का शासन स्वीकार कर लिया। अतः महान् त्रासदी-कवियों और प्लेटो-अरस्तू में एक प्रबल मनोमंथन हो उठता है। पांचवीं शती के बाद से मनुष्य के अवचेतन में दमित आवेश-गुच्छों और दास-प्रथा वाले समाज में फैले फ़ौजी तथा पूंजी के उत्पीड़नों ने स्वयं ग्रीकों के तर्कशील और मानक को उलट-पुलट डाला।

यह हृदयविदारक तनाव संपूर्ण हेलैनिक संस्कृति को आर-पार बेंध गया : नाटकों और महाकाव्यों को भी। अतः बहुत कुछ निकाल फेंकने की, बहुत कुछ शुद्ध करने की पुकार फैल गयी। इसी के साथ मानक-देवता विवेकी अपोलो से ताल ठोंकता हुआ अविवेकी देवता मदमत्त डायोनीसस आ धमका—पतनशील कुलीनतंत्र को भीमभयानक धक्का देने !

एक नये व्यक्तित्व की चरितार्थता अरस्तू को महसूस हुई। हठधर्मी प्लेटो तो

अपोलो की उंगली पकड़े रहे लेकिन उनके शिष्य अरस्तू ने डायोनीसस के कुंठाविमोचक आंदोलक असर को पहचान कर सिर नवा लिया। डायोनीसस के साथ इस तथाकथित सुव्यवस्था का भंजक एक और देवता आया : **नेमेसिस**। नेमेसिस-तत्त्व कुलीनों के अनिवार्य अवकाश और समृद्धि, सफलता और शासन, सुरक्षा और सौजन्य को चकनाचूर करने के लिए एक नये इतिहास-दर्शन के रूप में उभरा लोक-यथार्थ था। डायोनीसस का आतंक तथा नेमेसिस का संत्रास ! परिणाम : भय (संत्रास एवं आतंक; भयानक एवं रौद्र) के साथ करुणा की जनसामान्य संगठना। 'नेमेसिस' त्रासदी का दुर्भाग्य-देवता है जो कुलीनों के इतिहास-दर्शन पर आधारित कार्यकारण की शृंखला के विकासवाद को विखंडित करके, दासजनों-किसानों-गिरिजनों की विद्रोहात्मक चेष्टाओं के द्वारा **संयोग** (चांस) को भी इतिहास-नियामक बनाता है। अतः **संस्थान-समर्थक 'त्रासदी'** में त्रासविद्ध नायक के माध्यम से अपोलो-दृष्टि का संभ्रम ही निरूपित हुआ है जबकि नेमेसिस के माध्यम से दलितों के **विद्रोह की त्रासदी उपेक्षित** रह गयी। अतः महाकाव्य की वैश्वक कविता की अपेक्षा त्रासदी की कविता विशिष्ट और राष्ट्रीय और ऐतिहासिक हो गयी। फलतः नेमेसिस-डायोनीससवादी इतिहास-चेतना ने अपोलो की महाकाव्यात्मक मिथक-चेतना को विस्थापित कर डाला। पहले के **तर्कशील, मानक** और **संतुलन** के गणितीय ऐतिहासिक नियमों के स्थान पर यथार्थता के प्रबल संघर्षों वाले तथ्य इतिहास और वर्तमान समाज का नया अन्वेषण और नया अद्भुत परिवर्तन समझाने लगे। अतः 'कानून' के स्थान पर **आश्चर्य** या आकस्मिक परिवर्तन (Peripeteia), मानक के स्थान पर **जटिलता** (Desis), संतुलन के स्थान पर **निर्गति** (Lusis), विवेक-व्यवस्था के स्थान पर **अभिज्ञान** (Anagnorisis) के द्वारा कलात्मक इतिहास लेखनशास्त्र (आर्टिस्टिक हिस्टोरियोग्राफी) की शाखा का विकास हुआ। इसके मूल में अकेले मनुष्य का त्रासविद्ध बोध (Hamartia) था अर्थात् ईश्वर के हाथों से अथवा स्वयं मनुष्य की तापसी कष्टसहिष्णुता से अतिमानवीय एवं विराट् वेदना-भोग ! निष्कर्ष रूप में, मानव-संस्कार (Physis) में **नवोदित ऐतिहासिक आवश्यकता** एक अंधी तथा अतिमानवीय शक्ति होकर 'नेमेसिस' के रूप में प्रतीकायित हुई। ग्रीक समाज की ऐहिक त्रासदी यह रही कि यह नयी ऐतिहासिक आवश्यकता **दुर्भाग्य** (नेमेसिस) से तो संबद्ध हो गयी किंतु **स्वतंत्रता** से विच्छिन्न ! भारतीय आर्यों ने अपने आध्यात्मिक इतिहास-दर्शन का विश्वदृष्टिकोण 'पारलौकिक मोक्ष' रखा। उनके इतिहासवाद का स्वरूप कर्मचक्र और नियतिचक्र द्वारा संचालित हुआ; तथा धर्म के कानून द्वारा अनुष्ठानित होने के कारण अंततः 'सौभाग्यफलेषु' हुआ। इसके कलात्मक स्वरूप की संरचना भरत ने की।

त्रासदी के विदारक देवता के रूप में प्रतिष्ठित होने के पहले नेमेसिस भी एक वनस्थली-देवता था। 'डायोनिसियाका' की एक मिथक में कुंवारियों को फंसाने वाली आर्तेमिस अपनी सखी-दूती आउरा के शरीर की स्त्रैणता तथा कुचों की गुरु मांसलता की निंदा करते हुए कहती है कि एक सच्ची कुंवारी को किशोर-जैसा—

कठोर छाती और पौरुषेय शरीर-गठन वाला—होना चाहिए। आउरा भी उलट कर आर्तेमिस को अपमानित करती है। अतः आर्तेमिस नेमेसिस से बदला लेने का अनुरोध करती है। आर्तेमिस के प्रति सहानुभूतिशील नेमेसिस कामदेवता ईरोस के साथ षड्‌यंत्र रचाकर आउरा का कौमार्य-भंग करने का जाल बिछाता है (त्रासदी में भी नेमेसिस उलट-पुलट देने वाले कर्मजाल का बुनकर है)। वह डायोनीसस के मन में आउरा के प्रति लोलुप लालसा धधकाकर उसे उन्मत्त बना देता है। एक छल द्वारा आउरा को भी शराब पिलाकर उन्मादिनी बना दिया जाता है, और जब वह सोती है तब विश्वासघात करके डायोनीसस उसके साथ बलात्कार करता है। यह मिथिहास नेमेसिस के गुप्त एवं रहस्यात्मक हाथों को उद्‌घाटित करने के साथ यह भी स्पष्ट करता है कि तत्कालीन सौंदर्यबोधात्मक रूढ़ियों का रूपायन रति-शय्या न करके व्यायामशाला करती थी। सेक्स की यह द्वयता भी संतुलन की तलाश करती है। अतः बलिष्ठ मांसपेशियों और शारीरिक लालित्य से युक्त नर तथा नारी, दोनों की देह के एक सौंदर्यबोधात्मक संतुलन का मानक बना : शक्ति और सौंदर्य का संतुलन !··· तो, त्रासदी में आकर आउरा कुलीन ग्रीक संस्कृति बन जाती है, तथा नेमेसिस इतिहास में वर्गसंघर्ष का अचीन्हा अंतर्विरोध ! डायोनीसस के करतब का प्रभाव **चमत्कारी** था, तो नेमेसिस के कर्मजाल का असर **जटिल** एवं **निर्गतिक**। त्रासदी के कथातंत्र (प्लाट) में इन दोनों के प्रतीकधर्मों ने जमकर ताने-बाने बुने हैं। इसके अलावा त्रासदी के परिपार्श्व में सौंदर्यतात्त्विक सिद्धांतों की भूमिका ग्रीक समलैंगिक रति की नैतिकता पर निवेदित हुई है (भारतीय आर्यों में स्वस्थ विलिंगकामी नैतिकता थी)। अतः त्रासदी में ही हम डायोनीसस के आगमन के साथ ही नारी की विमुक्ति की सूचना भी पाते हैं। वह दासी और गृहिणी पद से आगे चली आती है—क्लाइटेम्नेस्ट्रा, इलेक्ट्रा के माध्यम से। अतः त्रासदी के अंतर्गत ग्रीक समाज में नारियों की दुविधा को भी वाणी मिली है। विशेष रूप से यूरिपिडीज़ ने युवा किशोरी नायिकाओं (आल्केस्तिस, पोलिज़ेना और ईफिजीनेइया) के मन में युद्ध और शक्ति के कपटी कूट-खेलों से घृणा और उदासीनता दर्शाई है; उनकी क्रूरता और अहम्मन्यता का पर्दाफाश कराया है; और उन्हें प्रबल आत्मगौरव के साथ बलिदानी बनाया है। एथेंस के प्रजातंत्र के भंग होने पर नारियां पुरुष की दासता से विमुक्त होने लगती हैं (ऐरिस्टोफेन्स के नाटक 'लाइसिस्ट्रेटा' में वे मृत्यु तथा विध्वंस के खिलाफ़ विद्रोह करती हैं)। पुरुषों की दुनिया में भी त्रासद दुबिधा जन्म लेती है और उसका निराकरण कैथार्सिस—निष्कासन एवं पावन क्रिया—द्वारा होता है। अतः हम नाटकों को ई० पू० पांचवीं सदी के ग्रीक समाज के गहरे अंतर्विरोधों, गत्यावरोधों और महत्त्वाकांक्षाओं के कला-दर्पण के रूप में पाते हैं।

दर्पण इसलिए कि उनमें 'अनुकरण' तथा 'अनुभावन', अर्थात् 'अनुकृति' (Mimesis) है। 'माइमेसिस' का तात्पर्य प्रकृति के **अनुकरण** की अपेक्षा प्रकृति से **समस्पर्धा** (एमुलेशन) भी है अर्थात् अनुकृति की प्रक्रिया में परस्पर विरुद्ध शक्तियों का द्वंद्वात्मक संतुलन और सामंजस्य है। इसीलिए ऐसी अनुकृति में **अन्वेषण**

(anagnorisis) एवं **आश्चर्य** (peripeteia) की अवस्थाएं मिलती हैं। यह व्यावहारिक अनुकरण है। अतः यह सृजनात्मक है। आद्य युग के बोध के कारण त्रासदी के अनुकरणमूलक मानवीय कार्य में भाग्य भी सहकर्मी होकर **चमत्कार** उत्पन्न करता है। (यही अवस्था भारतीय आर्यों के नाट्य में अभिनय के अनुकरण में मिलती है; किंतु परवर्ती शेक्सपियर के नाटकों में भाग्य के बजाय व्यक्ति-वैचित्र्य या व्यक्ति का चरित्र सहकर्मी होता है जिससे—चमत्कार के बजाय—**रहस्य** व्युत्पन्न होता है)।

इतिहास-प्रक्रिया की यथासंभव सृजनात्मक अनुकृति के रूप में त्रासदी में—कथातंत्र के माध्यम से—कार्यव्यापार (एक्शन) का ढांचा बनता है। कार्य (कार्यव्यापार का संक्षेप) का एक **संपूर्ण सत्त्व** (ए कम्पलीट एन्टिटी) में रूपायन होता है जिसकी विशिष्ट **कालावधि** होती है। कालावधि सूर्य की एकल परिक्रमा होती है। ग्रीकों के लिए परिपूर्ण गति चक्रात्मक (सर्कुलर) है क्योंकि इसका प्रत्यागमन वहीं हो जाता है। इतिहास-गति के अनंत चक्रों तथा एक चिरंतन प्रत्यागमन की धारणा ही ग्रीक मानस में प्रगति की धारणा है; और यह भारतीय आर्यों के स्वस्तिक मंडल—कर्मचक्र—के समतुल्य है। अतः नाटकीय कार्य में काल की नाट्यैकता की धारणा ही पेश हुई है। बाद में, अरस्तू के बिना किसी संदर्भ के, कर्म तथा स्थल के ऐक्य की धारणाएं भी गढ़ ली गयीं जो ग्रीक-चेतना के अनुकूल नहीं थीं।

एक संपूर्ण कार्य का मतलब इतिहास में उस **अनिवार्यता** के सिद्धांत की स्वीकृति है जो अधूरी नहीं रहती अर्थात् जो कार्य के आरंभ (archē) को मध्य (meson) से, मध्य को अंत (teleutē) से जोड़ती है; यह अनिवार्यता व्यक्ति की 'स्वतंत्र इच्छा' (फ्री विल) से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता कथातंत्र और कार्यव्यापार के सत्त्व में स्थित है। अतः प्रदत्त दशाओं में आवश्यकता को अनिवार्यतः घटना ही चाहिए। अतः आवश्यकता कुछ संघटनाओं और प्रमेयों को संयोग (चांस) के घेरे से बाहर निकाल लाती है। अतः **आवश्यकता** और **संयोग** द्वंद्वात्मक विरुद्ध हैं जिनका सामंजस्य होता है। जब यादृच्छिक घटनाओं का बड़े पैमाने पर अध्ययन-अनुशीलन किया जाता है तो कुछ प्रदत्त अवस्थाओं में उस समूह में से कुछ घटनाओं की बारंबार आवृत्ति होती है। कुछ घटनाएं **संभाव्यताएं** (प्रोबेबिलिटीज़) हैं क्योंकि उनमें से कोई एकानेक घट सकती हैं यद्यपि उनको निश्चित तथा क्रमिक ढंग से नहीं बताया जा सकता। इस तरह त्रासबिद्ध नायक **स्वतंत्र** नहीं है अर्थात् कार्य में 'स्वतंत्रता' और 'आवश्यकता' की मैत्री नहीं है। अगर वह अपनी वेदना का वास्तविक कारण या वस्तु का मूल जान जाये तब वह स्वतंत्र है। लेकिन उसके कार्य में अनिवार्यता तो है किंतु कारण-ज्ञान नहीं। फलतः त्रासद कार्य में आवश्यकता और नेमेसिस की एकता क़ायम हुई। अतः त्रासबिद्ध नायक का चुनाव (च्वाइस) भी भूल या त्रुटि से भरा होने के कारण—आवश्यकता के अंतर्मुखी अनुमान के कारण—अधूरा तथा असफल होता है। अतः त्रासबिद्ध नायक विश्व की सामान्य अवस्था के ज्ञान से चूक जाता है। इस तरह त्रासदी एक नैतिक द्वंद्व को उभारती है : नायक का **मंतव्य** तो

सही है, लेकिन उसके **कार्य** गलत हैं। इस तरह वह बाहरी शर्म और अंदरूनी अपराध के अंतर्द्वंद्व में उलझता है। उसके अंतराल से ही दायित्व का बोध उभर कर नायक को धीर-गंभीर बना देता है। अतः **त्रासपूर्ण-स्थिति** में भय और करुणा, फूहड़ता और क्रांति में से किसी की भी संभाव्यता हो सकती है लेकिन **त्रासपूर्ण समाधान में क्रांति** का निषेध हो जाता है। लगता है समाधान **शांति** में विश्रांत होता है : प्रतिशोध लेने या कर्त्तव्य कर लेने के बाद। अतः सही नायक और गलत कर्म, अकेला कुलीन और रहस्यमय दुर्भाग्य मिलकर नायक का विनाश कर देते हैं। इस तरह त्रासपूर्ण कार्य-व्यापार आवश्यकता एवं संभाव्यता की विरुद्ध शक्तियों का सामंजस्य करके प्रकृति और मनुष्य-प्रकृति की **अनुकृति** करता है। संपूर्ण त्रासपूर्ण कार्य-व्यापार में जो नाटकीय आकृतिबंध (कथातंत्र) बनता है वह भी 'आश्चर्य' (पेरीपिटेइया) तथा 'अन्वेषण' (एनाग्नोरीसिस) के तत्त्वों से अनुस्यूत होता है अर्थात् जो विवेकशील **मानक** के अपोलोनियन सिद्धांत का अतिक्रमण करता है। नाटकीय 'आश्चर्य' अर्थात् नयी एवं अनजान अंतर्विरोधी स्थितियां—कुलीनों के वर्गीय दृष्टिकोण के अनुसार—कुलीनों को सौभाग्य से दुर्भाग्य की ओर (metabasis) तथा घटना की निर्गति (lusis) की ओर ही ले जाती है। वस्तुतः आश्चर्य ऐसी घटना है जो (आवश्यकता एवं संभाव्यता के द्वारा) **पूर्वाभासित** हो जाती है लेकिन प्रेक्षकों के लिए **अप्रत्याशित** ही रहती है। इसीलिए प्रेक्षक 'अन्वेषण' करते हैं। मुख्य अन्वेषण तो अभागे नायक के सही होने का है। अतएव आश्चर्य चमत्कार (वंडर) का प्रेरक तथा चमत्कार-प्रेम है। चमत्कार-प्रेरक एवं चमत्कार-प्रेम दोनों होने के नाते आश्चर्य **विवेक-प्रेम** (मेटाफिजिक्स) भी है; किंवा काव्यात्मक **रमणीयता** तथा दार्शनिक **जिज्ञासा** का भी आधार है।

फलतः उपर्युक्त तत्त्व परिणामी कार्यव्यापार का **उत्कर्ष** करते हैं।

लेकिन ग्रीक त्रासदी में प्रेक्षक की स्वतंत्र **चेतना** का उद्बोधन नहीं होता; प्रेक्षकवृंद को **संतुष्टि** मिलती है जब वे अन्वेषण करते हैं कि नायक सही है। ग्रीक अनुभव में त्रासदी **भाग्य से** संबद्ध होने के कारण कथातंत्र (=समाज व्यवस्था का लघुरूप) की व्यवस्था को भंग एवं भग्न नहीं कर पाती; अगर यह **क्रांति से** संबद्ध होती तो चुनाव तथा आवश्यकता के मंडल दूसरे ही हो जाते। अतः प्रेक्षकवृंद एक स्थापित समाज-व्यवस्था में वेदनाभोग की **करुणा** तथा मृत्यु के **भय** का ही अनुभव कर पाते हैं। उन्हें इस व्यवस्था को परिवर्तित तथा चकनाचूर करने के इन्कलाबी अनुभव का शुक्ल पक्ष नहीं अनुभूत होता। उस पक्ष से वेदनाभोग एक आह्लाद है, तथा मृत्यु एक शहादत। यह बोध ईस्किलस के प्रोमेथिउस नायक में कौंध कर बुझ जाता है।

अरस्तू की गणितीय तथा इतिहासदार्शनिक रंगनाटक की निर्मिति की तुलना में भरत ने 'नाट्य' की संरचना (स्ट्रक्चर) को रूपकों के उपमाधर्मों पर भी आधारित किया है।

पहले नाम का ही सवाल परवान चढ़ाया जाये। उन्होंने इसे एक सर्ववर्ण-ग्राहक तथा संश्लिष्ट कलारूप (टोटल आर्टीफेक्ट) के रूप में स्वीकार करते हुए

पाठ्य (ऋग्वेद), गीत (सामवेद), अभिनय (यजुर्वेद) तथा रस (अथर्वेद) का संयुज् स्वरूप माना। इसी तरह वे किसी विशिष्ट दर्शन में भी दीक्षित नहीं लगते। एक ब्राह्मण पुरोहित की तरह वे यज्ञ और सभा दोनों की दृष्टियों का संयोग करते हैं। उन्होंने रस को लौकिक या अलौकिक बताने से भी इंकार किया है; उनके लिए तो रस अनुभूति के बजाय पदार्थ है जिसका आश्रय रंगमंच तथा स्थिति नाटक है। अतः भाव संबंधी भी उनकी धारणा अस्पष्ट है; और वे मूलपात्र या पात्र के बजाय नट के केंद्र में आबद्ध रहे हैं। उन्होंने काव्य (दृश्य) और काव्य (श्रव्य) के बीच भी कम अंतर किये। अतः उनके रूपक-चक्र में रस निष्पत्ति रंगमंच पर होती है और उन्होंने रंगमंच को **समाज-रूप** तथा **वेदी-रूप** लिया है। अतः निष्पत्ति-क्रिया में भी **प्रेक्षक** (या पात्र) के बजाय पुनश्च **नट** ही धुरी बनता है।

'प्रकृति की अनुकृति' के अरस्तूवादी सिद्धांत की तरह भरत का 'अवस्थानुकृति' का सिद्धांत है। अनुकरण किसी प्रत्यक्ष या अस्तित्वमान का होता है; यह अनुकरण वर्तमान में साक्षात्कार से अथवा स्मृति से होता है। लेकिन दैविक तथा ऐतिहासिक मूलपात्रों को नाटककार अथवा नट अथवा प्रेक्षक, इन तीनों में से किसी ने नहीं देखा। इसलिए अनुकरण पात्र के बजाय पात्र की **अवस्था** का होता है; प्रत्युत अवस्था के अनुकरण में उस अवस्था का 'पुनः सृजन' होता है। इस तरह **'अनुकरण=पुनःकरण'** का समीकरण बनता है।

इसी के साथ **अवस्था** का तात्पर्य 'भाव' हो गया है ('भावानुकीर्तनं नाट्यम्।')। अतएव 'अवस्थानुकरण' का अर्थ मूलपात्र के भाव का नट द्वारा **पुनःसृजन**। और; भाव का अनुकरण चतुर्विध अभिनय (आंगिक, सात्त्विक, वाचिक और आहार्य) द्वारा होता है। अतः मूल बात अभिनय-कौशल है। यह बात भी खुलती है कि भाव-संप्रेषण भाषा, भूषा, मुद्रा और मन के संयोग का प्रभाव है। इस तरह **भाव-बिंब** एक चतुरंग संयोग है। नाट्य में भाव-बिंब अभिनय की **प्रक्रिया** है।

ऐसे अभिनय का **प्रभाव** रस है। रसत्व का अनुभव भी एक दूजे में चतुरंग संयोग है : विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी का। यह संयोग प्रेरक-कारण-कार्य-फल के न्याय का एकतान **भावव्यापार** है।

मूलरूपेण 'भाव' के ही विभिन्न रूप-प्रतिरूप-स्वरूप अनुभाव, संचारी और स्थायी तथा रस हैं, विभिन्न दशाओं में। अंतिम उच्चतर गुणात्मक परिवर्तन रस है। 'रस' भाव-बिंब द्वारा **प्रत्यक्षीकृत** होता है तथा भाव-व्यापार द्वारा **प्रतीयमान**। अतः रस अभिनय और गीत (नृत्य), तथा अभिनय और पाठ (नृत्त) के द्वारा नाट्य को खिला देता है।

भारतीय 'नाट्य'-संरचना में भी केंद्रीय धुरी **कार्य** (कार्यव्यापार) है। भारतीय कर्मसिद्धांत के असर के और इतिहास में धर्म विजय एवं अधर्मनाश के सिद्धांत के, जीवन में संत द्वारा शुभ कर्म के विधान के कारण भरत के युग में समस्त कार्य **निश्चित** होता था। संत और सद्वंशीय नायक के शुभ कर्मों के कारण निश्चित ही **फलप्राप्ति** होती है; अनिवार्यतः **असफलता** कभी नहीं मिलती। इसके अलावा

चतुर्धीर नायक का समस्त व्यापार सोद्देश्य होता है : अर्थ के, या काम के, या धर्म के लिए। इसलिए नायक गलत चुनाव नहीं करता; गलत कार्य नहीं करता, गलत संस्कार नहीं रखता। अतः इस कार्य-व्यापार में न अविवेक है, न रहस्य, न फूहड़ता, न असफलता, न पराजय और न ही वेदनाभोग ! अतः असफलता और वेदनाभोग (सफ़रिंग) की बात ही असंभव है। कार्य-व्यापार के अंत में लौकिक, विवेकपूर्ण, बुद्धिवादी तथा यथार्थवादी अवस्थाओं के अनुसार यथावत फल मिलता नहीं; बल्कि फल प्राप्त कराया जाता है। इस तरह भारतीय आर्यों की ऐतिहासिक चेतना आदर्शवादी-आनंदवादी-सौभाग्यवादी रही है। ऐसे संरचना-बंध में दूसरी अनिवार्यता यह भी है कि कार्यावस्थाओं की पांच संख्याओं में चाहे जितनी भी चुनी जायें, तथापि सभी रूपक-प्रकारों में आरंभ तथा फलागम का होना आवश्यक है, तथा उनके क्रम में कोई भी व्युत्क्रम न होना भी आवश्यक है। अतः कर्मचक्र की तरह नाट्य-कर्मचक्र भी आरंभ से फलागम के अधिकार तक पूरा घूमता है और प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति के बिंदुओं को समाहित करता है। प्राप्त्याशा की अवस्था में मानो भरत ने विवेकवादी आर्यों के भी संशय, कष्ट, क्षोभ, निराशा, भय, रोमांच आदि की द्वंद्व-दशाओं का समावेश कर लिया है।

पंचकार्यावस्थाओं में फल (अधिकार) ही उत्कर्ष है। किंतु फलहेतु के लिए पांच **अर्थ-प्रकृतियां** और कार्यखंडों में सातत्य के लिए पांच **संधियां** भी अन्वित हुई। संधियों (बीज-बिंदु-पताका-प्रकरी-कार्य) में आधिकारिक अर्थात् फलप्राप्ति वाली अर्थात् नायक वाली कथावस्तु से जुड़ने वाली संधियां तो बीज, बिंदु तथा कार्य (धनंजय ने कार्य को फल कहा है) हैं। इनमें से बीज, बिंदु, प्रकरी (=पुष्पस्तबक) और कार्य (फल) वनस्पतिशास्त्र के पारिभाषिक हैं और रूपकात्मक ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से बीज तो सभी का मूल है, तथा बिंदु फलयोग का प्रधान उपाय होने के कारण तैलबिंदु की तरह सारे कार्यव्यापार पर फैल जाता है। 'पताका' और 'प्रकरी' (=सहायता नामक अर्थ भी है) के औपम्य-क्षेत्र रथ और सारथी हैं।

पंच संधियां भी निश्चित हैं। अर्थ-प्रकृतियां तो घट सकती हैं, बढ़ सकती हैं, पुनरावृत्त हो सकती हैं (पताका एवं प्रकरी), लेकिन संधियां और कार्यावस्थाएं पांच से अधिक तथा क्रम से विच्छिन्न नहीं हो सकतीं। आरंभ और फलागम की कार्यावस्थाओं की तरह तथा बीज और बिंदु की अर्थ-प्रकृतियों की तरह पहली मुख और अंतिम निर्वहण संधि सुव्यवस्था की **आवश्यकता है**। गर्भ-संधि **संभाव्यता** (पासिबिलिटी) की, और विमर्श-संधि **विवेकवादी तर्कों** की अर्थात् यथार्थ से बंधनभंजक संघर्ष की सूचिकाएं हैं। वस्तुतः संधियां कथाखंडों की भावदशाओं अथवा कार्यावस्थाओं के अंतराल में विविधविपुल अनुभव-संसारों को उद्दीप्त करती हैं। अतः ये सौंदर्य-तत्त्व के चमत्कारों की—रमणीयता की—निष्पत्ति करती हैं। अतः यदि कार्यव्यापार की अवस्थाएं अभिनयधर्मी **रसानुभव** को परिपक्व करती हैं तो पंचसंधियां आकृति संबंधी **रमणीय रूप** को प्रतिनिवेदित करती हैं। इस तरह से रससूत्र के कई भाष्यमार्ग हो सकते हैं : (१) नट के अंतर्लोक से संलग्न विभावानुभावसंचारी का

संयोग; (२) रंगशाला के पर्यावरण में अन्वित अभिनय, नृत्य और संगीत के द्वारा 'नाट्य'-संश्लेष की प्रतीति; (३) संरचनातंत्र के अंतर्गत पंच अवस्थाओं-प्रकृतियों की प्रणाली द्वारा संयुक्त होती हुई प्रक्रिया; और (४) प्रेक्षक के चमत्कृत मन में भाव-बिंब एवं भाव-व्यापार का अंत:स्पर्धित पुन:करण !

शुंग-सामयिक भरत के समय में समाज-गठन, और सामाजिक संबंधों में मर्यादा एवं प्रतिष्ठा का अनुमान पात्र-रचना से भी लगता है। मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार **धर्म** (वर्ण), और वैयक्तिक प्रकृति का भेद **काम** था। ग्रीक मानवीय आदर्श 'संतुलित मनुष्य' का और भारतीय आदर्श 'धीर पुरुष' का रहा। ग्रीक मानव गुणों में दर्शन, साहस, संयमन, न्याय का चतुष्टय था और भरत की पुरुष की धारणा 'धृति' की धर्मधुरी में चार प्रकृतियों—उदात्त और शांत, ललित और उद्धृत—की परिक्रमा में पेश हुई, अर्थात् कुलीनों के चार प्रकार के व्यवहार समाज-स्वीकृत थे। पहले दो स्वभाव विवेकवादियों के, तथा बाद के दो आनंदवादियों के—अब विलासी राजतरुण वर्ग तथा अवकाशभोगी नागरिक—लगते हैं। यह भी स्पष्ट है कि उस समाज में अधिकारी वर्ग राजा का था। अत: उसमें चारों प्रकृतियां या स्वभाव अंगीकृत मान लिये गये। किंतु **उदात्त** स्वभाव सेनापति और मंत्री का, **शांत** स्वभाव ब्राह्मण और वैश्य का माना गया। ब्राह्मण शांत और उदात्त दोनों हुआ, मंत्री तथा पुरोहित होने के नाते। लेकिन जब वह ज्ञान के बजाय भोग की ओर मुड़ा तो **विदूषक** हो गया : पेटू-भोंदू ब्राह्मण और मसखरा ब्राह्मण ! इसी तरह जब राजा का नकटा या भड़ौआ निकाला गया तो वह सिपहसालार साले-बहादुर के रूप में, शक्ति-पद-ऐश्वर्य के दुरुपयोगकर्ता के रूप में, **शकार** बना। स्पष्ट है कि ब्राह्मण-सम्राटों के शासन काल में विद्रोह, असंतोष, प्रतिरोध आदि नामुमकिन से थे। सो, ऐसे पात्र देवता या दानव बना दिये गये—**उद्धत** स्वभाव वाले। सामाजिक स्टेटस के इस मानदंड में ललित स्वभाव वाले ऐश्वर्यभोगी कुलीनों की अंत:पुर और सहेट एवं पांथशाला की केलिरहस्यों और लम्पट गोपनीयताओं वाली जिंदगी भी होती थी जो कंदर्प देवता का लीला-लोक थी। भोग में उन्मत्त इस वनदेवता के पर्व के तद्रूप ही कामकला की दृष्टि से पुरुष वृषभ, शशक, खर, मृग आदि से उपमित हुए हैं। अत: 'धीरललित' नायक **दक्षिण, शठ** और **धृष्ट** भी हुआ। पूर्णरूपेण इस समाज-व्यवस्था में शूद्र निर्वासित तथा बहिष्कृत था; कारीगर वैश्य **विट** के रूप में स्वीकृत हो रहा था।

इस संयोजन में—पुरुषों की 'धीरता' (कुलीनता) की तरह—नारियों को धर्म (वर्ण) की धुरी पर नहीं आंका गया। उनका आधार ऐकल 'काम' हुआ। उनकी कामधुरी 'अलंकार' बनी जो यौवन, रूप, गुण के वर्धक हैं। नारी के अलंकार काम अभिनय और कला के प्रकाशक बने : अंगज, स्वभावज और अयत्नज अलंकार। इस अलंकार का धर्म **शोभा** है; जो आभूषणों से अतिशय होकर 'सौंदर्य' बना। और इन दोनों का संयोग 'शृंगार' बन गया : नारी अंग-शोभा (नखशिख), और नारी अंगों के शृंगार (वस्त्राभूषण) ! (परवर्ती सामंत युग में इसका रूपांतरण कुंतल की 'विच्छित्ति' तथा रुय्यक के 'चारुत्व' के प्रत्ययों में हुआ जो वामन की 'सौंदर्य'-

धारणा के उन्मेष माने जायेंगे।) 'शृंगार' और अकेले गुप्त केलिसंबंधों पर आश्रित नारी के चरित्र-स्वभाव नहीं विकसित हुए; बल्कि आठ कामदशाओं की कंदर्पधर्मा चोर झांकी दी गयीं (स्वाधीनपतिका, बासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका)। मनोवैज्ञानिक रतिभूख का सबूत **मुग्धा** नायिका के प्रति लालसा तथा सहेट में **परकीया** युवतियों के साथ कामदशाओं का भोग है। वस्तुतः अंतःपुर की रमणियां, रंगशालाओं की नृत्यांगनाएं, वारविलासिनियां और दिव्यांगनाएं ही नारी-जगत् की संस्कृति-मापक हुईं। स्पष्ट है कि मुनि भरत ने भी वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की यौन शिक्षा के खुलेपन में रसिक और कामुक पक्षों का अकुंठ और स्वाभाविक समावेश सहृदय-रूप में किया है जो बौद्धों के भिक्षुकत्व और योगियों के तप की असामाजिकता से बाहर आकर पुनश्च अंतःपुर-शय्याओं एवं केलिरहस्यों में तल्लीन हो जाते हैं। ऐसे ही राजपरिवेश में आदिम जातियों का कंदर्प-देवता अपनी स्वच्छंदता और स्वच्छता से वंचित होकर 'शृंगार रस' (या रसराज) में अमूर्तीकृत हो जाता है। ऐसे ही परिवेश में भरत भी लोकधर्मी-से विमुख-से होकर विख्यात राजा के चरित्रानुकर्त्ता **नाटक** तथा उसकी अंतःपुर की नारी-गोष्ठी को दिखाने वाली **नाटिका** और 'ईहामृग'; ब्राह्मणों एवं विटों की अधोगति पर चुभीला-चुटीला नश्तर लगाने वाले **प्रहसन** आदि वर्गीकृत करते हैं। **भाण** जैसे लोकानुरंजक रूपक; और **समवकार, डिम**, 'तोटक' जैसे अनुष्ठानोद्भूत रूपक—दोनों ही विलुप्त होते चले गये। किंतु अश्वमेध-कर्त्ता शुंग (पुष्यमित्र) ब्राह्मण सम्राटों ने यज्ञ और अनुष्ठानों का वातावरण जरूर पैदा किया होगा। इसीलिए आनुष्ठानिक रूपकों की बीसवें अध्याय में चर्चा-चर्या हुई है। भरत के समय तक यह मानवीय नृतात्त्विक सत्य आलोकित हो उठा था कि उन प्राचीन (आदिम नहीं) युगों में नारी को उन्मुक्त करने वाला अधिशासन-देवता मदन ही है। बेकस-डायोनीसस ने भी ग्रीक नारियों को विमुक्त किया था। लेकिन भरत के समय तक शायद स्वयं राजा ही मदनस्वरूप बन चुके थे।

हम यह स्पष्ट देखते हैं कि कुछ नाट्यरूपों (नाट्यवेद) के दैवी उद्गम उन्हें आर्केटाइपल प्रारूप सिद्ध करते हैं। "अभ्यास के रूप में ब्रह्मा 'अमृतमंथन' नामक **समवकार** लिखते हैं जिसके अभिनय का आदेश कराने के लिए भरत को अधिकार दिया जाता है; शिव अपने कृतित्व से 'त्रिपुरदाह' द्वारा **डिम** नाट्य का प्रकार जोड़ते हैं, औक विष्णु वाचिक शैली 'भारती **वृत्ति**' की सर्जना करते हुए प्रतीत होते हैं, जो ऋग्वेद से ग्रहीत हुई है (ना० शा० xxii, २-११, २२-२४)।···अगला आर्केटाइप **प्रहसन** है जो भरतपुत्रों द्वारा अभिनीत हुआ। (ना० शा० xxxvi, ३३) जो ऋषियों के उपहास के रूप में है। इसकी वजह से भरतपुत्रों को ऋषियों का शाप मिलता है।"[१] इसके अलावा मानवशास्त्र तथा मिथकशास्त्र यह भी संकेत करता है कि गंधर्व और अप्सराएं वस्तुतः लैंगिक एवं कामुक दैवप्रारूप हैं और नाट्योद्गम की परंपरा को

१. कार्ल जार्ज बोहने : 'प्रिमिटिव स्टेज', पृ० १३; फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९७१।

उद्घाटित करती हैं। इसीलिए नाट्य में अप्सराओं और मानवों के मिलने से 'रूपक' का विधान है।

अतः हम यह भी स्पष्ट देखते हैं कि एक ओर शापित भरतपुत्र (अभिनेता) तथा दूसरी ओर चतुर्धीर नायक (आभिजात्य)—इन दो ध्रुवांती मान्यताओं में प्रच्छन्न होकर प्राचीन वर्ग-संघर्ष सुगबुगाया है। ज़ाहिर है कि 'महाभारत' के परे 'नाट्य' में अभिषेकित चतुर्धीरत्व की धारणा ने रूपक को एक कलाभिवादी एवं कुलीनतंत्रवादी चरण में प्रतिष्ठित कर दिया। मानो प्लेटो की तरह भरत और उनका युग भी त्रासदीय को नैतिक खतरा मानता था। अतः बेचारे भरतमुनि के विश्व-दृष्टिकोण की धुरियां चतुर्धीरत्व एवं सौभाग्यफल ही बन सकीं। यही उनकी ऐतिहासिक परिसीमा थी।

भरत उस राष्ट्रीय संधि-चेतना के दर्पण हैं जो शनैः-शनैः, मिश्रित ढंग से, लोकानुरंजक जीवन से राजानुरंजक कौशल एवं अलंकृति में मंथर-मंथर संक्रमित हो रही थी। अतः 'नाट्यशास्त्र' के सूत्र तो वैदिक ऋक् की तरह तेजस्वी हैं किंतु कारिकाएं राजविलासों की चमक-दमक से मांसलतानुरंजित। इसीलिए आदर्शोन्मुख भरत भी नहुषपतन की आधी-अधूरी संवेदना से चौंके! अपने नाट्यशरीर-निरूपण में वे **आत्मा** की झंझट में नहीं फंसे और जनेऊ उठाये हुए बच निकले।

फिर भी, भरतमुनि में कितना रंगारंग आदर्श है! कितना विराट् कौटुंबिक मानवतावाद है!! लेकिन ऐसा आदर्श और ऐसा मानवतावाद कितना खाली, कितना खोखला, कितना बंजर, कितना निष्फल साबित हुआ! उनका यह सांस्कृतिक ख़ज़ाना लगभग एक हज़ार वर्ष तक अनप्रयुक्त और अनुपयोगी, निष्फल और निरर्थक पड़ा रहा। अंततोगत्वा इसका उद्धार भट्टलोल्लट (ई० पू० नवीं शती का आरंभ) के आविर्भाव से हो सका। भरत ने भी अपने समाज के अधिशासक वर्ग के अनुसार संस्कृति का चरित्र तो निर्धारित कर दिया लेकिन समाज के अंतर्विरोधों को नहीं छाप सके। लोकचित्त (ग्रामीण महादेश) से विच्छिन्नता, सर्वहारा शूद्रों का बहिष्कार, सम्राटों की कामुकता, और ऐश्वर्य से मानवीय श्रम की अवहेलना—आदि ने उनके 'नाट्यशास्त्र' को अधिकांशतः वर्गीय संस्कृति का भी नायाब तोहफ़ा बना दिया।

औषधि-मनोविज्ञान और सौंदर्यबोध का दर्शन

सौंदर्योपभोग की प्रकृति के मूलाधार क्या हैं? उसका चिकित्साशास्त्रीय मनोविज्ञान और दर्शनाध्यात्मिक मनोविज्ञान क्या निदान और उपचार देते हैं? ग्रीक आर्यों तथा भारतीय आर्यों के सौंदर्यतत्त्व का आरंभिक विश्लेषण क्या है?

कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३), फ्रायड (१८५६-१९३९) तथा आई० ए० रिचार्ड्स (१८९३—) के बाद एक ओर तो कलानुभवों को **शारीरिक संवेदना** का रूप माना जाने लगा दूसरी ओर नृवंशीय और अनुवंश्य आधार ढूंढ़ कर उन्हें **समाज-दर्पण** का सामूहिक रूप माना जाने लगा। ग्रीक एवं भारतीय, दोनों ही आदिम

संस्कृतियों में उर्वरण-संप्रदायों ने सौंदर्योपभोग के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका क़ायम की है। नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में भरत ने **इन्द्र-ध्वज** का जिक्र किया है ('अयं ध्वजमहः श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्तते। अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्'); महेश्वर (शिव) के नंदी नामक **वृषभ** को रंगभाव के आनंदोन्माद मिलने की चर्चा (नान्दी= रंगस्थल पूजा) की है; स्त्रियों के बिना कैशिकी अभिनय भली भांति न हो पाने की बात कही है ('अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृने'); यक्ष, गंधर्व, किन्नर अर्थात् आर्येत्तर जातियों के साथ रात को यह उत्सव मनाने का संयोग बताया है; देहली पर यम दंड को स्थापित तथा रंगपीठ के नीचे यक्ष, गुह्यक, पन्नग आदि सर्पों (=भूमि के गर्भाधानक प्रतीक) को नियोजित कराया है; आनंद के उन्मादोत्सव में नायक तो इन्द्र के द्वारा आच्छादित (आनंदवादी शाखा के आर्य मत) तथा नायिका सरस्वती द्वारा (विवेकवादी शाखा के व्रात्य आर्यों का मत) अभिप्रेरित की है।

स्पष्ट है कि ऐसे पर्वों में देवता के साथ अभेदमयता को स्थापित करने का माध्यम आंदोल्लास होता था (बाद की दार्शनिक पदावली में इसे तदाकार होना, ब्रह्म-लीन होना, चैतन्य का प्रमातृपद में लीन होना, चैतन्य का **रसानंद** में विश्रांत होना, आदि कहा गया)। अनुभव का यह आध्यात्मिक कायांतरण (मेटामार्फोसिस) विशुद्ध चिंतन (स्पेकुलेटिव थॉट) की पद्धति की देन था। इस पद्धति में उल्लास या आह्लाद की असाधारण दशा में अनुभव का **अतिक्रमण** तो किया जाता है किंतु अनुभव से अलग पूर्णतः **संक्रमण** नहीं किया जाता। अस्तु एक अद्वैतवादी एकता के सामूहिक दायरे में ऐंद्रिक अनुभव तथा अतींद्रिय अनुभव की भिन्नता विलीन-सी होती लगती है।

इसी तरह ग्रीक आर्यों में बेकस के सम्मान में थ्रेस का डायोनीसस-उत्सवों का आयोजन होता था जिसमें अंगूरलता (सोमलता से तुलनीय) से आच्छादित सुराघट को लिये हुए कुमारियां आती थीं। घट और कुमारियों के बीच बलि का बकरा [यूनान में ट्रेजेडी (ट्रेगास अर्थात्) बकरे की बलि से संबद्ध है। भारत में वृषभ (नंदी) का केंद्र था।] रहता था। ये कुमारियां लिंग-ध्वजों को हाथों में लिये होती थीं (यूनान में लिंग-पूजा का अनुष्ठान करने वाला ओसिरिस का संप्रदाय था जो गर्भाधान का देवता था)। क्रीट में साईबेले-पूजा में भी हाथ में चमचमाते करवालों को लिये हुए—अमानिशा में ऊंची शैल-मालाओं पर—युवतियां चीत्कार करती हुई नृत्य करती थीं। इस उन्माद-दशा में दर्शक और नर्तक, दोनों ही मानसिक बंधनों से मुक्त हो जाते थे अर्थात् नृत्य करने वाली युवतियों की ज्ञानेंद्रियां अधिक उद्दीप्त (=अतींद्रिय) हो जाती थीं जिससे वे समस्त वस्तुओं को क्रांतदशा में देखती थीं। इसी उग्र उन्माद-दशा को (भारतीय आर्यों के 'आनंदोल्लास' की भांति) **पुरोहितों** और **चिकित्सकों** ने 'उच्छलोत्साह' (Enthusiastica) कहा। उच्छलोत्साह में मानसिक बंधन शिथिल हो जाते थे और देशकाल के व्यवधान से विमुक्त मानसिक **विश्रांति** मिलती थी। अतः ऐसा उन्माद देवत्व से एकाकार कराने वाला माना गया। फलतः डायोनीसस-पर्व से ग्रीक नाटकों का सशक्त उत्थान हुआ।

यहां प्रत्यावर्तन करके यह अकादमीय तथ्य दोहराना लाज़िमी है कि ग्रीक

भूमि पर 'सेटिर' (Satyr) डायोनीसस से पहले के थे किंतु जब वह ज़बर देवता शक्ति और अनुरक्ति के साथ आ ही धमका तब सेटिर उसके गण बन गये। जंगलों और पर्वतों को आबाद करने वाले ये यूनानी कबीले (भारतीय यक्षों की तरह) अब रंगमंच को रंगारंग कर उठे। हमें यह भी लगता है कि ग्रीक देवता 'पेन' (Pan) के प्रभाव में जब ये जातियां आयीं तब इनके टोटेम-चिह्नों—अश्व एवं अज—की आकृतियों को लेकर संधि हुई और ये मिल-जुल गयीं : मुंह बकरे का और पूंछ घोड़े की। किंतु असली 'सेटिर' तो हमारे यक्षों की तरह थे : मटके जैसी तोंद और कुंभ जैसे चूतड़ों वाले नर्तक ! ईसा पूर्व सातवीं शती के अंत से छठी शती के आरंभ तक वे इसी रूप में अंकित हुए थे। बाद में अज-अश्वमय हो गये जब वे अपने यूनानी शिव अर्थात् डायोनीसस के गण बन गये।

डायोनीसस बिल्कुल शिव एवं रुद्र की तरह है : पशुपति और महादेव। यह भी आदिम कबीलों और आदिम समाजों का देवता है जो बिल्कुल अवधूत और औघड़ है; स्वर्ग में बसने वाला नहीं। पांचवीं शती (ई० पू०) में एक्रोपोलिस नगर में डायोनीसस एक कुलीन नगर-देवता हो गया। वहां के 'डायोनीसस-रंगमंच' में ही तो ईस्किलस, सोफाक्लीज़ औद यूरीपिडस ने प्रतियोगिताओं में भाग लिया था। काफी बाद में शायद डायोनीसस और अपोलो की कांतमैत्री भी हो गयी। लेनिनग्राद के हर्मिताज (संग्रहालय) में उपलब्ध एक कलश में डेल्फी की पवित्र वेदिका के सामने अपोलो डायोनीसस को अपना दाहिना हाथ थमाते हुए दिखाये गये हैं।[१] इस प्रकार डायोनीसस भी शितिकंठ और नीलकंठ, शिव और रुद्र, महाकाल और भूतनाथ, परुष और पुरुष, चंद्रशेखर और सर्पधारी आदि जैसा होकर विरुद्धों का सामंजस्य करता है। कालिदास और ईस्किलस, दोनों ने अपने-अपने नाट्यरूपों में ऐसे ही गौरी शंकर और अपोलोनियन-डायोनीसस का अभिषेक किया है। अतः डायोनीसस एवं सेटिर, भवानीशंकर एवं नांदी, दोनों ही जीवन तथा अस्तित्व के गहरे अंतर्लोकों के अन्वेषक हैं। वस्तुतः मिथक और आर्केटाइपल के धरातल पर अपोलो रूपविधान (फार्म) हैं तथा डायोनीसस अरूपण (एंटी-फार्म) ठहरते हैं।[२]

उपर्युक्त भूमिका से स्पष्ट है कि आनंदोल्लास का सम्मोहन एवं ऋत्-तत्त्व की शक्ति ही ग्रीक एवं आर्य सौंदर्योपभोग का लक्ष्य रही। वास्तव में यहां तात्कालिक अनुभव का अतिक्रमण, और फिर आनंदोल्लास की दशा में उसी अनुभव का नवीन पारिभाषिकों-मिथकों द्वारा पुनर्नवीकरण हुआ। पहले यह प्रक्रिया सामूहिक थी। लेकिन वैयक्तिक होते ही यह रहस्यवादी, गुप्त, अविवेकशील, असामाजिक तथा अनतिक भी होती चली गयी।

१. 'ग्रीक ट्रेजेडी', एल्बिन लेस्की, अर्नेस्ट बेन लि०, लंदन, १९६७, पृ० ४६

२. एक अन्य मिथक में 'डायोनीसस' का चारित्रिक अरूपण 'आर्फियस' बन गया है जो वस्तुतः एक पालतू परिधानधारी डायोनीसस है क्योंकि डायोनीसस अर्द्धनारीश्वर भी है : पूर्ण शरीर पुरुष का, अंगढलन नारी की।

तो भरत के **रसानंद-सिद्धांत** और अरस्तू के **विरेचन-सिद्धांत** में ज्ञानेंद्रियों के अत्यधिक उद्दीप्त हो जाने वाली (अतींद्रिय, अलौकिक) अस्थायी दशा में ही **मानसिक बंधनों से विमुक्ति** (भिन्नता का निरर्थक होना, अद्वैत), **मानसिक स्वास्थ्य** (आनंद, या उच्छलोत्साह) और **मानसिक शांति** (विश्रांति, कैथार्सिस) के चमत्कारी प्रभाव का अन्वयन हुआ है।

इस अन्वयन की आर्यदर्शन-भित्ति में तरुण आर्यों की आनंदवादी धारा में विवेकवादियों की यथार्थवादी धारा का तिरोभाव मिलता है। वैदिककाल से लेकर रामायण-महाभारत काल (ई० पू० १५००-५००) तथा परवर्ती मौर्य एवं शुंग काल (ई० पू० ३२५-३० ईस्वी) के बीच में बहुत कुछ घटा जिसने भरतमुनि को गहराई तक उद्वेलित किया होगा। लंबे समय के बीच में बौद्ध धर्म के उदय ने करुणा की प्रतिष्ठा तथा नारियों की स्वाधीनता को प्रसारित किया; सांख्यानुमोदित वेदांत दृष्टि ने मनुष्य (पुरुष) एवं प्रकृति (जगत) की एकता के सिद्धांत द्वारा वैद्यक को भी प्रभावित किया; तथा वैदिक जीवनशैली ब्राह्मण धर्म में परिवर्तित हुई और हिंदू अनुवंश्य ज्ञान नाना प्रकार के शास्त्रों, सूत्रों, स्मृतियों आदि में संकलित कर लिया गया। तब तक 'आत्मा' और 'माया' का राष्ट्रघाती पाखंड नहीं फैला था क्योंकि गुप्तकाल में और स्वर्णयुगीन महाकाव्यों में मायावाद से परिचय होने के बावजूद उसका असर नहीं मिलता। कालिदास (पांचवीं शती), भारवि (छठी शती) और माघ (सातवीं शती) में लौकिक धारा की ही **भोग** तथा **भाव** नामक सौंदर्यवृत्तियां अभिषेक किये रहीं।

किंतु सांख्य मत ने दर्शन, मनोविज्ञान तथा वैद्यक, तीनों को ऐकीकृत तथा अन्योन्याश्रित करके अनेक उपशास्त्रों में आर्यों के विश्वदृष्टिकोण (वर्ल्ड व्यू) की स्थापना की। इस एकता से 'अद्वैत' के बजाय 'संयोग' ज्यादा सशक्त प्रत्यय साबित हुआ। एक ऐसे क्रांतिकारी मनोदैहिक महासूत्र का स्फोट हुआ कि आयुर्वेद, कामसूत्र, अलंकारशास्त्र और नाट्यशास्त्र अद्‌भुत ढंग से परस्पर संबद्ध हो गये। यह सूत्र **पुरुष-प्रकृति-व्यापार** का था और इसके प्रतिफलन से कर्मेंद्रियों तथा ज्ञानेंद्रियों के सह-संबद्ध की स्थापना हुई। अतः **जिह्वा की ज्ञानेंद्रिय** एक ओर तो **उपस्थ (=यौन इंद्रिय) की कर्मेंद्रिय** से संबद्ध होकर कामतत्त्व (कामसूत्र) और भोगतत्त्व (नाट्य शास्त्र) की आधारभित्ति बनी तो दूसरी ओर आयुर्वेद के 'रस' के आस्वाद में अन्वित हुई। (ज्ञानेंद्रिय रसना और कर्मेंद्रिय उपस्थ की कांत मैत्री के संकेत श्रीमद्‌भागवत में भी मिलते हैं)। भरत ने छठे अध्याय में काव्यनाटकादि में रसास्वाद की प्रकृति को पेय और खाद्य के जिह्वामूल आस्वाद से तुलनीय और **समतुल्यनीय** बताया है। अतः रसास्वाद का एक आद्य आयाम **उर्वरता** (काम) से जुड़ता है तो दूसरा आदिम आयाम **उपचार** (वैद्यक) से। अतः भरत के रससूत्र में 'संयोग' (उपचार, निदान) एवं 'निष्पत्ति' (उर्वरण, उत्पत्ति), दोनों ही शामिल हो गये। सौंदर्योपभोग के आविर्भाव के ये ही दो आर्केटाइप ध्रुवबिंदु हैं। इसे पुनः दोहरा दूं : एक ओर **नाट्य का रसास्वाद** ही **जिह्वा के रसास्वाद** के समान है; और दूसरी ओर मानवीय

स्वभाव में **कामोन्माद** तथा **आनंदोल्लास का भाव** अनन्य हैं। अस्तु ! बाद के सामंत-युग में सामंत-सिद्ध-मैत्री के फलस्वरूप ये क्रमशः **महासुख** और **महाभाव** (तांत्रिक एवं वैष्णव) में ढले।

आर० के० सेन की स्थापना है कि भरत ने व्यभिचारी भावों तथा स्थायी भाव की धारणाओं को चरक एवं सुश्रुत के आयुर्वैदिक ग्रंथों से ग्रहण किया है।[1] उन्होंने बताया है कि भरत की 'रसास्वाद' की धारणा का स्रोत 'चरक-संहिता' में मिलता है जहां वे पेय एवं भोज्य पदार्थों के रस से उसकी समानता बताते हैं। सेन ने यह भी बताया है कि **स्थायी भावों** के निदर्शन में भरत पुरुष-प्रकृति-तत्त्व की एकता-द्वयता के सामंजस्य से प्रभावित हुए। वीर (नर) और भयानक (नारी), हास्य (नर) और रति (नारी) आदि ऐसे दृष्टांत हैं। इस कड़ी में उन्होंने **सात्त्विक भावों** को भी आयुर्वेद-संभूत बताया है। अतः स्पष्ट है कि भाव के केंद्र से शुरू होने वाला सौंदर्योपभोग विभावानुभावसंचारी के उपचारक्रम से होता हुआ स्थायीभाव में स्वस्थ होकर रस में हर्ष-संचार करता है। रससूत्र का परोक्ष शरीरी तथा जैविकी आयाम यह है !

आयुर्वेद शाखा में तीन आचार्यों का सहकार रहता है : सुश्रुत (और वाग्भट्ट), माधव तथा चरक की त्रयी नाड़ी-विज्ञान (लक्षण), निदान और उपचार (औषधि, चिकित्सा) के क्रमिक चरणों द्वारा व्याधिग्रस्त शरीर को स्वस्थ बनाने, स्वस्थ शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा करने तथा मनुष्य को सुखी रखने के लक्ष्य रखती है।[2] चरक[3] तथा सुश्रुत-संहिताओं में भी इंद्र द्वारा, अश्विनी कुमारों से दीर्घजीवी होने का, आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना वर्णित है। चरक ने कायचिकित्सा तथा सुश्रुत ने शल्यचिकित्सा की परंपरा का संग्रंथन किया। कायचिकित्सा के सिद्धांत में मनुष्य के शरीर में अग्नि (जठराग्नि) का संतुलन रहता है : अगर अग्नि ठीक है तो मनुष्य स्वस्थ है; अगर असंतुलन है तो वह विकृत है। अतः 'शरीर चिकित्सा =अग्निचिकित्सा' हुई। स्पष्ट है कि यह विश्वदृष्टिकोण यज्ञ में अग्नि-उपासना, मनुष्यों में दीप्ति (देवत्व), तथा भावों में सत्व को एकाकार करता है; एवं 'चिति' अर्थात् अग्निवेदी, चित्त अर्थात् मानव हृदय और चित्र अर्थात् रंगस्थल को भी समन्वित करता है। अग्नि को 'कवि'

१. दे० (1) 'Charak, Susruta and Bharata' शीर्षक लेख "The Indian Historical Quarterly" No 1, 1953 में छपा तथा "Aesthetic Enjoyment : Its Background in Philosophy and Medicine" (1966), शीर्षक उन्हीं की किताब।

२. 'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (चरकसूत्र संस्थान, १।४१)

३. सिल्वां लैवी चरक को कनिष्क (१७५ ई०) का राजवैद्य मानते हैं; प्रफुल्लचंद्र रे बुद्ध से भी पूर्ववर्ती मानते हैं तथा बलदेव उपाध्याय ईसा से द्वितीय शती पूर्व का मानते हैं (संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (१९६९), पृ० ११।

भी कहा गया है (प्रोमेथिउस-मिथक भी ध्यातव्य है)। बहुत मुमकिन है कि सोमयाग की सौमिकी वेदी या महावेदि समद्विबाहु चतुर्भुज के आकार की होती थी और भरत ने भी चतुरस्त्र रंग अर्थात् प्रेक्षागृह का विधान किया है। शायद स्थायीभावों का ही उपचित होकर रस में रूपायित होना अग्निचयन वाली चितिविद्या के परिपाक से गृहीत हुआ हो। **परिपाक** तो अग्नि का धर्म है और रसपरिपाक कवि का कर्म। इस तरह काव्य **रसास्वाद** और काव्यरसपाक के आयुर्वेदिक एवं यज्ञयाग (चितिविद्या) वाले स्रोत खुलकर स्वच्छंद बहते हैं।

आयुर्वेद की धारणा के अनुसार मनुष्य के शरीर में सात धातुएं विद्यमान हैं : रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इन्हीं की पारिभाषिक एकल संज्ञा 'रस' है। इसी चिंतन-प्रणाली की तरह भरत ने मानव चैतन्य में विभिन्न प्रकार के भावों—विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव—के संयोग को 'रस' कहा है। आयुर्वेदिक रस दीर्घायु देता है तो काव्यरस अमृत। पहले का फल सुख और कल्याण है, दूसरे का आनंद और समाधि। मनुष्य के शरीर की सप्तधातुओं की स्थिरता एवं नवीनता के विज्ञान को रसायन कहा गया है तथा मनुष्य मन में भावों के संयोग एवं आवेग को रसप्रक्रिया। यह शरीर और मन के केंद्रों का अवदान है : पंचमहाभूत एवं चेतना से युक्त दार्शनिक 'पुरुष' का भौतिक प्रतिरूप।

प्रकृति-केंद्र से गुण—विशेषत: सत्त्व, रजस और तमस—की धारणा मिली है। मनुष्य का **स्वभाव** और प्रकृति की **कृति**, दोनों ही त्रिगुणात्मक योगायोग तथा अभिव्यक्तियां हैं। यदि चिकित्सा-पद्धतियों में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ़) का सिद्धांत चला तो मानवीय चेतना में त्रिगुण (सत्त्व, रजस, तमस्) का सिद्धांत (बाद में रीति मार्ग में ये गुण-दोष-विवेचन और काव्य-दोषों की 'विचिकित्सा' में बहुसंख्यक बने)। वैद्यक में ओषधों को शीत और उष्ण, शुष्क तथा स्निग्ध वर्गों में विभाजित किया गया है। नाट्यशास्त्र में भी हर्ष तथा भय के केंद्र पर अनुकूल-प्रतिकूल, मूल-उद्भूत, सुखात्मक-दुःखात्मक स्थायीभावों की गणना हुई है। इस तरह रस के आयुर्वेदिक एवं मनोदार्शनिक आयाम उजागर हो उठते हैं।

(इन दोनों का संगम **रसेश्वर-साधकों** ने किया। वे रस को ईश्वर मानते थे; पारद को रस मानते थे; पारद को भगवान शंकर का वीर्य तथा अभ्रक को पार्वती का रज मानते थे; दोनों के अठारह[1] संयोग-संस्कारों से उत्पन्न सिद्ध रस तथा भस्म को मानव शरीर को दिव्य शरीर बनाने में सर्वथा समर्थ समझते थे। इस प्रकार ये रसेश्वर साधक क्षणभंगुर मानव-शरीर को ही—पारदभस्म के प्रयोग से—दिव्य शरीर बनाकर योगाभ्यास द्वारा उसमें ही आत्मा के दर्शन करना चाहते थे। अत: उन्होंने ही "रस=ब्रह्म (स:)=आत्मा=आनंद" का महासूत्र साधित किया, यद्यपि

१. पारद के अठारह संस्कारों—अभ्रकग्रासविधि, जारण, रंजन, बाह्यद्रुति, सारण, क्रामण आदि—की टक्कर पर भट्टलोल्लट तथा परवर्ती आचार्यों ने निष्पत्ति के दार्शनिक संस्कारों को प्रस्तुत किया प्रतीत होता है।

'तैत्तिरीयोपनिषद् ["रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति", २/७/१] के इसी सूत्र को शाहजहां के राजपंडित जगन्नाथ ने भी काव्यरस सिद्ध किया था।)

स्थायी भावों के उपरांत संचारी या व्यभिचारी भावों की भरतसम्मित कल्पना के क्षीण रेशे-रोयें सुश्रुत में ढूंढ़े जा सकते हैं। सुश्रुत ने शरीर के अवयवों का सूक्ष्म अन्वेषण किया है और शिराओं तथा धमनियों के बाबत कहा है कि वे 'रस' को स्थिर एवं नवीन रखती हैं। लेकिन वे संचारी हैं, मछली के समान चंचल हैं और इनका वेधन कुशल और पारंगत कविराज (वैद्य) ही कर सकता है।[1]

निष्कर्षतः इतिहास-प्रक्रिया 'कवि=अग्नि', 'अभिनेता~कविराज (वैद्य)' के समीकरणों को एक देदीप्यमान परंपरा में ढाल देती है।

अब ग्रीक चिकित्सादर्शन की ओर मुखातिब हुआ जाय।

स्टोइक दार्शनिकों (ई० पू० ३००—ई० पू० २००) ने मनुष्य के हृदय, मानवीय समाज तथा मानव प्रकृति को आद्यनियमों से एक सूत्र में बांधा था। 'सुव्यवस्था' (आर्डर) उनका मूल्य था। इसी के पूरक रूप में सुश्रुत के परवर्ती ग्रीक चरक अर्थात् **हिप्पोक्रेटीज़** (ईसा-पूर्व ४६०-३७७) ने 'संतुलन' का सिद्धांत दिया।

हिप्पोक्रेटीज़ का समय हेलेनिक नवालोक का युग था। पेरिक्लीज़, थुसाइडिडीज़, फिडिआज़, सोफोक्लीज़, ऐरिस्टोफेनीज़, यूरीपिडस तथा सोक्रेटीज़ आदि उनके समकालीन थे। प्राचीन ग्रीक ओषधि-विज्ञान आयोनियन संप्रदाय—विशेष रूप से थेल्स और एनाक्सीमेंडर—के प्राकृतिक दर्शन पर आधारित था। उसके कोआन-संप्रदाय के प्रवर्तक हिप्पोक्रेटीज़ की मान्यताओं का दार्शनिक आधार डिमोक्रीटस के भौतिकवादी उपदेश थे। डिमोक्रीटस को पागल बताया जाने लगा था। वे पशुओं का विच्छेदन (डिसेक्शन) भी करने लगे थे। एक बार उन्होंने हिप्पोक्रेटीज़ से कहा भी : "यहां जिन पशुओं को तू खुला हुआ देख रहा है—उन्हें मैंने इसलिए चीर-फाड़कर नहीं खोला कि मैं दैवी कृत्य से घृणा करता हूं, बल्कि इसलिए कि मैं पित्त की प्रकृति और संस्थान की तलाश कर रहा हूं; क्योंकि तू तो जानता है कि जब यह **अत्यधिक** होता है तो **पागलपन** का हेतु होता है।" इस तरह अतिशयता को पागलपन का हेतु मानने वाली दृष्टि में 'संतुलन' का सिद्धांत प्रकृति-दर्शन से संबद्ध हुआ।

हिप्पोक्रेटीज़ ने रोगचिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा को (चरक की तरह) एक ही क्षेत्र का माना। अतः प्रकृति का वातावरण (टैम्प्रेचर) और मनुष्य की प्रकृति (टैम्परामेंट)—दोनों का अंतःसंबंध भी क़ायम हुआ। प्रकृति का अनुक्रम ही मानव-शरीरतंत्र को संचालित और आपूरित करता है। प्रकृति के चार तत्त्वों [सांख्यवादियों के असमान हिप्पोक्रेटीज़ आकाश को छोड़कर चार तत्त्व ही मानते हैं।] में से प्रत्येक के अपने गुण हैं : **अग्नि** ऊर्ध्वगामी है और मांगल्य एवं सद्गुणों का स्रोत

१. शिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत परिवर्तन्ते तस्माद् यत्नेन ताडयेत्॥
(सुश्रुत, शा० ८।१०)

है; **जल** मनोवेगों का स्रोत है; **पृथ्वी** एवं **वायु** अंधकार तथा मूढ़ता का स्रोत है। इस तरह प्रकृति के ये चतुर्भूत वातावरण बनाते हैं। वास्तव में मनुष्य एक 'वातावरण-स्थित मानव' है। इसलिए मनुष्य की प्रकृति भी चार प्रमुख प्रकार की है : प्रफुल्ल (सेंगुइन), निरुत्साही (फ्लैगमेटिक : कफ़-प्रधान); क्रोधी (कोलेरिक : पित्त-प्रधान); और विषादपूर्ण (मेलान्कोलिक)। सुश्रुत-चरक की तरह हिप्पोक्रेटीज़ ने भी मनुष्य की प्रकृतियों का मनोशारीरिक आधार दिया। भारतीय 'प्राण' की धारणा की तरह 'न्यूमा' की धारणा, तथा 'आतमसंस्कार' की तरह 'वाइटल फोर्स' की धारणा ने ओषधि-विज्ञान तथा मनोदर्शन को संश्लिष्ट कर दिया। इस तरह हिप्पोक्रेटीज़ भी ओषधि (मेडिसिन) तथा मनोचिकित्सा (साइकियाट्री) के सह-प्रवर्तक हुए। फलतः मानसिक व्याधियां और शारीरिक रोग के संबंध भी इहलौकिक हो गये।

इसलिए **रोग** कोई व्यतिक्रम नहीं है, बल्कि प्रकृति के अनुक्रम की ही अनुपूर्ति है। अतः रोग का उपचार केवल **एक अकेले निदान** से नहीं होता, बल्कि स्वास्थ्य के **सभी उपायों** द्वारा होता है। स्वास्थ्य के सभी उपाय तो प्रकृति के अभिज्ञान से मिलते हैं। सो, ओषधि-विज्ञान में यह आवश्यक है कि प्राकृतिक व्यतिक्रम से पहले स्वयं मनुष्य की प्रकृति को समझा जाय : 'Know Thyself'। इसी नियमन के मुताबिक अतिशय का निष्कासन (कैथार्सिस) होकर 'संतुलन' होता है; और पर्या-वरण-स्थित-मानव प्राकृतिक व्यतिक्रम के बजाय प्रकृति के अनुक्रम को अपनाता है। प्रकृति के साथ इस सहकार की सीमा मृत्यु-स्वीकार (त्रासदी) की पराकाष्ठा तक हो सकती है। और, यही 'त्रासदी' के नेता का भी कथ्य हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन ग्रीक चिकित्सा-मनोविज्ञान और धर्म-मनोविज्ञान में कांतमैत्री स्थापित हुई। जिस तरह सुश्रुत-चरक ने मानस-बुद्धि-अहंकार की त्रयी के बाद भौतिक 'प्राण' की प्रतिष्ठा की, उसी तरह हिप्पोक्रेटीज़ ने 'न्यूमा' (pneuma) की धारणा को आधार बनाया जो प्राणवायु या **प्राणशक्ति** है। हिप्पोक्रेटीज़ ने एक ओर अग्नि, जल और पृथ्वी-वायु की त्रयी के अनुसार मानस के गुणों का विभाजन किया, तो दूसरी ओर शरीर-संस्थान के अनुसार मनुष्य की प्रकृति तथा चरित्र को प्रस्थापित किया। उनके अनुसार **मस्तिष्क-केंद्र** धीरत्व का स्रोत है और इससे संचालित होने वाले मनुष्य विवेकशील तथा उच्च शिवत्व से युक्त होते हैं; **वक्षस्थल-केंद्र** हर्ष एवं पीड़ा का स्रोत है और इससे संचालित मनुष्य उतावले मनोवेगों से युक्त होते हैं; तथा **उदर-केंद्र** पाशविक मूलवृत्तियों का स्रोत है और इससे संचालित मनुष्य मूढ़ता के अंधे अनगढ़पन से युक्त होते हैं।

अतएव एक ओर प्रकृति के तत्त्व मानवीय गुण-दोषों के स्रोत हैं तो दूसरी ओर मानव-शरीर के अंग-संस्थान के केंद्र मानवीय चरित्र के स्रोत हैं।* इनको मिलाकर

* ओषधि के पिता हिप्पोक्रेटीज के पहले ओषधि के देवता ईस्कुलापियस की धारणा विद्यमान थी। उनके भी दो अश्विनों की तरह दो पुत्र थे जो घावों के उपचार में अत्यंत कुशल थे।

[शेष अगले पृष्ठ पर]

हिप्पोक्रेटीज़ ने प्राकृतिक तत्त्वों के अनुसार वैयक्तिक स्वभावों की परिकल्पना की : जैसे ऊर्ध्वगामी अग्नि-तत्त्व शिवत्व और सद्गुणों की सृष्टि करने वाला हुआ और मस्तिष्क-केंद्रित प्राणतत्त्व धीरत्व का उद्भावक हुआ। यही अपोलो का प्रतिबिंब है, और यही त्रासदीय नायक की धारणा है। इसी तरह पृथ्वी-जल तत्त्व और उदर-केंद्र के संयोग से डायोनीसस के प्रतिबिंब की उपलब्धि हुई। एक प्रकार से यहां प्राकृतिक शक्तियों को मिथकीय देवताओं, दार्शनिक प्रतीकों और चिकित्सा-मनोविज्ञान में रूपांतरित करने के अनूठे दृष्टांत मिल जाते हैं।

मस्तिष्क को ज्ञान की महाइंद्रिय स्वीकार करके हिप्पोक्रेटीज़ एक ओर तो हर्ष, सुख, हास्य, क्रीड़ा आदि को, तथा दूसरी ओर शोक, उदासी, करुणा और अतुष्टि आदि को मस्तिष्क से ही उद्भूत मानते हैं। अतः मस्तिष्क ही पागलपन, उन्माद, विवेक, भय और हर्ष की भूमि है। इसके पूरक के रूप में ही उन्होंने ओषधि-मनोविज्ञान को शरीरविज्ञान पर आश्रित करके अरस्तू के लिये संभावनाओं का सिंहद्वार खोल दिया। प्राण-शक्ति (न्यूमा) के अतिरिक्त उन्होंने कफ़ और पित्त के अनुसार भी मानसिक रोगों का निदान किया। उन्होंने ही 'एपिलेप्सी', 'मेलान्कोलिआ' (अतिनिर्मिल अवनमन की दशा), 'मेनिआ' (अतिनिर्मिल उत्तेजन की दशा), 'पेरानोइआ' (मानसिक अपकर्ष की दशा) आदि शब्दावलियां दीं। क्या यह एक महान् अचंभा नहीं है कि ईस्किलस, सोफोक्लीज़, यूरीपिडस जैसे त्रासदीकारों के पात्रों की मनोरोगात्मक दशाओं और मनोचिकित्साओं ने तथा हिप्पोक्रेटीज़ की इन शब्दावलियों ने मिलकर संस्कार ('physus') के रहस्यात्मक पूर्वाग्रहों से मनोचिकित्सा और मानवचिति को विमुक्त कर डाला। अतः हम देखते हैं कि मानसिक रोग और मनोचिकित्सा के ध्रुवांतों पर ओषधि-मनोविज्ञान तथा सौंदर्यतात्त्विक मनो-

[पिछले पृष्ठ का शेष]

हिप्पोक्रेटीज़ से पहले इस्कुलापियस देवता के मंदिर चिकित्सा-केंद्र थे जहां धार्मिक अनुष्ठानों और स्वप्न-निर्देशों के द्वारा उपचार होता था। वस्तुतः उपचार चमत्कार था।

हिप्पोक्रेटीज़ ने आलकमाओन (ई० पू० छठी शताब्दी) के इस विचार को भी पल्लवित किया कि मस्तक (ब्रेन) ही ज्ञान की इंद्रिय है (न कि दैवी पुण्य)। इस क्रम में हेरोक्लीटस (५३५-४७५ ई० पू०) ने अग्नि-केंद्र की धारणा दी : मनुष्य के अंदर अग्नि-तत्त्व ही तर्कविवेक का हेतु है। दीप्त अग्नि के कारण आत्मा स्वच्छ और विवेकपूर्ण होगी तथा आर्द्र आत्मा के कारण वह रोगी होगा; और जितनी अधिक आर्द्रता होगी उतनी ज्यादा मूढ़ता और विक्षिप्तता बढ़ेगी।

हेरोक्लीटस सम्मत अग्नि-केंद्र से आगे प्रोटोगोरास ने मानव-केंद्र की धारणा दी : मनुष्य ही सभी वस्तुओं का प्रमापक है। उनसे थोड़े बुज़ुर्ग एम्पीडोक्लीज़ ने संवेग-केंद्र को महत्ता दी क्योंकि वे मनुष्य के चिंतन और आचरण के परिवर्तनों में अभिरुचि रखते थे। उन्होंने प्रणय और घृणा को परिवर्तन और जीवन भोग का मूलाधार माना। अतः उन्होंने आत्मा को हृदय में संस्थापित कर दिया।

हिप्पोक्रेटीज़ की प्रणाली में 'करुणा' (पिटी) कल्याणकर तथा 'भय' (फियर) स्वास्थ्यकर संवेग हैं। ये ही त्रासदी के दो बीजभाव बने।

विज्ञान, दोनों ही पल्लवित-पुष्पित हुए हैं। हिप्पोक्रेटीज़ के बाद ओषधि-विज्ञान तो विकसित हुआ लेकिन मनोचिकित्सा (साइकियाट्री) आगे नहीं बढ़ सकी। प्लेटो ने तो हिप्पोक्रेटीज़ को अत्यधिक सम्मान दिया और मस्तिष्क-केंद्र को प्रमुखता दी लेकिन अरस्तू, ईपिकुरस और ज़ेनो ने हृदय-केंद्र को मनो-शारीरिक क्रियाओं का आधार बना दिया।

हिप्पोक्रेटीज़ को सलाम करने के बावजूद प्लेटो उनके विरुद्ध आदर्शवादी और रहस्यवादी बनते गए। उन्होंने 'प्रत्ययों' या 'न्यादर्शों' (आइडियाज़) को वह सच्चा यथार्थ माना जो हमसे बहिर्भूत है। इसी तरह अपने अभौतिकवादी चिंतन में उन्होंने 'आत्मा' (सोल) के दो भाग किये : विवेकी और अविवेकी या पाशविक। विवेकी आत्मा को मस्तिष्क-संस्थानित तथा अविवेकी आत्मा को हृदय-संस्थानित स्वीकार करके उन्होंने दूजे में क्रोध और दुस्साहसिकता को भी स्थित किया। मस्तिष्क और नाभि के बीच के अंग-संस्थानों में उन्होंने भूख (अन्न) तथा अन्य मनोवेश स्थित किये। यहां वे मानो पतंजलि के योगी की तरह ही हो गए हैं।

हिप्पोक्रेटीज़ ने प्रकृति और मनुष्य की कांतमैत्री में मनोरोगों और मनोल्लासों का अवधान किया था। किंतु प्लेटो के अनुसार विवेकी मस्तिष्क से विच्छिन्न होने पर ही अविवेकी मस्तिष्क **रोगी** हो जाता है। इन परिस्थितियों में मनुष्य **पागल** भी हो जाता है। जब मनुष्य **अत्यधिक** प्रसन्न या **अत्यधिक** उदास हो, जब वह सुख की **अत्यधिक** तलाश कर रहा हो, या पीड़ा से **अत्यधिक** कतरा रहा हो तब वह विवेक-शून्य होता है—वह पागल होता है। इसके अलावा जब आत्मा (विशुद्ध विवेक) शरीर-प्रवेश करती है तब भी इतने प्रबल मनोशारीरिक परिवर्तन होते हैं कि शरीर उपभुक्त दशा में लड़खड़ा जाता है। इसी बिंदु पर प्लेटो ने पागलपन और कविताई का सामंजस्य स्थापित किया था।

अतः तत्कालीन बोध में 'पागलपन' ही मनोरोग की केंद्रीय समस्या थी जो हिप्पोक्रेटीज, सोफोक्लीज़ और प्लेटो, सभी को एकसाथ मथ रही थी। इसी समस्या में से उन्मत्त काव्य और विरेचित त्रासदी का भी उन्मीलन हुआ।

प्लेटो ने दो प्रकार की मूढ़ताएं मानी हैं—पागलपन और अज्ञानता ('एपोलॉजी')। पागलपन भी या तो रोगजनित होता है अथवा दैवी वरदान।

दैवी वरदान के रूप में कामदेवता **इरोस** या रतिदेवी एफ्रोदीत के कारण प्रेमियों में उन्मत्त प्रलाप की दशा पैदा होती है। विवेक देवता **अपोलो** के कारण पैगंबरों में, काव्यदेवियों—**म्यूजेज**—के कारण कवियों में तथा **डायोनीसस** के कारण (नाट्य या अनुष्ठान में—) **दीक्षित व्यक्तियों** में यह दशा व्युत्पन्न होती है।* इस तरह प्लेटो मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को एक पद्धति नहीं दे सके क्योंकि वे वस्तुवादी और इहलौकिक यथार्थता को नामंजूर करते हैं। वे इन पागलपनों को

* दे०, 'ए हिस्टरी आफ़ मेडिकल साइकॉलोजी', ज़िलबूर्ग एंड हेनरी, पृ० ५३ (संस्करण १९४१, डब्ल्यू० डब्ल्यू० नार्टन एंड कंपनी, न्यूयार्क)।

—विवेक की तुलना में—नीचा समझते हैं और हिप्पोक्रेटीज़ के मूल दृष्टिकोण के ही विरुद्ध हो जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि पर अरस्तू का अभ्युदय होता है। वे मसीदूनिया के दरबार के एक वैद्यपुत्र थे तथा प्लेटो के अनुयायी (शिष्य नहीं) भी। उनके समय में एथेंस के नगर-राज्य की अवनति होने लगी थी। यह पिलोपोनेसियन युद्ध के बाद का समय था जब एथेंस का पतन हो चुका था।

रहस्यात्मक कल्पानुमानों के बजाय अरस्तू प्राकृतिक संघटना के संसार में वापस लौट आये, और 'पागलपन' के बजाय 'स्वभाव' के अध्ययन के लिए जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और जंतुशास्त्र की सहायता लेने लगे। अतः उन्होंने मनोविज्ञान का सविधेन प्रवर्तन किया।

अपने उस्ताद प्लेटो की तरह उन्होंने भी आत्मा को विवेकी एवं अविवेकी भागों में बांट दिया किंतु प्लेटो के असमान यह माना कि ये एक इकाई हैं तथा शरीर इनका भोग्य है। हिप्पोक्रेटीज़ के समान वे समानतावादी रहे। उन्होंने विवेकी मस्तिष्क को विवेक, चातुर्य, स्मृति, सावधानी आदि का स्रोत माना तो अविवेकी मस्तिष्क को संयमन, न्याय और साहस का स्रोत बताया। उन्होंने आत्मा या आत्मों को पृथक्-पृथक् न करके उनकी 'एकान्वित प्रतिक्रिया' की स्थापना की। यही नहीं, उन्होंने प्रत्यक्षीकरण और संवेदन के प्रकार्यों में मस्तिष्क को कोई भी भूमिका नहीं दी। इस क्रांतिकारी संदर्शन के द्वारा उन्होंने नाटक (प्रत्यक्ष) तथा काव्य (संवेद्य) को अनुष्ठानों की वेदिका से निकालकर मनोभूमियों पर उनका अभिषेक किया : मन की वेदी पर आत्म की शुद्धि एवं शोध।

अरस्तू ने सभी प्रत्यक्षीकरणों एवं संवेदनों का केंद्र अंतिम रूप से हृदय बना दिया : हृदय में ही बिंब एवं स्मृति के मेल से चिंतन की निष्पत्ति होती है। यह अरस्तू की दूसरी क्रांतदृष्टि रही। इस दृष्टिकोण से उन्होंने सभी महान् चिंतकों, कवियों, कलाकारों, राजवेत्ताओं को [दैवी पागलपन के बजाय] 'विषादपूर्ण स्वभाव' वाला पाया। उन्होंने विभ्रम (हैलुसिनेशन) को भी पहचाना। वे हिप्पोक्रेटीज़ की मस्तिष्क-केंद्रवर्त्ती धारा से सोद्देश्य मुड़कर हृदय-केंद्रवर्त्ती धारा से जुड़ गये। फलस्वरूप उन्होंने यह स्थापना की कि जब **संवेदनाएं** उसी प्रकार्य की क्रिया का प्रसादन करती हैं तो सुख का और, जब उसका अवरोधन करती हैं, तो दुख या पीड़ा का अनुभव होता है।'

'संवेदनाओं के मुकाबले **तर्कशील** (रीजन) सृजनात्मक है; मनुष्य अथवा भूत (पदार्थ) से स्वतंत्र है; अमर है। इस पर रोग का आक्रमण नहीं हो सकता क्योंकि यह अभौतिक और अनश्वर प्रकृति वाला है।"[1] अतः मनुष्य तथा उसकी निम्न आत्मा ही **रोगी** होती है। अतः मनुष्य भावनाओं और दुर्भाग्य के कारण त्रुटियां करता है और उसके आत्मोपचार के लिए 'कैथार्सिस' की मनश्चिकित्सा होती है। संवेगों तथा संवेदनाओं की जीवंत तथा जैविक दशाओं के लिए ही अरस्तू ने हृदय-

१. 'ए हिस्टरी आफ़ मेडिकल साइकॉलोजी', जिलबूर्ग एंड हेनरी, पृ० ५५।

केंद्र और निम्नात्म की धारणाएं प्रस्तुत कीं। अत: आत्मा की एक उच्चतर दशा में विवेक एवं तर्कशील हैं तथा दूसरी निम्नतम दशा में संवेदनाएं तथा मनोसंवेग हैं (यह फ्रायडीय चेतन-अवचेतन विभाजन से भी तुलनीय है)। अरस्तू ने इन दोनों को एक इकाई तथा संपूर्ण मानने के साथ-साथ ही यह भी 'अन्वेषण' किया कि आत्मा में मूल प्राकृतिक तत्त्व वायु (ईथर) है। जिस तरह हिप्पोक्रेटीज़ पित्त को आधार मानते थे उसी तरह अरस्तू ने वायु को आधार माना। हेरोक्लीटस के अग्निकेंद्र के समानुवर्ती उन्होंने ईथर-केंद्र को स्वीकार किया और बताया कि पूर्णात्म के प्रकार्यों में ईथर माध्यम है। ऊष्मा और शीतलता के ईथरीय गुणों के कारण ही आत्म सक्रिय है। अगर अति शीतलता है तो मनुष्य भयभीत (कायर) तथा मूर्ख हो जाता है और अगर अत्यधिक ऊष्मा है तो वह कामुक और कुटिल हो जाता है। औसत ऊष्मा हर्ष और आनंद उत्पन्न करती है।[१] इस तरह अरस्तू ने मनोदैहिक प्रणाली में ही **व्यक्तित्व** का उत्स ढूंढ़ निकाला।

अत: अब हम निष्कर्षत:: घोषित कर सकते हैं कि 'त्रासदी' को हृदय-केंद्र के मनोजगत का दृष्टांत बनाकर अरस्तू ने 'कैथर्सिस'-प्रक्रिया द्वारा मनोचिकित्सा और मनोस्वास्थ्य की सिद्धि की है। इस पद्धति में उन्होंने हिप्पोक्रेटीज़ और प्लेटो की धारणाओं का ऊहापोह किया है। मस्तिष्क-केंद्र के बजाय हृदय-केंद्र को स्थापित करके वे प्लेटो से आगे आ गये; तथा 'संतुलन' एवं 'समान' के उभय सिद्धांतों की नयी व्याख्या करके वे हिप्पोक्रेटीज़ से जुड़ गये। हिप्पोक्रेटीज़ की पद्धति में **समान का नियम** भी लागू हुआ : "एक-समान ही एक समान के पूरक तथा विरेचक हैं।" इस तरह बुखार दूर करने के लिए आंच, और ठंड दूर करने के लिए बर्फ़ का पथ्यापथ्य विधान भी हुआ। यही मनोचिकित्सा के अंतर्गत सौंदर्यतात्त्विक विरेचन के लिए **भय** और **करुणा** का पथ्य बना। इसी उपक्रम में पूर्ववर्णित **संतुलन का सिद्धांत** स्थापना करता है कि जिस तरह प्रकृति के तत्त्व [अधोगामी पृथ्वी, ऊर्ध्वमुखी अग्नि, ऊष्मा-वान ईथर आदि] **शरीर** का आंतरिक संतुलन बनाते हैं, उसी तरह भाव [करुणा, भय आदि] **आत्म** का संतुलन बनाते हैं। हिप्पोक्रेटीज़-पद्धति में करुणा कल्याणकर तथा भय स्वास्थ्यकर भाव हैं और ये ही त्रासदी के दो बीजभाव हुए।[२]

१. 'वायु'-तत्त्व ही मध्यकाल में भूत-प्रेतों की 'हवा' बन गया।

२. परवर्ती ग्रेइको-रोमन युग में कई ऐतिहासिक परिवर्तन हुए। ईस्किलेपिआडीज़ (ई० पू० प्रथम शती का मध्य) ने संपूर्ण हिप्पोक्रेटीय चिंतन को 'मृत्यु का ध्यान' कहा और डिमोक्रीटस तथा हेरोक्लीटस के अनुसार मनुष्य शरीर को उन असंख्य परमाणुओं से निर्मित माना जो निरंतर गतिशील हैं।···सेल्सस (ईसा पूर्व प्रथम शती का अंत) ने हिप्पोक्रेटीज़ तथा ईस्किलेपिआडीज़ का आंशिक अनुमोदन करते हुए कहा कि मानसिक रोग में केवल किसी एक 'अंग' के बजाय संपूर्ण 'व्यक्तित्व' प्रभावित होता है।···(सबसे अंत में) सर्वोत्तम ग्रेइको-रोमन ओषधिविज्ञानी गालेन (ई० प० १३०-२००) भी मनोचिकित्सा का विकास नहीं कर सके; यद्यपि उनका असर अठारहवीं शती के मध्य तक रहा। एक प्रकार से वे हिप्पोक्रेटीज़ और प्लेटो, अरस्तू और

[शेष अगले पृष्ठ पर]

दूसरा आयाम **आनुष्ठानिक** है। हम ग्रीक पर्वों और उत्सवों का इतिवृत्त निवेदित कर आये हैं। डायोनीसस-पर्व में जो 'उन्माद-दशा' (एंथुसियास्टिका) छा जाती थी, वह धार्मिक एवं रहस्यात्मक मानी गयी। तत्कालीन पुरोहितों तथा चिकित्सकों (क्योंकि तब बहुधा पुरोहित-चिकित्सक एक ही होते थे) ने यह देखा कि प्रचंड मनोव्याधियों के शिकार उपासक, और प्रबल मानसिक कुंठाओं में जकड़ी युवतियां, दोनों ही देवस्तुतियों तथा धार्मिक अनुष्ठानों के इस सहकार से **मानसिक स्वास्थ्य** लाभ करते हैं अर्थात् उनमें भय का बंधन नहीं रहता। इसी तरह युवक उपासक और युवतियां विश्व की समस्त वस्तुओं के प्रति संवेदनशील हो जाती हैं और उनकी ज्ञानेंद्रियां भी अत्यधिक मुक्ति का अनुभव करती हैं। अतः **मानसिक शांति** भी मिलती है अर्थात् उनमें संचारित करुणा का व्यापक भाव उन्हें संतुलित कर देता है। इस प्रकार भय के बंधनों से छूट और मानसिक स्वास्थ्य का **लाभ**; और करुणा के व्यापक प्रसार और मानसिक शांति का **शुभ**—दोनों ही उन्माद-दशा के परवर्ती सुफल हैं। इनके द्वारा उपासक पवित्र एवं स्वच्छ(निर्मल)होता है। आत्म में करुणा और भय के ऐसे सुफल को पवित्रीकरण (प्यूरिफिकेशन) माना गया। अतः यह विरेचन का **पौरोहित** आयाम है। यह आयाम दूसरा है।

इस तरह 'विरेचन' के अंतर्गत वैद्यकीय 'शोधकरण' (पर्जेशन) तथा पौरोहित 'पवित्रीकरण' का संगम हुआ है। इस रसायन के कर्त्ता अरस्तू हैं। उन्होंने त्रासदी के सौंदर्योपभोग में पुरोहित एवं वैद्य की दृष्टियों का तालमेल कर दिया।

यह तो हम पहले ही बता आये हैं कि महाकाव्यों के होमर-युगीन समाज में भय तथा लालसा के युगल-भाव प्रधान थे। बाद में त्रासदी के क्लासिकल युग में भय तथा करुणा के युगल-भाव ही प्रमुख स्वीकृत हुए। मानवीय संस्कारों में करुणा का ऐसा व्यापक संचार इसी तथ्य का सूचक है कि अहं-केंद्रित मनुष्य में आत्मनिर्वासन तथा पाखंड-केंद्रित समाज में विघटन की प्रक्रिया तेज़ हो रही थी। भय मूलतः एक निजी भाव है जबकि करुणा परकीय भी (करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है)। अतः भय के साथ करुणा का संयोग कराकर ईस्किलस, सॉफोक्लीज़ और यूरिपिडीज़ जैसे महान् त्रासदीकारों ने ग्रीक समाज, ग्रीक मनुष्य तथा ग्रीक भावलोक का सरल और सामूहिक उद्धार भी किया।

[पिछले पृष्ठ का शेष]

ईपिकुरस, ज़ेनो और ईरासिस्ट्रेटस के समन्वयवादी कोशकार बन गये। गालेन प्लेटो और अरस्तू के विपरीत मस्तिष्क के प्रकार्य में न्यूमा अथवा आत्मा के बजाय 'वातावरण' का हेतु मानते हैं जो स्नायुतंतुओं को शुष्क अथवा सुकोमल करता है। वे पुनः हृदय के बजाय मस्तिष्क को केंद्र बनाते हैं किंतु बहुत ज्यादा गड्डमड्ड कर जाते हैं। अलबत्ता वे एक नयी भौतिक तब्दीली के समाहर्त्ता तब हो जाते हैं, जब वे मानवीय हाथ को स्रष्टा की परिपूर्ण रचना मानते हैं। हाथ की मांसपेशियों तथा नसों का विवरण देते हुए वे निष्कर्ष निकालते हैं कि हाथ सर्वोच्च विवेक का सबूत है। अतः गालेन मस्तिष्क और हाथ को जोड़कर कृती और कर्मठ मनुष्य के अभ्युदय का शंखनाद करते हैं।

अरस्तू अर्ध-दैवी नायकों के स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। वे वर्तमान के विचारक थे। अतः उन्होंने अपने गुरु की तरह 'महाकाव्य' और 'मिथक' की धुरियों का नहीं चुना। उन्होंने 'त्रासदी' और 'इतिहास' की धुरियां स्वीकारीं। उन्होंने यह भी देखा कि ग्रीक समाज में टकातंत्र (टिमोक्रेसी) अर्थात् पैसों वाले वर्गों एवं समुद्री तिज़ारत से उभरे बुर्जुआ लोगों का सरकार पर अदृश्य ढंग से बुरा प्रभुत्व कायम हो रहा है। अंदर भ्रष्टाचार है और बाहर हिंसा। अतः उन्होंने डायोनीसस-पर्वों वाली उन्माद-दशाओं (एंथुसियास्टिका) का प्रारूप नहीं बनाया क्योंकि वे यातना की ज्यादा गंभीर तथा उग्र श्रेणी है। उनका ही एक सामान्य तथा मामूली रूप है जिसमें करुणा और भय छोटे-मोटे तौर पर मानसिक विक्षोभ पैदा करते हैं। अतः उन्होंने त्रासदी में करुणा एवं भय की साधारणीभूत मानसिक अवस्थाओं के विरेचन को ही लक्ष्य बनाया है [न कि उनके तीव्र एवं उग्र उन्मादक रूप को]। जिस तरह **जिमनास्टिक्स** (व्यायाम) शरीर का सुगठन करता है, जिस तरह **संगीत** चरित्र का निर्माण करता है उसी तरह **त्रासदी** भावों (करुणा एवं भय) का रूपान्यवयन करती है। उपर्युक्त सादृश्य-न्यायों पर चलकर अरस्तू ने कहा: "त्रासदी का उच्चार नहीं होता, अभिनय होता है। त्रासदी करुणा और भय का उपयोग बिल्कुल इन्हीं भावों के विरेचन को घटित करने के लिए करती है।" अतः यह बात रेखांकित की जानी चाहिए कि ग्रीक विरेचन और भारतीय रसनिष्पत्ति, दोनों ही नाट्य माध्यम के उपाय हैं ओर दोनों ही अभिनय द्वारा भावित होते हैं।

हम यह भी स्पष्ट कर आये हैं कि प्लेटो की अपेक्षा उनके शिष्य अरस्तू का सामाजिक अनुभव व्यापक था। प्लेटो 'आइडिया' को ही **आदर्श रूप** मानते थे; अरस्तू ने भौतिक जगत के **विशिष्ट रूप** स्वीकार किये। प्लेटो काव्य की दुनिया में लालसा (पैशन) की समस्या से उलझ गये थे; अरस्तू त्रासदी की दुनिया में करुणा के द्वारा निदान पा गये थे। प्लेटो भावों को बुद्धि का शत्रु मानते थे; अरस्तू ने उन्हें मनुष्य का उतना ही आवश्यक अंग माना जितना बुद्धि को। प्लेटो भावों के दमन की वकालत करते हैं जबकि अरस्तू उनके विरेचन की। दोनों ही कला में भावों की सम्मोहनकारी तथा मोहासक्तकारी शक्ति से भली भांति वाकिफ़ हैं। किंतु अरस्तू उस शक्ति का दमन न करके नैतिक और विवेकपूर्ण लक्ष्यों में उदात्तीकरण कर देते हैं। स्पष्ट है कि इसके लिए अरस्तू को अपने समाजदर्शन में आमूल परिवर्तन करना पड़ा। महाकाव्यों के अर्धदैवी नायक और प्लेटो के आदर्श दार्शनिक मनुष्य के एवज़ में अरस्तू ने कुलीनतंत्र का त्रासदिक नायक चुना जो देवता, फरिश्ता, पैगम्बर या संत में से कोई नहीं है। अतः दर्शक और उसके बीच अस्मिता (आइडेंटिटी) क़ायम होती है। केवल नायक-दर्शक की अस्मिता की अवस्था में ही विरेचन का विधान है। अरस्तू के विपरीत भरत अभिनेता या नट और दर्शक की अस्मिता का संकेत करते हैं। किंतु विरेचन या रसभोग के लिए दोनों ही 'भाव' को चुनते हैं। भरत ने इस भाव की स्थायी प्रवृत्ति की आनंद प्रकृति की ओर इशारा किया है। अरस्तू ने भी कैथार्सिस की प्रकृति में सुख विलास (हेडोने) का संकेत किया है ['पोएटिक्स'

के चौथे अध्याय के आरंभ में अनुकृतिमूलक कलाओं के साधन, वस्तु और पद्धति के तीन बुनियादी तत्त्वों के बाद सुख नामक चौथे तत्त्व का भी आविर्भाव होता है]। अतः कैथार्सिस या विरेचन को सुख का एक त्रासद रूप ही मानना चाहिए।

विरेचन के त्रासदिक सुख में अरस्तू पुनः महाकाव्य और मिथक के बोधों से प्रयाण करते हैं। महाकाव्य में क्रूरता और रक्तलोलुपता का सुखोत्सव मिलता है। डायोनीसस-उत्सवों में उन्माद और कामुकता का तीव्र आवेश (ऐंथुसियास्टिका) मिलता है। अतः अरस्तू ने 'त्रासदी' का भाव-लोक संतुलित और सानुपात रखा। यह नैतिकता का नया मध्यमान (Mean) था : "प्रत्येक का **पर्याप्त**; किंतु **अतिरेक** तो उत्तम का भी नहीं।" इस प्रकार त्रासदिक सुख में करुणा, विस्मय, उल्लास, समन्वय आदि का प्रपानक हुआ ('दि ग्रीक वे', एडिथ हेमिल्टन, पृ० १६४, १६७, मेन्टर-पेपरबैक, १९६०)। 'मध्यमान के सिद्धांत' के द्वारा यूनानियों ने कैथार्सिस में करुणा और भय का संतुलन एवं अनुपात क़ायम किया। इसके द्वारा ग्रीक समाज में जिस नये व्यक्ति का आविर्भाव हो रहा था उसे अरस्तू ने पहचान लिया। त्रासदी के संसार में मानसिक बंधनों से विमुक्त और दानवी प्रेरणाओं से युक्त जिस **डायोनीसियन व्यक्तित्व** के आविर्भाव का जो उपद्रव हुआ था; तथा प्रकृति एवं समाज के एकीकरण के प्रतिरूप में जो **एकीकृत व्यक्तित्व** प्रतिष्ठित हुआ था—उन दोनों में भाव एवं बुद्धि का संतुलन और अनुपात नहीं होता था। अतः अरस्तू ने **ऐंद्रिक और विवेकी मनुष्य की** पहचान करायी। इस मनुष्य में एक ओर साहस और विवेक है, तो दूसरी ओर कला और कौशल। 'त्रासदी' के नायक की सैद्धांतिक विवेचना में इसी **नये व्यक्तित्व** की ताज़ी पहचान एवं स्वीकृति है। और इसी व्यक्तित्व से तो सारे के सारे कुलीनतंत्र की अस्मिता क़ायम करने के लिए विरेचन का मानसिक संविधान गढ़ा गया है। फलतः विरेचन में भी वैद्यकी के शोधकरण और पुरोहिती के पवित्रीकरण का मध्यमान ही गोचर है। इसीलिए त्रासदी की पीड़ा आह्लाद में रूपांतरित हो सकी।

इसीलिए जब चयन की स्वतंत्रता का उपयोग करके नायक, **गलत** चयन करने के उपरांत भी, अंततः **सही** सिद्ध होता है तो दर्शक या सामाजिक को मनस्तोष होता है—क्योंकि गलत और सही के बीच **संघर्ष**, और फिर एकता स्थापित होती है। नायक की मृत्यु के बिंदु पर पुनः विरोधाभास आता है जब मृत्यु पर सौंदर्यतोष तथा गलती पर असंतोष का द्वंद्वैक्य क़ायम होता है। नायक के संघर्ष और वेदना-व्यथा दर्शक के नये सामाजिक अनुभव तथा संसार-ज्ञान को भी बढ़ाते हैं क्योंकि वह **अन्वेषण** (एनाग्नोरिसिस) एवं वेदना के महाभोग (हामार्शिया) के रूप में सामाजिक शक्तियों और मानवीय चेतना का ज्यादा यथार्थ तथा ऐतिहासिक आकलन करता है। इस भांति कैथार्सिस सौंदर्यबोध-तत्त्व और समाज की एकता का प्रतिपादक हो जाता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि अरस्तू ने **डायोनीसस-विरेचन** की धुरी का विश्लेषण किया है।

हंगेरियन मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री ज्योर्जी लकाच्श (१८८५-१९७१) ने

अपोलो-कैथार्सिओस का निरूपण करके बिल्कुल नये आयाम उद्घाटित कर डाले।

प्रेक्षकलक्षी कला-आस्वाद की दशा में लुकाच्श की स्थापना है कि उन घड़ियों में वह (सामाजिक) अपने दैनंदिन क्रियाकलाप एवं अस्तित्व को निलंबित कर देता है और 'समग्र मनुष्य' से 'मनुष्य की समग्रता' के धरातल पर उठ जाता है अर्थात् 'विशिष्ट' ही 'वैश्वक' में विर्सजित एवं विस्तारित हो जाता है। इस सबका प्रभाव एक 'झटित्' (शॉक) होता है क्योंकि प्रेक्षक अपने निजी संसार और कृति के संसार की तुलना में इस समस्या का सामना करता है कि यह जगत (दोनों संसार) कितना मानवीय है। कलास्वाद की भावदशा में यह समस्या ही 'झटित्' को घनीभूत करती है; और यह झटित् ही **कैथार्सिस है**। इस प्रकार अब अरस्तू द्वारा अनुकीर्तित और केवल त्रासदी में अनुप्रविष्ट कैथार्सिस—कुछ विशिष्ट भावों अथवा लालसाओं के संदर्भों से विस्तीर्ण होकर—समग्र मनुष्य का मूलभूत आलोड़न हो जाता है। अतः अब कैथार्सिस का तात्पर्यार्थ 'मनुष्य की समग्रता' के धरातल तक उत्थान पा जाता है। इसीलिए यह धारणा 'अपोलो-विरेचन' कही गयी : कला के विवेक-देवता से प्रतीकायित हुई!

कैथार्सिस का अनुभव मानवता के प्रयोजनों का पर्याय हो जाता है। इस जगत के यथार्थमुकुर के सामने मनुष्य के अनुभव आ खड़े होते हैं। अतः मनुष्य (के अनुभव) और दर्पण के **प्रतिबिंब** के बीच अनुकरण (माइमेसिस) का नहीं, बल्कि परायेपन (एलियेनेशन) का बोध जागता है क्योंकि यथार्थमुकुर का प्रतिबिंब अपनी महानता से उसे लज्जित करता है, उसके फालतूपन और लिजलिजेपन को दिखाता है, आत्म-श्रेष्ठता को प्राप्त करने में उसकी वर्तमान असमर्थता को उद्घाटित करता है। 'झटित्' की तात्त्विक मीमांसा यही है।

उस बिंब का साक्षात्कार करके मनुष्य अपने निजी जीवन के सार का आत्म-स्वीकरण करने के लिए अनुप्रेरित होता है। इस बोध के उदित होने पर अब जगत की तस्वीर ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। अतः **सुपरिचित** भी एक नये प्रकाश में प्रतीत होता है (अन्वेषण)। अतः कैथार्सिस केवल जीवन के **नये तथ्यों** को नयी रोशनी में ही नहीं प्रकट करता बल्कि प्रेक्षक के संदर्शन की गुणात्मक स्पष्टता का ऐसा परिवर्तन बनता है कि उसके प्रत्यक्षीकरण का ही दृष्टिकोण बदल जाता है। अतः कैथार्सिस जीवन को **परिवर्तित** करता है। लुकाच्श अरस्तू के शोधकरण एवं पवित्रीकरण के साथ परिवर्तित प्रत्यक्षीकरण का कोण जोड़कर कैथार्सिस के शक्ति-त्रिकोण को पूर्ण कर देते हैं। इस तरह कैथार्सिस एक ओर नयी चीज़ों का 'अन्वेषण' करता है तो दूसरी ओर सुपरिचित वस्तुओं को नये प्रदीपन में पेश करके 'विस्मित' (पेरिपेटेइआ) भी करता है। इस तरह कैथार्सिस 'झटिति प्रत्यय' द्वारा मनुष्य का रूपांतरण करता है [यह भट्टनायक प्रणीत परवर्ती 'साधारणीकरण' की धारणा से तुलनीय है जिसके द्वारा प्रेक्षक की अपेक्षा उसके स्थायी भावों का रूपांतरण होता है]।

कैथार्सिस के एक तीजे गैर-अरस्तुई हाशिये के उद्घाटक भी जर्मन मार्क्स-

वादी नाटककार बर्तोल्ट ब्रेख़्त (१८९८-१९५६) रहे हैं जिन्होंने 'त्रासदी' के बजाय **महाकाव्यात्मक नाट्य** (ईपिक थियेटर) की स्थापना करते हुए कैथार्सिस की जगह परायेपन या **परकीयकरण-प्रभावन** (ऐलियेनेशन-इफ़ेक्ट) की धारणा की प्रतिष्ठा की। लुकाच्श ने कैथार्सिस-प्रक्रिया के दौरान बताया था कि यथार्थता की तस्वीर के अधिकाधिक स्पष्ट होते जाने पर सुपरिचित भी एक **नयी** दीप्ति में व्यक्त होने लगते हैं। इसी बिंदु से ब्रेख़्त ने परकीयत्व-प्रभावन की धारणा विकसित की जिसका संबंध मानवीय क्षेत्रों से है।

अपने 'ऐपिक थियेटर' के नाट्य सिद्धांतों को ग़ैर-अरस्तुई घोषित करते हुए ब्रेख़्त ने अभिनय की महाकाव्यात्मक प्रणाली को भी प्रतिपादित किया। उन्होंने यह भी कहा कि आधुनिक मनुष्य के सामने आधुनिक जगत की व्याख्या केवल एक परिवर्तनीय जगत के रूप में ही की जा सकती है। अतः ब्रेख़्त ने अपने नाटक में काल की अरस्तुई क्रमिक **इकाई** को भंग किया, प्लाट के बजाय **इतिवृत्त** को स्थापित किया, दृश्यों को पूर्ण नाटक का अंग बनाने की बजाय स्वयं में पूर्ण या **अंगी** बना दिया जिससे कि कार्य व्यापार एक विकासशील आवश्यकता के द्वारा अग्रसर होने के बजाय झकोरों या झटकों द्वारा आविर्भूत होता है। इस तरह ब्रेख़्त ने अरस्तू के **विकासशील भौतिकवाद** के स्थान पर 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' की प्रतिष्ठा कर दी जिसका फल 'ऐपिक नाट्य' है।

उनके इस ऐपिक नाट्य के प्रेक्षकवृंद पाकशाल से पके-पकाये भुने-सोंधे हृदयों वाले खाद्य पदार्थ नहीं हैं; न ही वे समाधिस्थ योगी की तरह तटस्थ हैं; और न ही सुमनस की तरह निष्क्रिय हैं। प्रेक्षक की इन अवस्थाओं को ब्रेख़्त 'पाक्य' वृत्तियां कहते हैं। इसी अवस्था में अरस्तुई 'विरेचन' या भरतवादी 'रसोत्पत्ति' होती थी। उन्होंने 'परकीयत्व-प्रभावन' के अंतर्गत प्रेक्षक को भी असली सहभाग के लिए प्रेरित किया अर्थात् वह रूपकात्मक तथा अक्षरशः एक रवैये पर कायम हो जाता है और स्वयं अपने निर्णय भी देता है। इस तरह प्रेक्षक की भी **कार्यशक्ति उद्बुद्ध रहती है।** इसकी तुलना में **परिपाकी रंगनाटकों** में प्रेक्षक मंच के अभिनय में ही इतना अधिक उलझ जाता है कि (तन्मयीभवन की दशा में) **उसकी कार्यशक्ति निश्चित रूप से खलास हो जाती है**। इस तरह 'ऐपिक नाटक' का प्रेक्षक प्रतिबद्ध होने के कारण समहृदय या स-हृदय नहीं होता; अभिनय और पात्र का सहभागी होने के कारण आवश्यक रूप से उसका तदाकार नहीं होता; और सक्रिय तथा जागरूक होने के कारण नाटक की दुनिया और अपनी दुनिया के बीच की परिवर्तनीय मानवीय स्थितियों का अनुशीलन करता है।

[एक और अप्रासंगिक हाशिया बाकी है जिसने कैथार्सिस को फूहड़ता (एब्सर्डिटी) द्वारा विस्थापित किया है। किंतु उसका अप्रासंगिक विवेचन नहीं हो सकेगा]।

आनुष्ठानिक कलाओं का समाजशास्त्र

नाट्य जैसी आनुष्ठानिक कलाओं (पर्फ़ॉर्मिंग आर्ट्स) में हमें अनेकानेक सूत्र मिलते हैं। इन कलाओं में कई अन्य कलाओं और विद्याओं का संश्लेषण होता है; इनकी शैलियां सभ्यता से तथा सभ्यता के कई अंगों और ऐतिहासिक चरणों से समन्वित होती हैं; इनके रूपबंध (फार्म) तथा आकृतिबंध (स्ट्रक्चर) इतिहास-दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के दर्पण होते हैं; तथा इनकी भाषा एवं शैली में इतिहास एवं भूगोल के अनेक घटकों का सामंजस्य होता है।

भरत-पूर्व नये सौंदर्यबोधानुभवों को कला या विद्या के बजाय 'वेद' के मूल नाम से अभिहित किया जाता था: नाट्यवेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद इत्यादि। इनका प्रथम सैद्धांतिक निदेशन 'सूत्र' रूप में होता था; और बाद में 'शास्त्र' में विस्तार (भाष्य) होता था। पाणिनि ने **नटसूत्र** का जिक्र किया है और भरत ने **रससूत्र** की प्रतिष्ठा की है। गंधर्वसूत्र में 'गीतमनृत्यम च साम च वादित्रम् च' (गान, नृत्य, गायन और वादन) समेट लिये गये हैं। 'सूत्र' मूलतः दार्शनिक एवं ऋचात्मक [वेदसूत्र (ब्रह्मसूत्र)], आनुष्ठानिक (गृह्यसूत्र) एवं व्यवहारमूलक (कामसूत्र) होते थे। शायद वात्स्यायन भरत से थोड़ा पहले हुए होंगे। वस्तुतः वे महाकाव्यों के उस संकलनकाल में हुए होंगे जब 'सूत्र' और 'शास्त्र' पर्याय-से थे। बाद में सूत्रकार और सूत्रधार की तथा 'नटवैतालिक' की मैत्री हुई और नाराशांसी गाथा गायी जाने लगी ('गाथाः पुरा गीताः')। ईसा पूर्व दूसरी शती के आसपास सूत्रकर्त्ता शास्त्रकार बने होंगे तथा सूत्रधार और सूत्रकार की कांतमैत्री हुई होगी।[१] 'श्लोक' उद्‌गीथात्मक थे अर्थात् उनमें उच्चार प्रधान और गान गौण था। बाद में 'गाथा' में गायन और गान प्रधान हुए ('गीता गाथाः')। गाथा में कथा भी 'इतिहास'-रूप में अथवा 'नाट्य रूप' में अनुप्रवेश पा जाती थी। अतः 'नाट्यशास्त्र' में भरत को गाथा-गान, इतिहास और नाट्यादि के संयोजन को लेकर ही निरूपण करना पड़ा है।[२] पौराणिक शैली में इसे यूं कहा गया कि पाठ्य, गीत, अभिनय और रस को लेकर नाट्यसृष्टि की गयी। विशेषतः 'नाट्यशास्त्र' में पंद्रहवें से लेकर बीसवें अध्याय तक वाचिक अभिनय का जो वर्णन है उसके अंतर्गत वाणी की महत्ता, छंदोविभाग, वृत्त, अलंकार, भाषा-विधान, संभाषण आदि शामिल हुए हैं। बाईसवें अध्याय में चार वृत्तियों का वर्णन है। 'नाट्य' के अंतर्गत यह कलासंश्लेष संस्कृति के विकास और संवर्धन को, कलाओं के विभिन्न रूपों तथा उनके भौगोलिक-ऐतिहासिक उद्‌गामों को संकेतित करता है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र शुंगों तक पल्लवित-पुष्पित पूरी सभ्यता एवं संस्कृति का कलात्मक इतिहास-संग्रह है।

१. सूत्रधार और सूत्रकार के साथ 'सूत' की उपच्छाया भी है। 'सूत' के चार तात्पर्य हैं—'लोक-गाथिक' (महाकाव्य परंपरा के आनुवंश्य गायक) और 'कुशीलव' (लोक गायक); 'सारथी' और 'सूत्रधार'।

२. रामायण में सूत को 'पौराणिक' भी कहा गया है तथा दोनों महाकाव्यों में 'सूतमागध-बंदिनः' का समासपद मिलता है।

भरत के इस कला के विश्वकोश में छत्तीसवां अध्याय मानो मिथकीय इतिहास को धुंधलके से खींचकर क्षीणालोकित कर देता है।

दैविक और याज्ञिक क्षेत्रों (स्वर्ग) में कर्मकांड की प्रधानता थी। इसी के समानांतर गंधर्व और किन्नर जैसी जातियों में सुगंधित द्रव्यों, उन्मादक उपभोगों से युक्त उन्मत्त उत्सव प्रचलित थे। महाकाव्य में एक ओर तो मृगया (हिंसा) मिलती है; दूसरी ओर अश्वमेध, राजसूय और पुंडरीक यज्ञ। अतः नेता की आखेटक हिंसा पर भी अहिंसा-मत बाद में थोपा गया है। नेता-नायकों के कई वर्जनीय कर्मों के अलावा रमणियों के द्वारा मदिरापान के उल्लेख भी मिलने लगते हैं—'मदस्खलितगामिन्याः' (i, २२२, २१); 'मदोत्कटे' (२३)। मधुचर्या के ये प्रसंग परवर्ती हरिवंश में बहुत मिलने लगते हैं। किंतु भरत के समय में ये कोई नैतिक वाकये नहीं थे। अर्थात् ईसा सन् के आसपास 'हिंसा' और 'भोग' के विषय में पर्याप्त स्वच्छंदता थी। एक तापसी सांस्कृतिक पैटर्न में ये अंश यवन (आयोनियन) यूथों के डायनीसियन-पर्व से तुलनीय हैं। रोमक (रोमन) यूथों तक स्थिति बदलती है। अस्तु !

ऐसे भारतीय उत्सवों का मूलरूप नाटकीय था और उनमें अप्सराएं (आर्येतर जातियों की रमणियां) भाग लेती थीं। मुनिगण अर्थात् प्रौढ़ और गंभीर नीतिवादी लोग और देवता उनमें भाग नहीं लेते रहे होंगे। लेकिन निस्संदेह आनंद और भोग के विलासी युवक (भरतपुत्र) उन नाटकीय उत्सवों में भाग लेकर मदमत्त हो जाते रहे होंगे। उन नाटकों में युवतियों के साथ उन्हें स्वेच्छाचार की आज़ादी रही होगी। अतः बुज़ुर्ग आर्यों (मुनियों) और नये युवकों (भरतपुत्रों) के बीच जो उग्र मतभेद हुआ उसमें युवकों की स्वच्छंदता और विलासिता दबायी गयी (भरतपुत्रों को शाप)। अतः बुद्धिमान बुज़ुर्गों (बृहस्पति) ने एक ओर तो सुरांगनाओं का मानुषों के साथ संगम वर्जित किया, दूसरी ओर उनके देवताओं को गंधमाल्यों से पूजित करने की विधि का निषेध करके अपने देवताओं वाले स्तुति-मंगल का विधान कर दिया। अतः पहले जो युवक आर्यों और आर्येतर जातियों के बीच स्वच्छंद और मुक्त अभिनय-विनोद से युक्त लीला चल रही थी (नाटक को पहले उर्वशी भूतल पर लायी थी), वह ठप्प हो गयी। अब वह दुबारा संस्कारित हुई। विद्रोही और आनंदभोगी युवकों ने आदिम नाटकों के उन्मत्त-उल्लास को 'नांदी' का तथा वैदिक अनुष्ठान को 'पूर्वरंग' का आवरण पहना दिया होगा। इस तरह उन्होंने पुनः नाट्याभिनय शुरू किया होगा और इस कलाकर्म पर लगे शूद्रकर्म के कलंक को धो दिया होगा। तीसरे चरण पर नाट्य पर ग्रीक प्रभाव पड़े होंगे; और विभिन्न प्रदेशों की जातियों तथा रीतियों को 'वृत्ति'-रूप में ग्रहण किया गया होगा।

एक बात और भी ध्यातव्य है। भरत ने अपने समय की सवर्ण-संस्कृति के ढांचे को लोक-जीवन और लोक-भावना के लिए एक झटका देने की कोशिश की। ऐसा लगता है कि उन्होंने **वर्ग-संघर्ष** को एक सर्ववार्णिक माध्यम—पंचमवेद नाट्य—के द्वारा संकेतित किया और उसका रूपायन **लोकतत्त्व** में किया। भरतपुत्रों के

शाप से तो यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि कर्मकांडी ब्राह्मणों और विलासी क्षत्रियों ने भरत तथा उनके सौ अनुयायी शिष्यों को शापित और प्रताड़ित भी किया क्योंकि वे सवर्णों के बजाय 'सर्वोपदेशजनने' तथा 'लोकोपदेशजनने' नाट्यवेद रच चुके थे। इसकी कीमत उन्हें हिंदू नृपतंत्र से निष्कासित होकर दक्षिण के एक आदिम समाज में बसकर चुकानी पड़ी। उनके सौ शिष्यों को तो शूद्र भी घोषित किया गया। फलतः 'पंचमवेद' और 'चाक्षुष यज्ञ', तथा 'शापित भरतपुत्र' तत्कालीन सामाजिक संघर्षों के प्रच्छन्न प्रतिबिंबों को झिलमिलाते हैं।

इन प्रसंगों के लिए हम उत्तर भारत के साक्ष्यों को दे चुके हैं। दक्षिण भारत (दक्षिणापथ) के साक्ष्यों से भी कुछ नयी व्याख्याएं आलोकित हो उठती हैं।

वस्तुतः टीकाओं, भाष्यों और व्याख्याओं के लिए तो दक्षिण के आचार्य और विचारक बेजोड़ हैं। आठवीं शती के बाद भरत सूत्र के जो व्याख्याकार भट्टलोल्लट्ट, श्रीशंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि उत्तर भारत (कश्मीर) में हुए उनकी दार्शनिक भित्ति देने वाले शंकर और कुमारिल थे। उन्होंने क्रमशः अद्वैतवेदांत और वैदिक न्याय के दर्शन प्रतिपादित किये। दक्षिण में यह युग पांड्य एवं पल्लववंशी सम्राटों का था जो सातवाहन-साम्राज्य के खंडहरों पर उदित हुए थे। इसी समय में चालुक्यों का अभ्युदय हुआ था जिन्होंने हर्षवर्धन की दिग्विजयी महत्त्वाकांक्षाओं के चित्रों पर पानी फेर दिया था। आठवीं शती के मध्य से चालुक्यों का अवसान और राष्ट्रकूटों का उत्थान होता है। एलुरा में चट्टानें काटकर बनाया गया कैलास-मंदिर राष्ट्रकूटों की देन है। पांड्यों की देन महाबलीपुरम (मामल्लपुरम) तथा पल्लवों की कांजीवरम (कांचीपुरम) है। लेकिन इस इतिहास का पूर्वरंग तो **सातवाहन-युग** (ई० पू० २३०-ई० प० २००) था। यह उत्तर भारत के मौर्य-युग (ई० पू० ३२५-१८८) का परवर्ती था।

भरतपूर्व पाणिनि (ई० पू० लगभग ६००) के भाष्यकार कात्यायन (ई० पू० ४००) दक्षिण भारत के थे। पाणिनि ने कलिंग का नाम लिया है तो कात्यायन ने पांड्य, चोल और केरल का। इन राज्यों का नाम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और अशोक के शिलालेखों में भी आता है। इसके अलावा अगर शुंगवंश के प्रथम सम्राट पुष्यमित्र शुंग ने दो बार अश्वमेध किया था तो सातवाहन-वंश के तीसरे सम्राट श्री शातकर्णी प्रथम ने भी, परवर्ती शुंग सम्राट को पराजित करके, अश्वमेध यज्ञ किया था। इस तरह हम भरत और उनके 'नाट्यशास्त्र' को शुंग-सातवाहन कालों की धुरी पर स्वीकृत करते हैं (कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में आंध्रों अर्थात् 'आंध्रभृत्यों' अर्थात् पूर्वनामधारी सातवाहनों पर शुंगों की विजय का हवाला दिया है)। सातवाहन-वंश के सातवें सम्राट हाल (ई० प० २०-२४) थे जिन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में आर्याछंद में सात सौ शृंगारपरक 'गाथाएं' संकलित की हैं ('गाथा-सत्तसई')। भरत के सांस्कृतिक भंडार में शृंगार और गाथाएं भी उपजीव्य बनी हैं।

यह भी लगता है कि सीइस्तान से आने वाले शकों (ई० पू० ७५ में उन्होंने सिंधु-तराई को जीतकर उसे 'शाकद्वीप' बना दिया था) के आसपास संभवतः भरत

का समय रहा होगा। ई० प० ४०-८० तक सातवाहनों से भूमि छीनते हुए शकों की शक्ति बढ़ रही थी किंतु सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी (ई० प० ८०-१०४) ने शकों, पह्लवों और यवनों का विनाश किया। इसी तरह गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय (ई० प० ३४०-४१४) ने शकों का विनाश किया। किंतु यह भी मुमकिन है कि वृद्ध भरत के मुकाबले नवभरत पर शकों और यवनों का असर पड़ा हो क्योंकि नाट्यशास्त्र स्वर्ग से पृथ्वीतल पर आते-आते कई बार घटा-बढ़ा है। ग्रीक एवं रोमन प्रभावों की छाप अमरावती तथा कृष्णा नदी की घाटी के स्तूपों पर बिलकुल स्पष्ट है।[1] भरत के नाट्य में **यवनिका** और अल्लूरु के शिलालेख में **योनक** नाम प्रदीप का नामकरण ग्रीक संस्कृति के नाट्यमंच पर अनुप्रवेश को दोहरे ढंग से सिद्ध करता है। शुंगों तथा सातवाहनों के समय में यवन (ग्रीक), पह्लव (ईरानी) और शक (शीस्तानी) जातियां आनी शुरू हो गयी थीं। यवनों का प्रभाव बहुव्यापी नहीं रहा। लेकिन शक-वंश के सम्राट कुषाण और उनके पौत्र कनिष्क की उतनी ही महान् देन है जितनी पूर्ववर्ती मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त और उनके पौत्र अशोक की।

भारतीय इतिहास-पटल पर एक अनूठी बात हुई। कुषाण और कनिष्क बौद्ध हो गये। सातवाहन **ब्राह्मण** थे ही। कुषाण ने मथुरा को राजधानी बनाया जो विद्या और संस्कृति का केंद्र थी। कनिष्क (ई० प० १७५) ने **पुष्करावती** (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया [दक्षिण में पांड्यों ने भी अपनी राजधानी का नाम मधुरा (आधुनिक मदुरैइ) रखा था]। इस तरह हम भरत के युग तथा उसके आसपास ब्राह्मण, बौद्ध और शैव (कुषाण का पुत्र शैव था, पौत्र कनिष्क बौद्ध) धर्मों का संगम और अंतरावलंबन भी पाते हैं। ब्राह्मणवाद में शुंगों ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश की धारणा को प्रतिष्ठित किया था तो सातवाहनों ने राम-केशव-अर्जुन की प्रतिस्थापना की। अतः शिव का त्रिशूल, बुद्ध का धर्मचक्र और वासुदेव का शंख-पद्म, सभी इस काल में पूजे गये। इसीलिए भरत के 'नाट्यशास्त्र' में बौद्धों की करुणा करुण रस होकर शामिल है, शिव के संप्रदाय का नांदी भी है, तथा भागवतों का मांगल्य भी।

एक ताज्जुब और है। गांधार और पंजाब के क्षेत्र में जिस 'इंडो-हैलेनिक' अर्थात् **गांधार शैली** (प्रायः ई० पू० ५०-ई० प० ३००) का उत्कर्ष हुआ उसमें विषय तो बौद्ध हैं, लेकिन शैली सर्वथा यूनानी। गांधार-शैली का इतना श्रेष्ठ उत्कर्ष अचानक ही नहीं हुआ होगा। इसके पहले अन्य छोटे-छोटे सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़े होंगे। जब **शिल्पकला** के क्षेत्र में इतना क्रांतिकारी ग्रीक प्रभाव जगमगा रहा है तब हम **नाट्यकला** को किस तरह विशुद्ध तथा सर्वथा भारतीय मानें? सांस्कृतिक आदान-प्रदान एक जागरूक जाति और उदार सांस्कृतिक चित्त की निशानी है। यही लगता है कि करुण, भयानक, हास्य और रौद्र रस भी ग्रीक नाट्य-शैली की प्रेरणा

१. दे० 'ए हिस्ट्री आफ़ साउथ इंडिया', नीलकंठ शास्त्री, पृ० ९७ (आक्सफोर्ड यू० प्रेस १९६६, तृतीय संस्करण)।

से आए हों; और गांधार-शैली की तरह उनके विषय का पूर्ण **भारतीयकरण** हो गया हो। अगर बौद्ध कला के करुणा-भाव के केंद्र पर गांधार के ग्रीक समर्पित हो सकते हैं तो निस्संदेह आनंदवादी आर्यों के लिए भी करुण, भयानक, हास्य और रौद्रादि रसों का महाभारत वाला यथार्थ संसार ग्रीक टोलियों ने ही विशेष आग्रह से शामिल कराया होगा। अलबत्ता ये रस भी उसी आनंद की धुरी में ही घूमे। भारतीय आर्यों की वृत्ति जो यही थी। इसके अलावा इस समय में मध्य एशिया का तेजी से **हेलेनीकरण** हो रहा था और यह प्रक्रिया भारतवर्ष में भी अनुप्रवेश पा चुकी थी। पुन: एक अन्य प्रमाण भी है। अशोक-स्तंभों पर खुदी पशुओं की आकृतियों तथा उनकी शैलियों पर जब निश्चित रूप से असीरियायी एवं ग्रीक प्रभाव स्वीकृत है; जब कुषाण कालीन मूर्तियों पर भी ग्रीक प्रभाव स्वीकृत है तब मध्यवर्ती काल की प्रमुख कला पर भी यह भाव बाकायदा पड़ रहा होगा। इस मध्यवर्ती काल में ही नव भरत ने अपना 'नाट्यशास्त्र' संग्रहीत किया है। अत: ग्रीक प्रभावों की यह सुंदर, सांस्कृतिक और विचित्र धारा 'नाट्यशास्त्र' के भी कई उपांगों में अंत:प्रवाहित हुई होगी—इससे कौन इतिहासदार्शनिक इनकार कर सकता है ?

मुनि भरत के समय में वास्तुकला की ब्राह्मण-शैली तथा बौद्ध-शैली, दोनों का विकास हो चला था। बौद्धों के सप्तभौम घर और ब्राह्मणों के पर्वतशिखर वाले देवमंदिर, बौद्धों पर हेलेनिक या गांधार प्रभाव और ब्राह्मणों पर अवतारवाद का जादू घुलमिल कर प्रकट हुआ। नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृहों के निवेश पर बौद्ध प्रभाव, और रंगभूमि पर अनुष्ठान-वेदी के ब्राह्मण प्रभाव का संगम स्पष्ट झलकता है। सातवाहनों के पूर्वार्ध काल में पश्चिम भारत के गुफ़ा-मंदिरों का निर्माण, अमरावती और नागार्जुनकोंडा के स्तूपों पर ग्रीक प्रभाव, कृष्णा नदी की घाटी के शिल्पावशेष, तथा भरत का 'नाट्यशास्त्र'—ये सभी एक महारूप और महाभाव में समन्वित होकर भरत की उस एक 'शैली' तथा एक 'सभ्यता' को अंतर्ग्रथित करते हैं! इनकी सूक्ष्म छानबीन की आवश्यकता आज तक बनी हुई है।

आयोनियन ग्रीकों या यूनानियों के जगत में भी नाट्यकला के 'रूप' को लेकर समाज और सभ्यता के गठन की प्रामाणिकता खोजी गई है। अनुकृति (माइमेसिस) और विरेचन (कैथार्सिस) के योग से ही अरस्तू पंडित अपने गुरु प्लेटो की मिथकीय भाषा की अभिमंत्रित कुज्झटिका से बाहर आ सके। प्लेटो द्वारा प्रतिकल्पित आदर्श 'रूप' (eidōs) नित्य (अपरिवर्तनीय) यथार्थता के स्वर्ग में मौजूद थे अर्थात् वे देश एवं काल के अक्ष से विमुक्त थे। अरस्तू की 'विशिष्ट रूप' (स्पेसिफिक फॉर्म) की धारणा में रूप समयधारा में बह रहे हैं तथा इंद्रियग्राह्य अस्तित्व वाले हैं। अत: अरस्तू ने 'विशिष्ट रूपों' के द्वारा 'आदर्श रूपों' की अस्वीकृति की। प्लेटो मानते थे कि दैवी कलाकार परिपूर्ण **मॉडलों** की अनुकृति पर प्रकृति के **अनुक्रम** (आर्डर) का निर्माण करता है। अरस्तू ने प्रारूपों (माडलों) को नकारा और इसी क्रम में 'आदर्शों' को भी। अत: दैवी स्रष्टा स्वयं ही विलीन हो गया। इससे जीवित प्राणियों के लोक में गति की शक्ति को 'रूप' में अंतर्निहित माना गया। शक्ति की **गति** ही **विशिष्ट**

रूप का विधान करती है और **विशिष्ट** रूप व्यक्तियों के माध्यम में अलग-अलग उन्मीलित होता है। अनेक जीवन-संभावनाओं के पुंज में 'रूप' परिपूर्णता की एक आकांक्षा तथा एक कोटि है। इस तरह (लुकाक्श के शब्दों में) अरस्तू 'सौंदर्यबोध के विशिष्ट गुण (eigenart) के सच्चे अन्वेषक हैं।' भौतिक जीवन भी एक कुंडलित छल्ले की तरह है जिसमें गति की शक्ति अंतर्संचित है। (यह तो 'अव्यक्त प्रकृति' की भांति है)। अतः भौतिक जीवन के गुणात्मक रूपायन की प्रक्रिया के रूप में **'अनुकृति'** उभरती है। अनुकृति का श्रेष्ठ चरण 'रूप' की रचना है; रूप एक घनीभूत एकता है: वास्तविक जीवन तथा कला में प्रतिबिंबित जीवन की। इसी तरह के एक 'विशिष्ट रूप' का नाम **त्रासदी** है। त्रासदी अनुकृति-मंडल की सर्वश्रेष्ठ धुरी है। अरस्तू ने इस धुरी से **'लिरिक-काव्य'** को बाहर रखा था। संभवतः उनके समय में इसमें त्रासदी के गुण नहीं आए थे (लुकाक्श)। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने **संगीत** में 'विरेचन' को स्वीकार किया है।

नृत्य और संगीत और छंद के मूल में 'चरण' (arsis) है। छंद और संगीत में 'आर्सिस' का अर्थ स्वरमान है, तथा नृत्य में पदमुद्रा। वस्तुतः छंद-रचना संगीत और नृत्य के सहाकार की देन है। ग्रीक छंद में स्वरमान (पिच), स्वराघात (स्ट्रेस) तथा अक्षरोच्चार दैर्घ्य (लैंथ आफ सिलेबल) से तत्त्व स्वीकृत हैं। स्वरमान प्रत्येक शब्द में **राग** (मेलॉडी) की शक्ति को गति देते हैं तो स्वराघात एवं अक्षरदैर्घ्य **ताल** (रिद्म) को। इस तरह राग एवं ताल की संगति समन्वय (हॉर्मनी) लाती है। गद्य या पद्य में प्रयुक्त ऐसे शब्द श्रुतिमधुर तथा तालयुक्त, दोनों होते हैं। प्राचीन ग्रीक चेतना उनमें दैवी (जादुई) शक्ति का अभिधान करती है। अतः ताल (रिद्म) एक उत्तेजक उत्प्रेरक की भूमिका अदा करती है। ताल छंद का प्राण है। अरस्तू ने कहा है कि हर्षोन्माद या भावाकुलता व्युत्पन्न करने के लिए ताल की कुछ मात्रा एवं विशिष्ट कोटि अनिवार्य है। इसका पहला आधार तो संगीत और नृत्य से युक्त उर्वरण-कर्मकांडों में स्रोतगायन है जिससे स्वर (संगीत), शब्द (छंद) और मुद्रा (नृत्य) का सामरस्य स्थापित किया। दूसरा आधार है डायोनीसियसीय उत्सवों से 'डिथिरैंब' अर्थात् आवेशीय भाषणों के अनुकीर्तन की ओर संक्रमण। अर्द्धउन्माद की उच्छल दशा में कवि डिथिरैंब का गायन एवं अभिनय करते थे और प्रेक्षक वृंद भी कुछ टिप्पणी करते हुए शामिल हो जाते थे (प्रेक्षकों का सहभाग ही अंतिम चरण में 'कोरस' या समवेतगान में परिणत हुआ)। अतः यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि त्रासदी की भाषा एक विशिष्ट भाषा है जिसमें लय-ताल, संगीत-नृत्य और डिथिरैंब का तालमेल है। केवल ऐसी विशिष्ट भाषा ही 'कलाभाषा एवं काव्यभाषा' है जो विरेचन कराने में समर्थ है। अरस्तू त्रासदी की ऐसी काव्यभाषा एवं कलाभाषा के युगल को 'रमणीय ढंग से सुपरिष्कृत या सालंकृत' कहते हैं। त्रासदी का भाषा के विषय में उनका कथन है—"भाषा रमणीय ढंग से उत्थित एवं सुपरिष्कृत या सालंकृत ('ऐलिवेटेड ऐंड एलाबोरेटेड अट्रैक्टिवली') होती है। नाटक के विभिन्न भागों के प्रकारों के आधार पर ये परिष्कार वितरित किये जाते हैं।" 'भाषा के उन्नयन' की

अरस्तुई धारणा के कारण हम वास्तविकता के विशिष्ट बिंब को प्राप्त करते हैं। फलतः त्रासदी की भाषा का दूसरा आयाम उद्घाटित होता है : यह ताल से अधिक विशिष्ट अनुकृति (डिथिरैंब) से संबद्ध होती है। अतः यह भाषा ही विरेचन में समर्थ है (ऐसी भाषा के बुनियादी आधार पर ही बाद में रोमनक लोंजाइनस (ईसा पश्चात् प्रथम शती) ने अपने **'उदात्त'**-सिद्धांत की स्थापना की थी)। एक बात और भी परिलक्षित होती है कि त्रासदी के साथ ही अरस्तू एक नई भाषाक्रांति का समारंभ कर रहे हैं। व्यापक रूप में वे महाकाव्यों के लिए 'हैक्सामीटर' तथा त्रासदी के लिए 'आयम्बिक' की अनुकूलता का इशारा करने के बाद त्रासदी की अनुकृतिमयी तथा वास्तविक भाषा को संगीत एवं नृत्य से अर्थात् ताल एवं छंद से आज़ाद कराना चाहते हैं। स्पष्ट है कि वे शनैः-शनः काव्यभाषा और नाट्यभाषा के अंतर को भली-भांति समझते जा रहे थे। वे नई भाषा-क्रांति के सिंहद्वार को खोल ही रहे थे ! और यह द्वार खुला, परवर्ती रोमन आलंकारिकों एवं भाषणवेत्ताओं के स्वागत के लिए !!

नाट्यरूपों की समसामयिकता

बस, अब आखिरी चुनौती बाकी है।

आज भरतमुनि के रसानंदवादी नाटक और अरस्तू के संत्रासवादी त्रासदी-नाटक के संदर्शन हमारे लिए पूरे सार्थक और प्रामाणिक नहीं रहे।

यह तो ठीक है कि जो सवाल हमने आरंभ में उठाया था वह काफी सुलझा है अर्थात् आधुनिकताबोध एवं ऐतिहासिक-समाजशास्त्र तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सहारे हमने ग्रीकों और आर्यों के पुराने ज़माने का पर्याप्त आधुनिकीकृत संदर्शन हासिल कर लिया है। लेकिन ग्रीक त्रासदी और भारतीय रूपक के संसारों में आत्म-निर्वासन (सेल्फ-ऐलियेनेशन) का आधुनिक घटक झांक तक नहीं सका था। और, हमारी आधुनिक त्रासदी की शुरुआत ही आत्मनिर्वासन या **आत्म-परायेपन** से होती है। यूनानी त्रासदीकारों का दुर्भाग्य, भारतीय महाकवियों का सौभाग्य तथा शेक्स-पियर का व्यक्तिवैचित्र्य आज असार्थक-से हैं। भाग्य की त्रासदी में **आश्चर्य** होता था, सौभाग्य के रूपक में **आनंद** मिलता था और व्यक्तिचरित्र की त्रासदी में **रहस्य** फैलता था। इस तरह ये तीनों वृत्तियां अपने-अपने समाजों की ऐतिहासिक यथार्थताओं का असली प्रतिबिंब रही थीं। ग्रीकों तथा आर्यों का वह श्रद्धा एवं विश्वास वाला मिथकी नैतिक संसार कहां रहा ? वह तो भवभूति और शेक्सपियर के चित्त में ही संशया-त्मना हो चुका था। भवभूति ने अपनी पीड़ा तथा दूसरों की दुर्गति का संत्रास झेलकर करुणा को केंद्र में प्रतिष्ठित करने की अकेली कोशिश की थी। शेक्सपियर (१५६४-१६१६) ईसाई-मज़हब के ईश्वर और शैतान से अपना पीछा छुड़ाकर रिनैसां-बोध से आलोकित व्यक्तिवादी केंद्र से जुड़े और भाग्य के बजाय चरित्र की त्रासदी प्रस्तुत की : हैमलेट, लियर मैकबैथ आदि संसार से निर्वासित तथा खुद से आत्मनिर्वासित हैं। शेक्सपियर मानो झटके से मध्यकालीन घुटन को खत्म करने को छटपटा रहे हैं। इसीलिए इनमें मृत्यु का मध्यकालीन संत्रास तथा नरक का ईसाई भय अति क्षीण है।

वास्तव में उन्होंने अपनी स्थिति और समयचेतना, दोनों का अतिक्रमण किया और स्वतंत्रता को जीता था। उन्होंने अपने ऐलिजाबेथ युग में ही देखा था कि मलका की समुंदरी फौज ने स्पेन के जंगी बेड़े 'आर्मडा' का विध्वंस करके तीनों सिंधुओं पर अधिकार जमा लिया था और साम्राज्यवादी विस्तार का बीज भी बो दिया था। किंतु उन्होंने अपने युग के अशुभ का भी संदर्शन किया। यह डरावना और संत्रासकारी संदर्शन 'किंग लियर' में पराकाष्ठा पर है। अपने समय की फूहड़ता (एब्सर्डिटी) को भी उन्होंने विदूषकों-मसखरों द्वारा प्रकट किया। अपने समय में उन्हें मध्यकालीन ईसाई खुदा अथवा शैतान के बजाय अथाह शारीरिक पीड़ा, अंधकारपूर्ण संदर्शन (उनकी 'डार्क लेडी' भी), व्यक्तिवादी तनावों से जन्मा पागलपन (हैमलेट), तीव्र वेदनाभोग, क्रूर अनिष्ट आदि भी सहलक्षित हुए। इस तरह शेक्सपियर ने कुलीनतंत्र के पतन और पाखंड, षड्यंत्र और यंत्रणा की गहराई में डूबकर उसे बेलौस अभिव्यक्ति दी।

लेकिन आधुनिक युग में आते ही 'त्रासदी' और 'रूपक', 'कामेदी' और 'प्रहसन' की क्लासिकल धारणाएं ही खंड-खंड हो गयीं। इनके खंडहरों पर **'फूहड़ता और असंगति'** (एब्सर्डिटी) की केंद्रीय वृत्ति का अभ्युदय होता है जो दुहरे मुखौश में त्रासदी एवं प्रहसन (फार्स) का व्यवहार करती है अर्थात् इसमें इन दोनों विरुद्धों का सामंजस्य तथा उल्टा समन्वय हो जाता है। इसलिए फूहड़तावादी नाटक में अब हम त्रासदी में (सहानुभूति में आंसू बहाने के बजाय) हंसते हैं और प्रहसन में (क्रूरता के विमुक्त होने पर हंसने के बजाय) अपनी मूर्खता पर रोते हैं। नायक में दार्शनिक एवं विद्वान् के बजाय **दार्शनिक एवं विदूषक** का समुपरंजन, तथा नाटक में व्यंग्य और हास्य के बजाय **व्यंग्य और करुणा** का मेल ही फूहड़तावादी नाटकों के प्रयोजन हैं। बैके, ब्रेख्त, जेने, सार्त्र, आयोनेस्को, पिरान्देल्लो, कामू, आदमोव, मिलर आदि ने इस फूहड़ताबोध की सविधेन स्थापना की। रस-चक्र तथा विरेचन-चक्र, दोनों ही आधुनिक फूहड़तावादी नाटक के रथ की धुरी से छिटककर स्वर्णिम अतीत में जा धंसे हैं। इस सौंदर्यबोधात्मक तर्क की परिणति 'रसानंद' की मनोदार्शनिक धारणा के स्थान पर **विरसता** या नीरसता या एकरसता (मोनोटनी) की मूल्यदार्शनिक अवधारणा में हुई। इसके लिए चिड़चिड़ाहट और यंत्रणा को भोगकर उनकी एक बार, दो बार, बार-बार आवृत्ति की जाती है जिस में 'तन्मयता' और ग्रीक 'अस्मिता' के बजाय आधुनिक 'ऊब' (बोरडम) की दशा उत्पन्न हो। इस तरह फूहड़तावाद तथा सौंदर्यबोध में कार्यव्यापार की परिणति अंतहीनता, निरर्थकता, मूल्यहीनता में होती है : न 'फलागम', न ही 'उदात्त कर्म'। सुंदरता और भद्देपन, महान् और क्षुद्र, उत्थान और पतन, क्रूरता और करुणा का ऐसा सामंजस्य एक ही पात्र अर्थात् नायक में हुआ है जिससे वह स्वयं भी खलनायक, स्वयं भी विदूषक, स्वयं भी मूर्ख प्रतीत होकर सारे मूल्यमंडल और मनोवैज्ञानिक अस्तित्व को ही अस्वीकृत कर देता है। अतः नाटक में मनुष्य के बजाय मनुष्य की **अज्ञानता** और **असमर्थता** का वर्णन है। आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व की यह भी एक नई धारणा है।

इसी के अनुरूप प्रेक्षक या सामाजिक की धारणा को लेकर सामाजिक स्थिति निरूपित हुई है। सामाजिक यथार्थता को मूल्यहीन, दोगली और अविवेकशील बनाने के लिए इन नाटकों में अभिव्यंजक प्रतीकों का इतना ज्यादा ग़ैरमनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया है कि वे (यथार्थता) **अन्यापदेश** (एलीगरी) और **विडंबना** (आयरनी) में बदल जाते हैं। ऐसे पर्यावरण में **ऊब** केंद्रीय भावदशा होती है। अत: नाटक का प्रेक्षक तन्मय न होकर **ऊबता है**; और उसका साधारणीकरण अथवा विरेचन न होकर **परकीयकरण** होता है। फूहड़तावादी चिंतकों में ब्रेख्त-प्रणीत 'परकीयकरण-प्रभावन' (ऐलियेनेशन-इफेक्ट) को ऐसे नए आयामों में प्रयुक्त किया। उन्होंने इसे मनोवैज्ञानिक तथा सादृश्यमूलक आधारों से विच्छिन्न करके विरसता की अपनी एकांतिक विचार-धारा से जोड़ दिया। अत: प्रेक्षक बहिर्लक्षी तथा विश्लेषक बना रहता है। वह संवेगों के लोक में पहुंच ही नहीं पाता, वह अन्यापदेशों एवं प्रतीकों की भ्रांतियों में उलझ जाने के कारण विचारधारात्मक सवालों के प्रति भी जागृत नहीं हो पाता, और किसी भी कार्य की सार्थकता का तदाकार नहीं कर पाता। अत: ब्रेख्त की इस श्रेष्ठ सौंदर्य-तात्त्विक धारणा को सहज अंडबंड निरर्थकता में रूपांतरित कर दिया गया। इस भांति फूहड़ता के केंद्र में आते ही सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, एवं सौंदर्यतात्त्विक दृष्टियां बिल्कुल निरर्थक और अंधी बना दी जाती हैं।

'ऐपिक थियेटर', 'फूहड़तावादी थियेटर' और **'अंडरग्राउंड थियेटर'** के बाद अवांगार्द का **'दि लिविंग थियेटर'** तो कुछ बेहद अभूतपूर्व समस्याएं पेश करता है। 'सजीव रंगशाला' के वृंद के लोग यूरोप में चार टोलियों में बंटकर—नेता जूलियन बेक के शब्दों में—'परंपरागत रूपों से पूर्णविच्छेद कर रहे हैं क्योंकि वे बुज़ुर्वा वर्ग की संपत्ति हैं।' इस आंदोलन को 'एंटीगोन', 'फ्रेंकेस्टाइन' तथा 'मिस्टरीज' जैसे रंग-नाटकों को खेलने का श्रेय भी प्राप्त है।

पहली टोली जूलियन बेक तथा उनकी पत्नी जूलि मेलिना के नेतृत्व में न्यूयार्क में पुन: प्रयोगात्मक नाटक शुरू कर रही हैं। इन्होंने सड़क-नाटक और फैक्टरी-नाटक की शुरुआत की है जिसके माध्यम से एक प्रेक्षक या विचारधारक सहृदय के बजाय पूरी भीड़ को, तथा उसके हृदय के बजाय उसकी चेतना को परिवर्तित करने के प्रयास हो रहे हैं। इस प्रयोग का लक्ष्य नाट्योपरांत शांति न होकर क्रांति है। दूसरी टोली ने—ब्रेख्त के अनुकरण पर—बर्लिन में नया 'व्यावहारित जीवंत रंगमंच' स्थापित करने की शुरुआत की है। इनका लक्ष्य भी जनता के बजाय टैक्नोतांत्रिक समाज में सभी प्रकार के सांस्कृतिक उपसंस्कृति वाले समूहों को इकट्ठा करके 'स्वर्ग अभी' का प्रथम बार मंचीकरण रहा है। इसमें तीस सदस्यों वाले अभिनेता-मंडल और दर्शकों के सभी विभिन्न सांस्कृतिक समूहों ने हिस्सा लिया। परिणामत: रंगनाटक एक अराजक एवं आधुनिक डायोनीसियन उत्सव के उन्माद में बदल गया। अत: उन्होंने 'अराजकता' एवं 'उन्माद' की सहदशाओं को उभारकर 'विमुक्ति' को लक्ष्यीभूत किया। दर्शक लोग मंच पर कूद आए; अपने वस्त्रों को फाड़कर फेंक दिया; मंच के वाद्य के ताल के साथ अपने अंगों को 'ट्विस्ट' देते रहे; और अभिनेता पिरेमिड की शक्ल बनाकर

मंच में अपनी समस्याओं को नारों में बदलते रहे। इसी कड़ी में वामपंथी टोलियां टकराती रहीं और नारे लगाती रहीं : "हम क्रांति चाहते हैं न कि इस तरह की अंड-बंडता !" कुछ टोलियां बांसुरी और ढोल के साथ आकर मारिजुआना-सिगरेट पीती रहीं और पुलिस का विरोध करते हुए "मुझे चरस पीने का अधिकार नहीं है" के नारे लगाती रहीं। यह प्रयोग टैक्नोतांत्रिक समाज में एक **'आधुनिक डायोनीसियाका'** के उन्माद एवं अराजक स्वतंत्रता को पाने का संकल्प है। स्पष्ट है कि अकेले सामंत-संस्कारित प्रेक्षक या धीर-कुलीन सहृदय के बजाय आज अराजकतावादी सांस्कृतिक समूहों तथा क्रांतिवादी सांस्कृतिक समूहों के बीच फैक्टरी, सड़क या चौराहे को ही खुला रंगमंच बनाकर सामूहिक सजीव संवेगों का विवेचन लक्ष्यीभूत हो रहा है।[1] यह तो मानो **भरत** या **अरस्तू** के आदिम मिथकों की ओर एक अतिशय आधुनिक प्रत्यावर्तन है : पुनश्च एक नवारंभ !! इस समारंभ में एक 'रूप' का बंधन एवं गठन तोड़ा जा रहा है—नाट्यरूप का; तथा क्लासिकल रंगशाला के स्वरूप का भी। 'रूप' ही एक ऐसा माध्यम है जो सौंदर्यबोधात्मक विमर्श को साक्षात् जीवन से अलग करता है। फलत: अब नये नाट्य में सजीव कला और साक्षात् जीवन घुलमिल गए हैं। यह एक महत्तम एवं अत्याधुनिक कला-क्रांति है।

ग्रीक और आर्य संस्कृतियों के इस संश्लिष्ट और मूलधर्मी सर्वेक्षण के बाद ही अब हम आधुनिक युग में साहित्य और कला के रचनाधर्म एवं जीवनधर्म के उद्बोधक सौंदर्य-तत्त्वों को ले सकते हैं।

अतएव अगले अध्याय में हम पुनश्च ग्रीक इतिहास, संस्कृति और चिंतन के त्रिपार्श्व में पाश्चात्य कलाओं के सौंदर्येतिहास की धारा का अन्वेषण करेंगे ताकि कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों और कतिपय श्रेष्ठ सौंदर्यवेत्ताओं से वैचारिक समक्षकार हो सके।

१. दिल्ली में आकर बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के छात्रों ने यूनिवर्सिटी-कांड पर जब ऐसा ही 'संजय-उवाच' नामक 'एक सड़क-नाटक' चौराहों-चौराहों पर अभिनीत करना शुरू किया था (१९६९) तो उस पर सरकारी प्रतिबंध-सा लगा दिया गया। अब तो आपात स्थिति (१९७५) का फासिस्ट आतंक नेस्तनाबूत करते भारतीय जनता अगले संघर्ष के सिंह द्वार पर आ गयी है।

२

कलासौंदर्य-इतिहास की धारा का अन्वेषण

मिथक और भाषा, जादू और विज्ञान, विज्ञान और कला आदि 'ऐतिहासिक मानव' की सामूहिक तथा सर्जनात्मक विरासतें हैं जो शनैः-शनैः धर्म का अवमिथकीयकरण और दर्शन का सामाजिकीकरण करती चली जा रही हैं। इन्हें हम मानव इतिहास के **प्रतीकात्मक रूप** (सिंबालिक फॉर्म्स) भी कह सकते हैं, और विशिष्ट सभ्यताओं के **सांस्कृतिक आकृतिबंध** (कल्चरल पैटर्न्स) भी।

दर्शन सामाजिक चेतना का तथा कला सौंदर्यबोध का एक अत्यंत प्राचीन रूप है। दर्शन का आविर्भाव दास-समाजों में हुआ था तथा कलाओं का जन्म तो उनसे भी बहुत पहले पूर्वपाषाण युग में। उनकी विधायिनी नारी थी। लगभग सभी दास-समाजों में दर्शन का आदिम रूप अनुमान और परिकल्पना पर आधारित था और भाववादी था। उसके साथ-साथ ही प्रथम भौतिकवादी सिद्धांतों का भी प्रस्फुटन हुआ। भारत में ई० पू० आठवीं शती में लोकायत दर्शन तथा यूनान में ई० पू० सातवीं और छठी शताब्दी में थेलस (६२४-५४७ ई० पू०), हेराक्लाइट्स (५४४-४८३ ई० पू०) आदि के दर्शन भी उन्हीं दास-समाजों की भाववादी धारा के प्रतिपक्ष के रूप में उगे थे।

पाइथागोरस (५८०-५०० ई० पू०) ने अपने गणितीय प्रतीकवाद [संख्याओं की अमूर्तता की धारणा जो कालान्तर में प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धांत की नींव भी बनी] का उपचार धार्मिक रहस्यवाद एवं भाववाद के द्वारा किया। छठी शती के अंत से ग्रीक दर्शन में ऐसा आधिभौतिक मोड़ आ जाता है। अब 'ब्रह्मांड की प्रकृति' पर वितंडावाद शुरू हो जाता है और 'मनुष्य की प्रकृति' का सवाल मानो सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) के लिए आरक्षित हो जाता है। अतः अगर पार्मेनाइडीज़ यथार्थता को इंद्रियातीय घोषित करके प्लेटो की 'सत्य'-विषयक धारणा का आधार बनते हैं तो हेराक्लाइट्स शाश्वता को एक भ्रांति तथा केवल परिवर्तन को ही वास्तविकता घोषित करते हैं। और ई० पू० पांचवीं शती के मध्य में तो यूनान में एक बौद्धिक क्रांति का नेतृत्व सोफिस्टों द्वारा होता है जो प्रकृति के बजाय मनुष्य को धुरी बताते

हैं, रहस्य के बजाय तर्क को वर्चस्व देते हैं। उनके बाबत हमें प्लेटो के माध्यम से ही पता चलता है जबकि सुकरात और प्लेटो दोनों ही सोफिस्टों (प्रोटागोरस) के विरोधी थे। अतः उनके बारे में हमें अपने ढंग से ही निष्कर्ष निकालने पड़ेंगे। प्लेटो ग्रीकों की जातीय विलक्षणता तथा दासप्रथा के समर्थक थे जबकि सोफिस्ट इन दोनों के विरोधी; प्लेटो और सुकरात नारियों के विषय में भी अनुदार थे जबकि सोफिस्ट स्वाधीनता के अलंबरदार। सोफिस्टों ने ही दर्शन के अंतर्गत नीतिशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, राजनीति आदि को शामिल किया। संदेहवादी और प्रचंड तार्किक सोफिस्टों के विरोध में अनुदारपंथी ग्रीकों ने संघर्ष शुरू किया क्योंकि सोफिस्ट अंतिम सत्य और निर्विकल्प नैतिकता तथा हेलेनिक निष्ठा के अंधविश्वासी नहीं थे। अनुदार ग्रीकों को लगा कि इससे तो हेलेनिक सभ्यता ही खत्म हो जाएगी। उन्होंने घोषित किया कि 'सत्य' यथार्थ भी है एवं निर्विकल्प प्रतिमानों का अस्तित्व भी है। इस आंदोलन के नेता तीन महापुरुष थे—सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०), प्लेटो या अफलातून (४२७-३४७ ई० पू०) तथा अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)। गुरु-शिष्यों की यह परंपरा प्राचीन वस्तुनिष्ठ भाववादी दर्शन को शिखर तक पहुंचाती है। कैसे ?

इसके लिए हमें पुनश्च ग्रीक इतिहास की अतिरिक्त झलक पानी होगी।

ई० पू० ८०० के लगभग गोत्रधुरी पर संस्थापित होमर-युगीन ग्राम समुदाय वृहत्तर राजनैतिक इकाइयों में संगठित होने लगे जिससे शासन और सुरक्षा की नई जरूरतें उभरीं। वे लोहे का इस्तेमाल तो करने ही लगे थे। अतः किसी टीले पर दुर्ग (एक्रोपोलिस) को बनाया जाने लगा और उसके इर्द-गिर्द ही पुर (=नगर) बसने लगे। इस तरह एथेंस, थीबेस, मेगारा, स्पार्टा, कोरिन्थ जैसे नगर-राज्यों का अभ्युदय हुआ। इन नगर-राज्यों में नृप-तंत्र से शुरुआत हुई किंतु ई० पू० छठी शती तक आते-आते कुलीन-तंत्र क़ायम हो गए। एथेंस और ऐटिका के नगर-राज्यों का एकठ हो गया। किंतु इस दौरान ज्यामितिक कला का भी समापन होने लगा और आर्केइक कला का अभ्युत्थान हुआ। और भी सांस्कृतिक प्रतिकर्म घटे। ग्रीक वास्तुकारों ने पाषाण-भवन बनाने शुरू किए (७०५); कवि हेसियड की कीर्ति फैली (७००), उन्मुक्त खड़े हुए नग्न मानव-शिल्पों का आविर्भाव हुआ (६००); सेफ़ो के काव्य में लिरिक काव्य का उत्कर्ष होता है (६००); तथा भौतिकवादी थेल्स दर्शन और विज्ञान की मैत्री कराते हैं। यह सब कुछ इसलिए भी हुआ कि राजनैतिक सत्ता एक नृपति के हाथ से छीनी गई और कुलीनों की एक परिषद् में केंद्रित कर दी गई क्योंकि उनके पास भूमि और वैभव, दास और विलास संचित हो गए।

ई० पू० ६०० से ५०० के बीच की उथल-पुथल का ढंग कुछ और ही है। तानाशाह ('टायरेंट्स') सत्ता में इसलिए आ जाते हैं कि मध्यवर्ग के लोग तथा बेदखल किसान वर्ग भूस्वामी कुलीनों पर हमले करते हैं। उनके नेता कुलीनों के लिए 'नेमेसिस' तथा 'आर्फ़ियस' की तरह होकर त्रासदी में अवतरित होते हैं। वे बिना कानूनी अधिकारों के शासन करते हैं। अतः युद्ध के आधार पर संगठित समाज में और आम आदमी के वर्चस्व के बीच एक ओर पाइथागोरस गणित और दर्शन की

धार्मिक मैत्री कराते हैं तो दूसरी ओर नग्न मानव-प्रतिमा तथा कलाकौशलपूर्ण मृणपात्र भी ग्रीक ललित कलाओं का उद्धार करते हैं। अभी भी 'लिखित शब्द' की अपेक्षा कथित या 'उच्चरित शब्द' की श्रेष्ठता कायम थी जो नाटकों तथा प्लेटो के संवादों से सिद्ध है। माइसीनियन नाराशंसियों की मौखिक परंपरा की देन के रूप में ही षटपदी (हैक्सामीटर) मिली जो महाकाव्य की परिपाटी बन गई।

ई० पू० ५०० से ४०० तक एक ओर तो यूनानी और पर्सियनों के बीच संघर्ष छिड़ता है तो दूसरी ओर एथेंस तथा स्पार्टा के बीच तीस साला संधि होती है और पेलिपोनेसियन युद्धों के बाद अंततः यूनान स्पार्टा के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है (४०४)। थर्मोपली में यूनानी पराजय का घाव बहुत गहरा होता है। चिंतन और संस्कृति के क्षेत्र में पर्सियनों द्वारा एक्रोपोलिस के विध्वंस (४८०) के साथ ही आर्केइक कला का युग समाप्त होता है और 'क्लासिकल कला' का सुदीर्घकाल उदित होता है। भीषण युद्धों के आतंक एवं करुणा वाले नृशंस रोमांच चिंता और व्यथा को व्युत्पन्न करते हैं; ईस्किलस (५२५-४५६ ई० पू०) अपनी त्रासदी 'पर्सियन' का प्रस्तुतीकरण करते है; नाटककार सोफ़ोक्लीज़ 'सहगानवृत्त' को विछिन्न करके 'त्रासदी' में दो से अधिक अभिनेताओं का अनुप्रवेश कराते हैं; दार्शनिक अनाक्सागोरस (५००-४२८ ई० पू०) एथेंस में आ जाते हैं; आयुर्विज्ञानी हिप्पोक्रेटीज़ का जन्म (४६०) होता है; ओलिम्पिया में देवता ज़ियेस का मंदिर पूरा बन जाता है; यूरीपाइडीज़ (४८०-४०६ ई० पू०) की पहली त्रासदी खेली जाती है। इस बीच तीनों महान् त्रासदीकारों के नाट्यों का अभिमंचन होता है। इस तरह माईसिनियनों की विरासत के रूप में युद्ध की भयानकता और सम्राटों के पतन की करुणा ने त्रासदीकारों के भी विश्वदृष्टिकोण का तानाबाना बुना और यह तानाबाना त्रासदी की संरचना (स्ट्रक्चर) तथा तत्कालीन ग्रीक समाज के सुगठन (सिस्टम) को भी सापेक्ष्य संबंधता प्रदान करता है। इसे हम पहले अध्याय में निष्पादित कर आये हैं।

ग्रीक त्रासदीकारों की वृहत्रयी ने दैनिक अनुभवों को बिंबों में, तथा विराट् विचारों को ऐतिहासिक विवेक में रूपांतरित करने के लिए मिथकों, प्रतीकों तथा बिंबों का भरपूर इस्तेमाल किया है। मिथकों, निजंधरों तथा इतिहासों की कथाओं को उन्होंने तकनीकी विधियों से समकालीन समस्याओं तथा चुनौतियों में बदल दिया। उन्होंने क्रीड़ाचतुर देवताओं तथा आतंक और करुणा में डूबे हुए मानवों के बीच के रिश्ते तलाशे; मनुष्य की सफलताओं और असफलताओं की सार्थकता पहचानी; कौटुंबिक व्यभिचार और पारिवारिक हत्याओं की समस्याओं को उठाया; हिंसा और बलि की यंत्रणाएं बताईं। इसके लिए उन्होंने प्रेरणा (स्फुरण) के तथ्य को स्वीकार किया और उसकी विधात्री एक दैवीशक्ति (म्यूज़) को माना। इस तरह वे ईश्वर के ढंगों को समझने के साथ-साथ मनुष्य के कौशल तथा मानवीय सत्य को भी सुलझाने लगे। अतः उन्होंने दैवी प्रेरणा और मानुषी कौशल का तारतम्य कायम किया जिसे दार्शनिक प्लेटो बरकरार नहीं रख सके। ये ग्रीक लोग

'बुद्धिमत्ता' को सर्वोच्च निधि मानते हैं। ग्रीक त्रासदीकारों की त्रयी द्वारा 'सत्य' जानने का कौतूहल या आश्चर्य (वंडर) ही ग्रीक दार्शनिक त्रयी में विवेक (विज़्डम) का समवाची बन गया है।

ई० पू० ४०० से आगे स्पार्टा के सैन्यवाद का वर्चस्व कायम हो जाता है किंतु अंततः थीबेस के सभी मित्रनगरों द्वारा स्पार्टा को पराजित किया जाता है (३७१)। मेकिदोनिया के राजसिंहासन पर फिलिप द्वितीय का अभिषेक होता है (३५९), सिकंदर अपने पिता की सत्ता संभालता है (३३६); विश्वविजयी सिकंदर पर्सिपोलिस को रौंदता हुआ (३३४) एशिया में आगे बढ़ता है और अंततः बेबीलोन में उसकी मृत्यु (३२३) हो जाती है। सांस्कृतिक और वैचारिक वृत में हम सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकों की त्रयी पाते हैं।

सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू की त्रयी एक ओर तो सोफिस्टों के सिद्धांतों का विरोध करती है और दर्शन क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ भाववाद की स्थापना और संस्करण करती है, तथा दूसरी ओर कला और साहित्य के संदर्भों को भी दर्शन और नीति के माध्यम से निरूपित करती है। पिलोपोनेसियन युद्ध में एथेंस की पराजय से क्षुब्ध सत्ता ने उन्हें 'युवकों को पथभ्रष्ट करने वाला तथा नये देवताओं की संस्थापना करने वाला' घोषित करके मृत्युदंड दे डाला। वे हेमलॉक पीकर (३९९) दिवंगत हो जाते हैं। जनता इसलिए भी क्षुब्ध हुई कि उनका संबंध अभिजात लोगों से था। उनके शिष्य प्लेटो (मूल नाम ऐरिस्टोक्लीज़) एथेंस में पढ़ाना शुरू करते हैं (३८५)। वे गुरु सुकरात से 'प्रत्ययों' की धारणा को ग्रहण करते हैं तथा पार्मेनाइडीज़ और पाइथागोरस की शिक्षाओं से भी बेहद प्रभावित होते हैं। वे सोफिस्टों के सापेक्ष्यवाद तथा संदेहवाद के सिद्धांतों का प्रबल विरोध करते हैं; यथार्थता के सिद्धांत के विरोध में ब्रह्मांड की आध्यात्मिक धारणा का प्रचार करते हैं तथा नीतिशास्त्र (शिवत्व) को सर्वोत्कृष्ट मूल्य सिद्ध करते हैं। वे इहलोक अर्थात् भौतिक जगत् को अधूरा तथा मिथ्या बताते हैं क्योंकि इस जगत् के सारे पदार्थ नाशवान हैं, क्षणभंगुर हैं। उनके अनुसार एक उच्चतर आध्यात्मिक शाश्वत प्रत्ययों का ब्रह्मांड है जो शाश्वत और चिरंतन है; अतः सत्य है। इस तरह प्लेटो आत्मा को शरीर से भिन्न एवं पृथक् बताते हुए उसे अमर, अविनाशी तथा अजर बताते हैं। इसलिए शरीर से पृथक् रहकर समाधिभूत आत्मा ही प्रत्ययों का संज्ञान करती है। शरीर और उसकी इंद्रियां 'सच्चे ज्ञान' का आधार नहीं हो सकतीं क्योंकि वे क्षणिक तथा अस्थायी संवेदनात्मक पक्ष का ही बोध कराती हैं। उनके अनुसार मूल प्रश्न विचारों या प्रत्ययों का संज्ञान है और यह केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान सत्यज्ञान नहीं हो सकता। प्लेटो दासश्रम पर आधारित अभिजाततंत्र के समर्थक थे और भौतिकवाद के शत्रु। किंतु मार्क्स के अनुसार, आदर्श राज्य के उनके सिद्धांत ने 'यूनानी राज्यों के गठन में श्रमविभाजन की भूमिका की एक अद्‌भुत समझ का परिचय दिया।'

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने भौतिकवाद और भाववाद के बीच गड्डमड्ड किया।

एक ओर तो उन्होंने इंद्रिय ज्ञान को सीमित तथा अपरिशुद्ध बताया तथा वैश्वक 'प्रत्ययों' को यथार्थ कहा लेकिन दूसरी ओर उनकी स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकृत किया तथा भौतिक पदार्थों को मात्र उनका प्रतिबिंब मानने से इंकार कर दिया। सिकंदर के शिक्षक बनने (३४३) के उपरांत उन्होंने एथेंस में एक 'स्कूल' की भी स्थापना की (३३५)। उनके समक्ष ही एथेंस में डायोनीसस के थियेटर में तीनों महान् त्रासदीकारों की मूर्तियां स्थापित हो गई थीं (३३०)। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें 'पॉलिटिक्स' के सहवर्तन में 'पोएटिक्स' का भी प्रणयन करना पड़ा और 'त्रासदी' की संरचना तथा विचार वस्तु के माध्यम से ग्रीक संस्कृति तथा यूनानी इतिहास के स्वरूपों तथा समस्याओं को प्रस्तुत करना पड़ा।

× × ×

इस तरह होमर-युग (ई० पू० १२००-८००) के बाद ग्रीकों के यूनान में नगर-राज्य स्थापित होते हैं (ई० पू० ८००)। इस दौरान में आर्यों के भारत में वर्ण-व्यवस्था का अभ्युत्थान होता है (ई० पू० १०००-५००) तथा मोहनजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता (ई० पू० २५००) के विनाश के पश्चात् वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों का प्रणयन होता है। ई० पू० १०००-५०० के बीच मगध राज्य की स्थापना तथा गौतम बुद्ध (५६३-४८३) एवं महावीर का आविर्भाव वैसे ही दार्शनिक-ध्रुवांतों को उद्घाटित करता है। सिकंदर की विजययात्रा उसे भारत तक ले आती है (ई० पू० ३३६-३२३) और ठीक इसके पश्चात् ही मौर्य-साम्राज्य [मेकिदोनिया-साम्राज्य की तरह] की स्थापना होती है तथा सम्राट् अशोक (ई० पू० २७३-२३२) का शासन-काल चलता है। बाद में बैक्ट्रिया के ग्रीक लोग आर्यों के पंजाब तथा सिंधुघाटी में अपने राज्य कायम कर लेते हैं। संस्कृति और चिंतन के वृत्तों में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', भरत के 'नाट्यशास्त्र' आदि का भी अस्तित्व मिलने लगता है; 'महाभारत' (इतिहास) एवं 'रामायण' (काव्य) के प्रथम संस्करण परिलक्षित् होने लगते हैं। इस तरह ग्रीक और आर्यों का ऐतिहासिक संपर्क तथा सांस्कृतिक मिथिघोल दर्शन, कला और सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्रों को पल्लवित-पुष्पित करता है।

इस अध्याय में क्यों न हम पश्चिम के प्रमुख सौंदर्यबोधशास्त्र विषयक दार्शनिक दृष्टियों का ही ज़िक्र करें? अगले अध्याय में भारतीय-कला (विशेषतः भौतिक शिल्पकला) के त्रिपार्श्व में कला एवं काल के अंतर्संबंधों की भी खोज हो सकेगी।

× × ×

ग्रीक तथा पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र की प्रमुख दार्शनिक दृष्टियों का मूल्यचक्र के किसी न किसी प्रमुख घटक—ज्ञान, संवेदना (बोध), अनुभव, अभिव्यंजना, सत्ता, आदि—से गहरा रिश्ता रहा है। अतः सौंदर्यबोध के दर्शनों एवं कलामूल्यों की दृष्टि से हम यहां केवल कुछ प्रमुख सिद्धांतों का ही पर्यालोचन कर सकेंगे क्योंकि अफलातून से लेकर कैसीरर, लुकाच, सार्त्र, मुनरो बिएर्डस्ले आदि तक की विराट् परंपरा का दिग्दर्शन काफी मुश्किल है। इसके अलावा हम भारतीय कलासौंदर्य सिद्धांतों से तुलनादि

को भी विलंबित कर देंगे। अतः सर्वप्रथम···सुकरात एवं प्लेटो।

× × ×

सुकरात

सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) ने दर्शन को संन्यासीधर्म (सदाचार और साधु जीवन) से जोड़ दिया तथा प्रकृति के संज्ञान एवं सौंदर्य के अभिज्ञान को महत्त्व नहीं दिया क्योंकि अपनी ज्ञान-मीमांसा में उन्होंने ज्ञानेंद्रियों को कोई महत्त्व नहीं दिया; भिन्न-भिन्न पदार्थों में से उनके सामान्य तत्त्व (= प्रत्यय) को ढूंढ़ निकालने की विधि का प्रचार किया तथा अंततः आत्मज्ञान ('अपने को जानो') को ही अंतिम सिद्धि बताया। इस तरह उन्होंने प्रकृति के दर्शन की भौतिक धारा को उलटकर मानवात्मा की प्रकृति में केंद्रित कर दिया। उनका विश्वास था कि सार्वभौम रूप से प्रामाणिक तथा स्थायी तो **ज्ञान** होता है और अगर मनुष्य सही पद्धति अपनाये तो उसे प्राप्त कर सकता है।

प्लेटो

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) अपने गुरु सुकरात के 'उच्चरित शब्द' का वर्चस्व स्वीकार करते हैं। उनके कृतित्व का बहुलांश तो संवाद-रूप में है जिसमें से अधिकाधिक में सुकरात का चरित्र केंद्र में है। इसलिए संवादों के पन्नों पर वे एक नाटककार तथा जीवनीकार के रूप में भी उभरते चले आते हैं। संवादों-परिसंवादों की उनकी कृति-शृंखला के पूर्वार्ध में तो सुकरात की तथा उत्तरार्ध में स्वयं उनके विचारों की प्रधानता मानी जा सकती है। यह भी स्पष्ट है कि अपने शिष्य अरस्तू के मुकाबले में प्लेटो में उतनी प्रखर तार्किकता भी नहीं है क्योंकि जब वे तार्किक बहस से थक जाते हैं तो झट से किसी धार्मिक दृष्टांत अथवा किसी मिथक का सहारा ले लेते हैं।

तथापि समग्र ग्रीक, तथा प्रकारांतर से समस्त यूरोपीय, चिंताधारा के आर्ष प्रवक्ता के रूप में प्लेटो ने एथेंस के ['तानाशाहों' वाले उदार] प्रजातंत्र की पृष्ठभूमि में 'कला' की निर्विकल्प व्याख्या और 'सौंदर्य' की समस्या की अन्वीक्षा की। जैसाकि हम पहले बता आए हैं कि उनके पहले होमर, हेसियेड, सैफो, जैसे अनेक महाकवियों के यश तथा काव्यप्रभाव सारे यूनान में, आवेगधर्मा होकर फैल चुके थे; ईस्किलस, सोफोक्लीज तथा यूरीपाइडीज़ की त्रासदियां प्रेरितशिल्प और नागरिक नियमों का अंतर्ग्रंथन कर चुकी थीं; तथा सोफिस्ट शिक्षक एवं प्रचारक अपनी नई तर्क पद्धति एवं क्रांतिकारी भौतिकवादी दृष्टि के ज़रिये रूढ़ नैतिकता और उग्र ग्रीकता पर प्रहार कर रहे थे। तथापि चौथी शताब्दी तक आते-आते युद्धाक्रांत एथेंस की शक्ति कमज़ोर हो चली थी, प्रजातंत्र-व्यवस्था धनिकतंत्र (टाइमोक्रेसी) में पतित हो रही थी। एथेंस का अभिजातवर्ग चरित्रहीन होकर भोग और भावावेश में डूब रहा था। ऐसे मौके पर प्लेटो मानो तत्कालीन जीवन के दुर्दाम अग्रवाही ज्वार से विक्षुब्ध हो उठते

हैं और एक आदर्शवादी एवं अपरिवर्तनवादी की अनुदार भूमि पर आ जमते हैं। मानो वे पुनः एक उसी सुस्थिर एवं नैतिकतावादी, आदर्श एवं प्राचीन युग (आर्फिक तथा ऐलुसिनियन रहस्य-संप्रदायों के बोध, ई० पू० ५०० से आगे) में वापस चलना चाहते हैं। किंतु वह युग लौटकर कभी नहीं आनेवाली शैशवास्था की तरह अलविदा ले चुका था।

होमर के बाद प्लेटो सबसे बड़े कवि थे जो तत्कालीन यूनानी समाज के भोग-विलास का विरोध करते-करते सुखद काव्य के विरोधी चिंतक हो गए। 'आइयोन', 'फीड्स', 'रिपब्लिक' आदि में कवि तथा काव्य के बाबत उनके भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं जो संभवतः उनके शिष्य अरस्तू के प्रभाव से बदले हैं और उनकी परिवर्तित युगीन सामाजिक आवश्यकताओं के भी द्योतक हैं। अतः वे पार्मेनाइडीज़, पाइथागोरस और अपने गुरु सुकरात के सिद्धांतों का तो परिपाक करते हैं किंतु सोफिस्टों को निम्नतम स्थान देते हैं। इसी प्रकार उच्चवर्गीय भोगविलास के विरोध तथा यूनान के पुनर्जागरण की चेष्टा में वे 'कानून' (ला) और तर्क (रीज़न) के दायरे का भावयोग करने वाले काव्य के सुख (प्लेज़र) एवं दुःख (पेन) के ऊपर अनुशासन कायम कर देते हैं। वस्तुतः प्लेटो सामूहिक विचार की देन हैं। एतदर्थ कला-संबंधी उनका विवेचन एक एकांतिक रसिक व्यक्ति की अपेक्षा एक आदर्श राज्य और श्रेष्ठ नागरिक को केंद्र मानकर हुआ है।

भौतिक जगत् तथा विचार जगत् को पृथक्-पृथक् करके उन्हें क्रमशः मिथ्या और सत्य, क्षणभंगुर और शाश्वत्, फांतास्मा और यथार्थ के अंतर्वर्गों में रखते ही प्लेटो को शरीर (भौतिक) और आत्मा (प्रत्यय) को भी पृथक् करके उन्हीं उपाधियों से संलग्न करना पड़ा। फलस्वरूप इंद्रियां सच्चे ज्ञान का आधार नहीं हो सकीं और प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रांति की कोटि का हो गया।

सत् और असत् के विवेचन के द्वैत में किसी प्रमेय (आब्जेक्ट) से संबंधित तीन संकाय जुड़ गए : (i) उसकी बौद्धिक एवं विशुद्ध **धारणा**, (ii) उसके निर्माण का **कौशल**, तथा (iii) उसके अंकन या वर्णन की **कला**। कला वाले तीसरे संकाय को प्लेटो केवल प्रतीति (एपियेरेंस) मानते हैं; यथार्थता नहीं। इस तरह **कौशल** की अपेक्षा प्रतिरूपित **कलाएं** निम्नतर हो गईं क्योंकि वे इंद्रियगोचर हैं। इसीलिए कला और काव्य की प्रकृति संवेगात्मक तथा अविवेकी सिद्ध कर दी गईं। 'रिपब्लिक' में तो कवि एक सोफिस्ट से निम्नतर है तथा एक चित्रकार बढ़ई के मुकाबले निचले दर्जे का है।

इस दृष्टि के अनुसार 'अनुकृति' मात्र एक प्रेयमूल्य है। पार्मेनाइडीज़ से प्रभावित होकर वे मानते हैं कि जो सत् है वह स्थिर, अपरिवर्तनशील एवं पूर्ण है; जो असत् है वह अस्थिर, परिवर्तनशील एवं भेदपूर्ण है। अतएव **दृश्य जगत्** असत् है क्योंकि वह परिवर्तनशील और भेदपूर्ण है। लेकिन इससे परे एक दूसरा लोकोत्तर जगत् है जो **सत्**, है जो **अमानवीय** है, जो **पूर्ण** है, जो **आदर्श** है और जो व्यक्ति-सूचक न होकर **श्रेणी-सूचक** है। यह जगत् 'प्रत्ययों' या विचार-'रूपों' (eidōs) **का जगत्** है। दृश्य-

जगत् के पदार्थ प्रत्यय-जगत् की नकल हैं अर्थात् प्रत्यय जगत् सत्य और दृश्य जगत् मिथ्या है। दृश्य जगत् में द्वैत भी है। इसमें सत् का अंश है क्योंकि सारे पदार्थ प्रत्ययों की अनुकृति हैं (जो खुद सत् हैं); इसमें असत् का अंश भी है क्योंकि उनमें एकता तथा अस्थिरता नहीं है। उदाहरणार्थ, कमल के दो रूप हुए—एक कमल-त्व, अर्थात् कमल का **प्रत्यय**, अर्थात् सामान्य; और दूसरा दृश्य जगत् के असंख्य व्यक्ति-वाचक कमल अर्थात् मिथ्या कमल अर्थात् विशेष। यदि कमल प्रत्यय सत् है, अमानवीय है, पूर्ण है, आदर्श है तो दृश्य जगत् का कोई भी कमल (जो उस की अनुकृति है) असत् है, मानवीय है, अपूर्ण (अधूरा है) और मिथ्या है। जिस प्रकार स्थूल कमल या कुर्सी का भी कोई विश्वक या प्रत्यय या विचार (जैसे, कमल, कुर्सी-पन) है उसी प्रकार सौंदर्य, शिव, न्याय आदि के भी प्रत्यय हैं। इस प्रकार कला भी दो प्रकार की हुई—दैवी तथा मानवीय। सैंकड़ों कमलों, हज़ारों कुर्सियों और करोड़ों त्रिकोणों के मूल में—भेद, अस्थिरता आदि से परे—उनके एक-एक 'प्रत्यय रूप' भी हैं। मानव उनका अनुभव इसलिए करते हैं कि उनकी आत्मा के स्वर्ग से अवतरित होने के नाते उनमें सत् का अंश होता है। उनका अनुभव तब होता है जब हम 'लोकोत्तरता की पुनर्स्मृति' में लीन हो जाते हैं जैसे हेमलॉक का पान करने के समय सुकरात की मनःस्थिति हो गई थी। प्लेटो के Anamnēsis के इस सिद्धांत के मूल में सुकरात के प्रत्यय की धारणा है। फलतः दैवी विचार का अनुकरण अच्छा अनुकरण है तथा ऐंद्रियिक व्यापार का अनुकरण बुरा अनुकरण ठहरता है।

प्रत्यय के अंतर्गत केवल रूप (कमल, कुर्सी) ही नहीं, विचार (सौंदर्य, न्याय, शुभ) भी शामिल हैं। दृश्य जगत् में भी प्रत्ययों के अंतर्गत रूप एवं विचार की अनुकृति होती है। दृश्य जगत् की अनुकृतियों में इंद्रियों का निम्नकोटिक विश्व है, जो असत् है, आभासित है; और प्रत्यय जगत् में भावना का उच्च संसार है, जो पूर्ण है, अतींद्रिय है, सत्य है, चिरंतन है। इस प्रकार कृति के तीन क्रम हुए—

प्रथम क्रम—प्रत्यय की कुर्सी (कुर्सी का दैवी प्रत्यय)
मूल कर्त्ता ईश्वर
असली **'बिम्ब'**

दूसरा क्रम—बढ़ई की कुर्सी (कौशल तथा अन्य मानवीय कार्य-कलाप)
अनुकृति मात्र (नकली—मिलती-जुलती, ऐंद्रियिक)
कुर्सियां, युद्ध, राजनीति, कानून, आदि।

तीसरा क्रम—अंकित अनुकृति मात्र (मौलिक सृष्टि नहीं)
काव्य और चित्रकला
अनुकृति की अनुकृति—**'प्रति-बिंब'**

इस क्रम के अनुसार भी हम **सामान्य** (प्रत्यय या विचार) से ही **विशेष** को

जान पाते हैं और प्रत्यय को मन (मानस) द्वारा ही जाना जा सकता है। इसी क्रम के अनुसार प्लेटो ने ज्ञान का भी उच्चतर क्रम निर्धारित किया है—

पहला—Noesis [स्वयं प्रकाश्यज्ञानात्मक अथवा सत्य-ज्ञान —प्रत्यय (eide)]
+
दूसरा—Dianoia [गणित या ज्यामितिक आकृतियों का बोध जो संपूर्ण प्रकृति जगत् की आकृतियों के मूल में है—पाइथागोरस का प्रभाव]

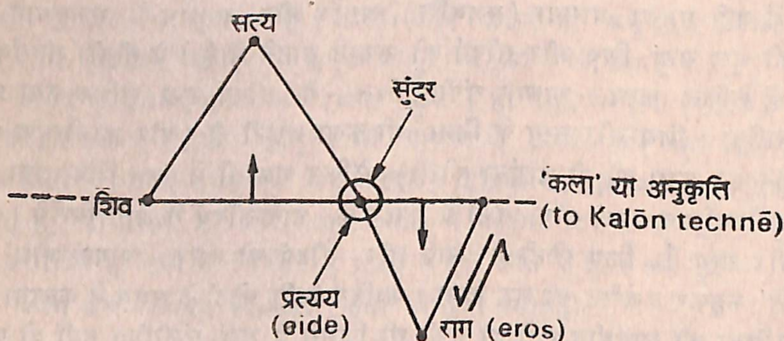
तीसरा—Pistis [दृश्य जगत् की ठोस किंतु भंगुर वस्तुओं पर विश्वास—सत्याभास; जैसे, कुर्सी और कमल]

चौथा—Eikasia [ऐंद्रिक बिंब-विधान—वस्तुओं की सतहों और उनकी छायाओं का—(कुर्सी, कमल आदि की चित्रानुकृति)]

पहला ज्ञान सत्य है और चौथा (ऐंद्रिक होने के कारण) सत्याभास। इस प्रकार प्लेटो की यही चेष्टा रही है कि काव्य तथा अनुकृत (=ललित) कलाएं इंद्रियबोध के निम्न स्तर से उठकर सत्य-ज्ञान का आधार ले लें। यह प्रक्रिया तभी संभव है जब हम कला की सृजनात्मक प्रक्रिया से अनभिज्ञ हो जाएं क्योंकि दर्शन के **सत्य** और समाज के **शिव** में जो तर्क और शुभ और कानून के मूल्य हैं, कला के **सौंदर्य** में वही महत्त्व वासना (मूलवृत्ति), आनंद और अनुभव के मूल्य पाते हैं। प्लेटो की भूल सत्य, शिव और सौंदर्य को समान मानने में है। ये तीनों अंतर्संबंधित अवश्य हैं लेकिन कला—काव्य, संगीत, चित्र—में सौंदर्य कुछ अधिक तथा प्रमुख होना चाहिए। शिव और सत्य के बिना भी कला अधूरी है (और ह्रासोन्मुख एथेंस में उन्होंने इस कला की ही भर्त्सना की है) लेकिन कलाओं में जब शिव तथा सत्य के कलासौंदर्यात्मक पक्ष होंगे तभी वे काव्य के भाव-सौंदर्य से आन मिलेंगे। अतः शिव और सत्य के लिए प्लेटो ने भाव और सौंदर्य को क्रमशः 'पागल जोश' और 'अनुकृति' कहकर बर्खास्त-सा कर दिया। ज़ाहिर है कि प्लेटो के समय में कल्पना और सृजन-प्रक्रिया की छानबीन नहीं हो सकी थी जिससे ये भूलें संशोधित नहीं हो पाईं।

प्लेटो के आदर्श की दूसरी भूल 'अनुकृति' के संबंध में अधिक गहरी है। अनुकृति के लिए प्रत्ययों का अनुभव और उनके अनुभवों के कारणों के पीछे 'कल्पना' के बजाय 'दैवी' की प्रतिष्ठा करके प्लेटो एक ओर तो कवि को आत्मवश में न मानकर काव्यदेवी के वश में मानते हैं और दूसरी ओर दैवीप्रेरणा के आवेग को पागलपन, वासनोत्तेजक आदि घोषित करके दार्शनिकों के सम्मुख कवियों को नीचा दिखाते हुए दर्शनशास्त्र और काव्यशास्त्र की प्रभुता की होड़ में पक्षधर हो जाते हैं। अगर सभी कलाएं और कौशल अनुकृति हैं तो ये नकलें हुईं कैसे? यदि यह विश्व ईश्वर की कलात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है तो फिर कमल और अश्व अपूर्ण या सत्याभासित कैसे हुए? फिर, इनकी सामग्री प्रत्ययों से भिन्न है; और प्रत्यय इन्हें किस प्रकार विशेष बना सकते हैं जब वे भेद और परिवर्तनों से परे हैं? तात्पर्य यही है कि प्लेटो के अनुकृति-सिद्धांत में प्लेटोवाद की गहनता है जिसमें कल्पना और प्रेरणा की

प्रक्रियाओं का ज्ञान बेहद कम है। इसी अनुकृति-सिद्धांत की वजह से उन्होंने कृति के तीन क्रम, ज्ञान के चार क्रम और कला के दो क्रम माने जो किसी हद तक विकासमान तो माने जा सकते हैं, किंतु सत्य-असत्य कतई नहीं। अनुकृति की विकृति के कारण ही प्लेटो दो प्रकार की कलाएं मानते हैं—उच्चतर, जो ब्रह्म के मन में ही विद्यमान हों (तु० हीगेल, क्रोचे); तथा निम्नतर जो अनुकृति की अनुकृति हों अर्थात् उच्चतर कला से तीन गुना दूर हों। दूरी के कारण कलाएं मिथ्या हो गईं और इंद्रिय रागों की व्यंजना करने के कारण वे वासनाओं को उत्तेजित करने वाली अथवा चारित्रिक पतन का हेतु हो गईं। यही नहीं; इस द्वंद्व-विभाजन के द्वारा प्लेटो ने कला के अंतिम हेतु उसके बाहर लक्षित कर दिये—प्रत्ययों के रूप में; तथा सत्य-शिव के रूप में भी। अनुकृति-सिद्धांत की एकतरफ़ा व्याख्या की वजह से ही काव्य-सृष्टि करने के लिए यदि हम दो त्रिकोण मानें तो सत्य-शिव-सुंदर का **पहला त्रिकोण** तो विचारों (आइडिया) अर्थात् प्रत्ययों का हुआ जो अंतिम हेतु के रूप में जगत् और कला से परे हैं; तथा इनमें सुंदर सबसे नीचे और शिव एवं सत्य क्रमशः उच्चतर हैं। **दूसरा त्रिकोण** पहले से जुड़ा होगा जिसके एक कोण में ये तथा असंख्य अन्य प्रत्यय; दूसरे में 'कला' या 'अनुकृति' (to kalon, technē) एवं तीसरे में 'राग' (erōs) होगा।



यहां 'कला' और 'राग' का प्रकृति-पुरुष जैसा संबंध है। राग कला का गत्यात्मक पक्ष है। "राग साक्षात् जीवन का पुष्पित होना है; यह दैवी-शक्ति का उदात्तीकरण है जो मानवीय प्रेमियों के अंतर उत्साह और प्रत्याशा से भर देता है; यह थीबन युवाओं के पवित्र समूहों में दुर्दमनीय साहस भरता है; कवियों के गीतों में उच्छ्‌वास बनता है और श्रोताओं को अश्रुविह्वल कर देता है।"[१] प्लेटो इस राग के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं। 'कला' की धारणा में भी, इसी प्रकार, एक ओर सौंदर्य की सार्वभौमिकता है तो दूसरी ओर सौंदर्य को शुभ (मंगल) और शिव से संलग्न करके सुंदरता के त्याग की स्थापना है। यहां भी सौंदर्य की खोज कवियों द्वारा न होकर दार्शनिकों द्वारा की गई है। कवि जिस दैवी-प्रेरणा के वशीभूत होकर

१. गिलबर्ट और कुह्न : 'ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स', द्वितीय मुद्रण, पृ० ४८।

सौंदर्य खोजता है वह तर्कशक्ति और सामान्य संतुलन से वंचित होता है, किंतु दार्शनिक जिस दैवी-प्रेरणा से सौंदर्य खोजता है वह देवताओं की सच्ची व्याख्या कर सकता है। कवि के सौंदर्य में ऐंद्रिक बिंब (आइकेसिया) और 'राग' (एरास) की प्रधानता है तथा दार्शनिक के सौंदर्य में 'सत्य ज्ञान' (आइडास) और शुभ की प्रधानता है। राग के सवाल को लेकर ही प्लेटो कला-प्रभाव की बात उठाते है। हमारे मन का श्रेष्ठ अंश (आत्मांश) तो बुद्धिसंगत और संयमपूर्ण जीवन बिताना चाहता है लेकिन कवि शोक-हर्ष, सुख-दुःख की असंयमित अभिव्यंजना करते हैं जिससे नागरिक जीवन में असंतुलन तथा चरित्र में असंयम उत्पन्न होता है। कवि हमारे श्रेष्ठतम् (बौद्धिक) अंश की ओर उन्मुख नहीं होते—बल्कि उद्वेलित, असंयमित और असंतुलित चित्र पेश करते हैं। देवता जो शिवत्व के कारण हैं—बुरे के नहीं—वे भी कवियों द्वारा छली, पतित और झूठे अंकित किये जाते हैं। इस प्रकार 'काव्य वासनाओं का पोषण तथा सिंचन करता है' (प्रजातंत्र); काव्य नागरिक गुणों के विपरीत तत्त्व उत्पन्न करता है।

प्लेटो के इस सौंदर्यतत्त्व-विवेचन में नैतिकता और सौंदर्य का समीकरण पेश हुआ है। यह विवेचन **सौंदर्यमूलक** होने के बजाय **संन्यासमूलक** भी है जिसमें भावों के प्रवाह के स्थान पर दार्शनिक तर्कों का अनुशासन है। यहां कलासृजन के बजाय अमरता की तैयारी मिलती है। हां, 'फैड्रस' में अलबत्ता मर्त्यमान सौंदर्य को भी देखा गया है और एक प्रेमी की नज़र से—एक सुंदर पिंड से सभी सुंदर पिंडों की ओर ! रूपाकृति के पिंडों से भाव-छवि की ओर ! अंततः सौंदर्य के विशाल सिंधु (प्लेटोनिज़्म) में लीन ! किंतु यहां भी अंततः प्रेमी एक दार्शनिक हो जाता है। एक और भी प्रौढ़ संशोधन करके प्लेटो शारीरिक सौंदर्य के साथ विवेक, शुभ तथा अन्य मूल्य भी शामिल कर लेते हैं।

बिंब-प्रतिबिंब को क्रमशः सृजन-अनुकरण मानते हुए प्लेटो ने गुफा-रूपक (प्रजातंत्र : पुस्तक, ७वीं) द्वारा बहुत हद तक शंकराचार्य की तरह इस दृश्य जगत् को मिथ्या तथा संसारवासियों को अज्ञानमय बताया है। उनके इस रूपक से स्पष्ट है कि साधारण मनुष्य गुफा के कैदी हैं जो प्रकाश (सत्) से पीठ करके बैठे हैं, और जो जीवन भर (सामने दीवार पर पड़ने वाली) छाया को ही वास्तविक सत्ता समझा करते हैं। वे अपने इस अज्ञान (माया) से संतुष्ट भी रहते हैं। प्लेटो ने यही रूपक काव्य और चित्रकला पर भी लागू करके होमर, हेसियड जैसे महाकवियों को 'बिंब' के अनुकर्त्ता माना है। इसलिए वे सत्य पर कोई अधिकार नहीं रखते। यदि कवि वस्तुविशेष और उसकी अनुकृति (प्रतिबिंब) दोनों बना सकता है तो वह दूसरी ही क्यों नहीं बनाता ? प्लेटो का यह आदिम तर्क उलझा हुआ है। यदि यह विश्व ही ईश्वर की कलात्मक प्रवृत्ति का फल है (बकौल उनके ही), तो विश्व की वस्तुएं (कमल, घोड़े) उसकी निर्मिति होकर भी अनुकृति अर्थात् मिथ्या कैसे हो गई ? वस्तुतः अनुकृति-सिद्धांत आकृतिवाद या रूपवाद तथा सत्याभासवाद की कठिन समस्या उठाता है जिसका समाधान अभी तक व्याख्याएं प्राप्त करता आ रहा है।

व्यापक तौर पर यहां प्लेटो का शिक्षा बनाम काव्य के बीच का सामाजिक संघर्ष प्रतिरूपित है। परंपरागत ग्रीक शिक्षा का आधार होमरीय कविताएं थीं किंतु प्लेटो ने उन पर ही इसलिए प्रतिबंध लगा दिया कि वे देवताओं तथा वीर नायकों के आचरण को अशालीन रूप में प्रस्तुत करती हैं। देवताओं के चरित्रों का परिवर्तन भी मन की चिरंतनता की परिकल्पना के विरुद्ध पड़ता था। अत: वे मिथकों की अन-नैतिक संस्कृति की आदिमता से विच्छिन्न हो गए। अतः उनके लिए शेष क्या बचा? देवताओं की स्तुतियां, देशभक्ति की शिक्षा!! उनके विचार जगत् में मिथक मिथ्या हो गई। इस तरह वे अब सत्याभासों में उलझते चले जाते हैं।

किंतु समस्या को जब सत्याभास (इल्यूज़न) से आगे बढ़ाकर वे दार्शनिकता उर्फ़ कविता के शाश्वत विवाद में भाग लेते हैं तो कुछ अन्य प्रश्न मौजूद हो जाते हैं। इस वाद-विवाद में एक सूत्र उद्घाटित होता है—"देवताओं के, सत् के, व्याख्याता कवि हैं या दार्शनिक?" पहले काव्य और कवि को दैवी स्फुरण का परिणाम, महान् उपदेशक, दैवी सत्यों का व्याख्याता माना जाता रहा है। प्लेटो ने अनुकृति-सिद्धांत का उपयोग तो यह खंडित करने में किया कि सत्य पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। वह जिन वर्ण्य वस्तुओं का सौंदर्यात्मक वर्णन करता है उनके विषय में उसे पूर्ण ज्ञान हो, यह लाज़िमी नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह सच्ची वस्तुओं के बजाय उनका प्रतिबिंब (अनुकृति) क्यों बनाता (अर्थात् वह ईश्वर हो जाता?); क्यों होमर तथा हेसियड़ देवताओं के बाबत गंदी झूठ और मिथ्या कहानियों का प्रचार करते? इसके बाद प्लेटो दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं—'मानवता का गुरु कौन है?' उनके अनुसार कवि को मानवता का गुरु समझना भारी भूल है। मानवता का गुरु तो वही है जो नगर को लाभान्वित करे, नगर के शासन में सुधार करे (सत्य, शिव)। लेकिन ये कवि तो बिंबों के मात्र अनुकर्ता (सौंदर्य) ही रहे। ये उन विषयों की अनुकृति (रचना) करते हैं जिन्हें खुद भी नहीं समझते क्योंकि ये तर्क और कानून के बजाय भावनाओं की प्रबल शक्ति का आधार लेकर वासनाओं को उत्तेजित करते और मनुष्यों को इंद्रियों का दास बनाते हैं। वे विवेक से सृजन न करके प्रकृत्या करते हैं और जब भी कभी उत्तम बातें कह जाते हैं तो—ऐंद्रजालिकों और पैगंबरों की तरह—दैवी प्रेरणा के वशीभूत होते हैं। इस प्रकार प्लेटो एक ओर तो तर्क की अपेक्षा भावनाओं की सर्वव्यापी और सहजग्राही शक्तियां स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर सामंतों के भोग-विलास का साधन बन जाने वाले काव्य के पात्रों के बजाय स्वयं काव्य को ही हेय ठहराते हैं, तीसरी ओर प्रेरणा की विधा के संबंध में अपने अज्ञान ('कवि जिनका वर्णन करते हैं उनको खुद भी नहीं समझते') को भी स्पष्ट कर देते हैं और अंत में काव्य के लिए राग के बजाय सत्य, सौंदर्य के बजाय शुभ के मूल्यों का विधान करते हैं। उनके अनुसार सम्मोहन भावनाओं में नहीं, छंद और लय में होता है। यह कथन भी बहुत हल्का बचाव है। वस्तुत: वे ज्यामिति और गणित की तरह चिंतनात्मक विवेक के शुद्ध रूप तथा मानव शुभ से ओतप्रोत काव्य की कामना करते हैं (इसीलिए बाद में उन्होंने प्रजातंत्र में उन कवियों को बुला लेने की

स्वीकृति दे दी है जो हर्ष-शोक, सुख-दुख, 'राग'-'सौंदर्य' से परे होकर देवस्तुतियां और महापुरुषों की प्रशस्तियां लिखें; जो पचास वर्ष के ऊपर की अवस्था के हों और जिन्होंने जीवन में कुछ समाज सेवा की हो)। यहां उनके नैतिकता-सिद्धांत के सूत्र पेश करना समीचीन होगा जो 'फिलेबस' और 'लाज़' में काफी मिलते हैं। 'फिलेबस' में वे 'पूर्णता' को **'नैतिक शुभ'** की प्रकृति मानते हैं। अवरोह-क्रम में नैतिक शुभ की पांच श्रेणियां हैं—

(i) संतुलित, मध्यम और उपयुक्त (सुइटेबल)—दर्शन [पाइथागोरस-प्रभाव]

(ii) सममित (सिमेट्रिकल) सुंदर और पूर्ण—विज्ञान

(iii) बुद्धि और बुद्धिमत्ता—विज्ञान

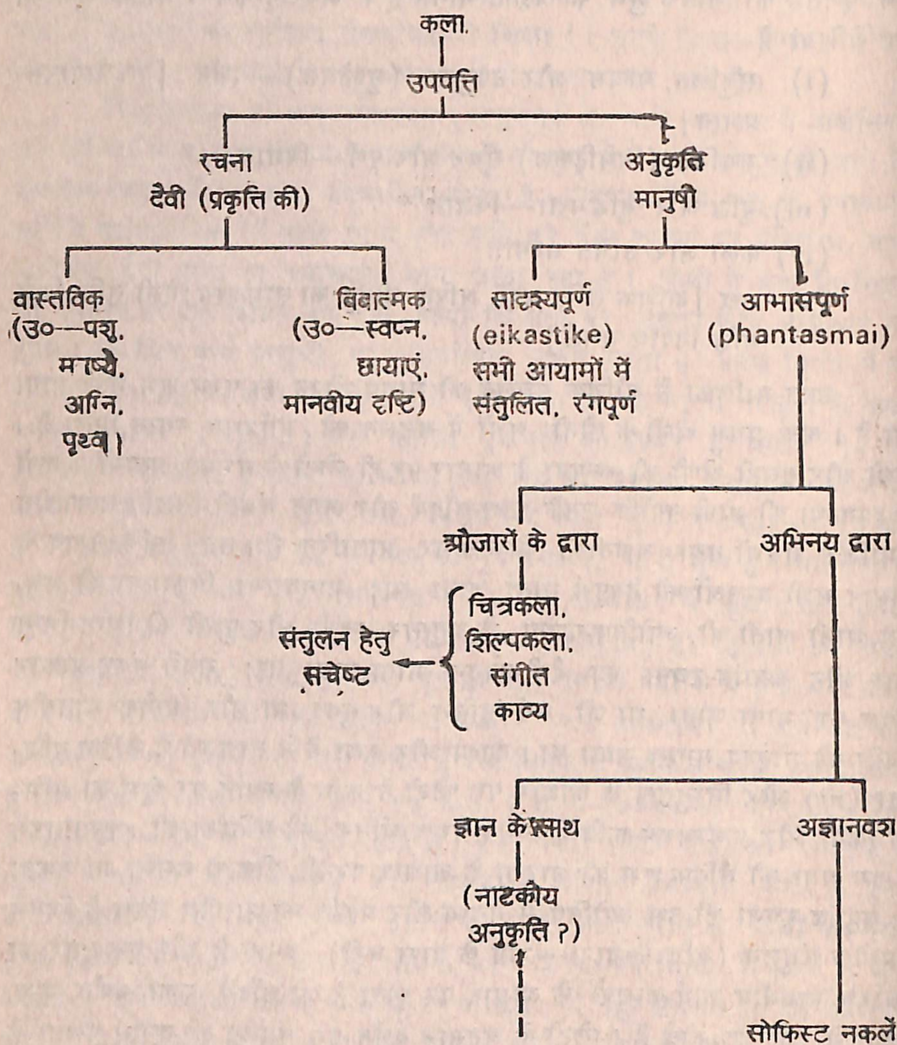
(iv) कला और उचित सम्मति

(v) सुख [क्षणिक तृप्ति नहीं, अपितु जीवन का सामंजस्य; ऐसी तृप्ति जिसे बुद्धि निर्दोष समझे]

उक्त तालिका में बौद्धिक संतुलन को मानव जीवन का परम शुभ मूल्य माना गया है। अतः प्रथम श्रेणी के तीनों शुभों में संतुलन को सर्वप्रथम स्थान मिला है। पहली और दूसरी श्रेणी की कल्पना के आधार पर ही प्लेटो ने संभवतः **प्रत्ययों के रूपों** की व्यवस्था की होगी क्योंकि उनके कला-सौंदर्य और जगत संबंधी सिद्धांत तत्कालीन सामाजिक संबंधों तथा तकनीकी विकास पर आधारित हैं। तब सर्वचेतनवाद के अनुसार सभी वस्तुओं को देवपूर्ण माना जाता था; मानवात्मा विश्वात्मा की अनुकृति मानी जाती थी, ज्योतिष-गणना के अनुसार स्वर्ग और पृथ्वी की भिन्न-भिन्न सत्ता और ब्रह्मांड-रचना का दैवी-कानून माना जाता था; सबसे सुंदर आकार गोलक का माना जाता था जो सर्वसंतुलित और सुगढ़ था और प्रत्येक मानवीय प्रविधि को सोद्देश्य समझा जाता था। काव्य और कला में ये तत्त्व तो थे लेकिन बुद्धिमत्ता (iii) और निम्नसुख के आधार पर प्लेटो ने कला के स्थान पर शुभ का अभिषेक किया और फलस्वरूप कवि के स्थान पर दार्शनिक की प्रतिष्ठा की। हस्तांतरण की इस प्रथा को नैतिक शुभ की धारणा के आधार पर ही ठीक से समझा जा सकता है। ब्रह्मांड-रचना की इस ज्योतिष में मनुष्य और प्रकृति का आत्मीय संबंध है जिनमें से प्रत्येक संतुलन (बुद्धि के द्वारा—राग के द्वारा नहीं) बनाए है और एक-दूसरे का निर्धारण मानवीय कार्य-कलापों के आधार पर होता है जो सौंदर्य, कला, दर्शन, शुभ, विज्ञान में विकसित होते हैं। प्लेटो के अनुसार दर्शन इस संतुलन को बनाए रखता है किंतु (कला का) राग और भावनाएं इसे असंतुलित और असंयमित कर देती हैं जिससे प्रथम श्रेणी का सर्वप्रमुख नैतिक शुभ—संतुलन—खत्म हो जाता है। अतः प्लेटो ने तत्कालीन वैज्ञानिक और दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर कलाओं को पदच्युत किया। दैवी कला तो संतुलन कायम रखती है क्योंकि वह 'रचना' है, और सत्यवस्तुओं की उपपत्ति करती है जैसे, स्वर्ग की रचना, ब्रह्मांड रचना, अमर आत्मा

की रचना आदि। इसके विपरीत मानुषी कला में संतुलन खत्म हो जाता है क्योंकि उसमें दृश्य जगत का प्रतिबिंब मात्र है, स्वर्गिक सौंदर्य का आभास है तथा दैवी कला का अनुकरण है। यह कला 'रचना' न होकर अनुकृति है।

नीचे हम प्लेटो के अनुसार कला-तालिका दे रहे हैं (श्री विम्शॉट एवं ब्रुक्स के अनुसार)—



इसमें दो बातें साफ हैं। पहली है कला की प्रकृति के संबंध में; दूसरी कला-सृजन संबंधी।

जो कला इस दृश्य जगत् में है वह मानुषी है और दैवी-कला की अनुकृति अर्थात् इसमें दैवी-प्रेरणा और कौशल दोनों का सामंजस्य है। ये तथ्य कला के

प्रोमेथियन उद्गम की ओर संकेत करते हैं "शय्याहीन, नग्न और सुरक्षाहीन मानव की चिंता में तब आदिमानव प्रोमेथियस ने स्वर्ग से अग्नि, तथा एथेना और हेफेस्टस के पास से क्रमशः बुनने और धातुकर्म की कलाएं चुरा लीं। इस प्रकार यूनानी-कथा यह संकेत करती है कि संसार में 'कला' कौशल और साधन के रूप में आई जिसके द्वारा मनुष्य अपनी नितांत ज़रूरतों को पूरा कर सके जब 'केवल' प्रकृति पर्याप्त नहीं थी। सांस्कृतिक उद्गमों के इस कल्पनात्मक चित्र में कला उसके समान हो गई है जिसे अस्तित्व की रक्षा में सफल होने के लिए, मनुष्य अपनी मानवीय बुद्धि के द्वारा प्रकृति के साथ जोड़ता है।"[1] यहां यह भी स्पष्ट है कि कला कौशल और प्रकृत् मनुष्य को अधिक सुख, हर्षपूर्ण बनाने के माध्यम के साथ-साथ अनुकृति और दैवी अनुकृति (देवलोक से चुराई गई) भी है।

अंत में कला-सृजन-संबंधी प्रसंग के साथ हम प्लेटो से विदा लेंगे। एक उलझन और उठती है कि जब मनुष्य स्वयं अनुकृति है तब वह (देवताओं द्वारा निर्मित अपने-जैसी वस्तुओं का अनुकरण करके) रचना कैसे कर सकता है? इसके लिए प्लेटो विश्वात्मवाद का सहारा लेते हैं। जिस प्रकार कमल, कुर्सी, घोड़े, सत्य, शुभ, सौंदर्य आदि के प्रत्यय स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरते हैं उसी प्रकार मानवात्मा भी। मानवात्मा में दैवी संस्कार तो रहते ही हैं। अतः इस धरती पर जहां कहीं भी स्वर्गीय सौंदर्य की झलक मिलती है, मानव और विशेषतः कवि एवं कलाकार स्मृति से उसका स्वर्गिक सादृश्य (प्रतिबिंब) उत्पन्न करने की कोशिश करता है। अतः या तो वे स्वर्गीय झलकें ही अपूर्ण होने के साथ-साथ चरित्रहीन हैं, या फिर कवि पतित हैं (परंतु प्लेटो ने भी इन पर यह लांछन नहीं लगाया है)। जब मनुष्य केवल दैवी अनुकरण का अनुकरण कर पाता है तो वह भी (इसके पूर्व ही) एक सीमा में बंधा हुआ होता है। होमर ने संकेत पाकर दैवी अनुकरण का अनुकरण किया। अतः इसके लिए होमर नहीं, दैवी अनुकरण और इसके आगे प्लेटो ज़िम्मेदार हैं जो 'दृश्य जगत' और 'संतुलन' के नैतिक-शुभ के आधार पर मात्र काव्य को ही मिथ्या और असंयमित करार दे देते हैं।

प्लेटो ने कुशल कारीगरों की अपेक्षा चित्रकारों और कवियों और मूर्तिकारों को नीचा दर्ज़ा दिया है क्योंकि ये तीनों दैवी-अनुकरण के बजाय मानवीय रचनाओं (कुर्सी, शय्या आदि) की अनुकृतियां करते हैं (किंतु पर्वत, चंद्रमा, पक्षी आदि के दृष्टांत से कारीगरों की मध्यस्थता भी खत्म हो जाती है। अस्तु)। अतः इनके संस्कार स्वर्गीय प्रत्ययों को ग्रहण करने में और भी क्षीण और कम होते हैं। संभवतः वे उपयोगी और स्थूल कलाओं को ललित (अनुकृत) कलाओं से ऊंचा मान लेने की एक अन्य गलती कर बैठे हैं।

ऐसा लगता है कि प्लेटो के आत्म-ज्ञान में सौंदर्य की रोमांतिक धारणा आद्यंत विद्यमान है। वे स्वयं निरंतर आवेशी और रोमांतिक सौंदर्य की भावना से

१. गिलबर्ट और कुह्न : "ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स", दूसरा पुनर्मुद्रण, पृ० १९-२०।

आत्मसंघर्ष करते हैं; अमूर्तीकरण के अंतिम छोर पर सुकरात की सौंदर्यगर्विता सुकुमारी की धारणा को सूक्ष्म 'सुंदर आकृति' में आदर्शीकृत कर डालते हैं। वे बौद्धिक सौंदर्य का विकल्प खोजते हुए सर्वत्र व्याकुल हैं। पता नहीं क्यों स्वयं सुकरात ने हिप्पियाज़ के साथ संवाद करते हुए 'सुंदर कुमारी' (पवित्रता), 'सुंदर घोड़ी' (सेक्स) और 'सुंदर कलश' के समीकरण द्वारा सौंदर्य की त्रिधर्मा परिभाषाओं के संकेत छोड़कर चुप्पी साध ली? 'फीड्रस' की 'अश्वारोही आत्माओं' की धारणा में भी गहरे मनोवैज्ञानिक रहस्य छिपे हैं। अश्वरथों से हटकर वे धरती पर उतरती हैं किंतु प्रेमिका में प्रेमी द्वारा सौंदर्य की पर्युत्सुकी पहचान को वे मूल 'स्वर्गिक शोभा' का अवतार बताते हैं। यह तो प्लेटो के मनोविश्लेषण का भेद है। शायद इसीलिए वे सुंदरम् और शिवम् के संघर्षों में ज्यादा सिद्धहस्त हैं और इन्हें वे औदात्य के शिखर तक पहुंचा देते हैं। 'घोड़े' का प्रतीक यूनानी चिति की कई रहस्यात्मक परतें उघाड़ सकता है, निस्संदेह।

अरस्तू

तत्त्व-चिंतक प्लेटो के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री तथा दार्शनिक शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने अपने अमर ग्रंथ 'पोएटिक्स' में अपने गुरु की परंपरा में सौंदर्य-तत्त्व पर विचार किया; यद्यपि गुरु-शिष्य के विचारों में बहुत मतभेद है। अरस्तू ने प्लेटो के तत्त्व-चिंतन के **विश्वकों** को विज्ञान के **विशेषों** द्वारा अधिक वास्तविक बनाया। कहावत है कि एथेंस ने प्लेटो जैसा दूसरा शिक्षक और अरस्तू जैसा दूसरा शिष्य नहीं पैदा किया।

प्लेटो-अरस्तू के पक्ष-सिद्धांतों की तुलना से निम्नलिखित सात प्रमुख आयाम प्रकट होते हैं—

(क) प्लेटो के **प्रत्ययों** (eidōs) का विकास और परिवर्तन करके अरस्तू द्वारा पदार्थ के सार या तत्त्व की प्रतिष्ठापना;

(ख) प्लेटो की **ब्रह्मांड रचना** में द्यौलोक-भूलोक के पृथक् द्वैत की समाप्ति करके अरस्तू द्वारा सामान्य-विशेष का संयोग करना;

(ग) प्लेटो कृत अनुकृति के मिथ्यात्व का समाहार करके अरस्तू द्वारा सर्जनात्मक या भावात्मक अनुकृति का प्रतिपादन;

(घ) प्लेटो कृत भावनाओं को विकृति मानने के स्थान पर अरस्तू द्वारा **'विरेचन'** द्वारा उनका उदात्तीकरण;

(ङ) प्लेटो के महाकाव्य-संबंधी वृहद् विवेचन की जगह पर अरस्तू द्वारा नाटक (त्रासदी-कामेदी) का विवेचन;

(च) प्लेटो द्वारा संकेतित छंद-लयादि के इंद्रजाल-प्रभाव का विस्तार करके अरस्तू द्वारा 'रिह्टोरिक' ग्रंथ में इनकी विस्तृत उद्भावना;

(छ) प्लेटो कृत देवताओं के चरित्रों के निरूपण का विकास करके अरस्तू

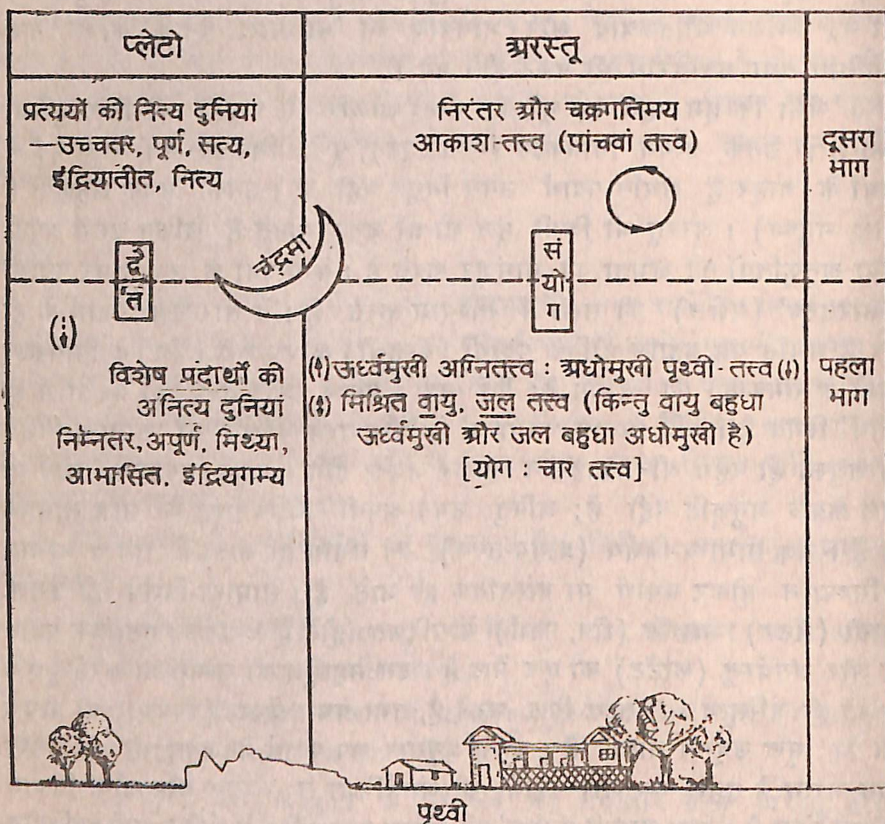
द्वारा श्रेष्ठजनों, गंभीरजनों पर '**दुर्भाग्य**' (नेमेसिस) के प्रभाव पर भी विश्वास; आदि-आदि।

निकट पूर्ववर्ती निरूपण और इस तुलना-पत्रांक पर विहंगम दृष्टिपात करने से ही यह सिलसिला प्रकट हो जाता है कि प्लेटो के दोनों नयन निर्निमेष द्यौलोक को ताकते रहे और दृश्य जगत् को असत्य मानते रहे हैं; अरस्तू का एक नयन द्यौलोक की ओर और दूसरा लोचन भूलोक की ओर रहा है। इस प्रकार वैज्ञानिक अरस्तू की दृष्टि में तत्त्वज्ञानी प्लेटो की कुछ निर्विकल्पवादी दिग्भ्रांतियां कुछ कम होती गईं लेकिन भौतिकवाद और भाववाद को घोलघाल देने के कारण कुछ असंगतियां तथा अंतर्विरोध भी प्रकट होते गये।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं प्लेटो द्यौलोक में प्रत्ययों की नित्य दुनिया मानते हैं। उनके प्रत्यय निर्विकल्प (एब्सोल्यूट), पूर्ण, चिरंतन एवं सत्य हैं; वे पदार्थों के बाहर हैं अर्थात् पदार्थ उनसे निसृत नहीं हैं। उनकी पृथक् अनुकृति हैं (घोड़े, मनुष्य)। अरस्तू भी किसी मूल को तो ज़रूर मानते हैं लेकिन उसमें अपनी मिथ्या अनुकृतियों की क्षमता को नामंजूर करते हैं। वे प्रत्ययों के स्थान पर पदार्थों के '**सारतत्त्व**' (एशेंस) की सत्ता में विश्वास करते हैं। ये सारतत्त्व पदार्थ के ही अंदर हैं अर्थात् यह ब्रह्मांड भौतिक पदार्थों (वस्तुओं) और तत्त्वों (प्लेटो के निर्विकल्प प्रत्ययों के समकक्ष) का संयोग है; द्वैत नहीं। पदार्थ और तत्त्व की एकता में ही 'यथार्थ' स्थित है। यदि प्रत्यय 'सामान्य' हैं और तत्त्व 'विशेष' तो सामान्य-विशेष सदा संयुक्त ही रहेंगे और बाहर न होकर अंदर होंगे। उदाहरणस्वरूप, घोड़े या कमल केवल अनुकृति नहीं हैं; अपितु उनमें अपनी विशेषताओं के साथ सामान्य अंश हैं। जब सामान्य-विशेष (प्रत्यय-तत्त्व) का संयोग हो जाता है तब वे आभास या मिथ्या न होकर यथार्थ या वास्तविक हो जाते हैं। सामान्य-विशेष ही क्रमशः **सामग्री** (मैटर) **आकृति** (शेप, फार्म) में परिणत होते हैं। उनके मुताबिक पदार्थ रूप और अंतर्वस्तु (कांटेंट) का एक मेल है। इस महासूत्र को उन्मीलित करते हुए वे रूप को ही **अस्तित्व** का तत्त्व सिद्ध करते हैं, तथा प्रथम प्रेरक (ईश्वर) को प्रत्येक **गति** का मूल उद्गम मानते हैं। उनके अनुसार रूप पदार्थ के जगत् को आकृतियां प्रदान करता है तथा रूप और पदार्थ की अंतर्प्रक्रिया से जैविक और द्यौस विकास फलीभूत होता है। अतः त्रासदी में 'रूप' की महत्ता तथा सृष्टि में नैतिक प्रयोजनविहीन ईश्वर की धारणा अरस्तू को भौतिकवाद के अनकरीब ले आती है। इसी कड़ी में वे शरीर और आत्मा का भी संयोग कायम करके 'त्रासदी नायक' की क्रांतिकारी धारणा पेश करते हैं। यहां 'आकृति' प्लेटो की तरह कोई 'अनुकृति' न होकर रूप प्रदान करने वाली **शक्ति** या ऊर्जा भी है और सामग्री के अंदर ही निहित है। अतः आकृति मिथ्या और कोरी अनुकृति से आगे '**वास्तविक** तथा **सर्जनात्मक** अनुकृति' हो जाती है—वास्तविक इसलिए कि सामग्री के अंदर ही यह शक्ति निहित है; सर्जनात्मक इसलिए कि इसमें सामान्य के साथ-साथ विशेष का भी योग है। उदाहरणस्वरूप बीज को लें: वृक्ष बनने वाला बीज सामग्री है, और बीज में ही

निहित तथा उससे निसृत परिणामी वृक्ष आकृति है। इसी क्रम में द्वार, कुर्सी, शय्यादि बनाने वाला वृक्ष सामग्री है; और वृक्ष में ही निहित तथा उससे निसृत परिणामी द्वार, कुर्सी, शय्यादि आकृति हैं। शिल्प का दूसरा उदाहरण लें : 'लाओकून'-प्रतिमा आकृति है (परिणामी) किंतु यह पत्थर (सामग्री) में ही निहित है। [स्पष्टतः अरस्तू यहां माध्यम और कलाकार (स्रष्टा) की चर्चा नहीं करते हैं]।

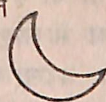
प्लेटो-अरस्तू की ब्रह्मांड-रचना इस प्रकार है—



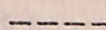
इस ब्रह्मांड-रचना की तुलना से अरस्तू पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। प्लेटो की तरह अरस्तू भी चंद्रमा और तारों के देवत्व के विश्वासी थे। दोनों के ऊपर चंद्रमा ब्रह्मांड की विभाजक रेखा है। प्लेटो के लिए वहां प्रत्ययों का नित्य जगत् है जो दृश्य जगत् से बिल्कुल पृथक् है; अरस्तू के लिए चंद्रमा के ऊपर दृश्य-जगत् के पांचवें तत्त्व आकाश की स्थिति है जहां गुण-मिश्रण न होने के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता किंतु जो दृश्य-जगत् का ही अंग है। अरस्तू केवल चंद्रमा के ऊपर के दूसरे भाग में ही चक्राकार गति मानते थे; चंद्रमा के नीचे के जगत् में ऊर्ध्व-मुखी और अधोमुखी गतियों की कल्पना करते थे। उनके अनुसार चंद्रमा के नीचे के

पहले भाग में चार तत्त्व हैं—ऊर्ध्व-मुखी अग्नि-तत्त्व, अधोमुखी पृथ्वी-तत्त्व, मिश्रित वायु, एवं जल-तत्त्व (किंतु वायु की मूल प्रवृत्ति ऊर्ध्व-मुखी तथा जल की अधोमुखी है)। इन चार तत्त्वों के चार गुण हैं—सर्दी, गर्मी, तरी और खुश्की। इनके संयोग-वियोग ही तत्त्वों को आपस में बदलते हैं। हमारे सांख्य दर्शन में भी पंच-तत्त्व और पांच परमाणु [पृथ्वी परमाणु (पृथ्वी + गंध), जलीय परमाणु (जल+रस), तैजस परमाणु (तैजस+रूप), वायवीय परमाणु (वायु+स्पर्श), आकाश (आकाश+शब्द)] हैं जिनमें भूत और तन्मात्राओं का योग है। इसी प्रकार तीन गुण—सत्व, रजस, तमस—भी हैं। मूल प्रकृति में गुणों की साम्यावस्था भंग होते ही महत्, अहंकार आदि की सृष्टि होती है। अरस्तू के अनुसार पृथ्वी में सर्दी और खुश्की, जल में सर्दी और तरी, अग्नि में गर्मी और खुश्की तथा वायु में गर्मी और तरी है। यहां अरस्तू ने अपने चिकित्साशास्त्र संबंधी उस ज्ञान का उपयोग किया जिसका संबंध रस तथा स्पर्श से ही है और जहां शब्द, रूप व गंध छूट जाते हैं। यही नहीं, अरस्तू के वैज्ञानिक ज्ञान की भी सीमाएं थीं। वे तारों की चक्राकार गति तो जानते थे; किंतु यदि वे जानते होते कि चंद्रमा पृथ्वी की चक्राकार परिक्रमा तथा पृथ्वी सूर्य की चक्राकार परिक्रमा और तारक-मंडल भी सूर्य की परिक्रमा करते हैं तब उनका दर्शन कुछ और होता। यह सच है कि उनके समय तक यूक्लिड की तेरहवीं पुस्तक में व्यवस्थित ठोसों का जो सिद्धांत विकसित होकर थियाएटीटस द्वारा परि-पक्व हुआ था उसका उपयोग उन्होंने किया और प्लेटो नहीं कर सके। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अरस्तू ने भी समकालीन विज्ञान, टैक्नॉलाजी और सामाजिक अवस्था का उपयोग अपने सौंदर्य-दर्शन में पूरी तरह किया। इसी वजह से अरस्तू ने पदार्थों और उनके तत्त्वों-गुणों के संयोग के आधार पर अनजाने ही कलाओं के वर्गी-करण की नींव डाली। अपने इस ज्ञान के कारण ही उन्होंने दृश्य जगत् को वास्तविक और अनुकृत कलाओं, पदार्थों के तत्त्वों से पूर्ण घोषित किया। उन्होंने रस (गीलापन-खुश्की) तथा **स्पर्श** (ठंडक-गर्मी) को वर्गीकरण का आधार माना—रूप और शब्द को नहीं। पृथ्वी से अग्नि तत्त्व तक उठने वाली कला में ठोस सामग्री की अधिकता कम होकर आकृति की प्रधानता होती जाएगी (हीगेलियन लहज़े में द्रव्य की प्रधानता से चेतना की प्रधानता बढ़ती जाएगी) अर्थात् वास्तुकला में पृथ्वी-तत्त्व की, चित्रकला में अग्नि-तत्त्व की, काव्यकला में वायु-तत्त्व की एवं मूर्ति-निर्माण कला में जल-तत्त्व की प्रमुखता होगी जिसमें पृथ्वी-तत्त्व वाली वास्तुकला निम्नतर और अग्नि-तत्त्व वाली

चिह्न-संकेत

 = चंद्रमा

 = सत्द्योतक

 = आभास द्योतक

 = ऊर्ध्वमुखी

 = अधोमुखी

 = निरन्तर और चक्राकार

चित्रकला उच्चतर मानी जा सकती है। वास्तुकला में सामग्री की प्रधानता है तो चित्रकला और काव्यकला में आकृति (या भावना ?) की; संभवत: मूर्तिकला में दोनों का संतुलन करना अरस्तू का उद्देश्य रहा होगा। चिकित्सक अरस्तू ने चेतना (=आकृति ?) के इसी क्रम में मनुष्य को सबसे ऊंचा स्थान दिया क्योंकि उसमें मानस स्थित है। मनुष्य ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेंद्रियों द्वारा (इंद्रियबोधों द्वारा) उस वास्तविकता की अनुभूति करता है जहां सामान्य-विशेष, सामग्री-आकृति का संयोग है। अतः इंद्रियबोध से ही सत्य और कला की शुरुआत होती है (प्लेटो के अनुसार इंद्रियबोध की शुरुआत से सत्य और कला का अंत होता है)। इस प्रकार इंद्रिय बोधों के माध्यम से सीखना केवल **कोरी** अनुकृति न होकर सत्य की शुरुआत और वास्तविकता की रचना है। इस प्रकार कलाएं और काव्य मिथ्या ज्ञान न देकर सत्य-बोध कराते हैं; वे ब्रह्मांड का ही अंग और अंश हैं न कि उससे पृथक् या दुहरी कोरी नकल; वे **इकहरी अनुकृति** हैं, दुहरी नहीं; और इकहरी अनुकृति भी कोरी अथवा विकृत न होकर यथार्थ से कुछ अच्छी ही है। इस प्रकार अरस्तू ने सर्जनात्मक कल्पना की विवेचना की भी शुरुआत की और काव्यशास्त्र में 'मेटाफिज़िक्स', 'एथिक्स' तथा 'पोलिटिक्स' की भी पूरी सहायता लेकर उसे मजबूत सामाजिक नींव दी। इसके अलावा अनुकृति को प्रत्यय की झूठी रचना न मानकर वह प्रक्रिया माना जिसके द्वारा यथार्थ को सार्वभौमिकता प्रदान की जाए और जिसमें शक्य संभावनाओं (पोसिबल इंप्रोबेबिलिटीज़) की अपेक्षा संभाव्य संभावनाओं (प्रोबेबल इंप्रोबेबिलिटीज़) का समाहार हो (त्रासदी विवेचन में इस संभावना-तत्त्व का काफी उपयोग हुआ है)।

'अनुकृति' को (i) वास्तविकता से अच्छी एवं अधिक, (ii) यथार्थ को सार्वभौमिकता प्रदान करने वाली, तथा (iii) सृष्टि भी सिद्ध करके अरस्तू ने अनुकृति के **माध्यम**, अनुकृति के **विषय** और अनुकृति की **शैली** या रीति का भी निरूपण किया। कला को प्रकृति की—'तत्त्व' और 'गुणों' के आधार पर—प्रकृति से अधिक अच्छी अनुकृति मानकर अरस्तू कलाकार ('पोएतेस') की अनुभूति एवं कल्पना का आवेग भी संन्निहित करते हैं। अनुकृति के विषयों के अंतर्गत केवल प्रकृति के जड़-चेतन, चराचर बहिरंग रूप ही नहीं; अनुभूति, विचार, भावनाएं तथा उनसे उत्पन्न संपूर्ण अंतरंग भी हैं। और, **'अनुकृति' को सौंदर्य-तत्त्व की व्यापकता भी मिली है**; यथा, अनुकृति की शैली में सौंदर्यवस्तु का रूप, अनुकृति के विषय में उसकी विषय-वस्तु एवं अनुकृति के माध्यम में कला-रूप, काव्य-व्यापार, सृजन-प्रक्रिया आदि भी शामिल हैं। यही नहीं, उन्होंने अनुकृति में बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग को प्राथमिकता दी है (जो कुछ **पद्यबद्ध** है वह काव्य नहीं है; काव्य-सार तो **विचार** के अनुकरण में निहित है)। अनुकरण तीन रूपों का किया जा सकता है—

(i) प्रतीयमान रूप—जो 'है';

(ii) संभाव्य रूप—जो 'हो सकता है'; और

(iii) आदर्श रूप—जो 'होना चाहिए'।

प्रथम रूप में बिंब-विधान, दूसरे में कल्पना और तीसरे में प्रथम-दूसरे रूप के **प्रेय** (बिंब+कल्पना) और **श्रेय** भी शामिल हैं। इस प्रकार अनुकरण कोरे यथार्थ से आगे विचार को व्यक्त करने वाला होता है; यह 'अस्थिर' और 'विशेष' के बजाय उनसे और अधिक स्थायी और सार-तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यह एकांगी प्रत्ययों के बजाय 'विश्वकों' को धारण करता है। किंतु यह धारण इंद्रिय-गोचर बिंबों द्वारा होने के नाते और अंतरंग के आत्म तत्त्व का प्रकाश करने के कारण आनंद देने वाला भी है। इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू का अंतर वैश्वक के प्रति उनके मतभेदों की बुनियाद है जो आनंद बनाम शिक्षा के चरम मूल्यों को भी कसौटी पर परखता है।

अनुकरण-विधा को लेकर अरस्तू ने उदात्त काव्य (महाकाव्य, त्रासदी, देव सूक्त) तथा क्षुद्रकाव्य (कामेदी, व्यंग्य), अथवा वर्णनात्मक काव्य (महाकाव्य, देव-स्तोत्र) तथा नाटकीय काव्य (त्रासदी, कामेदी), अथवा वृंदकाव्य (मुरली बजाना, वीणा बजाना, रौद्र स्तोत्र), दृश्य काव्य (त्रासदी, कामेदी) और श्रव्य काव्य (महाकाव्य, देवसूक्त, संगीत-काव्य) के बीच भी भेद किया है। इनमें-से रौद्र स्तोत्र एक मिश्र-रूप है जिसमें एक ओर माधुर्यपूर्ण संगीत-काव्य तथा दूसरी ओर ओजपूर्ण नृत्य-लय-संयुक्त काव्य शामिल हैं। रौद्रस्तोत्र का उद्गम धार्मिक कर्मकांड, उपासना आदि है; मुरली बजाना, वीणा बजाना आदि का उद्गम डायनोसियस की पूजा-उपासना की आदिम नाटकीयता में है तथा त्रासदी-कामेदी का विकास सामाजिक संघर्षों में हुआ है। इसके अतिरिक्त इनसे तत्कालीन पंजीकृत कलाओं का भी ज्ञान होता है—

वाद्यवृंदात्मक संगीत कला—मुरली बजाना, वीणा बजाना आदि,
संगीत कला (गेय)—रौद्र स्तोत्र
काव्य कला—महाकाव्य, देव-सूक्त, यथार्थ काव्य आदि
नाट्य-कला—त्रासदी और कामेदी;
नृत्यकला—रौद्र स्तोत्र;
चित्रकला—त्रासदी में चरित्रांकन के प्रसंगों में।

अनुकृति-सिद्धांत का अगला आदान काव्य-सत्यों के विवेचन में हुआ है जहां अरस्तू ने कवि-प्रतिभा तथा काव्योद्रेक को भी शामिल किया है। प्लेटो दृश्य जगत् को असत्य मानने के कारण काव्य पर भी असत्यता का आरोप करते हैं और काव्य की तुलना तत्त्वदर्शन से करते हैं। अरस्तू दृश्य जगत् को यथार्थ मानने के कारण काव्य को प्रकृति की अपूर्णता का पूरक ('एम्स एट फिलिंग आउट ह्वाट नेचर लीव्ज़ अनडन') तथा श्रेष्ठ उन्नायक ('आर्ट फिनिशेज द जाब व्हेयर नेचर फेल्स, आर इमी-टेट्स द मिसिंग पार्ट') भी मानते हैं। वे काव्य की तुलना इतिहास से करके वैज्ञानिक-सत्यों तथा काव्य-सत्यों के बीच का फ़र्क़ साफ करते हैं। इतिहास में 'जो है' (देश) और 'जो हो चुका है' (काल) की सीमा होती है लेकिन काव्य में 'जो होना चाहिए' का वर्णन होता है अर्थात् देश-काल की सीमा में बंधे इतिहास के वस्तु-सत्यों से आगे

देश-काल-सीमामुक्त काव्य-सत्य होते हैं। इस प्रकार काव्य-सत्य सदा (काल) एवं सर्वत्र (देश) घटित हो सकते हैं; वे वस्तु-सत्यों (इतिहास) से श्रेष्ठतर हैं और वे 'वैश्वक' (यूनिवर्सल) की अभिव्यक्ति हैं [जबकि इतिहास **'विशेष'** (पर्टीकुलर) की]। अरस्तू के अनुसार काव्य में सामान्य की अभिव्यक्ति पात्रों द्वारा होती है अर्थात् इसमें मानव का अंतर्जगत् भी शामिल हो जाता है। यह सामान्य अभिव्यक्ति पात्रों (मानवों) के आभ्यंतर क्रिया-जगत् की होती है जिसका अनुकरण बहिरिंद्रियां (चक्षु, कान) भी नहीं कर सकते। यही नहीं, यह सामान्य अभिव्यक्ति पात्रों के आंतरिक क्रियाजगत् की होती है और ताल (रीद्म) तथा छंदगीत (मेलोडी) द्वारा होती है। इसकी विशिष्टता के लिए अरस्तू ने अनुकृति (मेमेसिस) को एक दूसरा श्रेष्ठतर नाम होमोइमा (Homoiōma) भी दिया है। अतः काव्य में शब्दों में ही मानवीय कार्य, राग और चरित्रों की 'श्रेष्ठ अनुकृति' (होमोइमा) होती है जिसमें इंद्रियबोधजन्य भावों से आगे आत्मतत्त्व का भी अनुकरण होता है। इस प्रकार अनुकृति के भव्यतर रूप 'होमोइमा' में काव्योद्रेक का मूल कारण भी शामिल हो जाता है और उसमें इतिहास का वस्तु सत्य (विशेष रूप में)—सीखना, ध्यान, पुनर्स्मरण, समाजानुकरण—भी मानव विकास के रूप में गुंथ जाता है। 'श्रेष्ठतर अनुकृति' में—जो भव्यतर और आत्मतत्त्वपूर्ण है—संभावनाएं (चरित्रोत्थान-चरित्र-पतन), अद्‌भुत (नेमेसिस) अतिप्राकृत आदि भी काव्य-सत्य के अंतर्गत ग्राह्य हो जाते हैं। अतः प्लेटो की तरह काव्य को दैवी प्रेरणा से निसृत होने के बजाय अरस्तू मानव स्वभाव को उसका पहला हेतु मानते हैं; अनुकरण को मिथ्या न मानकर पुनरुत्थान मानते हैं और सामंजस्य एवं लय को (जिन्हें प्लेटो काव्य का इंद्रजाल समझकर विकल हो गए थे) काव्योद्रेक का दूसरा हेतु समझते हैं।

कार्य और सामंजस्य पर जोर देने के कारण ही अरस्तू ने प्लेटो की तरह महाकाव्यों को आधार न बनाकर त्रासदी को मूलाधार तथा महाकाव्यों से श्रेष्ठ भी माना। महाकाव्य त्रासदी के विकास के पूर्ववर्ती रहे हैं लेकिन **इतिवृत्त** द्वारा अनुकरण करने के बजाय घटिया बने रहे। त्रासदी ने **कार्य**-रूप में अनुकरण किया और अधिक असंभाव्य-संभावनाओं से संयुक्त हुई। इसलिए अरस्तू की 'पोएटिक्स' में काव्य की अपेक्षा नाटक और विशेषतः त्रासदी के सौंदर्यशास्त्र का विवेचन हुआ है। वस्तुतः विश्व में कला का शास्त्रीय अध्ययन नाटकों की विवेचना से ही शुरू हुआ : भरत मुनि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' भी ऐसा ही है।

अरस्तू के संबंध में अब हम अंततः **'विरेचन'** पर ही विचार करेंगे (महा-काव्य-त्रासदी के तत्त्वों आदि की तुलना तो पाठ्यक्रम-प्रधान है)। विरेचन के मूल्य द्वारा भी अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो को पांवों के बल खड़ा किया और कम से कम उन्हें सही ढंग से खड़ा किया। प्लेटो ने काव्यमीमांसा में शोक, भय, करुणा, वासनादि के परिप्रेक्ष्य में 'काव्य' (महाकाव्य) को अनीति, पागलपन एवं अधर्म का पोषक घोषित किया। अरस्तू ने भी विरेचन-व्याख्या में **भय** और **करुणा** को ही प्रधानतः लिया और भावोत्तेजना (प्लेटोकृत 'पागलपन') के आधार पर करुणा की

परीक्षा की। किंतु दोनों का ही भावजगत् सीमित है; दोनों कलाचार्यों की दृष्टि-दूरियों से हर्ष, उत्साह, द्वेष, राग, आश्चर्य आदि छूटे-से रहे। फिर भी चिकित्सक अरस्तू ने इन्हीं सीमाओं में ही जादू फूंक दिया।

विरेचन त्रासदी का चरम मूल्य है। त्रासदी केवल भय और करुणा के प्रकाशन का माध्यम है जिसके दृश्यविधानादि द्वारा दर्शकगण 'भय से रोमांचित होते एवं करुणा में पिघल जाते हैं' (अरस्तू)। इन उभय संवेगों का उदय दो स्थितियों में होता है। नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संघर्षों में (भयोत्पादक); तथा, दुःखद अंत (करुणोत्पादक) में। इसलिए त्रासदी के प्रमुख पात्र निरंतर संघर्ष करते हैं और समर्पण न करके करुणा अर्जित करते हैं। वे कुलीन और गंभीर तो होते हैं लेकिन मानवोचित साधारण कमियों और कमजोरियों से भी पूर्ण होते हैं; वे न तो निर्विकल्प वैयक्तिकता प्राप्त होते हैं; और न ही चतुर्धीरों की तरह से टाइप। इस प्रकार मानवोचित श्रेष्ठ किंतु साधारणजनों के दुःखांत ही कथा में भय और करुणा के उत्स हैं।

भय और करुणा का **कारण** नैतिक पतन न होकर पात्र की कुछ या कोई 'दुःखद त्रुटि' (अरस्तू सम्मत ट्रेजिक फ्ला) है अर्थात् कुछ कारण अथवा कमियां ही पात्र को विनाश में लिप्त कर देती हैं। यदि बिल्कुल असंगत या अकारण तकलीफों का विधान हुआ तो अस्वाभाविकता तथा अनैतिकता ही फैलेगी। यहां अरस्तू ने लौकिक जगत् की पीड़ाओं तथा त्रासदी के अलौकिक जगत् की सकारण (=त्रुटियुक्त) पीड़ाओं के बीच भेद किया है। भारतीय नाट्यसिद्धांतों में ये त्रुटियां ऋषि-शाप, पूर्वजन्म संस्कार, वर्ण (शूद्र), दैवपरीक्षा या दैवदुर्विपाक आदि से निसृत होती हैं। इन संवेगों के उदय का दूसरा कारण पात्रों की 'निर्विकल्प वैयक्तिकता' न प्राप्त करने वाली सामान्यता है (अर्थात् वे देव या देवावतार न होकर मानवोचित कमियों और कमजोरियों वाले होते हैं)। अतः यह सीमा पात्रों के द्वंद्वों का निमित्त भी है। ये द्वंद्व दो प्रकार के हैं :—(i) स्वयं पात्र के अंतर्द्वंद्व जो मानवोत्पन्न हैं—**त्रुटियां**; और (ii) पात्र तथा प्रकृति की उन द्वंद्वपूर्ण शक्तियों के बीच संघर्ष जिन पर पात्र का वश नहीं है—**दुर्भाग्य**।

भय और करुणा से संबद्ध त्रासदी में दो **प्रक्रियाएं** भी हैं जिनकी नई व्याख्याएं अपेक्षित हैं। दो प्रक्रियाएं हैं—(क) 'विरेचन', कैथार्सिस एवं रेचन (पर्गेशन), तथा (ख) सौंदर्यात्मक निर्वैयक्तिकरण—(एस्थेटिक डिपर्सनलाइजेशन)। स्पष्टतः विरेचन-रेचन में दुहरापन प्रतीत होता है। पहले (i) स्व (या 'स्व+अर्थ')-पूर्ण भय तथा करुणा के संवेगों का **उद्दीपन** और तदुपरांत (ii) उद्दीप्त संवेगों की अधिकता का बहिर्गमन (purge या evacuation)। इस प्रकार दो प्रकार के संवेग या भावनाएं झलकती हैं—करुणा या भय की लौकिक भावना जो दर्शक की है (='लौ-भा') तथा करुणा या भय की अलौकिक भावना (सौंदर्यात्मक भावना) जो पात्र अथवा पात्र के कार्यों से व्युत्पन्न है (='अ-भा')। 'लौ-भा' साधारण है और लौकिक अनुभव है; 'अ-भा' श्रेष्ठतर है और सौंदर्यात्मक अथवा अलौकिक है। अतएव

संवेगों की अधिकता में या तो 'अ-भा' तथा 'लौ-भा' का योग हो जाता है अथवा 'लौ-भा' ही ('लौ-भा')^{x} हो जाता है। पहली स्थिति गलत है क्योंकि लौकिक अनुभव और अलौकिक अनुभूति भिन्न-भिन्न हैं। संवेगों की 'अति' पर जो ज़ोर है उससे या तो असाधारणता आती है अथवा वह वंशानुगत या चरित्रगत विशिष्टता होती है। हम कह चुके हैं कि यह अतिशयता ['लौ-भा'+'अ-भा'] न होकर (लौ-भा)^{x} है। यहां एक सूत्र दे सकते हैं—यदि भय या करुणा की अधिकता का रेचन (बहिर्गमन) होता है तो वह 'लौ-भा' का होता है; और यह 'अ-भा' के **द्वारा** नहीं अपितु 'अ-भा' के **माध्यम** से होता है। लौकिक भावना—अलौकिक भावना का भेद स्पष्ट करने के बाद दूसरी समस्या यह उठ खड़ी होती है कि इन अतिरिक्त संवेगों का **बहिर्गमन** (पर्गेशन) होता है या **रूपांतर** (ट्रांसफार्मेशन)। हम इनको निष्पत्तिमूलक बहिर्गमन के बजाय अभिव्यक्तिमूलक रूपांतर मानते हैं। वस्तुतः पात्र की भावना ('अ-भा') की अनुभूति ही दर्शन के लौकिक अनुभव('लौ-भा') की जागृति है। यदि 'लौ-भा' का रूपान्तर 'अ-भा' के अनुकूल होता है तभी दर्शक के भय या करुणा के संवेगों की सामान्यता निष्पत्त होगी। किंतु यदि 'अ-भा' का रूपान्तर 'लौ-भा' के अनुकूल होता है तो पुनः भय-करुणा बढ़कर अतल में चले जाएंगे। इस प्रकार कच्चे तौर पर अभी कहा जा सकता है कि 'लौ-भा' का रूपान्तर 'अ-भा' के अनुकूल होता है अर्थात् पहले में निर्वैयक्तिकता के साथ पात्र के मानवत्व का भी योग होता है; उदाहरणार्थ—एथेंस के नाटकदर्शक नागरिक की **लौकिक** तथा **सक्रिय** भय-करुणा पात्र के **अलौकिक** तथा **निष्क्रिय** भय-करुणा से साथ मिलकर उत्प्रेरित (कैटेलाइज़्ड) हो जाती है। इस उत्प्रेरण में—जिसमें सक्रिय से निष्क्रिय एवं लौकिक से अलौकिक रूपांतर होता है—कुछ संवेगांश तटस्थ भी हो जाता है। इस प्रकार यही भय बुरे कर्मों के प्रति भय में तथा करुणा कुलीन कर्मियों के प्रति करुणा में व्यापक होकर परिष्कृत होती है। संभवतः करुणा-भय को 'निष्क्रिय' करने के उद्देश्य को लेकर ही अरस्तू ने इसके पूर्व उनके कार्यजगत् में घटित होने वाले सक्रिय पक्ष में 'बहिर्गमन' की बात कही होगी। वस्तुतः उन्हें इसके स्थान पर 'रूपांतर' कहना चाहिए था। ये संवेग शाश्वत एवं सार्वजनीन हैं। इसी प्रकार इनके बहिर्गमन से पवित्र (कैथार्सिस) हो जाने की उद्भावना धार्मिक रूपक से गृहीत है। अरस्तू इनके दमन को घातक समझते हैं। वे प्लेटो की तरह यह नहीं चाहते कि भय-करुणा का वर्णन-चित्रण ही न हो। वे इनका उतना ही अंश क़ायम रखना चाहते हैं जिससे संतुलन आ जाए अर्थात् भय-करुणा एथेंसवासियों का चारित्र्य न बनें, अपितु चरित्र के समान अवयव ही रहें। इसीलिए पात्रों के कार्यों के माध्यम से भय-करुणा का उद्घाटन कराकर वे एथेंस-वासियों को इनसे परिचित करा देते हैं और उसकी अनिवार्यता मंजूर करते हुए उसके वैयक्तिक पक्ष (भय, करुणा) के बजाय सामाजिक पक्ष (बुरे कर्मों से भय, अच्छे लोगों के पतन के प्रति करुणा) को धारण करते हैं। यही उनका विरेचन-रेचन है। अतः यहां—

(क) बहिर्गमन के बजाय **रूपान्तर** होता है [बहिर्गमन या तो विरोधी तत्त्वों

द्वारा होता है या अधिक आकार वालों के प्रवेश से। यहां न तो भय-करुणा के विरोधी साहस-घृणा आते हैं और न ही अधिक भारी-मजबूत भय-करुणा क्योंकि उनके विराजने से भी अधिक भय और अधिक करुणा बरकरार रहेगी]; और

(ख) वैयक्तिक (लौकिक) व निम्नतर (सक्रिय) भय-करुणा ही सामाजिक-सौंदर्यात्मक (अलौकिक) व श्रेष्ठतर (निष्क्रिय) भय-करुणा में रूपांतरित होती है जिसका माध्यम त्रासदी है। 'व्यष्टि' से 'समष्टि' की इस परिणति को अरस्तू निश्चित रूप से पवित्रीकरण (विरेचन) कहेंगे, अपने सामाजिक आदर्शों के कारण। यही नार्मल दशा है।

अतः हमारा सूत्र होगा "त्रासदी में **रूपांतर** और **सामाजिक उदात्तीकरण** द्वारा रेचन-विरेचन की नयी व्याख्या अधिक युक्तियुक्त होगी।" हमें 'सामाजिक उदात्तीकरण' को **विरेचन** कहने में तनिक भी आपत्ति नहीं है, लेकिन **'बहिर्गमन'** के बजाय तो **'रूपांतर'** ही प्रयुक्त होना चाहिए।

बहिर्गमन की एक दूसरी भी अपूर्णता है। 'स्व' अथवा दुःखात्मक भावनाओं की अधिकता का तो बहिर्गमन हो सकता है; किंतु सुखद भावनाओं की अधिकता का क्या होगा ? यदि करुणा का बहिर्गमन करुणा द्वारा, क्रोध का क्रोध द्वारा होता है, तो क्या हर्ष, उत्साह और रति का बहिर्गमन भी उत्साह-रति-हर्ष द्वारा होगा ? दुःखात्मक कैथार्सिस के बाद सुखात्मक कैथार्सिस की स्थिति क्या होगी ? ज़ाहिर है कि 'रूपांतर' द्वारा ही यह समस्या हल होती है क्योंकि यहां लौकिक का अलौकिक में रूपांतर होता है तथा कुछ भाव-शक्ति तटस्थीकृत (न्यूट्रलाइज़) भी हो जाती है।

(ख) सामाजिक उदात्तीकरण-रूपांतर अर्थात् विरेचन-रेचन की दूसरी प्रक्रिया 'सौंदर्यात्मक निर्वैयक्तिकरण' की है जिसे हम साधारणीकरण के समकक्ष रख सकते हैं। यहां पात्र तथा दर्शक की स्थितियों की समानांतरता पर भी विचार करना जरूरी है

इस सौंदर्यात्मक निर्वैयक्तिकरण में पहले हम अपने संवेगों की अत्यधिकता से मुक्त होते हैं; दूसरे हम स्वयं को भूलकर पात्र के साथ तादात्म्य क़ायम करते हैं; तीसरे हम जीवन की क्षणभंगुरता के बजाय आत्मा की अमरता अथवा पूर्वजन्म के संस्कार अथवा दुर्भाग्य के कायल होते हैं; चौथे हम 'स्व' से 'विश्व' की ओर जाते हैं और पांचवें, हम कलात्मक परिष्कृति और रूपान्तर, दोनों के दौर से गुज़रते हैं अर्थात् हम भौतिक बाधाओं को पार करते हुए यथार्थ जगत् से एक नैतिक या धार्मिक जगत् में उन्नीत होते हैं जहाँ 'आदर्श' एकलय हैं। यह प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना कि त्रासदी के पात्र (ethos) और कार्य (muthōs) और विचार (dianoia) के अंतर्संबंध।

वास्तव में "**कैथार्सिस**" के दो भिन्न तात्पर्य दो विभिन्न आयामों की देन हैं। यदि आयुर्वैदिक रूपक के संदर्भ में इस पारिभाषिक की व्याख्या होती है तो इसका मतलब है, अनिष्टकारी संवेगों से उसी प्रकार छुटकारा पाना जिस प्रकार एक हकीम दिलाता है। यदि धार्मिक कर्मकांड वाले रूपक के संदर्भ में इसका दिग्दर्शन

होता है तो इसका मतलब होगा, संवेगों का **पवित्रीकरण**; (उनका) विलोपन नहीं। संवेग-वृत्त की भी पहेली अभी तक नहीं सुलझी है। अरस्तू केवल दो ही संवेगों का विरेचन निर्धारित करते हैं अथवा सामान्यतया संवेगों का निष्कासन अथवा पवित्रीकरण अभिसूचित करते हैं।

मोनरो सी० बियर्डस्ले ने इस प्रसंग में जेराल्ड एफ० ऐल्श ["अरिस्टाटल्स पोयेटिक्स : दि आर्गुमेंट" कैंब्रिज, १९५७) की स्थापनाओं को परंपरागत विरेचन-व्याख्याओं के लिए बुनियादी चुनौती माना है।[1] ऐल्श के अनुसार 'विरेचन' का पाठार्थ पवित्रीकरण ही है और यह 'दर्शकों' में बिल्कुल नहीं घटता। असल में यह व्यापार 'रंगनाट्य' (प्ले) में घटता है। रंगनाट्य में इसका संवहन प्लाट द्वारा होता है जो स्वयं विशिष्ट प्रकार की त्रासद घटनाओं का पुंज होता है।

ऐल्श की मान्यता यह है कि अरस्तू के अनुसार जिन 'कार्यों' में सर्वाधिक त्रासद गुण होते हैं वे ऐसे पीड़ापूर्ण कर्म हैं जिन्हें ऐसे लोग एक-दूसरे के प्रति करते हैं जो आपस में स्नेहानुराग के नैसर्गिक सूत्रों में बंधे हुए होते हैं; मसलन, एक भाई द्वारा दूसरे भाई की अथवा पुत्र द्वारा पिता की हत्या, या हत्या करने का इरादा। ये ऐसे अभिकर्म हैं जो 'नैतिक संत्रास' (मारल हॉरर) जगाते हैं। अतः उनका पवित्रीकरण आवश्यक है।

ऐसे भयानक कर्मों के कर्ता की नैतिक श्रेष्ठता का अंतर्विरोध कैसे सुलझे? ग्रीक नैतिकता में इसकी व्याख्या हुई : किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की **अनभिज्ञता** में ऐसा कार्य किया गया और इसलिए नायक का **अभिप्राय** या इरादा यह कतई नहीं था कि वह अपने पिता की हत्या तथा अपनी मां से विवाह करे। ऐल्श के मुताबिक 'त्रासद त्रुटि' या भूल (हामार्शिया) का तात्पर्य यही है। अतः रंगनाट्य में इस हामार्शिया का **अभिज्ञान** (अर्थात् ओडीपस द्वारा यह खोज कि उसने कर क्या डाला) एक विराट् संवेगपूर्ण संघात की संभावना बनता है [प्लाट की संरचना द्वारा भी]। इस तरह 'कैथार्सिस' केवल एक मनोवैज्ञानिक धारणा ही नहीं रहता, बल्कि स्वयं नाटक में विश्लेषणीय एक संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) धारणा भी हो जाता है। इसका अनुविस्तारण करके कहा जा सकता है कि त्रासदियों के नाना पैटर्नों के अनुसार विरेचन के संघात की मात्रा तथा गुण तथा मूल्य में भी अंतर होगा।

मनोवैज्ञानिक धरातल पर त्रासद नायक (ओडिपस) करुणा और दया का पात्र हो जाता है; वह कलुषता से विमुक्त हो जाता है :—प्लाट के अनुक्रम में दूषण या पाप का शुद्धिकरण हो जाता है।

नैतिक धरातल पर यह इसलिए होता है कि ओडिपस की सारभूत पवित्रता का **उद्‌घाटन** तो खुद उसके संत्रास द्वारा होता है। 'संत्रास' तब उभरता है जब ओडिपस अपने कार्यों का **अनुसंधान**(प्लॉट में)करता है। उसका अभिज्ञान यही प्रदर्शित करता है कि (नैतिक दृष्टि से) वह 'करुणा' का भागी है [दे० बियर्डस्ले, वही, पृ० ६६]।

१. 'ऐस्थेटिक्स : फ्राम क्लासिकल ग्रीस टु दि प्रेजेंट' पृ० ६५, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९६६।

यूनानी पंडितों का तर्क है कि पुण्यात्मा व्यक्ति का दुर्भाग्य हममें करुणा के बजाय स्तब्धता उत्पन्न करता है (और उसका सौभाग्य ? क्या उसका सौभाग्य हो ही नहीं सकता ?)। दुष्ट एवं खल व्यक्ति का सौभाग्य न तो **भय** उत्पन्न करता है, न **करुणा**; और न ही वह **शुभ** को तुष्ट करता है। किंतु उसका दुर्भाग्य भी न करुणा, न भय उत्पन्न करता है : अलबत्ता शुभ को तुष्ट करता है। अतः दो उद्देश्य सिद्ध होने चाहिए—करुणा-भय की उत्पत्ति, तथा शुभ-तुष्टि। ये दो साध्य हैं जिनके साधन के रूप में त्रासदी तथा त्रासदी के पुण्यात्मा-पात्र गृहीत हैं। इसलिए त्रासदी में पुण्यात्मा का चित्रण होना चाहिए और कामेदी में दुष्टजनों का। यदि पुण्यात्मा का दुर्भाग्य किसी त्रुटि (न कि दुर्गुण) के कारण होता है तो भय-करुणा भी उत्पन्न होगी : उसके पतन के दृश्य-विधान से हम **भयभीत** होकर उससे दूर रहेंगे, एवं केवल गल्तियों के कारण ही इतना बड़ा अनर्थ हो जाने पर हम उसके (पात्र के) प्रति **करुणागलित** होंगे क्योंकि हमें विश्वास होगा कि जितना बड़ा दंड उसे मिला है वैसा उसका अपराध या भाग्य नहीं है। अतएव भय-करुणा की भावना त्रुटियों से बचाव की सिद्धि और मानवता के प्रति नैतिक तुष्टि, दोनों को तुष्ट करेगी। अतः भाग्य-परिवर्तन अच्छे से बुरे की ओर होना चाहिए; इसका माध्यम भी एक अच्छा पात्र होना चाहिए जो किसी बड़ी गलती का शिकार होकर इसे भोगे। यदि भाग्य-परिवर्तन बुरे से अच्छे की ओर होता है तो भय-करुणा उत्पन्न नहीं होंगे अर्थात् उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा; त्रुटि का तत्त्व नहीं होगा, समाज से अनीति और अधर्म का रूपांतरण (रेचन) नहीं होगा और न ही शुभ तुष्ट हो सकेगा। इस प्रकार के बुरे पात्रों का ही बुरे से अच्छे की ओर भाग्य-परिवर्तन मानकर अरस्तू मानव-मन और यथार्थ के प्रति अपनी पकड़ को संकीर्ण कर देते हैं (जहां बुरे लोग कर्म एवं भाग्य के विपरीत सुख भोगें और उन्नति करें वहां 'कामेदी' स्थित है)। अच्छे लोग कर्म और भाग्य के अनुकूल सुख भी भोग सकते हैं (यहां भारतीय दृष्टिकोण कंट्रास्ट पेश करता है)। संभवतः यहां अरस्तू प्लेटो के इस आक्षेप से आतंकित रहे होंगे कि काव्य सुख-दुख, वासना-पागलपन का ही शासन चलाता और निम्नतर जीवन अंकित करता है। तार्किक अरस्तू ने संपूर्ण काव्य-तत्त्व को इसका दावेदार नहीं मंजूर किया; केवल कामेदी को यह गौरव दिया जहां निम्न चरित्रों का अनुकरण होता है, निम्नतर जीवनांकन लक्ष्य होता है और निम्न पात्र कर्म-भाग्य के विपरीत तरक्की करते हैं। इसका पहला स्रोत तो प्लेटो का विशाल बौद्धिक आतंक लगता है दूसरा कारण तत्कालीन यूनानी सांस्कृतिक विश्वासों के अनुसार दुर्भाग्य-चक्र (नेमेसिस) की आराधना प्रतीत होती है जो तत्कालीन सामंतीय जीवन का निराशापूर्ण प्रतिबिंब है। उनके अनुसार जो 'कुलीन एवं पुण्यात्मा' कष्ट झेल रहे हैं उनमें से प्रत्येक अपने भाग्य के अनुसार न्याय पा रहा है (मानो दैवी न्याय-संहिता में उनके लिए सुख नहीं लिखा); और जो 'निम्नतर तथा खल (न कि दुष्ट)' व्यक्ति एथेंस नगर में सुखी पाए जाते हैं वह भाग्य के विपरीत ही न्याय-भोग है। यहां अरस्तू मानो तर्क के बजाय यथार्थ के सामने आंख मूंदकर खुद ही पूछते हैं कि बताओ 'मैं कहां हूं।'

यहां उनके युग की नैतिकता का भी असर साफ है। अतः उनके सिद्धांतों की समाजशास्त्रीय विकृति भी हो जाती है। उनके अनुसार—

(क) भाग्य का क्रूर शासन दिखाया जाए (क्योंकि तब तक उस महान् यूनान और आदर्श एथेंस तक का विघटन हो गया था जिसे यूनानी शाश्वत समझते थे);

(ख) ऐसी स्थिति में अधिक **भय** और **करुणा** अनिवार्यतः उत्पन्न होंगे। अतः उनका रूपांतर (रेचन) हो, **नैतिक भय** और **सामाजिक करुणा** में;

(ग) श्रेष्ठतर जीवन (जो उस समय के नगर-राज्यों में दुर्लभ था) को अंकित करने का कष्टपूर्ण लक्ष्य किया जाए (उन त्रुटियों से बचा जाए जिनसे ये उच्च कुल वाले पात्र गिरे) और यूनान के ऐसे संक्रांति-काल में भी सुख-भोग में लिप्त रहने वाले लोगों को, यदि दुष्ट नहीं तो, कुरूपताजनक तथा हास्योत्पादक जरूर बताया जाए।

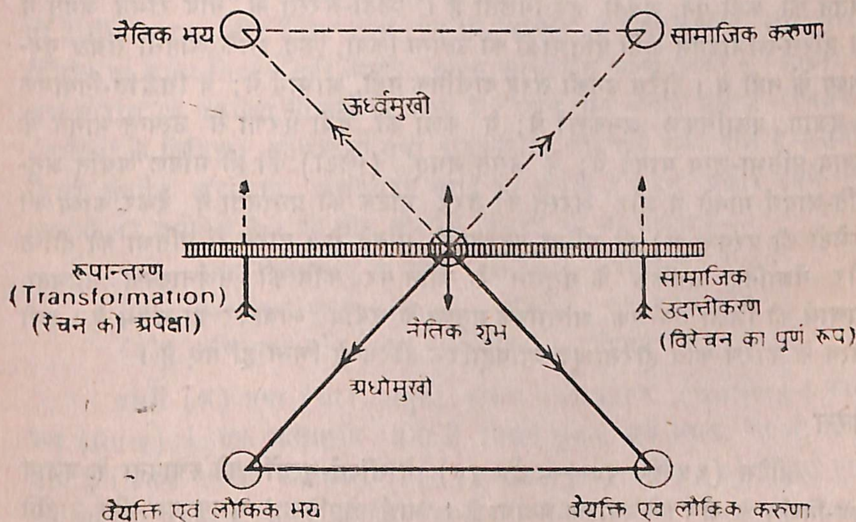
[प्रक्षेप : यहां भारतीय दृष्टिकोण का उद्घाटन समीचीन होगा। नाट्यशास्त्रीय परंपरा में कुलीन और धीर पात्रों को दुर्भाग्य घेरता ही नहीं; यदि घेरता भी है तो पूर्वजन्म के संस्कारों अर्थात् कर्मफल को भोगने के लिए और बहुत थोड़े समय के लिए (नियताप्ति-प्रकरी-विमर्श)। उनके कार्यों का अंत दुःखद न होकर सुखद होता है (फलागम-कार्य-निर्वहण)। नाटक में भय और करुणा ही नहीं, अपितु अन्य स्थायी भाव भी होते हैं जिनका 'साधारणीकरण' होता है। भारतीय दृष्टि में 'त्रुटि' (ऋषि-शाप, पूर्वजन्म संस्कार, दैवपरीक्षा या दैव-दुर्विपाक आदि) के कारण कुछ समय तक तो विपरीत कार्य होता है किंतु पुण्यों के उदय होते ही धर्म की सुखद और मंगल जय होने लगती है। यूनानी दृष्टि से दुर्भाग्य सच्चरित्र पात्रों को ही घेरता और अंत तक घेरे रहता है; वे अंत तक संघर्ष करते-करते उत्सर्ग करते हैं अर्थात् त्रुटि के कारण उन्हें सच्चरित्रता का फल नहीं मिलता, अर्थात् त्रुटि ही एकांगी भाग्यवत् (केवल दंडदायक : पुरस्कार विधायक नहीं) हो जाती है। भारतीय 'आनंद-कल्याण-सुख' के मूल्यों के बजाय यूनानियों ने 'विरेचन-भय-करुणा' की त्रयी स्वीकार की है। यही नहीं; जन-चित्त की नैतिकता को भारतीय दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक समझती है क्योंकि जनमानस इतना संघर्षशील नहीं हो सकता। अतएव बुरे कामों से भय उत्पन्न कराने के साथ-साथ—एकांगिता को दूर करने के लिए—सुखद फलों को प्राप्त कराने के लिए आस्था और मर्यादा की भी प्रतिष्ठा कराई जाती है जिससे अच्छे कामों को करने का साहस भी प्राप्त हो। लेकिन भारतीय दृष्टि भी वैसी ही संकुचित है। यहां (आनंद के कारण) उन सभी बातों पर धार्मिक-नैतिक प्रतिबंध लगा दिया गया है जिन पर (कैथार्सिस के कारण) यूनानी काव्य-नाटकों में बल दिया गया है। जिस प्रकार त्रासदी में सुख का अभाव अयथार्थ है उसी प्रकार रूपकों में दुख का निषेध भी अस्वाभाविक है।]

अतः यदि 'यथास्थिति' को मध्य रेखा माना जाए और वहां यूरिपिडीज को प्रतिष्ठित किया जाए, तो उससे ऊपर की श्रेष्ठतर रेखा पर **त्रासदी** स्थित है और वहां सोफोक्लीज अभिषेकित हैं; और नीचे की निम्नतर रेखा पर **कामदी** स्थित है।

प्लेटो ने जो स्थान देवताओं की स्तुतियों तथा प्रख्यात पुरुषों की प्रशंसा करने वाले महाकाव्यों, प्रबंधकाव्यों को दिया था अब, वही स्थान त्रासदी का है; व्यंग्यकाव्यों के समकक्ष कामदी रखी गई। अलबर्ट कुक ने त्रासदी-कामदी के इस अंतर को स्पष्ट किया है—

त्रासदी	कामदी
आश्चर्यजनक	संभाव्य
कल्पना	तर्क
नीतिशास्त्र	व्यवहार
व्यक्ति	समाज
अति	मध्य
मृत्यु	राजनीति, कामवृत्ति
संदर अभिनेता	भद्दे अभिनेता
असफलता	सफलता
अति-मानवीय	निम्नमानवीय (पशु, यंत्र)
वैभिन्न्य; आदि	वैपरीत्य; आदि

इस तुलना और अपनी स्थापना-मीमांसा के आधार पर हम त्रासदी का अपना त्रित्व रेखांकित कर सकते हैं—



[त्रासदी में तीव्रतम यातना की भी एक स्थिति 'हामार्शिया' की कल्पना है जहां दंड के द्वारा नैतिक उपदेश का विधान है; जैसे दैवसंयोगपूर्ण त्रासदिक स्थितियां : —कुन्ती-कर्ण, सोहराब-रुस्तम, ओडीपस, आदि। इसके अलावा त्रासदी का संकलनत्रय तत्कालीन रंगमंच की अविकसित अवस्था, ब्रह्मांड-रचना-ज्ञान तथा प्रभावोत्पादकता को ध्यान में रखकर किया गया है]

अंतिम परिणाम-स्वरूप हम कह सकते हैं कि—

(क) कलाएं और काव्य (विशेषतः नाटक और उसमें खासमखास त्रासदी) प्रकृति के नैतिक प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं अर्थात् आत्मा में अमरत्व, कर्म-चक्र, भाग्य-सिद्धांत, शुभ-तुष्टि आदि का [नैतिक-] अभिधान करते हैं;

(ख) 'आदर्शों से' एकत्व कायम करते हैं जिसमें सामान्य हो तथा विशेष का भी परिपाक हो; उदाहरणार्थ, काव्य का आदर्श अनुकृति, त्रासदी का रेचन, महाकाव्य का इतिवृत्त (लय) है; और

(ग) वास्तविक जगत (की असंगतियों) का अधिक साहस एवं शक्ति के साथ मुकाबला करने की योग्यता देते हैं।

सारांश यह है कि प्लेटो-अरस्तू दोनों को ही कल्पना के तत्त्वों तथा प्रक्रियाओं का पूरा ज्ञान नहीं है। ये चित्त-विक्षेप को दैवी प्रेरणा या पागलपन या मानव स्वभाव का रहस्य समझते हैं (इसीलिए रोमांटिक स्वच्छंदता के एक पहलू में इसका विरोध हुआ)। दोनों की अंतर्वेगों के ज्ञान संबंधी अपनी ऐतिहासिक सीमाएं हैं। वे भय, करुणा, काम से आगे नहीं पहुंच सके क्योंकि दोनों ही तत्कालीन ब्रह्मांड-रचना के सिद्धांतों और दर्शन से प्रभावित रहे। तथापि प्लेटो प्राचीन जगत् के सबसे बड़े भाववादी दार्शनिक के रूप में तथा अरस्तू आकारी तर्कशास्त्री के रूप में अमर हैं।

कुछ शताब्दियों की कला-यात्रा के उपरांत यूनान के बजाय रोम में सौंदर्य-चिंतन की कड़ी पुनः जुड़ती हुई मिलती है। प्लेटो-अरस्तू के बाद रोमन जगत् ने भी होरेस-लांजाइनस जैसी प्रतिभाओं को उत्पन्न किया, किंतु इनके आपसी संबंध गुरु-शिष्य के नहीं थे। होरेस उनकी तरह दार्शनिक नहीं, आचार्य थे; वे सिद्धांत-नियामक के बजाय क्लासिकल अनुकर्त्ता थे; वे कला को दैवी प्रेरणा से उत्पन्न मानने के बजाय प्रतिभा-जन्य मानते थे; वे 'असत् जगत्' (प्लेटो) को ही मॉडल अर्थात् अनुकृति-आदर्श मानते थे और अरस्तू की तरह नाटक को प्रधानता न देकर काव्य को (प्लेटो की परंपरा में) ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। होरेस में प्रतिभा की दीप्ति और वैज्ञानिक तार्किक के संतुलन के स्थान पर **कवि** की सर्जनात्मक सहजता, **आचार्य** की शिक्षा एवं एक **सांसारिक मनुष्य** के वर्गीय व्यवहार का संगम है। इसी त्रित्व के कारण कवि होरेस खुद व्यावहारिक होरेस से भिन्न हो गए हैं।

होरेस

होरेस (६५ ई० पू०—८ ई० पू०) ने सौंदर्य-मूल्यों की स्थापना के बजाय मूल्य-निर्णय के क्षेत्र को व्यापक बनाया है। 'आर्स पोएतिका' नामक पत्र-गीत उन्होंने अपनी जीवन-संध्या में अपने मित्र काल्पूर्नियस पीसो तथा उसके दो कवि-पुत्रों को लिखा था जिसमें नियोप्टोलोमस के ग्रंथ से बहुत काफी ग्रहण किया गया है। 'आर्स पोएतिका' एक ओर तो सैद्धांतिक काव्यशास्त्र है, दूसरी ओर प्राथमिक तथा व्यावहारिक निर्देशिका है और तीसरी ओर मित्र को लिखा गया पत्र-गीत मात्र। यह संबोधन-गीतों की चार तथा मुक्तक गीतों की एक किताब लिखने के

बाद लिखा गया है जिसने दांते, बेन-जानसन और बायरन तक को प्रेरणा दी है। फिर भी यह अरस्तू की 'पोएटिक्स' तथा प्लेटो की 'फीड्रस' से भिन्न भी है; और नव्य क्लासिकवादियों का शास्त्रग्रंथ भी रहा है। एक सूत्र, जो प्लेटो से होरेस तक निरंतर गुंथा हुआ मिलता है, वह है : 'अच्छा कवि अच्छा नागरिक (लाजिमी तौर पर) होता है।'

इन सबके मूल में उनका व्यक्तित्व और युग है। वे आजन्म अविवाहित; और मूलतः भोग-प्रिय तथा राज-भक्त भी रहे। सम्राट आगस्टस के कृपा-पात्र "होरेस ने अपनी कला का अभ्यास शाहंशाही संरक्षण और चमक-दमक के दिनों में किया, जब ओजस्वी भाषणों द्वारा राजनीतिक मसलों को तय करने के बजाय प्रसादपूर्ण कविताओं में पूर्वजों की भव्यताओं, फौजी विजयों, शांतिपूर्ण और अनुकंपापूर्ण आवेगों का उत्सव मनाया जाता था। होरेस कृत काव्य और आलोचना एक क्लासिक आगस्टीय आंदोलन की उपज थी—उच्च गंभीरता की ओर प्रत्यावर्तन; यदि यूनानी क्लासिकल कला की नैतिक तीव्रता पर न ध्यान दिया जाए, तो।"[1] इस प्रकार उनके विपक्षी उनके समकालीन कवि ही हैं और एक सांसारिक मनुष्य की तरह होरेस ने प्रत्यक्ष रूप से उन पर कोई प्रहार नहीं किया। एक स्थिर और स्थापित सामंतीय जीवन के समर्थक होने की वजह से वे अपने परिवेश से ऊपर नहीं उठ सके और एक मामूली-से कवि-आचार्य बने रह गए।

'आर्स पोएतिका' में काव्यशास्त्र-निर्देशिका-पत्रगीत के त्रिविध तत्त्वों का मेल तो है ही; नाटक और काव्य दोनों का भी विवेचन है। इसमें कोई खास नाटक-सिद्धांत या काव्य-सिद्धांत नहीं मिलते, बल्कि तत्कालीन काव्यनाटकों के आधार पर कुछ सारांश या संकलित निष्कर्ष ही प्राप्य है। इसमें तीन कलाएं मूल हैं—चित्रकला (दृष्टांतों के निमित्त), काव्यकला तथा नाट्यकला; और एक कला गौण है—संगीत, जिसके अंतर्गत वृंदवादन, वंशीवादन आदि का संयोग है। इस प्रकार इसमें चार कलाओं का समावेश है। यह तीन खंडों में विभक्त की जा सकती है—

(अ) काव्य-विषयवस्तु या **तत्त्व** (poiēsis)—पंक्तियां : १-७२
(आ) काव्य-**रूप** या (poiēma)—पंक्तियां : ७३-२९४ और
(इ) **कवि** तथा कवि-शिक्षा (poiētēs)—पंक्तियां : २९५-४७६

इसमें (अ) तथा (आ) संयुक्त होकर [काव्यतत्त्व (matter) + काव्य-रूप (form)] एक **'कलाकृति'** होते हैं जिसमें सृजन एवं शिल्प का भी क्रमशः योग है। इसके उपरांत कलाकृति, [(अ) + (आ)] और कवि (इ) संयुक्त होकर एक समस्या उठाते हैं जिसके अंतर्गत दैवी प्रेरणा अथवा प्रतिभा के हेतुओं की छान-बीन की गई है। कवि-शिक्षा प्रसंग में संस्कार (phusis), अभ्यास (epimeleia), शिल्पज्ञान (epistēmē), अनुमिति और कौशल (technē) का भी समावेश हुआ है जो अभिनवगुप्त कृत प्रतिभा, काव्यानुशीलन, भावना आदि से मेल खाते हैं।

१. विम्शाट और ब्रुक्स : 'लिटरेरी क्रिटिसिज़म : ए शार्ट हिस्ट्री', पृ० ८०।

'आर्स पोएतिका' से साफ ज़ाहिर होता है कि यूनान के महाकाव्य तथा नाटक (त्रासदी-कामदी) के महान् भेदों (=आइडिया) से ही 'कला-प्रभेदों का सिद्धांत' (डाक्ट्रीन आफ जेनर्स) विकसित हो चुका था जिसके फलस्वरूप चरवाहे-गीत, व्यंग्य, वंशीगीति, शोकगीति, नीति आदि भेद भी उत्कर्ष पर थे। इसके अलावा [अरस्तू युग की प्रकृति की अनुकृति के बजाय होरेस कालीन] मॉडल का ऐसा क्लासिकल तथा परंपराव्रती अनुकरण हुआ कि रीतिबद्ध 'औचित्य सिद्धांत' (डाक्ट्रीन आफ डिकोरम) ही सर्वतोमुखी हो गया जो कि (अरस्तू के) यूनानी रूप के सिद्धांत का ही रूपांतर-सा है। इस प्रकार इस काव्यग्रंथ-शास्त्र में दो सिद्धांतों की अन्विति हुई है—(क) **कला-प्रभेदों का सिद्धांत**, और (ख) **औचित्य-सिद्धांत**।

कला-प्रभेद-सिद्धांत के पहले हम **औचित्य-सिद्धांत** का निरूपण-विवेचन करेंगे। इस पर अरस्तू के 'विशेष' का प्रभाव लक्षित है। अरस्तू ने प्रकृति की नव्य अनुकृति को मानदंड मानकर महान् ग्रीक कृतियों का अभिधान किया और होरेस ने महान् ग्रीक कृतियों को 'मॉडल' मानकर उनके परंपरागत (=सांस्कृतिक) एवं क्लासिक (=आगस्टस कालीन आभिजात्य रुचियां) अनुकरण पर दृष्टि केंद्रित की है। उनका सूत्र है: 'ग्रीस की महान् कृतियों में दिन-रात मग्न रहो।' फलस्वरूप निर्धारित की गई मानव परिपाटियां ('रीति') और वस्तुओं की प्रकृति में निहित नैसर्गिकता (?) औचित्य की उद्‌गम हुई। वस्तुओं की प्रकृति और मानवीय परिपाटियों का यह समन्वय ही विरोध भी उत्पन्न करता है क्योंकि वस्तुओं की प्रकृति साधारण है और मानव-परिपाटियां विशेष। इनका आपसी संबंध बराबरी का नहीं हो सकता; एक को अधिकृत होना ही पड़ेगा। वस्तुओं की प्रकृति को होरेस ने दूसरा दर्जा दिया। तत्कालीन उच्चवर्गीय नाटक-दर्शकों तथा काव्य-श्रोताओं की रुचियों के मुताबिक उन्होंने मानव-स्वभाव माना तथा प्रत्यक्ष समाज और विशाल जीवन से कटकर राजसभा के कलात्मक विलासों और वर्जनों को परिपाटी स्वीकारा। अच्छी और श्रेष्ठ वस्तुओं की प्रकृति भी इस नकली और एकांगी मानव-स्वभाव तथा परिपाटी के सांचे में इसी प्रकार ढली और वस्तुओं की प्रकृति केवल यूनानी कृतियों तक ही ऐसी संकुचित हुई कि हृदय की मुक्तावस्था की गुंजाइश गुम ही हो गई। न तो रोमन कलाकार श्रेष्ठ कृतियां दे पाए; न ही होरेस श्रेष्ठ काव्यशास्त्र। मामूलीपन हावी हुआ और अनजान होरेस तत्क्षण **मामूलीपन** के विरोध में खड़े हुए (उनके कारणों को खुद ही समर्थित करते-करते)—'कवियों में साधारणता को कभी किसी ने सहन नहीं किया है—न देवताओं ने, न मनुष्य ने, न पुस्तक-विक्रेताओं ने।' मामूली प्रतिभाओं के मामूलीपन को तो समझा जा सकता है; किंतु मॉडेल की परिपाटीबद्ध अनुकृति की वजह से श्रेष्ठ प्रतिभाएं भी मामूलीपन से ऊपर नहीं उठ सकीं। इस अंतर्विरोध का कारण स्पष्ट है। अपनी पल्लवग्राही आदत के अनुसार वे दोष-निरूपण करते-करते भटक गए, यद्यपि यहां उन्हें मॉडल के आदर्श से हटकर ही समझौता करना पड़ा है। यदि मामूली कलाकार है (कलात्मक भावना का अभाव है) तो त्रुटियों को दूर करने पर भी कृति से दोष नहीं मिटेगा अर्थात् मॉडल से अधिक प्रतिभा

की मुक्तावस्था जरूरी है; और यदि कलाकार प्रतिभाशाली है (कविता का अधिकांश सुंदर है) तब असावधानी के कारण (=मॉडेल से परे सृजन) या मानवीय स्वभाव की सहज दुर्बलता (आगस्टस सामंतों के शील से हटा हुआ) के कारण आए दोषों को हम सहज-सहर्ष अनदेखा कर सकते हैं। इस प्रकार औचित्य-सिद्धांत के त्रुटि-निराकरण में हम मॉडल के (प्रतिपाद्य विषय) के स्तर की बजाय कवि-प्रतिभा की प्रमुखता पाते हैं, गरचे होरेस की मंशा यह नहीं रही होगी।

'औचित्य-सिद्धांत' के वृत्त काव्य-विषयवस्तु, काव्य-रूप और कवि को घेरते हैं (इनमें नाटक-विधा भी शामिल है)। उनके अनुसार (i) रूप का औचित्य होना चाहिए, अर्थात् घोड़े की ग्रीवा पर मानवशिर का अंकन न हो; प्रकृतिजन्य अनुकृतियां ही हों; (ii) उचित विषय होना चाहिए अर्थात् आगस्टस साम्राज्य की मर्यादा के अनुकूल और कवि की प्रतिभा के सामर्थ्य के अंदर (जिनसे मामूलीपन न आ सके); (iii) उचित शब्द-विन्यास होना चाहिए, उचित चयन के साथ सुष्ठु शब्द और स्वच्छ विन्यास ही सहजता लाते हैं; इस चयन में सुरुचि भी अपेक्षित है, काव्य-रूपों में त्रासदी में गंभीर वाक्यों का उच्चारण होता है अतः तुच्छ (साधारण जनता के) वाक्यों का कथन उचित नहीं है; (iv) छह ताल वाली पदी ही उचित है (जिसमें प्रत्येक ताल द्विमात्रिक चरण—आयम्ब—का हो); (v) भावानुकूल उचित छंद भी जरूरी है, जैसे रोष में सहज साधन लघु-गुरु छंद है, या त्रासदी के योग्य विषय को कामदी छंद में और कामदी के उपयुक्त विषय को त्रासदी-छंद में बांधना उचित नहीं है; (vi) पात्रों को (विशेषतः नाटकों में) भी उचित चरित्र मिलना चाहिए अर्थात् प्रत्येक आयु और प्रत्येक आयु की स्वभावगत तथा अन्य खूबियों का ध्यान रखना जरूरी है; तथा इन्हीं के अनुरूप उचित गुणों का विधान करना समीचीन है; (vii) प्रत्येक काव्य-भेद के अंतर्गत भी उचित विषय आने चाहिए, जैसे नाटक, काव्य, वंशीगीत, आदि के लिए अलग-अलग विषय-वस्तुएं निर्धारित हैं; (viii) कथ्यौचित्य भी जरूरी है अर्थात् कथ्य में संक्षेपण हो और आह्लादप्रदायिनी कलात्मक रचना में यथार्थ की अत्यंत निकटता हो; (ix) भावकों का भी औचित्य हो—कवियों को चाटुकारों (जो धूर्त लोमड़ी की तरह हैं) की प्रशंसा से बचना चाहिए और सहानुभूतिशील एवं समझदार आलोचक की रायों को मानना चाहिए; तथा (x) कृति का प्रकाशन भी आलोचकों को दिखाने के बाद होना चाहिए। वस्तुतः होरेस ने औचित्य-सिद्धांत का विकास अपने व्यंग्यों में किया है।

'काव्य-प्रभेद-सिद्धांत' का निरूपण नाटक-रूप और तत्त्व तथा काव्यरूप और तत्त्व [रूप; तत्त्व या विषय-वस्तु] के अंतर्गत सरलता से हो सकता है :

नाटक-रूप के अंतर्गत होरेस त्रासदी और कामेदी में अरस्तू जैसा ऊंच-नीच का विभेद तो नहीं करते, किंतु त्रासदी में गंभीर वार्तालाप को गरिमामय मानते हैं। कामेदी, और त्रासदी दोनों पद्य में लिखी जा सकती हैं लेकिन प्रत्येक के उपयुक्त विषय और छंद दोनों हैं। अतः इनका विपर्यय रूप को विकृत कर देगा। छह ताल वाली पदी तथा लघु-गुरु द्विमात्रिक चरण ही प्रयुक्त होते रहे हैं। नाटकों के अंक भी

सीमित होने चाहिए—लोकप्रिय नाटक में पांच अंक हों (न कम, न अधिक)। रंगमंच का भी जो विधान हो उसमें देवताओं की अवतारणा न हो (संभवत: प्लेटो के निषेधों के कारण) और अन्य पात्रों में भी संयम हो। इसमें बाह्य साधन या कर्त्ता का यथासंभव परित्याग हो (यथार्थ के निकट लाने के लिए और सीमित तकनीकी विकासों के कारण); रंगमंच में वृंदवादक भी हों, किंतु वे उपस्थित होकर बोलें नहीं; उनका भी पद अभिनेताओं का है।

नाटक-विषयवस्तु के अंतर्गत कथावस्तु के उत्कर्ष को पहला स्थान दिया गया है। नाटककार और कवि दोनों को ही अपने प्लाट का तंत्र ऐसा रचना चाहिए कि कथावस्तु बड़े वेग से चरम बिंदु की ओर जाए अर्थात् कुतूहल की प्रधानता रहे, और दर्शक-श्रोता भी सीधे युगपत् चलें अर्थात् अस्वाभाविकता या अलौकिकता न हो और पात्रों के चरित्र रसिकों को पहले से ही ज्ञात हों अर्थात् पात्र टाइपगत हों। टाइपगत पात्रों में अरस्तू की तरह कुलीन और अकुलीन का भेद मिटाकर होरेस ने आयु के आधार पर ही पात्र रचे हैं—बच्चे से बूढ़े तक, ऐतिहासिक और वर्तमान मानव आदि अपनी-अपनी आयु की विशिष्टताओं के अनुसार मानो (जो तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक कारणों से निर्दिष्ट थीं) रूढ़ चरित्रों के लिबास ओढ़ लेते हैं। पात्र केवल मानवीय हों; देवताओं की अवतारणा न हो। रंगमंच पर कार्य-व्यापार के अंतर्गत हत्या, मांस पकाना, जादू (मनुष्य का सर्प या पक्षी बनाना) आदि न दिखाए जाएं; किंतु नाटकीय सत्य अर्थात् प्रतीकवृत्त और लौकिक सत्य अर्थात् घटित वृत्त या इतिहास का समन्वय अवश्य ही हो। इसी प्रकार कार्यव्यापार को तीव्रता देने के लिए संगीत का विधान हो जिसमें वंशीवादक भी अपनी प्राचीन कला और अकौशल को उन्नत करके अयत मुद्राओं का समावेश करें।

इस प्रकार नाटक के रूप-विषयवस्तु पर यह विवेचन अधूरा है। हमने इसे संबद्ध और सुव्यवस्थित करने की भरसक कोशिश की है। फिर भी इस व्यवस्था में कोई नाट्य सिद्धांत नहीं मिल पाते; औचित्य के नाम पर रूढ़ियों की स्थापना ही मिलती है।

दूसरी ओर काव्य-प्रसंग का बेहद विस्तार हुआ है। काव्य-रूप के अंतर्गत ही मॉडेल के आधार पर अन्विति की बात कही गई है और इसके स्पष्टीकरण के लिए चित्रकला का एक रूपक लिया गया है। जिस प्रकार घोड़े की ग्रीवा पर मानवशिर का अंकन नहीं होना चाहिए उसी प्रकार मानव की अनुकृति, उसका नख-शिख वर्णन आदि भी पूर्णत: एक स्वस्थ और सुष्ठु मानव-शरीर ही होना चाहिए। इसी प्रकार सारे काव्य-रूप को भी यूनानी महान् कृतियों के अनुकरण पर बार-बार संवार-सुधार कर पूर्णत: संस्कारित किया जाना चाहिए। ये दो तत्त्व **सौंदर्य-विधायक** हैं। रूप में **रमणीयता-विधान** के लिए उचित, सुष्ठु, स्वच्छ और प्रचलित शब्दों का चयन और विन्यास निर्दिष्ट किया गया है। यूनानी स्रोतों से स्वतंत्र नये शब्द भी (दुर्बोध विषय को स्पष्ट करने के लिए) चुने जा सकते हैं यदि वे प्रचलित हों या हो सकें तथा उनका दुरुपयोग न हुआ हो। काव्य में भिन्न-भिन्न भावों को

व्यक्त करने के लिए भी छंद-विधान हो : जैसे रोष में लघु-गुरु मात्रिक (आयंबिक) चरण, अन्य में छह ताल वाली पदी का उपयोग। यह तत्त्व **संगीत-विधान** करता है। काव्य-रूपों के भेदों के अंतर्गत वेणु-गीतों, व्यंग्यों आदि के लिए भिन्न-भिन्न वस्तु-विषयों का भी निर्देश है अर्थात् विषय के अनुरूप ही शैली में भेद होना उचित है। इस प्रकार 'काव्य-रूप' के अंतर्गत सौंदर्य-विधान, रमणीयता-विधान, संगीत-विधान, शैली-विधान आदि में भी औचित्य-सिद्धांत की नींव है।

काव्य-तत्त्व या 'विषयवस्तु' के लिए होरेस पहले दो शर्तें लगाते हैं--(i) कलात्मक भावना (भावन योग्य हृदय) और (ii) कवि सामर्थ्य (प्रतिभा-अभ्यास-अध्ययन)। सामर्थ्य योग्य विषय के लिए कवि-स्वभाव का ध्यान रखना तथा भावना योग्य माध्यम का चुनाव करना, और इसके उपरांत भी विषय को सरल तथा संगत बनाना होरेस के आचार्यत्व के कौशल का सुंदर संयोजन है। उदाहरण के लिए त्रासदी और व्यंग्य लिख लेने के बाद ही कवि वेणुगीत लिखने की ओर मुड़ सकता है। वेणुगीत का छंद और विषय भी प्रतिभा की सहायता कर सकता है। इसलिए प्रत्येक काव्य-प्रभेद के साथ विषय-वर्गीकरण भी हुआ और फलस्वरूप वेणुगीतों में देवताओं तथा पराक्रमी वीरों का, सर्वश्रेष्ठ मल्लों का, प्रेमियों की अतृप्त लालसा का या चितानिवारक मदिराघटपान का विधान हुआ। एक ओर तो होरेस ने मॉडेल के अनुकरण की रीति बनाकर परंपरा का पिष्टपेषण किया और दूसरी ओर नई उद्भावनाओं को—संगति अर्थात् औचित्य के आधार पर—मंजूर किया। नई उद्भावना में भी यदि आगस्टस-युगीन चरित्रादर्शों की पूर्ति हो जाए, तो वह स्वीकृत हो सकता है। इस प्रकार होरेस परंपरा बनाम मौलिकता के विवाद को मॉडेल बनाम एकरसता के संयोग से सुलझाते हैं। वे संक्षेपण के सर्वत्र हिमायती हैं।

नाटक-काव्य-प्रभेदों के निरूपण के बाद होरेस मूल्य-भेदों के कई प्रश्न उठाते हैं। सबसे पहले उनके अनुसार कलाकृति का आद्यंत लक्ष्य ग्रीस की महान् कृतियों का अनुकरण है। दूसरे, कला में काव्यात्मक सौंदर्य के साथ-साथ आकर्षण अर्थात् अनुभूति और अभिव्यंजना दोनों का संयोग हो। तीसरे, उसमें केवल भावात्मक मूल्य ही न हों, बल्कि सजग विवेक-शक्ति भी हो। सजग विवेक-शक्ति एक ओर तो कौशल अर्थात् संवारने-सुधारने से आती है, दूसरी ओर तथ्यों को उचित परिपार्श्व में रखकर परखने-समझने से। चौथे, काव्य का मूल्य सौंदर्य, आकर्षण, सजग विवेक तो हो लेकिन धन-लिप्सा न हो। पांचवें, यदि धन-लिप्सा के बजाय जीविका-प्राप्ति हो तो वह काव्य का एक मूल्य हो सकता है किंतु श्रेष्ठता तो उपयोगिता एवं आह्लाद (सौंदर्य + आकर्षण) के समन्वय में है। यदि आह्लाद काव्य का एक मूल्य हो जाता है तो इसे उत्पन्न करने वाली कलात्मक भावना को यथार्थ के बहुत निकट होना चाहिए। काव्य के इन मूल्यों के अलावा अवमूल्य भी हैं : जैसे कौशल की असावधानी का शैलीगत अवमूल्य या मानव-मर्म के अज्ञान से उत्पन्न शीलगत अवमूल्य या कवि की वैयक्तिक दुर्बलता से उत्पन्न अहं-संपृक्तता या मामूलीपन के कारण अवमूल्य। काव्य के चरम मूल्य सौंदर्य की

प्रधानता होने पर होरेस इन अवमूल्यों को अनदेखी कर दी जाने वाली त्रुटियां मात्र मान लेते हैं और मॉडल-अनुकरण की जटिलता से काव्य-पुरुष को मुक्त करते हैं।

अंततः मूल्य-निर्णय की बात आती है जहां वे कवियों-आलोचकों-भावुकों, तीनों की जांच करते हैं। हम ऊपर कह ही चुके हैं कि उन्होंने उपयोगी और मधुर-सुंदर का—विवेक-शक्ति द्वारा—संश्लेषण किया है। इसे सूत्र माना जा सकता है। उपयोगी का रूपांतर क्रमशः नीतिशिक्षा, काव्य-वस्तुविषय और स्थूल में होता है, तथा मधुर-सुंदर का क्रमशः आनंद (आह्लाद, आकर्षण), रूप और सूक्ष्म में। मूल्य-निर्णय-चर्चा में प्रतिभा के साथ नीति-शिक्षा वाले अध्ययन और रूप के साथ अभ्यास को जोड़ा गया है। इस प्रकार प्रतिभा-अध्ययन-अभ्यास परस्पर पूरक हो गए हैं जिनमें नीति, मॉडल-अनुकरण एवं कौशल सभी का संगम है। यह निर्णय कवि-शिक्षा प्रसंग का है। इसके बाद कवि-महत्ता, भावुक (रसिक)-महत्ता तथा आलोचक-महत्ता के द्वारा मूल्यनिर्णयों को पेश किया गया है। कवि-महत्ता का मर्म-धर्म व्यक्ति तथा राज्य के बीच, पावन तथा साधारण के बीच सीमारेखा खींचने; अनेकमुखी वासना को प्रतिबिंबित करने; काष्ठखंडों में नियम अंकित करने तथा पराक्रमी वीरों के चरित्र और रोष का निरूपण करने में है। इस प्रकार कवि-शिक्षा में पुरोहित, राज-नीतिज्ञ, दार्शनिक, विधिशास्त्री, रेचक और चारण, सभी के पहलू एकसाथ घुल-मिल जाते हैं। किंतु एक विक्षिप्त कवि से सभी दूर रहते हैं; और बेवकूफ उसका पीछा करते हैं। यहां प्लेटो की कवि-अवमानना को साधारण के स्थान पर वैशिष्ट्य दिया गया है; सभी कवि पागलपन या दैवी पागलपन के शिकार नहीं होते अपितु सहज विवेक-शक्ति उनका संचालन करती है। वे पागल या असंतुलित कुकवि से बचने का आदेश देते हैं। इसके बाद भावुक के निर्णय की चर्चा है। पहले तो जनसाधारण और गरीब जन काव्य-रसिकों की मंडली से बहिष्कृत कर दिए गए (—'तुच्छ पदों का उच्चारण काव्य व त्रासदी-गरिमा के विरुद्ध है'); दूसरे, (धनी) कवि के इर्द-गिर्द मंडराने वाले धूर्त चाटुकारों के समूह भी वनवासभोगी हुए और तीसरे, झूठी प्रशंसा करने वाले लोमड़ी जैसे धूर्त आलोचक भी बदनाम हुए। इस प्रकार उच्चवर्गीय रसिकों की निष्पक्ष प्रशंसा और आलोचना ही रसभोक्ताओं की निर्णय-नींव मानी गई है। इसी प्रकार आलोचक-महत्ता को मानते हुए होरेस कहते हैं कि आलोचक को दिखाए जाने के बाद ही कोई कृति प्रकाशित की जानी चाहिए। जो चाटुकार न हो, जो समझदार होने के साथ-साथ सहानुभूतिशील भी हो, वही आलोचक नीर-क्षीर विवेकी, तत्त्वाभिनिवेशी और सच्चा निर्देशक है। इस प्रकार प्रतिभा-परिश्रम को बराबर महत्त्व देने के उपरांत होरेस कवि और आलोचक को भी बराबर महत्त्व प्रदान करते हैं। सारांश यह है कि होरेस ने मूल्यनिर्णयों के आंतरिक पक्षों की जांच की शुरुआत की। होरेस के सिद्धांत-निरूपण रहित और औचित्यमूलक निष्कर्षों का सार, रहस्य और विस्तार उपर्युक्त कथनादि हैं।

लांजाइनस

लांजाइनस (ई० पू० पहली सदी) दूसरे महान् रोमनक कला-आचार्य हैं जिनके काल के विषय में निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी अमर कृति 'पेरी हुप्साउस' केलाक्टे के सीसिलियस के विरोध में लिखी गई। इसका एक-तिहाई आज भी अप्राप्य है और अपने वर्तमान रूप में इसकी खोज सोलहवीं शती (१५५४ ई०) में हुई। इसका प्रभाव बर्क (१८वीं सदी) और रिचार्ड्स (२०वीं सदी) तक मिलता है। इनके निष्कर्षों का उपयोग रोमांटिक तथा क्लासिकल शास्त्रवादियों, दोनों ने ही अपने-अपने अनुसार किया। इन्होंने कला और भाषण-कला के चरम-मूल्य **उदात्तता** (सब्लिमिटी) और (उसमें निहित) **भावोन्मेष** (एक्सटेसी) माने।

लांजाइनस के अनुदानों और महत्त्वों को एक गुंफित अनुच्छेद में रखने पर हम पाते हैं कि उन्होंने प्लेटो-अरस्तू और होरेस के बाद सबसे पहले कवि-आत्मा की एक भावाकुल छानबीन तथा मंथन किया; दूसरे, होरेस ने जिस शब्द-चयन—सुष्ठु शब्द, नये शब्द, उचित शब्द आदि—और स्वच्छ विन्यास की ओर केवल इशारा किया था, लांजाइनस ने उसका वक्रोक्तिमूलक विस्तार किया; तीसरे, उन्होंने होरेस कृत [सौंदर्य+आकर्षण] की सतही विवेचना से आगे **उदात्त** की उच्चतर भूमि की कल्पना की; चौथे, होरेस कृत सजग विवेक-शक्ति का 'सौंदर्यात्मक रूपांतर' करके ज्ञानदशा का असाधारणत्व कल्पित किया; पांचवें, होरेस के साधारणत्व के स्थान पर असाधारणत्व की प्रतिष्ठा की; छठे, होरेस कृत 'त्रुटियों' और प्लेटो कृत 'अपूर्णताओं' की धारणाओं का गंभीर प्रसारण करके एक मौलिक सिद्धांत पेश किया; सातवें, त्रुटियों के समकक्ष काव्य में **असौंदर्य-तत्त्व** (जिसका प्लोटिनस ने विकास भी किया) का आभास दिया; आठवें, मॉडल की धारणा का परित्याग करके उसके स्थान पर अनुकृति के रोमन सिद्धांत (न कि यूनानी) की स्थापना की; नवें, उदात्त-विवेचन में उसके पांच उद्‌गम स्रोतों को खोजा और अंत में प्लेटो-अरस्तू के प्रकृति एवं कला संबंधों को दार्शनिक पूर्वाग्रहों के बजाय उस यथार्थ दृष्टि से जांचा-परखा जिसकी परिधि में असाधारणत्व भी शामिल हो। इस दृष्टि से बेशक लांजाइनस होरेस से बहुत ऊंचे उठ जाते हैं।

बहरहाल, उनकी सीमाएं भी हैं। यह निबंध उदात्त कला के बजाय उदात्त शैली के विवेचन से सराबोर है जिसमें उदात्त के पांच उद्‌गम-स्रोतों में से उक्ति और पदविन्यास वाले दो को ही प्रमुखता दी गई है। इस प्रकार एक नज़रिये से यह एक भाषण-कला-संबंधी निबंध बन कर रह जाता है। रोमन 'Hupsos' का अर्थ लेखन में ओजस्वी भाषा या तीव्रता का अभिधान है; 'उदात्तता' संज्ञा तो बाद में पर्याय हुई है। किंतु इस विकास के कारण भाषणकला, कथोपकथन (नाटक), वर्णनात्मकता (महाकाव्य), वेणुगीत (शब्द-योजना) में, गद्य तथा पद्य दोनों ही माध्यमों में, इसका अस्तित्व कायम हो गया। इसका प्रतिपाद्य दो भागों में है : (क) विशिष्ट सिद्धांत, जैसे 'उदात्त' का निरूपण, और (ख) सामान्य सिद्धांत,

जिसमें कला बनाम प्रकृति, प्रतिभा बनाम तकनीक आदि का निरूपण है। सम्पूर्ण निबंध का पक्षवाक्य है—"महान् शैली गंभीर और महान् विचारों वाले कलाकारों की महानता से निःसृत होती है।" स्पष्टतः "लांजाइनस रूप की परिशुद्धता और सुखद बाह्यता के बजाय आत्मा की महत्ता का पक्षपात करते हैं" (—दे० गिलबर्ट एवं कुहन, वही, पृ० १०४) और शैलीगत उदात्त को वस्तुविषयगत उदात्त के अधीन बनाते हैं (बिना दूसरे प्रकार को स्पष्ट किये)।

औदात्य के निम्नलिखित पांच उद्गम हैं—

(क) **प्रतिभा (कवि-आत्मा)-पक्ष में—**

(१) **महान्** धारणाओं की रचना की ऊर्जा (—noeseis)

(२) प्रेरणा-प्रसूत एवं **उद्दाम** भावावेग

(ख) **प्रशिक्षा (कला-कौशल)-पक्ष में—**

(३) उक्ति (अलंकार)-निर्माण (Schēmata)

(४) **आभिजात्य** पद-विन्यास (phrasis);

(ग) **प्रथम दोनों उपखंडों (और चारों उद्गमों) की परिणति—**

(५) **आवेशपूर्ण** व **शालीन** रचना-प्रबंध (Sunthesis)

इससे कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं—

(i) उदात्त तत्त्व के हेतु **असाधारण** हैं जिनमें सामान्य सीमा के बजाय चरम सीमा का धारण हुआ है जो महान्, उद्दाम, आभिजात्य, शालीन, आवेशपूर्ण शब्दों के प्रयोग प्रकट होते हैं। इस प्रकार इनमें **मात्रा-भेद** और **आकार-भेद** ही अवस्थाएं प्रदान करते हैं।

(ii) एक ओर तो **चिन्मय-चेतना** (साइके) है और दूसरी ओर प्रतिपूरक के रूप में **शारीरिक भव्यता**; अर्थात् एक ओर लेखक-प्रतिभा और श्रोता या दर्शक-मंडली का अभिभावन (ट्रांसपोर्ट) है, तो दूसरी ओर अलंकारशास्त्र की तरकीबें।

(iii) यूं भी कहा जा सकता है कि प्रतिभा-पक्ष का परिणाम तो औदात्य है जो कविता में प्रदत्त विषयवस्तु का गुण है, और प्रशिक्षा-पक्ष का परिणाम तकनीक है जो रूप का उन्नयन करता है। इस प्रकार प्रतिभा-औदात्य एवं प्रशिक्षा-तकनीक के युगलों का संबंध सहकार (कोआर्डिनेट) न होकर विकर्ण (डायोग्नल) रूप है। परिणाम यह होता है कि उदात्त का आह्लाद मूलतः कवि के लिए न होकर दर्शक या श्रोता के लिए हो जाता है।

(iv) इस असाधारण की एक सीमा भी है—केवल सात्त्विक आलोक प्रदान करने वाली चरम सीमाओं की छानबीन हुई है; सौंदर्यात्मक तामसिक घोरता वाली चरम सीमाओं को **कुरूपता** की कोटि में रख दिया गया है। अतः यहां **श्रद्धा-प्रेम** की भावना ही प्रमाण है; **घृणा विरक्ति** आदि की नहीं; और

(v) जैसा कि (i) में प्रयुक्त विशेषणों से लक्षित होता है, इसमें आद्यंत **अपरिभाषेयों की खोज** जारी मिलती है। लांजाइनस शुरू **सौंदर्य** से करते हैं; **सात्त्विक**

आश्चर्य से चमत्कृत होते हैं और पूर्णता, विराट्, अनंत, प्रबल, भव्य आदि की सदर्यौं-दीप्ति-माधुर्य-श्रद्धा की **महानताओं** में पूर्णतः ज्ञान-मुक्त हो जाते हैं। अतः उनकी औदात्य-धारणा में हृदय-मुक्त सौंदर्य से ज्ञान-मुक्त औदात्य की ओर—आश्चर्य तथा महानता की भूमियों को पार करते हुए—संचरण है।

(vi) संपूर्ण निबंध का दृष्टिकोण रोमन नैतिकता के अनुरूप उत्थानवादी ही नहीं, वरन् पुनरुत्थानवादी है; और

(vii) सम्पूर्ण निबंध प्रधानतः वाक्-प्रतिभा पर आधारित है।

प्रथम दो स्रोतों का विकास डिमोस्थनीज़ के दर्शन पर आश्रित है। उन्होंने मानव जीवन में **सौभाग्य** को प्रथम महत्त्व का तथा **सद्बुद्धि** को द्वितीय महत्त्व का माना है। सौभाग्य को प्रमुखता देते हुए भी सद्बुद्धि को परस्पर पूरक व प्रतिपूरक माना है। लांजाइनस ने भी काव्य-भाषा-क्षेत्र में **प्रकृति** को प्रथम महत्त्व का तथा **कला** को द्वितीय महत्त्व का माना है यद्यपि दोनों परस्पर पूरक-प्रतिपूरक भी हैं। प्रकृति (तु० सौभाग्य) का अंग और उससे व्युत्पन्न प्रतिभा का परिणाम **उदात्त** है तथा कला (तु० सद्बुद्धि) से व्युत्पन्न प्रशिक्षा का परिणाम **तकनीक** है। पहली प्रकृतिदत्त है; दूसरी कला-संप्राप्य। इस प्रकार लांजाइनस प्रतिभा की प्रभुता मंजूर करते हैं। और यह भी स्थापना करते हैं कि मनुष्य-निर्मित कला मनुष्य-निर्मात्री प्रकृति के समकक्ष उसी प्रकार नहीं हो सकती है जिस प्रकार सौभाग्य के समकक्ष सद्बुद्धि। दोनों के जगत और क्षेत्र भी अलग-अलग तथा विभिन्न हैं : प्रकृति सर्वोपरि है और कला उस से नीची; प्रकृति में **महत्ता की प्रशंसा** होती है और कला में **कृति की प्रशंसा** होती है। इस प्रकार जो प्रतिभा प्रकृति के सौंदर्य, अनंत, विराट् को ग्रहण करेगी, अर्थात् प्रकृति से जितनी अधिक सहायता लेगी, अपने निर्माण (कृति) में उतनी ही अधिक पूर्ण या भव्य या उदात्त होगी। यदि कलाकृति प्रकृति की तरह ही प्रतीत होने लगे तो वह उच्च औदात्य-मूल्य से अभिषेक कर लेती है। यदि प्रकृति भी अपने तल में कला को अलक्षित रूप से रखती है तो वह भी सफल होती है। अतः कला सीमित होते हुए भी प्रकृतिपूरक है। जब कला ही अनंत-शुद्ध-महान्—प्रकृति प्रतीत होने लगे तब औदात्य प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके लिए प्रतिभा-प्रशिक्षा दोनों का संयोग चाहिए। इस प्रकार लांजाइनस **प्रकृति और कला के अंतर्संबंधों के सिद्धांत** में न तो प्लेटो के आदर्श जगत की अनुकृति को स्वीकार करते हैं और न होरेस की तरह ग्रीक क्लासिकल मॉडलों को पूर्ण मानते हैं; वरन् अनंत सौंदर्य, विराट् विस्तार, पूर्ण गुणों से संयुक्त प्रकृति (ब्रह्मांड तथा मानस जगत, दोनों) ही उनके अंतिम श्रेय हैं क्योंकि प्रकृति और मानव की कांत तथा आत्म-मैत्री होने से प्रकृति हमारे अभ्यंतर में भव्यता के प्रति सतत अनुराग को आरोपित करती है अर्थात् प्रकृति और मानव-अंतर **एक** स्वर-द्विशाख (ट्यूनिंग फार्क) की तरह हैं जिनमें एकतान अनुनाद होता है। इस प्रकार मानव-मन में प्रकृत्या महत्ता आ जाती है; कवि और वक्ता की प्रतिभा एक 'महान् आत्मा' (रोमी नैतिकता का आदर्शवादी समावेश) भी हो जाती है और वह लघु-क्षुद्र-हीन से मुक्त होकर महान्-गंभीर-गहन को ग्रहण करती है। इस प्रकार इस क्रम से

सामान्य जगत और सामान्य मानव अनुराग द्वारा भावावेग की ओर उन्मुख होता है, आश्चर्य (असाधारणत्व) द्वारा अनंत ज्ञान की ओर बढ़ता है तथा आनंद में लयता और साधारणत्व प्राप्त कर लेता है। इस ज्ञान-दशा में पहुंचने पर संपूर्ण विश्व मानव-मस्तिष्क के चिंतन के लिए पर्याप्त नहीं मालूम होता और हमारी कल्पना दिगंत-यात्री हो जाती है। यह भावोन्मेषशालिनी यात्रा स्वयं ही विस्मय-विमूढ़ कर देने वाली है जब हम लौकिक (उपयोगी तथा आवश्यक) की साधारणता से आगे उसके असाधारणत्व को प्रकृति और मानव-मन में खोज लेते हैं। सारांश यह है कि लांजाइनस के 'प्रकृति और कला में अंतर्संबंधों **के सिद्धांत**' के उपसाध्यों के रूप में '**अनंतता** का सिद्धांत' तथा 'विस्मयकारी असाधारण सिद्धांत' का एक खंड संलग्न हो जाता है। इसीलिए हम छोटी-छोटी धाराएं और छोटी-छोटी दीया-बाती के बजाय नील नदी, डेन्यूब नदी, राइन नदी या विशाल महासागर से अभिभूत होते हैं। यहाँ पुनः लांजाइनस भ्रांत हुए हैं—वे आकार के आसाधारणत्व में खो जाते हैं। अनंतता दूरी के अलावा सूक्ष्मता, गहराई और मौलिकता की भी हो सकती है। उदात्त भी सापेक्षिक है—एक बड़ी लकीर के सामने उससे बड़ी रेखा लकीर को छोटा बना देती है और एक छोटी लकीर के सामने उससे छोटी रेखा लकीर को बड़ा बना देती है। रूपजगत में तो प्रकृति को अनंतता का आधार मान सकते हैं किंतु एक छोटी-सी सीप में अद्भुत प्रकृति की डिज़ाइन और रंग-संयोजन, या अत्यंत भयंकर डाकू का भी आग में कूदकर दुधमुंहे बच्चे को बचाना भी उदात्त होगा क्योंकि उसका मानदंड और परिवेश बदल जाएगा। यदि अपार शक्ति के प्रवाह की बात है तो वह बाढ़ बनकर भी फैल सकती है तथा एक लघु जलकूप में भी धारा पाताल तक जा सकती है। अत: प्रश्न केंद्रीकरण का भी है। उदात्त के सापेक्ष्य का दूसरा कारण संबंध है; उदाहरण, हनुमान राम-सेना के लिए **उदात्त** हैं लेकिन रावण-सेना के लिए **भीषण**। अर्थात् हनुमान के उदात्त (अतिशयता) ने रावण-सेना में भीषणता उत्पन्न की; किंतु पुनः उस पक्ष के विभीषण के मन में उदात्त ही उत्पन्न किया। अतः इसका समाधान होगा : असाधारण से हमारा सापेक्ष सामंजस्य। सारांश यह है कि औदात्य भीषाण-भव्यता का द्वैत संतुलन है और दोनों तरफ है—लघु से विराट् में, तथा विराट् से लघु में भी (: देवों को मनुष्य तथा मनुष्यों को देव बनाने में; और राक्षसों को मनुष्य तथा मनुष्य को राक्षस बनाने में)। एक में उदात्त है; दूसरे में उदात्त अथवा भीषण जैसा भी पक्षधर हो। इसलिए हमारे अनुसार यह निरूपण अपूर्ण है। इस में लोकोदात्त पर ही दृष्टि रखी गई है; सौंदर्योदात्त के भीषण को छोड़-सा दिया गया है—केवल अनुराग को ग्रहण किया गया है।

लेकिन 'प्रकृति और कला के अंतर्संबंध सिद्धांत' का कालांतर में उपयोग क्लासिकल शास्त्रवादियों तथा रोमांटिकों, दोनों ने ही किया; दोनों ने ही लांजाइनस को अपने-अपने दावों को मजबूत बनाने के लिए उद्धृत किया। क्लासिकलवादियों ने प्रकृति को आदर्श तथा आदर्श नियामक मानकर नियम-पालन जरूरी ठहराया तथा

रोमांटिकों ने प्रकृति को आदर्श तथा नियम-मुक्त मानकर प्रतिभा को नियम-पालन से परे करार दिया।

इस सिद्धांत के अगले सूत्र के रूप में ही पहले दो उद्‌गम-स्रोतों को समझने-जांचने में सुविधा होगी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि लांजाइनस ने (प्रकृति-दत्त) प्रतिभा को प्राथमिकता दी है, प्लेटो के बाद कवि-आत्मा (प्रतिभा) में अभि-रुचि दिखाई है और कवि-प्रेरणा के प्रति रोमांटिक (यथार्थ से काफ़ी कटकर) जिज्ञासा का भी प्रदर्शन किया है। यदि (१) और (२) उद्‌गम-स्रोतों के सभी अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों को निथार लें, तो क्रमशः **धारणा** और **भावावेग** के अवक्षेप बच रहते हैं जिनका मणिभिकरण पुनः क्रमशः **गंभीरता** और **गहनता** में होता है। अस्तु !

यहां भी उनकी सीमाएं हैं। प्रथम, वे अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता तथा विशिष्टता को औदात्य मानते हैं। दूसरे, उसकी पहचान वह प्रभाव मानते हैं जो पाठक या श्रोता को भावावेश (एक्सटैसी) की स्थिति में पहुँचा देता है। इस प्रकार यह अनुशीलन श्रोता-पाठक-प्रधान तथा प्रभाव-मूलक है; सृष्टि के मूल उत्स अर्थात् भाव-धारण का ध्यान यहां नहीं आ पाता। कवि या वक्ता-पक्ष में इसे महान् आत्मा की प्रतिध्वनि (=महान् धारणाएँ) मात्र कहकर संतोष कर लिया गया है (इसके मूल दर्शन को हम प्रकृति और कला के अंतर्संबंध-सिद्धांत में स्पष्ट कर चुके हैं)। आच्छादित संदर्भों में यह भी कहा गया है कि उदात्तता कवि या वक्ता के **सम्पूर्ण** शक्ति वैभव को **एक ही बार** में दीप्त कर देती है और इसकी अभिव्यक्ति ज्ञान के निर्देशन बिना नहीं होती। इस प्रकार संपूर्णता के साथ व्यवस्था और तात्कालिकता के साथ स्थिरता का द्वैत-समंजस करके लांजाइनस संतुलन या व्यापक अर्थों में औचित्य पर टिक जाते हैं। संपूर्णता-संतुलन-तात्कालिकता ही मानो उदात्ताभिव्यक्ति के तत्त्व हो जाते हैं; श्रोताओं पर प्रबल दुर्निवार और समग्र प्रभाव ही उदात्त-प्रयोजन हो जाता है; तथा महान् धारणाएं वक्ष-कवच के रूप में इसे क्षुद्र या हीन भावों (?) से मुक्त करती हैं जो ज्ञान-भूमि में प्रतिष्ठा का हेतु भी हैं तथा आवेश अथवा अतिरेक में इसकी स्थिति इसकी असामान्य दशा का बोध कराती है। एक सूक्ष्म प्रतिपत्ति पर और भी ध्यान जाना चाहिए : तात्कालिकता और संपूर्णता का द्रुत मेल। मानो द्रुति ही विस्मय, विस्तार, असामान्यता और गहनता का विभावन करती है। जिस प्रकार बिजली की कौंध उपयुक्त क्षण में व क्षण-भर में संपूर्ण मेघमाला को दीप्त कर देती है, प्रत्येक व समस्त मेघमंडल को उद्‌घाटित एवं छिन्न-भिन्न कर देती है उसी प्रकार औदात्य महान् धारणाओं के उपयुक्त क्षण में एकबारगी कौंधता है तथा एक ओर तो समस्त विषयवस्तु को विच्छिन्न अर्थात् प्रत्येक लघु अंश को उद्‌घाटित करता है और दूसरी ओर प्रत्येक श्रोता या पाठक को अपने संप्रेषण (ट्रांसपोर्ट) से दीप्त कर देता है। इस प्रकार लांजाइनस भाषागत उत्कृष्टता तथा गद्य के महान् लेखकों को उदात्त-भूमि में पहला दर्जा हासिल कराते हैं और भाषागत उदात्त को ही अमरता विधायक मान बैठते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि भाषागत उदात्तता से उनका

तात्पर्य कलाकृति का रूप रहा होगा किंतु यह स्वीकार करना कठिन है कि ज्ञान-निर्देशन और आवेश की स्थिति का सह-अस्तित्व कायम रहता है। उदात्त का मूल तो आवेश में है किन्तु बाद में चमत्कारद्रवित और तादात्म्यपूर्ण होकर यह यदि पार्थक्य नहीं तो कम से कम तटस्थता अवश्य धारण किये रहता है क्योंकि शुद्ध असाधारणत्व पार्थक्य का निमित्त है लेकिन असाधारणत्व तथा मानव-प्रकृति समग्रता उन्नीत करने की प्रेरणा है। इसीलिए लांजाइनस ने कहा है महान् धारणाओं के रसज्ञों की आत्मा जैसे आप **ऊपर** उठकर **उच्चाकाश** में विचरण करने लगती है तथा हर्षोल्लास से **परिपूर्ण** हो उठती है। शंका यही होती है कि असाधारण के माध्यम से लांजाइनस 'पूर्ण' (पर्फेक्ट-teleios) तो नहीं चाहते हैं? उनके रूपकों ने भी अपरिभाषेय को स्पष्ट नहीं किया। दूसरे, स्रोत (२) से भी इतना ही स्पष्ट होता है कि महान् आत्माओं के विचारों तथा रागों का श्रोताओं पर संप्रेषण होता है जिससे वे अपने मानवौचित्य या साधारणत्व से ऊपर उठकर महान् धारणाओं का धारण करते हैं। यही रूपांतर भावावेग (एक्सटैसी) है जो मात्र भावावेश न होकर समुचित (=औचित्य-मूल्य) भी है। अर्थात् सौंदर्य-तत्त्व (aesthetics) में तो शोक, भय, जुगुप्सा—जो साधारण मानवों की वृत्तियां भी हैं—आदि का विभावन हो सकता है किंतु महान् आत्माओं की महान् धारणाओं के वशीकरण के कारण उनके बजाय सौंदर्य-माधुर्य-दीप्ति-आश्चर्य-हर्ष-गर्व आदि ही हीनत्व एवं लघुता से परे हैं। इस प्रकार लांजाइनस **औदात्य की सौंदर्यात्मक धारणा** के स्थान पर उसकी नैतिक धारणा ही पेश कर पाते हैं। अरस्तू ने तो रूपांतर (=रेचन—हमने जिसको परिवर्धित करके निष्पत्तिमूलक के बजाय अभिव्यक्तिमूलक बताया है) के द्वारा यह समस्या सुलझाई है किंतु लांजाइनस ने (अतटस्थता की संभावनाओं का निषेध करने के कारण) भावावेश या आह्लाद के द्वारा औदात्य के स्वरूप को एकांगी और प्रवृत्तिमूलक कर दिया है। वशीकरण-प्रभाव और महान् धारणाओं के प्रभाव के कारण लांजाइनस द्वारा उदात्त वस्तुओं के मस्तिष्क पर प्रभाव की व्यंजना एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। किंतु यहां भी वे सच्चे प्रभाव और सुंदर प्रभाव की नींव के बीच अंतर नहीं कर पाते। हमें लगता है कि वे सुंदर प्रभाव को भावुकता के तथा सच्चे प्रभाव को गंभीरतापूर्ण भावावेग के साथ संबद्ध करके उदात्त को सुंदर का चरमोत्कर्ष मानने की अपेक्षा नैतिकता का सच्चा निदेशन मान बैठते हैं यद्यपि सुंदर प्रभाव भी / और (कभी-कभी) ही सच्चा प्रभाव हो सकता है। अतः एक ओर तो वे अरस्तू के रेचन-सिद्धांत को भुला-बिसरा देते हैं तो दूसरी ओर सौंदर्य-औदात्य के बीच अंतर मान लेते हैं। किंतु औदात्य के लक्ष्य में वे **नैतिक उन्नयन** और परिणाम में **सौंदर्यात्मक आनंद** का मेल करा देते हैं।

प्रधानतः इन्हीं दोनों स्रोतों से सन्निद्ध लांजाइनस के एक दूसरे सिद्धांत का भी संकेत मिलता है—'अनुकृति का रोमन सिद्धांत'। इसमें अरस्तू की रेचन और अनुकृति-संबंधी धारणाओं से फर्क है; होरेस कृत मॉडेल के नकलवाद से अलगाव है और अनंतता के उपसाध्य के बाद उदात्त का दूसरा मार्ग गोचर है। इस रोमन अनुकृति-

सिद्धांत में पूर्ववर्ती **महान् कृतियों** के शास्त्रीय अनुकरण (जैसा कि, होरेस का मंतव्य था और जो गौरवपूर्ण चोरी के समकक्ष भी आसीन हो सकता है) के स्थान पर पूर्ववर्ती **महाकवियों** और लेखकों के अनुकरण पर आग्रह है। पूर्ववर्ती और विशेषकर ग्रीकमुग्ध, तो दोनों ही हैं लेकिन लांजाइनस कृति के बजाय स्वयं कृतिकारों का ही विभ्रम एवं साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार कृतिकार की भावात्मक उपस्थिति में कवि या श्रोता महान् आत्माओं का अनुकरण और अनुसरण करते हुए उनकी आत्मा के अमरत्व और प्रेरणा के जादू से अभिभूत हो उठते हैं। ऐसी दशा में वे महान् धारणाओं (प्रथम उपपत्ति) का भी ग्रहण करते हैं, भावावेग में अंतर्व्याप्त रहते हैं और आत्मा के रहस्यात्मक आवागमन से एकात्म हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ही श्रोता जो सुनते हैं, पाठक जो पढ़ते हैं वह उनकी अपनी कृति होने का आभास देती है। इसीलिए उदात्त-मार्ग (कृतिकार की भावात्मक देश-काल-निरपेक्ष उपस्थिति) में सौंदर्य-दीप्ति, गर्व, हर्ष, श्रद्धा आदि का ही समावेश हुआ है। यही नहीं, इस कोटि के अनुकरण (+अनुसरण) के साथ श्रद्धा से संलग्न **स्पर्धा** भी जुड़कर उदात्त-मार्ग को अधिकाधिक प्रशस्त करती है जो एक ओर तो मॉडेल की नकल से कवि-आत्मा की मौलिक कल्पना की रक्षा करती है, दूसरी ओर कवि या श्रोता को निश्चित धरातलों से नीचे उतरने नहीं देती वरन् औदात्य की ऊंचाइयों पर ले जाती है, तीसरी ओर बार-बार कसौटी पर कसी जाने की चुनौती देती है और चौथी ओर महान् कवियों को श्रद्धालु बनाने के साथ-साथ मित्र (समकक्ष) होने को भी अग्रसर करती है। एक तथ्य का वर्णन करते समय कवि या श्रोता द्वारा यह कल्पना करना, कि होमर, प्लेटो, डिमोस्थनीज़ आदि इस बात को किस प्रकार उदात्त रूप प्रदान करते—स्वयं में अनुकरण और स्पर्धा की पूरकता को गूंथ देता है। इस प्रकार लांजाइनस के सिद्धांत में कोरी नकल या गर्वित चोरी की नहीं, भाव-बिंब-ग्रहण की पैरवी के स्वर मुखर हैं। और क्योंकि महान् कलाकार सब व्यक्तियों को सब कालों में आनंद देने वाले और ऊंचे उठाने वाले माने गए हैं, इसलिए औदात्य भी **सब** व्यक्तियों को **सर्वदा** आनंद देने वाला माना गया। इसलिए भव्य और उदात्त कृति की भव्यता और सौंदर्य के मूल में महान् कवियों-वक्ताओं की विभ्रमयुक्त उपस्थिति है। लेकिन कलाकार जब स्वतंत्र रूप से अपनी ही प्रेरणा से उदात्त की अभिव्यक्ति करता है तब लांजाइनस का महान् धारणाओं—प्रबल भावावेशों—वाला द्विविध उद्गम लुप्त-सा होता लगता है। अमर आत्माओं का मेल ही उदात्त की स्मृति की प्रबलता और कालविजय, प्रत्येक कसौटी में खरी उतरने का विवेक और प्रभाव की निश्चयता प्रदान करता है। यहां भी हम देखते हैं कि **आवेग और अमरता** तो सौंदर्य के भी गुण हैं और औदात्य के भी, लेकिन **विवेक** (और तज्जन्य केवल एकपक्षीय शुभ) इसे एकाधिक तथा अद्वितीय बना देता है। इसीलिए महान् धारणाओं से संयुक्त और अनुकृति की श्रद्धा-स्पर्धा से दीप्त उदात्त में केवल बड़ापन है, घृणोत्पादन (?—कलात्मक जुगुप्सा, भय, शोक भी ?) नहीं।

इस अनुकरण में कवि-प्रेरणा भी घुली-मिली है। फलतः इसमें प्राचीन महान्

प्रतिभाओं की वाग्धारा का धारण कर स्फुरण (इंस्पीरेशन) तथा सर्जनात्मक बिंब-विधान दोनों शामिल हैं। यह कल्पना स्फुरण और बिंब-विधान का समावेश करती है; गुरु एवं उदात्त ही होती है; कोमलता तथा भावुकतायुक्त नहीं और वाक्शक्ति को उन्मेष प्रदान करती है। इसमें सौंदर्यविधान के समान ही उदात्त-मार्ग में भी तीव्र बिंब-विधान-क्षमता होती है। किंतु भाषण-कला में तो यह स्पष्ट, यथार्थता और सत्य की सर्वोत्तमता से पूर्ण होती है और काव्य-कला में स्पष्टता से अधिक आश्चर्यान्वित करने वाली और बंधन-मुक्त होती है।

अतिरेक और आवेश में असंतुलन तथा विस्तार उत्पन्न हो जाने की संभावना है, और असंतुलन-विस्तार से **भावाडंबर** उत्पन्न हो जाता है। लांजाइनस ने भावाडंबर को महान् से विपरीत कुरूपता और अनौचित्य माना है। यह औदात्य का एक दोष है। अतएव इससे बचना-बचाना चाहिए। जहां आवेश की जरूरत न हो, वहां खोखले आवेग का प्रदर्शन; और जहां संयम की अपेक्षा हो वहां असंयम का प्रदर्शन हो—तो वहां भावाडंबर की स्थिति होती है। इस दशा में श्रोता या पाठक कला की सबसे बड़ी शक्ति अर्थात् अभिभावन या प्रभाव से ही वंचित रहते हैं। भावाडंबर प्रकृतिजन्य न होकर सर्वथा वैयक्तिक (महान् धारणाओं से असंपृक्त) और क्लांतिकर (गर्व-हर्ष से शून्य) होता है। पहले दोनों आडंबर तो सौंदर्य के भी होते हैं और इनका विवेक करने में अक्षम्य कवि महान् क्या निम्न भी नहीं हो सकता। किंतु क्या महान् अनुकरण से असंपृक्त या सौंदर्यात्मक शोषण-भयादि प्रदर्शित-व्यंजित करने वाली कृति ही भावाडंबर से पूर्ण हो जाती है? वस्तुतः यहां पर भी लांजाइनस की सीमा लक्षित होती है। हमारा मंतव्य यही स्पष्ट करना है कि भावाडंबर और औदात्य प्रकृतिजन्य तथा वैयक्तिक प्रतिभा-सामर्थ्य में, और गर्व-हर्ष-सौंदर्य एवं भय-शोक-करुणा की स्थितियों में समान रूप से कम या ज़्यादा, पूर्ण या अपूर्ण उपस्थित या अनुपस्थित हो सकता है।

इसके उपरांत औदात्य के शेष—(३), (४), (५)—उद्गम-स्रोतों के आधार पर उदात्त-मार्ग की तीसरी दिशा का अध्ययन करेंगे।

उदात्त-अभिव्यक्ति-प्रसंग में कला-संप्राप्य औदात्य पर लांजाइनस ने जो कुछ निष्कर्ष दिए हैं पहले उन्हें जान लेना चाहिए।

पहला निष्कर्ष अलंकारों (३) के बाबत है। उदात्त में प्रयुक्त अलंकार में तीन भाव होते हैं—(i) **दीप्ति-भाव** (आइडिया आफ ग्लो) जहां एक प्रकार मुकुर-बिंब-नियम के अनुसार ये औदात्य को अवलंब प्रदान करते हैं और बदले में खुद भी शक्ति धारण करते हैं; (ii) **विपर्यय-भाव** (आइडिया आफ इल्यूज़न) जहां अलंकार रहें भी, किंतु किसी को भी बोध न हो कि यहां अलंकार हैं अर्थात् प्रभाव-दृश्य-शब्द-साम्य हो, और, (iii) **अनुकूल वैपरीत्य-भाव** (आइडिया आफ कंट्रास्ट) जहां उदात्त का सर्वव्यापी ऐश्वर्य (तु० की० बिजली की कौंध के रूपक से) प्रवाह आलंकारिक चमत्कार (अर्थात् सौंदर्य-तत्त्व की भावुकता) को दृष्टि-ओझल कर अपने में तन्मय कर ले जहां गंभीरता-मिश्रित भावावेग की प्रधानता हो। जिस प्रकार किसी

तूलिका-चित्र में प्रकाश-अंधकार-योजना द्वारा प्रकाश को अधिक उभारा जाता है उसी प्रकार औदात्य के प्रकाश को सहवर्ती अलंकार की मंद आभा उभारती है यद्यपि प्रकाश-अंधकार की तरह औदात्य-अलंकार भी परस्पर पूरक हैं। इस प्रकार अलंकार, जिन्हें लांजाइनस ने उक्तियों के अंतर्गत पंजीकृत किया है, सर्वदा औदात्य के साथ जोड़े जाने चाहिए; इन्हें मात्र साधन माना जाना चाहिए और इनके प्रयोग में दीप्ति-विपर्यय-अनुकूल वैपरीत्य, इन तीनों का ध्यान रखा जाना चाहिए जो अनुपात और संगति का भी निमित्त हो सकता है।

अन्य निष्कर्ष पद-रचना (४) से संबंधित है जिनके लिए कुछ पक्ष-वाक्य हैं; जैसे औदात्य के लिए भाषा की छिन्न-भिन्नता और अस्तव्यस्त प्रवाह से घातक कोई दूसरी वस्तु नहीं है; एक-दूसरे से सटे हुए छोटे-छोटे अक्षरों में विभक्त शब्द भी (किंतु गरिमायुक्त समास नहीं) औदात्य-शून्य होते हैं; उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता भी औदात्य का ह्रास कर देती है क्योंकि बहुत संकीर्ण घेरे में विचार ठूंसने से भी गरिमा नष्ट हो जाती है; तथा मानव-शरीर की रचना में विभिन्न अंगों के निवेश की भांति औदात्य में भी उक्ति और पद-रचना को समंजस होना चाहिए। यह पदावली के परस्पर सह-विन्यास के द्वारा प्राप्त होता है। इन्हीं पर आधारित कुछ विन्यासों और अलंकारों की चर्चा लांजाइनस ने की है जो प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से परिगणना-सज्जा से अधिक महत्त्व नहीं रखते क्योंकि वे सौंदर्य-तत्त्व पर भी ज्यों-के-त्यों लागू किये जा सकते हैं। फिर भी हम उनका संक्षिप्त परिचय देंगे ही, यद्यपि वे परिपाटीबद्ध हैं।

प्रश्नोत्तर की सत्वर परंपरा में शब्दों की पीछे छिपी हुई उत्तेजना और अपने ही आक्षेपों के निराकरण का कौशल दृष्टिगोचर होता है। इसमें श्रोताओं की तर्क-शक्ति भुलावे में पड़ जाती है। अधूरे वाक्यों द्वारा या शब्द-संचयन द्वारा एक ही भावमुद्रा या कार्य को तीव्र किया जाता है (जैसे, घातक ने मुद्रा से, मुट्ठी से, कंठ-स्वर से प्रहार किया)। शब्द-समूह के व्यवस्थित क्रम में व्यतिक्रम या विपर्यय द्वारा प्रकृत्या सहज संयुक्त एवं अविभाज्य वस्तुओं को साहस व कौशल के साथ अलग-अलग किया जाता है। इसमें प्रचंड वेग का या अपूर्वकल्पित भाषण का प्रभाव पड़ता है। काल द्वारा बीती बातों को वर्तमान-सा व्यक्त करके दिवा-स्वप्निलता की स्थिति लाई जाती है। वचन द्वारा एकवचन को बहुवचन तथा उसका उल्टा सिद्ध किया जाता है (जैसे, गंधर्व-समूह गा उठा, सारा शहर सो गया)। पुरुष की परंपरा में प्रत्यक्ष व्यक्तिगत संबोधन द्वारा श्रोता जैसे स्वयं घटनास्थल पर मौजूद हो जाता है (जैसे, 'मेघदूत')। पर्यायोक्ति में सामान्य उक्ति का मेल सौंदर्यवर्धन करता है और अतिशयोक्ति—सीमौचित्य धारण कर—उदात्त का चमत्कार उत्पन्न करती है। इसी प्रकार सार भी क्रमशः वर्ण्यवस्तु की उत्तरोत्तर वृद्धि की संभावनाओं से पूर्ण होता है। इन सभी प्रयोगों में अनुपात और संतुलन जरूरी शर्तें हैं। स्वयं लांजाइनस ने कहा है कि मामूली बातों के लिए भव्य और गुरु शब्दों का आरोप एक छोटे बच्चे के मुख पर त्रासदी का मुखौटा लगा देने के समान है; या अभिव्यक्ति की

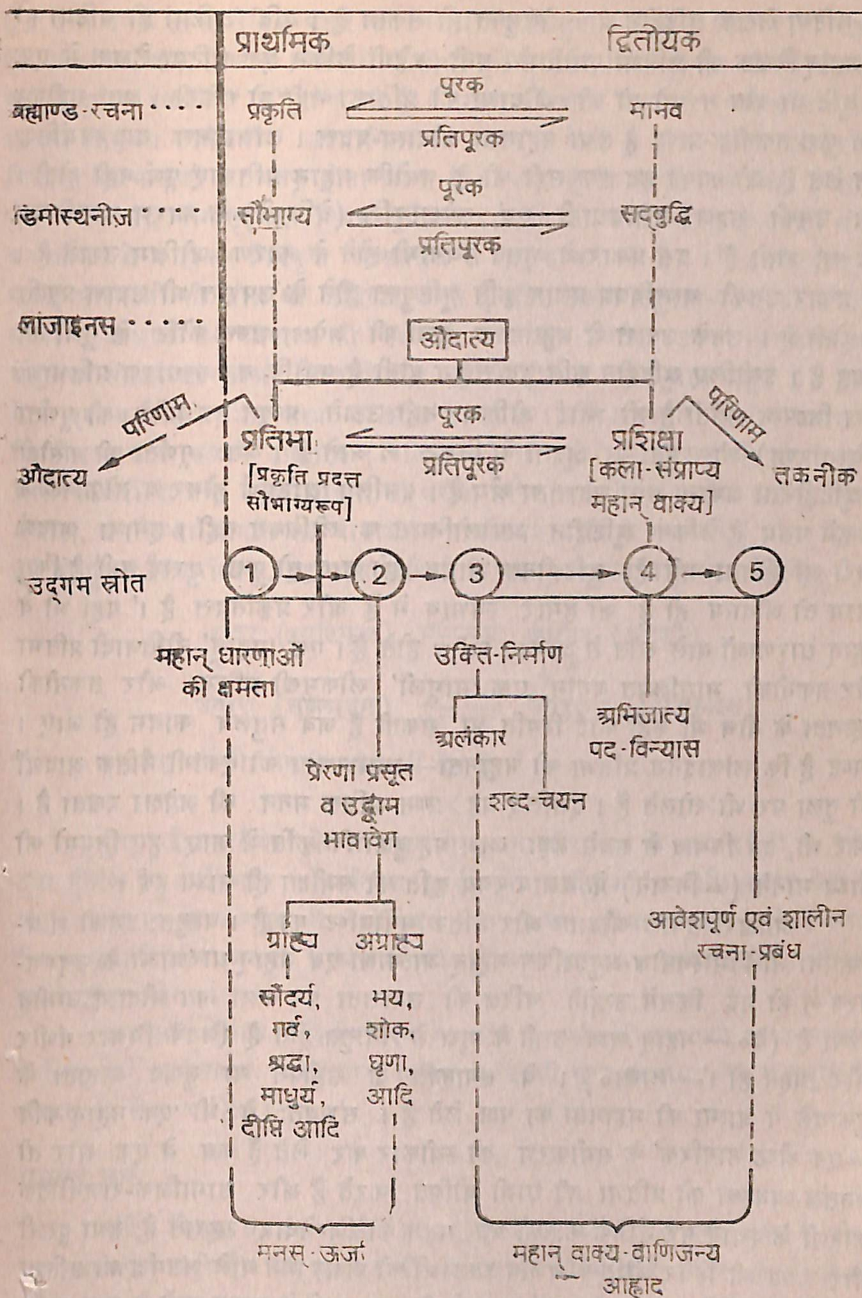
क्षुद्रता से औदात्य में क्षति होती है। उपयुक्त शब्द और भव्य विन्यास महत्ता, गुरुत्व, सौंदर्य, प्रवाह, शक्ति और अधिकार लाने के साथ-साथ श्रोताओं को आश्चर्यजनक रीति से आर्कर्षित करते हैं। औचित्य के आधार पर तो उन्होंने ग्रामीण मुहावरों और शब्दों तक की अभिव्यंजना-शक्ति कुबूल की है। इस प्रकार उक्ति-चयन तथा विस्तारणा—विस्तार और प्रचुरता—भी औदात्य के साधन हैं। यहां भी भावाडंबर की तरह औदात्य के विपरीत वागाडंबर या बचकानेपन (जिसे डॉ० नगेन्द्र ने 'बालेयता' की संज्ञा दी है) का दोष आ जाता है यदि चयन-अनुपात-संतुलन में से कोई या कई भंग हों। लांजाइनस के अनुसार यह दोष असामान्यता, विस्तार व आकर्षण अर्थात् नवीनता की झूठी खोज के अविवेकपूर्ण पागलपन से आता है। यह एक शोथ शरीर के समान है जिसमें झूठी शोभा और कृत्रिमता होती है और जो पांडित्यपूर्ण तुच्छता से शुरू होकर निष्प्राण वाचालता में समाप्त होता है (उनके अनुसार आंखों के लिए 'लज्जावान कुमारी' का लाक्षणिक प्रयोग वागाडंबर ही है)।

ये सभी स्रोत तथा मार्ग मिलकर आवेशपूर्ण एवं शालीन रचना-प्रबंध (कंपोज़ीशन) की निष्पत्ति करते हैं जहां समंजस (हार्मनी या सन्थीसिस) की परिणति है। इस व्यवस्था द्वारा ही संपूर्ण औदात्य में आद्यंत एक ताल (रिद्म) आ जाता है जहां व्यवस्था, सामंजस्य, अनुपात और आवेशों का द्वंद्वात्मक समतोलन (साइनाएस्थेसिस) होता है [ऑग्डेन एवं रिचार्ड्स ने अपने समतोलन-सिद्धांत की प्रेरणा यहीं से ग्रहण की होगी]। यहां पहुंचकर विभिन्न अवयव परस्पर ग्रंथित और गुंफित होकर एकान्विति प्राप्त करते हैं जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न-धर्मा अंग मिलकर ही एक संपूर्ण शरीर की रचना करते हैं। इस रचना-प्रबंध की लय काव्यात्मक या संगीतात्मक न होकर एकान्विति का परिणाम है। इसके लिए ज़रूरी नहीं है कि अत्यधिक लयपूर्ण शैली हो, अपितु भावपूर्ण शैली भी वांछित ताल प्रदान कर सकती है। औदात्य की यह ताल कर्ण-संगीत के स्थान पर आत्मसंगीत की सृष्टि करती है और राग-रागिनी जागृत करने के बजाय भावावेग जागृत करती है। अतः एकान्वित संरचना तथा **ताल** औदात्य के दो साध्य-मूल्य हैं। ऐसा औदात्य हित का धारण तो करेगा ही, **उपयोगिता** का भी परोक्ष वहन करेगा, क्योंकि इन्हें धारण करने वाले कोरमकोर सांसारिक प्राकृत जन ही हैं। सारांश यह है कि गरिमा आदर तथा विस्मय को जन्म देती है; उपयोगिता और हित मानव के सांस्कृतिक-सामाजिक विकास की अद्वितीय क्षमताओं का उद्घाटन करते हैं।

इन पांचों उद्गम-स्रोतों तथा तीनों उदात्त मार्गों के लिए एक उत्तम तालिका पेश की जा सकती है जिसमें ब्रह्मांड-रचना-धारणा से लेकर डिमोस्थनीज़ के माध्यम से छनकर आई हुई लांजाइनस की उदात्त-संबंधी धारणाओं का सार मिल जाता है, जैसाकि पृष्ठ १०१ पर दी गई तालिका में दर्शाया गया है।

अंततः लांजाइनस के दो सिद्धांतों का विवेचन बाकी रह जाता है।

'त्रुटिहीन सफलता बनाम त्रुटियुक्त महत्ता' के विवाद द्वारा उन्होंने शास्त्रीय नियमों के आधार पर जकड़ी हुई आलोचना को ढहा दिया। औदात्य-प्रतिष्ठा के

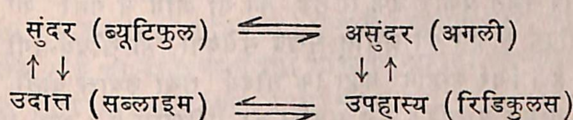


बाद यह उनकी दूसरी क्रांतिकारी उपलब्धि है। इस समस्या का मूल है : 'क्या सद्दीपन तथा औदात्य सहचर हैं ?' एक महान् लेखक में बेहद त्रुटियाँ या दोष हो सकते हैं;

एक घटिया लेखक त्रुटिहीन या दोषमुक्त हो सकता है। यदि त्रुटियां ही घटिया हों तो महान् लेखक की प्रतिभा ज्योतिर्मय बनी रहेगी लेकिन एक घटिया लेखक में एक भी त्रुटि या दोष न हो तो भी औदात्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी। अतः सहीपन बहुत कुछ तकनीक-प्राप्य है तथा महानता औदात्य-प्रदत्त। लांजाइनस यह स्वयंसिद्ध मान लेते हैं, जो काफी हद तक सही भी है, क्योंकि महान् प्रतिभाएं पूर्ण नहीं होतीं। अतः उनकी सहज असावधानी एवं उपेक्षावृत्ति (वेफिक्री) के कारण आकस्मिक भूलें रह जाती हैं। इस प्रकार वे नूतन पथगामी होने के कारण जोखिम उठाते हैं। इस प्रकार उनकी वस्तुविषय-प्रधान कृति त्रुटियुक्त होने के उपरांत भी उदात्त प्रकृति की होती है। उनके उदात्त में **बहुसंख्यक गुणों** की अपेक्षा **उच्च कोटि के गुणों** का आग्रह है। इसीलिए त्रुटिहीन कृति उदात्तहीन होती है क्योंकि वह साधारण प्रतिभाओं द्वारा निष्पन्न होती है जो कोई जोखिम नहीं उठाते प्रत्युत हर ब्योरे की पूर्णता (विस्तारणा) को लघुता या क्षुद्रता के निकट ले आते हैं। अतः पूर्णता की कसौटी में त्रुटिहीनता अमान्य तथा उदात्तता श्रेय है। इसलिए 'त्रुटिपूर्ण होमर व सोफ़ोक्लीज़ तो हमें पसंद हैं लेकिन त्रुटिहीन अपोलोनियस व लीसियस नहीं। हमारा आदर्श कोरी त्रुटिहीनता नहीं है; त्रुटिहीनता साधन हो जाए तो कुछ बुराई नहीं है किंतु साध्य तो औदात्य ही है जो हमारे स्वभाव में है और प्रकृतिदत्त है।' यहां भी वे महान् धारणाओं वाले स्रोत से आक्रांत प्रतीत होते हैं। एक 'महान्' नीतिवादी प्रतिभा और तकनीकी मामूलियत बनाम एक 'मामूली' लोकमुखी प्रतिभा और तकनीकी महानता के बीच भी कहीं कोई स्थिति आ सकती है जब संतुलन कायम हो जाए। स्पष्ट है कि लांजाइनस प्रतिभा की महानता—साधारणता को एकांगी नैतिक आदर्शों की तुला पर भी तोलते हैं। इसलिए यह प्रश्न अधिक मनन की अपेक्षा रखता है। फिर भी, इस विवाद से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि कृति में आए हुए नियमों को साध्य मानने (=गिनाने) के बजाय स्वयं कृति की समीक्षा ही साध्य हुई।

आखिरी सवाल औदात्य और नैतिक मनोदृष्टि का है। वस्तुतः इसकी शीर्ष-स्थापना तो डिमोस्थनीज़-अनुप्राणित महान् आत्माओं एवं महान् धारणाओं के उद्गम-तत्त्व में हो गई जिसमें उन्होंने चरित्र की उदात्तता पर कला का औदात्य उन्नीत किया है (दे०—'महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गंभीर और गहन हों।'—लांजा०)। वे रूपाकृति के सहीपन या सुखद बाह्यता के मुकाबले में आत्मा की महानता का पक्ष लेते हैं। संभवतः वे भी 'एक महान् कवि =एक श्रेष्ठ नागरिक' के समीकरण को स्वीकार कर लेते हैं जब वे एक ओर तो जनतंत्र-व्यवस्था को प्रतिभा की धात्री घोषित करते हैं और सामाजिक-राजनीतिक कारणों के स्थान पर नैतिक कारणों को पतन का जिम्मेदार ठहराते हैं, तथा दूसरी ओर राज्य की स्थिर शांति के बजाय इच्छाओं को जकड़ लेने वाले अंतर्युद्ध को प्रतिभा के लिए अधिक विध्वंसक और अनंत मानते हैं। इच्छाओं में जकड़ जाने के बाद हमारे आवेग हमें संत्रस्त कर हमें लूटते हैं। लांजाइनस धन और विषय-भोग के आवेगों को सबसे अधिक घातक मानते हैं जिससे मानव-जीवन में अतिचार का वास हो जाता

है। इसी रूपक द्वारा नैतिक पतन का विस्तार करते हुए वे कहते हैं कि धन की संतान हैं—आडंबर, दंभ, विलास। बाद में ये तीनों हमें धृष्टता, नियमहीनता और निर्लज्जता नामक दुर्दम्य स्वामियों को सौंप देते हैं। इसका परिणाम चहुं ओर व्याप्त लाभ की भावना शिवमय सार्वजनीन उपयोगिता का स्थान ले लेती है और क्रमशः जीवन का विनाश, आत्म-ऊर्जा का पतन होता जाता है। स्पष्ट है कि लांजाइनस जिन दुर्व्यसनों जैसे धनलिप्सा, भोग-तृष्णा, नियम-अतिक्रमण आदि की चर्चा करते हैं उनका संबंध जन-जीवन से न होकर निरंकुश शासनतंत्र के शासक वर्ग से है। वे उनके बीच ही महान् आत्माओं की खोज या प्रतिष्ठा करते हैं और उनके उत्थान-पतन की संभावनाओं के आधार पर औदात्य की स्थापना करते हैं। इसलिए उनकी नैतिकता तथा महानता संबंधी धारणाओं के पर्याप्तांश एकांगी होने के साथ-साथ अपूर्ण हैं। समग्र में से एक बड़ा सामाजिक सत्य भी झांक उठता है : जाने-अनजाने उन्होंने उदात्त के विपरीत मूल्य के रूप में उपहास्य (रिडिकुलस) की भी स्थापना की है जो निरंकुश शासनकर्मियों के प्रति व्यंग्य-भावना की परोक्ष परिणति है [दे०—शोध शरीर, नकली मुखौटा, धनलिप्सा-भोगलिप्सा, वागाडंबर-भावाडंबर आदि के रूपकादि]। इस प्रकार हम दो पृथक् सौंदर्यात्मक, द्वंद्वात्मक श्रेणियों के मूल्य-अवमूल्य प्राप्त कर लेते हैं—



सो, यह उनकी तीसरी क्रांतदर्शी देन है।[1]

× × ×

पुनः कई शताब्दियों के अन्तराल से यूनान और रोम के बाद जर्मनी में कांट तथा हीगेल का आविर्भाव सौंदर्यात्मक मूल्यों में क्रांतिदर्शी तब्दीलियां कर देता है यद्यपि अन्तराल के मध्ययुग में प्लोटिनस, संत टामस एक्विनस और दांते ने क्लासिकल यूनानी और लातवी परंपराओं को ही आगे बढ़ाया। इनका विवेचन प्रसंगानुसार होता रहेगा।

कांट और हीगेल—विशेष रूप से कांट के सौंदर्यचिंतन को स्पष्ट समझने के लिए बर्क, बामगार्टन, विंकेलमान, लेसिंग आदि की मूल्य-मीमांसा की पृष्ठभूमि से अवगत हो लेना चाहिए।

एडमंड बर्क

अंग्रेज़ चिंतक एडमंड बर्क (१७२९-१७९७) लांजाइनस तथा कांट के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। सन् १७५६ ई० में उन्होंने 'सौंदर्य और उदात्त संबंधी हमारे

१. होरेस तथा लांजाइनस के प्रसंगों के तथ्य-संकलनों में डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित 'काव्य-कला' और 'काव्य में उदात्त तत्त्व' नामक पुस्तकों की भी प्रमुख सहायता ली गई है।

विचारों के उद्‌गम की छानबीन' नामक सौंदर्यबोधशास्त्र संबंधी ग्रंथ लिखकर एक महान् परंपरा को दिशा दी। इस ग्रंथ में उन्होंने दार्शनिक मूल्यों तथा मनोवैज्ञानिक मूल्यों का फर्क बताया। उनके अनुसार दार्शनिक मूल्यों में चरम मूल्य **तर्क** [(और संकल्प भी) लाजिक] तथा मनोवैज्ञानिक मूल्यों में चरम मूल्य **अभिरुचि** है। अभिरुचि ही सौंदर्यात्मक निर्णयों का केंद्र है। इस प्रकार उन्होंने सौंदर्यात्मक मूल्यों और दार्शनिक मूल्यों को पृथक् करने का प्रयास किया। यही नहीं, उन्होंने उदात्त का भी विवेचन किया जो लांजाइनस के विवेचन की तरह एक ओर तो शैलीगत उदात्त के बजाय विषयवस्तुगत उदात्त पर बल देता है और दूसरी ओर लांजाइनस के इटैलियन नैतिक रंगों के बजाय तत्कालीन मनोवैज्ञानिक खोजों की रंगत से ओतप्रोत है। कांट ने बर्क से प्रेरित होकर 'क्रिटीक ऑफ जजमेंट' में सौंदर्य-निर्णय पर विचार किया तथा उदात्त-चिंतनधारा को आगे बढ़ाया। हां, उन्होंने पुनः सौंदर्य को दर्शन की ओर उन्मुख करने की कोशिश की। शायद बर्क की ही परंपरा में हीगेल ने आत्मा-चेतना-मस्तिष्क के त्रिभुज को अनेक उप-त्रिभुजों में बांटने की योजना बनाई जहां कला-संबद्ध अनेक मनोवैज्ञानिक मूल्यों का भी समावेश हुआ।

बर्क ने सौंदर्य को राग (पैशन) एवं संवेदना (सेंसेशन) से संबद्ध किया। उन्होंने माना कि जिस प्रकार बर्फ से ठंड की या आग से गर्मी की संवेदना होती है उसी प्रकार सौंदर्य से प्रेम की अर्थात् सुखद संवेदना ही सौंदर्य-पगी हुई। यह उनकी पहली सीमा है। फिर उन्होंने कहा कि सौंदर्य तथा उदात्त दोनों मानव जाति की **आत्म-संरक्षण** नामक सामूहिक मूल प्रवृत्ति का परिणाम हैं। अतः सौंदर्य और उदात्त सौंदर्य-तत्त्व के दो खंड हैं। दूसरे, ये सामूहिक हैं; तीसरे, ये जन्मजात सामाजिक संस्कार में हैं और इनके दो उपखंड हैं जिनमें प्रथम सौंदर्य से संबद्ध है जिसमें बहुधा सुखद राग हैं, तथा दूसरा उदात्त से संबद्ध है जिसमें पीड़ा और खतरे से प्रसूत राग हैं। इस प्रकार सामाजिक मूल प्रवृत्तियों तथा तदनुरूप सौंदर्य-प्रभेदों की स्थिति मानना उनकी दूसरी सीमा है। उन्होंने रूप की क्रम तथा अनुपात जैसी सभी विधाओं तक को तर्क के अधीन मानकर अपनी तीसरी सीमा को प्रकट किया। उन्होंने बर्फ और आग का जो दृष्टांत पेश किया वह भी अपूर्ण ही है क्योंकि बर्फ और अग्नि का भौतिक अस्तित्व समाप्त होते ही ठंड और ताप की संवेदना लुप्त हो जाती है लेकिन कलाकृति और सौंदर्यात्मक उत्तेजना के हटने पर भी अभिरुचि या कला-संवेदना बरकरार रहती है। हमें लगता है कि सौंदर्य को शुद्ध रूप से मात्र आत्मगत अनुभव न मानकर उसे बाह्य वस्तु से भी संबद्ध करने के लिए उन्होंने इस अनुपयुक्त रूपक को चुन डाला है।

बाह्य वस्तु के 'नैसर्गिक गुणों' को शामिल करके बर्क अनुकृति-सिद्धांत की क्लासिकल बंदिश में भी आ जाते हैं। लगता है कि वे अनुकरणीय कलाओं—शिल्प, काव्य तथा चित्रकला—की नींव अनुकृति मान लेते हैं जो मूल प्रवृत्तियों की तरह ही एक सहज मानवीय प्रवृत्ति है। वे अनुकृति को एक सामाजिक राग का दर्जा देते हुए उसे सहानुभूति के साथ रख देते हैं। उन्होंने बोधगम्य सौंदर्यात्मक वस्तुओं के लिए

अपेक्षित कुछ 'नैसर्गिक गुणों' को गिनाया भी है जैसे, अपेक्षाकृत लघुता, चिकनी सतह, अंग-निवेश की विभिन्नता, कोणात्मकता का अभाव, अत्यंत सुकोमल और उग्रताहीन संगठन, चमक-दमकहीन जीवंत रंगभराव, आदि। वे वस्तु के इन गुणों को प्रकृति के साथ समंजस मानते हैं। वस्तु में ये गुण जितने ही प्रकृति के साथ सम होंगे उतनी ही वह सुख की अनुभूति देगी और जितनी ही इनमें विषमता होगी उतना ही असुख होगा। अतः अनुकृति का प्रकृति के साथ सामंजस्य ही कल्पना को सुख देता है। अनुकृति-सिद्धांत और कल्पना-सिद्धांत का यह अस्त-व्यस्त मेल बर्क के कलात्मक चिंतन का एक अन्य अंतर्विरोध है। अलबत्ता उन्होंने अनुकृति के अंतर्गत वस्तु को प्रकृति के साथ समंजस माना, और समंजस के अंतर्गत 'नैसर्गिक गुण' की नई धारणा प्रस्तुत की है।

सौंदर्य-तत्त्व में राग तथा संवेदना के विश्लेषण में उन्होंने ज्ञान तथा संवेगों की शक्ति का ज़िक्र किया है। इंद्रिय बोध, कल्पना एवं निर्णय का मेल ही अभिरुचि में परिणत हो जाता है। इंद्रिय बोध पंचेंद्रिय-उत्पन्न सर्वसमान सामाजिक बोध है; कल्पना मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति है जो इंद्रिय बोधों को भिन्न ढंग और क्रम से व्यवस्थित करती है तथा मस्तिष्क (निर्णय द्वारा) भेदों को ढूंढ़ता है। किंतु सौंदर्य-तत्त्व सर्वसमान सामाजिक बोधों से निःसृत होता है। अतः हम अभिरुचि में भेदों के बजाय समानताएं ही अधिकतर पाते हैं। समानताओं की प्रतिष्ठा के लिए ही बर्क ने जॉन लॉक की मस्तिष्क संबंधी अभिरुचि-धारणा का संशोधन करके उनकी तरह उसे भ्रम या विभ्रम न मानकर स्पष्ट माना।

ये अभिरुचियां ही निर्णयों का मूल हैं और इंद्रिय बोधों से विकसित होने के कारण इनसे निःसृत सौंदर्यानुभव तात्कालिक हुआ करता है और संवेगात्मक भी। प्रश्न उठ सकता है कि तब अभिरुचियां भिन्न-भिन्न क्यों होती हैं? बर्क का उत्तर है कि यह भिन्नता जन्मजात सहज क्षमता की शक्ति या क्षीणता से न आकर अनुभवों और निरीक्षणों की भिन्नता से उत्पन्न हुआ करती है क्योंकि निर्णय में प्रस्तुत वस्तु की समझदारी ही अभिरुचि को निश्चित करती है। इस निश्चय में कल्पना तथा निर्णय का योग भी रहता है क्योंकि हम कल्पना की सहायता से सौंदर्य-बिंब ग्रहण करते हैं तथा समझदारी या तर्क द्वारा उसका निर्णय करते हैं, यद्यपि इन दोनों में तर्क (जो दार्शनिक मूल्यों की हद का है) का उपयोग नहीं होता। यहां भी बर्क तर्क तथा अभिरुचि के बीच एक यांत्रिक तथा असंभाव्य लक्ष्मण-रेखा खींचने की असफल कोशिश-सी करते नज़र आते हैं।

सामाजिक रागों की मीमांसा करते वक्त बर्क उनके अंतर्गत नवीनता की कामना वाला व क्षण-क्षण ध्येय बदलने वाला कुतूहल का राग, नैसर्गिक गुणों से वस्तु को मंडित करने वाला अनुकृति का राग, दूसरों की स्थिति के साथ तादात्म्य करने वाला सहानुभूति का राग, किसी को विलक्षण या अधिक मूल्यवान बनाने वाला महत्वाकांक्षा का राग और अंततः सुख को समाप्त करने वाला शोक का राग शामिल किया है। इनमें जो राग सुखद और प्रेमपूर्ण हैं वे सुंदर के विधायक हैं; इनकी संवेगात्मक

अनुभूति तात्कालिक हुआ करती है। केवल इन्हीं रागों को चुनने वाले बर्क के आधारों में भी बेहद उलझाव है। जिस प्रकार हम केवल प्रेममय राग को ही सुंदर नहीं मान सकते उसी प्रकार केवल इन्हें ही राग और सामाजिक राग मानने को हरगिज़ तैयार नहीं हो सकते।

इस अपूर्णता को दूर करने और एक पूरक बनाने के लिए उन्होंने उदात्त की उद्भावना की। उदात्त (सुंदर की आत्म-प्रसार वाली मूल प्रवृत्ति की तुलना में) आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति से उत्पन्न पीड़ा और खतरे का वह बोध है जो तात्कालिक प्रभाव से उत्पन्न दुःख उत्पन्न न करके हर्ष उत्पन्न करता है। पीड़ा और खतरे की तात्कालिक लौकिक अनुभूति कष्टदायक होती है किंतु जब हम पीड़ा और खतरे के मात्र विचारों से संबद्ध रहते हैं और जब इस चेतना से भी जागरूक रहते हैं कि ये दोनों हमें तत्काल ही प्रभावित नहीं करने जा रहे हैं तब ये ही (पीड़ा और खतरा) हममें हर्ष उत्पन्न करते हैं। **यही हर्ष उदात्त है।**

यह भी बर्क का एक अन्य अंतर्विरोध है कि केवल पीड़ा और खतरे से उत्पन्न इस विशिष्ट हर्ष को ही वे उदात्त मानते हैं जिससे तो यही नतीजा निकाला जा सकता है कि एक प्रकार से त्रासदी ही उदात्त है और सुखद में कभी भी उदात्त की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। यहां वे लांजाइनस से आगे तो बढ़े किंतु उनकी उपलब्धियों का भी निषेध कर गए हैं। यदि कोई भाव (और वे बिल्कुल इने-गिने ही हैं; जैसे, सहानुभूति, आश्चर्य, आदि) खतरनाक और त्रासद से विशिष्ट रीति द्वारा जुड़ जाते हैं तो उदात्त हो सकते हैं। सुंदर वस्तु के नैसर्गिक गुणों की तरह उन्होंने उदात्त वस्तु के गुणों का भी संकेत-सा किया है। उदात्त में प्रबलतम भाव-संक्रमण होता है; इसमें समस्त चेतना का क्षणिक स्थगन हो जाता है; यह मस्तिष्क की क्रियात्मकता को स्तंभित कर देता है और यह मृत्यु तथा पीड़ा का विधेय है। इस प्रकार पहले **आकुंचन** होता है और बाद में ऊर्जा का **विस्तार** अर्थात् हम भयानक वस्तुओं के अभ्यस्त हो जाते हैं। यदि लांजाइनस का उदात्त महान् आत्मा से प्रेरित है तो बर्क का महान् भय से। हां, दोनों ही दुर्निवार भावावेग की उत्पत्ति पर सहमत हैं। बर्क ऊर्जा और अनंतता को उदात्त के नैसर्गिक गुण मान लेते हैं : प्रबलतम रोशनी (सूर्य की), प्रबलतम आवाज़ (वज्रगर्जन), अनंत संख्या (नक्षत्रालोकित नीलाकाश की), अनंत विस्तार (सिंधु का), आदि उदात्त हैं। निश्चित ही बर्क एक सीमित असाधारणत्व को विशेष रूप से औदात्य में प्रतिष्ठित करते हैं। उनका उदात्त-तत्त्व असाधारण से अधिक अद्वितीय है।

बॉमगार्टन

बर्क के बाद हम अलेक्सांदर गॉट्लिएब बॉमगार्टन (१७१४-१७६२) के मूल्यगत विचारों को लेंगे (यद्यपि वे अनेक अर्थों में बर्क के पूर्ववर्ती हैं)।

गिलबर्ट और कुह्न के अनुसार महान् जर्मन विवेकवादी लाइब्निज़ उनके दार्शनिक पितामह थे, स्कूल-अध्यापक वॉल्फ उनके दार्शनिक पिता थे और वे खुद

तर्क की मंथर प्रणाली के साधक थे। उन्होंने सौंदर्यबोधशास्त्र का जर्मनीकरण कर दिया जिसकी परिणति कांट के 'क्रिटीक आफ जजमेंट' में हुई।

लाइब्निज़ ने अन्य दार्शनिकों से आगे बढ़कर लक्ष्यात्मक कारण (जैसे : मोम-मूर्ति) के साथ-साथ उपादान कारण (सामग्री : जैसे मोम) और निमित्त कारण (जैसे शिल्पी) को भी स्वीकार कर लिया। इससे कल्पना और विचार तक उनके मस्तिष्क के मानदंड के अंतर्गत शामिल हो गए। इस प्रकार लाइब्निज़ ने संवेदना और सत्य की, अभिरुचि और प्रयोजन की खाई कम करने की कोशिश की। इसी स्थापना से प्रेरित होकर बॉमगार्टन ने कलाशास्त्रियों-अलंकारशास्त्रियों की धारणाओं को भी एक दार्शनिक व्यवस्था प्रदान की। लाइब्निज़ ने चार प्रकार के ज्ञान माने : (i) धुंधला तथा अस्पष्ट ज्ञान—स्वप्न-दशा और अस्पष्ट संवेदना का, जैसे लहरों के तट-कल्लोल की संवेदना जिस पर ग़ौर न किया जाय; (ii) स्पष्ट किंतु भ्रांत ज्ञान—जैसे वन में फूले रंगों पर तो ग़ौर हो लेकिन उनकी बौद्धिक प्रतिपत्ति न हो सके; (iii) विलक्षण ज्ञान, जहां वैज्ञानिक व्याख्याएं संभव न हों; और (iv) पर्याप्त तथा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान, जहां वस्तु के सभी लक्षणों का व्यापक ज्ञान हो और वे एक समग्र सर्वेक्षण के अंग हो जाएं। लाइब्निज़ और उनके अनुयायी बॉमगार्टन ने दूसरे प्रकार के ज्ञान को ही कला तथा कला का उद्‌गम माना। संवेदना तथा सत्य की दूरी मिटाने के कारण दोनों ने (बर्क की तरह) ऊर्जा—जो संवेग की क्षमता है—के बजाय संचार को महत्त्व दिया। बॉमगार्टन ने लाइब्निज़ के दूसरे और चौथे प्रकार के ज्ञान का भी मेल किया है। लाइब्निज़ इस संसार में ही पूर्णता की सर्वोच्च श्रेणी की उपस्थिति मानते हैं, और बॉमगार्टन भी इसे स्वीकार करके प्रकृति तथा इंद्रिय बोधगम्य संसार को ही कला का मानदंड मान लेते हैं। अत. बॉमगार्टन के अनुसार सौंदर्य तथा सत्य के मूल्यों का अंतर विशुद्ध आत्मगत है। सौंदर्य तो अनुभूत पूर्णता है जिसमें दोनों का समंजस है।

वॉल्फ़ ने (i) ज्ञानात्मक और (ii) काम्य के आधार पर तत्कालीन 'विज्ञान' की शाखाओं का वर्गीकरण किया। ज्ञानात्मक विज्ञान सैद्धांतिक तथा काम्य व्यावहारिक है। अध्यात्मवाद, ब्रह्मांड-रचना, मनोविज्ञान तथा धर्मशास्त्र ज्ञानात्मक विज्ञान हैं और आधिभौतिकवाद, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र काम्य विज्ञान हैं। इन सबकी भूमिका में तर्क है। बॉमगार्टन इस वर्गीकरण में ज्ञानात्मक विज्ञान के अंतर्गत 'सौंदर्यबोधशास्त्र' नामक एक नूतन विज्ञान का समावेश करते हैं। उनके अनुसार यह अस्पष्ट ज्ञान से संबद्ध होने के बावजूद भी 'अनुभूति' रूप वाला ज्ञान तो है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञानबद्ध बौद्धिक सिद्धांत का भावना-क्षेत्र में भी प्रसार किया, सौंदर्य के दर्शन को दर्शनशास्त्र की एक अलग तथा स्वतंत्र शाखा के रूप में स्वीकृत करवाया तथा पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार इसका 'ऐस्थेटिक्स' के रूप में नामकरण-संस्कार संपन्न किया। सन् १७३५ ई० में उनके शोध-प्रबंध में 'ऐस्थेटिक्स' शब्द का सबसे पहला प्रयोग हुआ है।

बॉमगार्टन ने मस्तिष्क के दो स्तर माने। उच्चतर स्तर में स्पष्ट तथा पर्याप्त

चिंतन की क्षमता है जिससे विज्ञान और दर्शन उत्पन्न होते हैं। यहां 'विश्वकों' (यूनिवर्सलस) का अवधान माना जा सकता है। बुद्धि और विलक्षणता या स्पष्टता के मूल्य-युग्मों से यह स्तर मापा जाता है। दूसरा स्तर निम्नतर है जहाँ अस्पष्टता और कल्पना के मूल्य-युग्म प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार उन्होंने बुद्धि और विलक्षणता या स्पष्टता, तथा अस्पष्टता और कल्पना, चारों को मस्तिष्क के एक मानदंड पर अंकित किया। निम्नतर स्तर में ही काव्य का अवधान मानकर उन्होंने कहा कि विलक्षणता या सुस्पष्टता बौद्धिक होने के नाते काव्यात्मक नहीं हो सकती किंतु भ्रांत या काल्पनिक होते ही वह काव्यात्मक उपादान हो जाती है। काव्य-क्षेत्र बहुधा स्पष्ट (विलक्षण नहीं) किंतु भ्रांत अर्थात् अविश्लेष्य अर्थात् कल्पना अर्थात् बिंब-विधानों का होता है। जब किसी बिंब का राग (पैशन) से परिपाक हो जाता है तब वह एक साधारण बिंब की अपेक्षा अधिक सौंदर्यात्मक हो जाता है अर्थात् राग-तत्त्व किसी सौंदर्यात्मक बिंब को विलक्षण तो नहीं, किंतु स्पष्ट अवश्य बना सकता है। इस प्रकार बॉमगार्टन बुद्धि और विवेचन-संभूत सभी प्रकार की स्पष्टताओं को सौंदर्यजगत में नहीं चाहते, किंतु **विस्तृत स्पष्टता** अर्थात् राग-सिक्त बिंबों की प्रचुरता को कला-दीप्ति के लिए जरूरी मानते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक विश्लेषण की विलक्षणता के बजाय राग-परिपाक की कल्पना-बहुलता से उत्पन्न बिंब ही सौंदर्यात्मक होता है। उनके अनुसार एक ओर तो कल्पना का तीव्र बहाव संवेदनात्मक भ्रांति है, और दूसरी ओर उससे निःसृत राग-सिक्त बिंब स्पष्टता है। स्पष्ट है कि वे लाइब्निज़ के अनुकरण के आधार पर भ्रांत ज्ञान को ही सौंदर्य-तत्त्व का आधार मानकर आगे बढ़े हैं। वे इस 'भ्रांत ज्ञान' को आगमनात्मक तर्कशास्त्र में परिणत करने की बात नहीं सोचते; अपितु इसके निषेधात्मक चरित्र को स्वीकारात्मक तथ्य बनाकर एक क्रांतिकारी कदम उठाते हैं।

उन्होंने इस तथाकथित भ्रांत ज्ञान को एक ओर तो संवेद्य (सेंसिबल) बनाया तो दूसरी ओर मूल्यों या 'पूर्णताओं' (पर्फेक्शंस) से अंतर्ग्रथित किया। इसके लिए कलाओं के अद्वितीय तथा अबौद्धिक माध्यमों की स्वीकृति के साथ-साथ उनके मूल्यों या पूर्णताओं को भी स्वीकार किया गया। फलतः ये मूल्य भी अद्वितीय तथा अ-बौद्धिक होते हैं और इन्हें अन्य प्रकार के मूल्यों में नहीं ढाला जा सकता क्योंकि सौंदर्यबोधशास्त्र भी एक अलग विज्ञान है जिसका विषय संवेदनात्मक चेतना (सेंसरी कांशसनेस) है। इसमें संवेदनात्मक चेतना की ही बौद्धिक पूर्णता होनी चाहिए और यही पूर्णता सौंदर्य है। यदि अपूर्णता रहती है तो असौंदर्य उत्पन्न होता है। इस 'पूर्णता' के लिए बॉमगार्टन, प्लेटो की तरह किंतु उनसे भिन्न अरस्तूआई ढंग से, अनुकृति की चर्चा करते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं कि लाइब्निज़ इस संसार को ही सर्वोच्च पूर्णता से संयुक्त मानते हैं और बॉमगार्टन प्रकृति-संसार को कला का मानदंड मानते हैं क्योंकि यह इंद्रिय प्रत्यक्षीकरण की पहुंच के अंदर हैं। "वही कलाकार बुद्धिमान है जो प्रकृति की अनुकृति करता है"—यह उनका पक्षसूत्र है। वे प्रकृति और इंद्रिय बोध वाले जगत का तादात्म्य करते-से लगते हैं। उनकी अनुकृति

का विधेय यही वास्तविक जगत है जिसे प्लेटो मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार इसी वास्तविक जगत की अनुकृति के द्वारा आदर्श की भी अनुकृति स्वत: हो जाएगी क्योंकि सौंदर्यबोधशास्त्र के उपादान मानसिक वस्तुएं न होकर संवेदनात्मक तथ्य हैं, लेकिन पूर्णता का अभिधान इन्हें संवेदनात्मक ज्ञान में परिणत कर देता है। प्रकृति में तो 'रूपों' की इतनी विभिन्नता किंतु उनका अद्भुत सामंजस्य है। अत: प्रकृति के अर्थात् इंद्रिय बोध के जगत के अनुकरण में कोरी नकल नहीं होती बल्कि उस सबका त्याग भी होता है जो संगत और समंजस नहीं है। इस प्रकार अनुकृति में आदर्श की समानता, स्पर्धा तथा श्रेष्ठता का ग्रहण होता है। यह आदर्श प्लेटो की तरह किसी अलौकिक प्रत्यय का प्रतिबिंब एवं अपूर्ण अनुकृति न होकर इसी वास्तविक और आदर्श जगत की 'पूर्ण' अनुकृति है। अत: इसी वास्तविक आदर्श जगत की विविधताओं के बीच संगतिपूर्ण सौंदर्य-वस्तु को खोजकर संवेदनात्मक ज्ञान को राग-सिक्त बिंब से अधिकाधिक प्रचुर बना देना ही कला के मूल्य या पूर्णताएं हैं। संवेदनात्मक ज्ञान के मूल्यों के आधार पर बॉमगार्टन ने उनका एक मानदंड भी बनाया : "ज्ञानों में से भ्रांत की अपेक्षा धुंधले कम काव्यात्मक हैं किंतु उच्चतर स्तर के (जैसे बौद्धिक और विलक्षण) ज्ञान भी किसी हद तक अपनी प्रकृति के निम्नतर स्तर के अनुपात में काव्यात्मक हैं; सरल की अपेक्षा यौगिक धारणाएं अधिक काव्यात्मक हैं; और व्यापक समंजस वाले ज्ञान तो 'विस्तृत स्पष्टताएं' हैं।"[1] इस उद्धरण से प्रकट होता है कि बॉमगार्टन ने निर्णय अर्थात् रुचि के प्रश्न का भी समावेश किया है। एक ही सत्य या तथ्य तर्क और मस्तिष्क के निम्नतर स्तर अर्थात् सौंदर्य-धरातल पर उतरने पर कम या अधिक ग्राह्य होता है। दावानल का वर्णन एक प्रकृतिशास्त्री, एक कवि, एक ठेकेदार भिन्न-भिन्न तरीके से करेंगे क्योंकि वहाँ संवेद्य के निर्णय का प्रश्न है जिसे दूसरे शब्दों में रुचि का सवाल कह सकते हैं। 'रुचि' का क्षेत्र भ्रांत चिंतन है जहां सत्य या तथ्य खोजे जाते हैं और जहां राग-आर्द्रता रहती है। इसीलिए रुचि प्रस्तुत के कम या अधिक ग्रहण में है, सही या गलत विश्लेषण में नहीं। निम्नतर में स्थित सत्य या तथ्य संवेदनात्मक ज्ञान और भ्रांत ज्ञान से पूर्ण होने के कारण ही सौंदर्यात्मक होते हैं। अत: ये सौंदर्यात्मक सत्य या तथ्य न तो सच होते हैं, न मिथ्या; प्रत्युत संभाव्य। भ्रांति वह दशा है जहां सत्य खोजे जाते हैं अर्थात् जहां प्रस्तुत का निर्णय होता है और रुचि या अभिरुचि के सवाल उठते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बॉमगार्टन ने सौंदर्यबोधशास्त्र नामक एक नये विज्ञान की घोषणा के अलावा बहुधा पुरानी सामग्री का ही चर्वित-चर्वण किया है। वे बहुत कम नई दिशाएं सुझा सके; फिर भी इतिहास उन्हें पश्चिमी सौंदर्यबोधशास्त्र का जनक मानता है और यह उचित है।

१. बेनेदेत्तो क्रोचे : 'ऐस्थेटिक्स : हिस्ट्री ऑफ़ एस्थेटिक्स', पृ० २१५।

जोहान जॉशिम विंकेलमान

जोहान जॉशिम विंकेलमान (१७१७-१७६८) ने बर्लिनवासी बॉमगार्टन की तुलना में यूनानी और रोमन दुनिया की संस्कृति और शिल्प-कला में अपने को बेतहाशा ढालकर सौंदर्यबोधशास्त्र को पुनः प्लेटोवादी आदर्शों की ओर मोड़ने की कोशिश की। बॉमगार्टन ने संवेद्य ज्ञान की पूर्णता में सौंदर्य माना तो विंकेलमान ने भौतिक माध्यम की पूर्णता में; बॉमगार्टन ने इसी वास्तविक जगत को परिपूर्ण तथा आदर्श माना तो विंकेलमान ने केवल ईश्वर को पूर्ण माना। उन्होंने सौंदर्य को दैवी घोषित किया। इस प्रकार विंकेलमान ने नव्य-प्लेटोवाद की परंपरा को समृद्ध किया।

उन्होंने यूनान और रोम की मूर्तियों का अध्ययन करके उनमें अतिमानवीय भव्यता तथा नियंत्रण और प्रशांति की भंगिमाएं पाईं। युग बदल गया था। न तो वे मूर्तियां जीवित हो सकती थीं; न ही वे शैलियां पुनर्जीवित। अतः अनजाने ही वे एक रहस्यवाद के शिकार होते गए। उन्होंने एक ऐसे दैवी सौंदर्य की धारणा का अभिषेक किया जो दैवी प्रत्यय (ईश्वर) के स्वर्ग से उतर कर इन कलाकृतियों में पूर्णकाम हुई। विंकेलमान तथा उनके समर्थकों ने पुनः सौंदर्य का ईश्वर में अभिधान कर दिया और ईश्वर की सत्ता के अनुकूल अनुपात-ग्रहण ही—कम या अधिक सौंदर्य का—हेतु माना।

मानव-शरीर में सर्वोच्च सौंदर्य की उपस्थिति मानकर विंकेलमान ने सौंदर्य को 'रूप'-आश्रित बना दिया। उन्होंने रेखाओं और सतहों को सर्वाधिक महत्त्व दिया; एक वर्तुल (एलिप्टिकल) रेखा को सौंदर्य की उत्तम रेखा माना। उन्होंने संगति (हार्मनी) और डिज़ाइन को मानव शरीर-संभूत-सौंदर्य के चरम रूपात्मक मूल्य माने। यहां वे बॉमगार्टन से बहुत पीछे चले गए; बॉमगार्टन ने सौंदर्यानुभव को ईश्वर से असंबद्ध कर दिया था। पूर्णता की प्रतिष्ठा प्रकृति और वास्तविक जगत में की थी और इंद्रिय बोध को मूल्यांकनकर्त्ता का दर्जा दिया था। लेकिन विंकेलमान ने सौंदर्यानुभव को ईश्वर के साथ संलग्न किया; पूर्णता की प्रतिष्ठा मात्र मानव-शरीर में की; रुचि के स्थान पर रूपाश्रित छवि प्रतिष्ठित की जहां इंद्रिय बोधों के प्रति काफी उदासीनता दिखाई गई। इस प्रकार विंकेलमान क्लासिकल मूल्यों की ओर जाते-जाते दैवी मान्यताओं के आदर्श और सूक्ष्म जगत की ओर पहुंच गए। मूलतः वे जर्मनी की राष्ट्रीय रुचियों को यूनानी स्रोतों के अनुरूप परिष्कृत करना चाहते थे।

विंकेलमान का दूसरा दृष्टिकोण है : "मानव-आकृति को राग और क्रियात्मक स्थिति में अंकित करना चाहिए।" यहां साफ़ तौर पर उन पर मूर्तिकला का गाढ़ा यूनानी प्रभाव लक्षित होता है जिसे वे काव्य और अन्य कलाओं पर भी, बिना माध्यम के औचित्य का ध्यान रखे, थोपना चाहते हैं। अनुभाव भी अभिव्यंजना हो सकते हैं किंतु केवल अनुभाव ही अभिव्यंजना होकर काव्य की विषय-वस्तु को संकुचित कर देंगे, अलबत्ता कलाकृतियों का रूप कुछ मुद्रा-रूढ़ियों में जकड़ता चला जायेगा। उनका अगला अंतर्विरोध तब स्पष्ट होता है जब वे दैवी आकृति और मानव-आकृति

के बीच समझौता करते समय पुरुष-आकृति को नारी-आकृति से अधिक पूर्ण सौंदर्यशाली मानते हैं। इसका कोई कारण नहीं मालूम है। मनुष्य तो पुरुष और नारी के नख-शिख में दोनों की ही आशंसा करता है; नारी-शोभा की अपेक्षाकृत अधिक आशंसा करता है और पशुओं में मृग-सिंह तथा पक्षियों में हंस-मोर आदि की आकृतियों की भी आशंसा करता है। और, यह आशंसा केवल शरीर की ही नहीं, अपितु चरित्र और चारित्र्य की भी होती है। ज़ाहिर है कि अभिव्यंजना-क्षेत्र में भी विंकेलमान ने शिल्प-कला का मांसल और परुष-मानवता का सीमित क्षेत्र ग्रहण किया।

यही नहीं, रूपात्मक कलाओं की जीवशास्त्रीय शैशव-यौवन-जरा आदि अवस्थाओं की कल्पना करके उन्होंने इनके इतिहास का लेखन भी किया जो नितांत अवैज्ञानिक होने के बावजूद भी मौलिक कहा जाएगा। इसी आधार पर उन्होंने यूनानी (शिल्प-) कला की चार अवस्थाएं—उद्‌गम, विकास, परिवर्तन और समापन—भी सिद्ध कीं। संभवत: उनमें यह अनैतिहासिक इतिहासदृष्टि 'लाओकून' शिल्प-समूह (१७६४) के पर्यवेक्षण के समय जागी होगी।

वाल्टर पेटर ने उन्हें गोएथे के आदर्शों का पूर्व सूत्रधार मानते हुए कहा है कि गोएथे में अठारहवीं शती के प्रति जो विद्रोह है उसका सूत्रपात उन्हीं ने किया। यद्यपि विंकेलमान आधुनिक नहीं हैं; प्रत्युत पूर्णतः अठारहवीं शती के भी नहीं हैं। गोएथे ने अपने 'फाउस्ट' में फास्टस और हेलेन का जो ब्याह कराया है उसमें रोमांटिक चेतना तथा हेलेनिज़्म की कांत मैत्री का ही सिद्धांत दृष्टिगोचर होता है। विंकेलमान इसी सिद्धांत के प्रतिपादक थे। इसी परिणय से—यूफोरियन शिशु के रूप में—उन्नीसवीं शती की कला का जन्म हुआ जिसमें गोएथे, शिलर, हाइने, व्हिट्‌मैन, ह्यूगो आदि के अमर योगदान हैं (दे० 'रिनैसां' में विंकेलमान पर लेख)।

लेसिंग

जी० ई० लेसिंग (१७२९-१७८१) ने भी अपने 'लाओकून' नामक निबंध (१७६६) में काव्य तथा चित्रकला की सीमाओं का निर्धारण करते हुए विंकेलमान का अनुकरण और संशोधन तथा अपने मौलिक विचारों का मंथन पेश किया।

विंकेलमान ने शिल्प-कला के विषय को काव्य-कला पर लागू किया जिससे कई असंगतियां आ गईं क्योंकि **संरूपात्मक कला** (फिगरेटिव आर्ट) के सिद्धांत का प्रतिपादन करने के बावजूद भी उन्हें विषयवस्तु के परिष्कार और माध्यम के औचित्य का आभास नहीं था। विंकेलमान ने यह तो कह दिया कि लाओकून शिल्प-समूह की छवियां अपनी व्यथा को संयमित किये हुए प्रतीत होती हैं किंतु महाकवि वर्जिल कृत लाओकून चीख उठते हैं। इसका कारण उन्होंने लैटिन प्रतिभा पर यूनानी प्रतिभा की विजय माना। लेसिंग ने लाओकून-शिल्प और लाओकून-वर्णन की अभिव्यंजना को तो ज्यों-का-त्यों मंज़ूर किया किंतु विंकेलमान के निष्कर्षों से रज़ामंद नहीं हुए। उन्होंने कहा कि यूनानी तथा लातवी दोनों ने ही प्रकृति-माता के अनुशासन पर चलकर ही दैवी चरित्रों के संवेगों की अभिव्यक्ति की: वर्जिल ने भावावेश की एक तीव्र

अवस्था का वर्णन किया है, तो यूनानी शिल्पकारों ने एक तीव्र कार्य-मुद्रा का आलेखन किया है। तीव्रता दोनों में है, किंतु दोनों के माध्यम (mittel) या चिह्न-प्ररूप (Zeichen) भिन्न-भिन्न हैं। अतः उन्होंने स्पष्टतः सिद्ध किया कि **माध्यम का अति-क्रमण नहीं होना चाहिए।** चित्रकला में एक प्रकार के तथा काव्य में दूसरे प्रकार के चिह्न-प्ररूप (आकृतियां) प्रयुक्त होते हैं। चित्रकला में आकृतियों और रंगों का उपयोग स्थान या देश में होता है तो काव्यकला में मुखर ध्वनियों का उपयोग काल में होता है। अतएव लेसिंग ने वैज्ञानिक तरीके से माध्यम के आधार पर कलाओं के देश तथा काल-आश्रित वर्गीकरण की नींव डाली। इस नींव द्वारा उन्होंने विंकेलमान की यह भ्रांति भी दूर कर दी जिसके आधार पर वे रूपात्मक या आकृतिमूलक सौंदर्य तथा आध्यात्मिक आदर्श को एकरूप मान बैठे थे। हां, उन्होंने द्वैत स्वीकार जरूर किया : चित्तात्मक चिह्न भी परोक्ष रूप से कार्य का विमर्ष दे सकते हैं और काव्यात्मक चिह्न भी परोक्ष रूप से आकृतियां प्रस्तुत कर सकते हैं; अर्थात् कलाओं का अंतरावलंबन हो सकता है। यह अंतरावलंबन उचित माध्यम में किसी 'गर्भित क्षण' के उपयोग से ही संभव है। इस प्रकार लेसिंग ने माध्यम को एक रूपात्मक मूल्य के रूप में चरम स्थान दिया।

उन्होंने विंकेलमान कृत 'आदर्श सौंदर्य' की धारणा को बिना महत्त्वपूर्ण रद्दो-बदल के स्वीकार किया। 'आदर्श सौंदर्य की प्रतिष्ठा आदर्श रूप में होती है : आदर्श रूप वनस्पति-जगत में न मिलकर मानव-शरीर में प्रतिष्ठित है तथा आदर्श रूप आकृति से अधिक मांसलता के आह्लाद में भी है'—ये सूत्र लेसिंग ने ग्रहण कर लिये हैं एक अंतिम उपसाध्य जोड़कर। इस प्रकार लेसिंग ने भी जर्मनी की राष्ट्रीय रुचियों का परिष्कार करने की कोशिश की।

[नाटकों के विवेचन में, अरस्तू की निर्जीव तथा यांत्रिक नकल का घोर विरोध करते हुए, लेसिंग ने (बोसांके के शब्दों में—) 'सोफोक्लीज़ तथा अरस्तू के अनुसार रेसाइन की अपेक्षा शेक्सपियर को अधिक क्लासिकल माना।' इस प्रसंग में उन्होंने आधुनिक राष्ट्रीय नाटक के विकास के मसले भी उठाए।]

सारांश यह है कि विंकेलमान तथा लेसिंग, दोनों ही ने एक रूढ़िवादी क्रांति की। उन्होंने एक पुरानी, निर्जीव तथा यांत्रिक क्लासिकल परंपरा का उन्मूलन करके एक उससे भी अधिक पुराचीन क्लासिकल परंपरा का आह्वान किया जो मूल यूनानी कृतियों से संवाहित हो।

इमेनुएल कांट

इस अवांतर किंतु अनिवार्य मूल्य-मीमांसा के पश्चात् अब हम इमेनुएल कांट (१७२४-१८०४) के सौंदर्यबोधशास्त्रीय मूल्य-निष्कर्षों का निरूपण करने में समर्थ हैं।

वॉल्फ, बॉमगार्टन और बर्क की कलासंबंधी परंपराओं में ही कांट का आद्यंत विकास और परिष्कार हुआ जिसकी परिणति 'क्रिटीक ऑफ जजमेंट' में हुई। एक

जगह पर खुद उन्होंने बामगार्टन को 'श्रेष्ठ विश्लेषक' कहकर सम्मानित किया है। क्रोचे उन्हें विको के बाद सच्ची यूरोपीय दार्शनिक प्रतिभा मानते हैं जो विंकेलमान, होगार्थ, लेसिंग और गोएथे, सभी से पृथक् तथा बड़ी है। हीगेल ने ऐलान किया कि कांट ने ही सौंदर्यबोधशास्त्र पर प्रथम विवेकशील शब्द कहे हैं। उनके पहले सौंदर्यबोधशास्त्र की समस्याएं या तो लाइब्निज़-दर्शन के आधार पर (जैसा कि बामगार्टन ने किया) सुलझाई जाती थीं या फिर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर (जैसा कि बर्क और एडिसन ने किया)। यद्यपि कला-संबंधी उनकी धारणाएं बहुत कुछ बामगार्टन एवं वॉल्फ-संप्रदाय की तरह ही रहीं और उनकी तरह ही कांट भी सौंदर्यबोधशास्त्र एवं तर्कशास्त्र को सह-संबद्ध विज्ञान मानते रहे, किंतु अपने समग्र दर्शन को उद्गतिवाद (ट्रांसेंडेंटलिज़्म) पर आधारित करके उन्होंने मौलिकता का प्रदर्शन किया है।

उन्होंने मानवीय ज्ञान के दो स्रोत माने—**इंद्रियबोधात्मकता** (सेंसिबिलिटी) तथा **समझ** (अंडरस्टैंडिंग)। इनमें से तर्कशास्त्र समझ के नियमों का विज्ञान है तथा सौंदर्यबोधशास्त्र आम तौर पर इंद्रिय-बोधात्मकता के नियमों का। इस परिभाषा के द्वारा उनका तात्पर्य सौंदर्यबोधशास्त्र को इंद्रियबोधात्मक ज्ञान या इंद्रियजन्य ज्ञान से जोड़ना है। इस प्रकार वे एक ओर तो बामगार्टन से सहमत होते हैं किंतु (इस ज्ञान को 'भ्रांत' ज्ञान न मानने के कारण) लाइब्निज़ और वॉल्फ़ से असहमत भी। स्वयं कांट ने बामगार्टन द्वारा प्रतिपादित 'सौंदर्यानुभव को **पूर्णता का भ्रांत ज्ञान**' मानने वाले सिद्धांत का खंडन किया है। लांजाइनस की तरह कांट ने भी कहा कि पूर्णता किसी वस्तु को सुंदर नहीं बना देती; न ही पूर्णता का सौंदर्यानुभव से संबंध है और न ही उद्देश्य संपूर्ण करने वाली कोई पूर्णता अपनी पूर्ति की वजह से ही सुंदर हो जाती है। इस प्रकार उन्होंने पूर्णता और सौंदर्य का पार्थक्य स्थापित किया और बामगार्टन की त्रुटियों का निराकरण भी। इसके बाद उन्होंने भ्रांत ज्ञान का विवेचन करते हुए कहा कि ज्ञान की भ्रांति और स्पष्टता में केवल मात्रा का अंतर है (यदि वह ज्ञान बना रहता है)। अतः ध्यान की एकाग्रता वांछनीय है। लेकिन इस **भ्रांत ज्ञान** और **सुखद रूप** का तो कोई भी आपसी रिश्ता नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान में भ्रांति आते ही वह सुखद नहीं हो जाता। इसी प्रकार भ्रांत ज्ञान सही भी नहीं हो सकता। अतः भ्रांत ज्ञान को सुखद और सही मानना भी एक बड़ी भ्रांति है। सारांश यह है कि कांट ने बामगार्टन की मूल धारणा को संशोधित-परिवर्द्धित करके स्वीकार किया है।

कांट पर अन्य प्रभाव भी पड़े हैं। उनकी शुद्ध और सापेक्ष सौंदर्य की धारणा पर ह्यूम, एडिसन, केम्स, बर्कले आदि का स्पष्ट प्रभाव है। अपने उदात्त-विवेचन में भी वे एडिसन तथा बर्क से बहुत प्रभावित हुए हैं। इन प्रभावों की प्रबलता की वजह से अनेक सौंदर्यबोधशास्त्री कांट की प्राथमिकता और मौलिकता को नीचा दर्जा देने लगे हैं।

बोसांके ने सौंदर्यबोधशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट किया है कि कांट तीन प्रमुख बातों से प्रभावित थे—

(क) ह्यूम द्वारा पेश की गई प्राकृतिक क्रम की धारणा को संगत सिद्ध

करना—इसका निरूपण 'क्रिटीक आफ प्योर रीज़न' में हुआ;

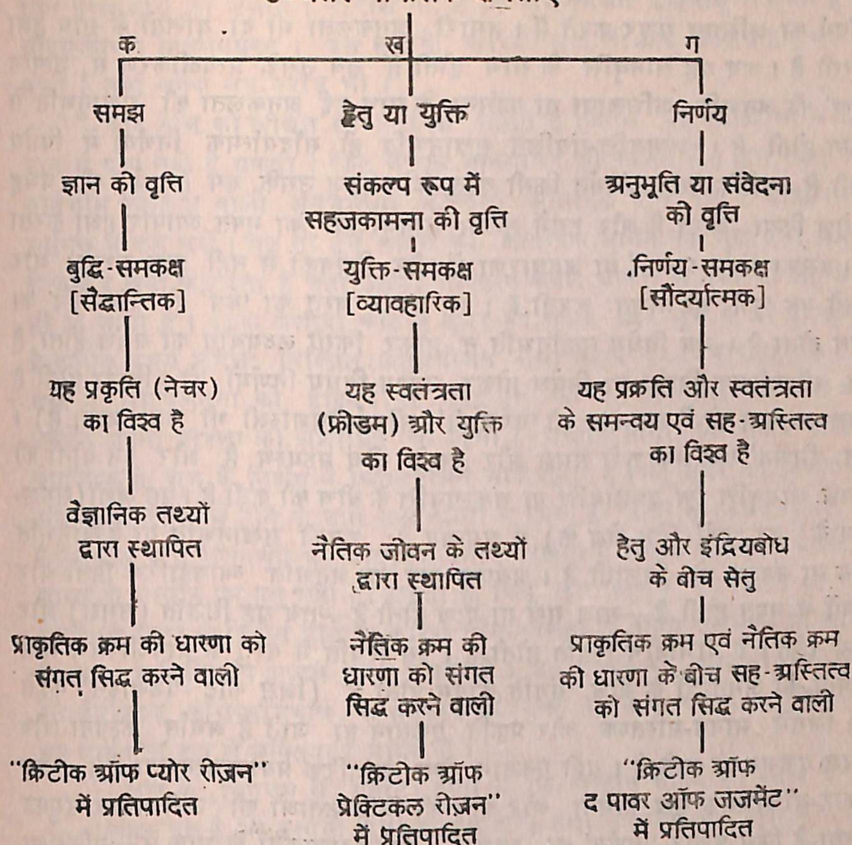
(ख) वॉल्फ़-संप्रदाय द्वारा पेश की गई नैतिक क्रम की धारणा को संगत सिद्ध करना—इसका निरूपण 'क्रिटीक आफ प्रैक्टिकल रीज़न' में हुआ, और

(ग), (क) एवं (ख) के बीच सह-अस्तित्व की धारण को संगत करना—इसका निरूपण 'क्रिटीक आफ द पावर आफ जजमेंट' में हुआ।

इन्हीं तीनों के आधार पर कांट ने उच्चतर मानसिक क्षमताओं को क्रमशः तीन भागों में बांटा—**समझ, तर्कहेतु** या **युक्ति** तथा **निर्णय**। समझ ज्ञानात्मक है और ज्ञान की विधा होने के नाते यह बुद्धि-समकक्ष है; हेतु या युक्ति सहजकामनात्मक (एपिटाइटिव) है और संकल्प की विधा होने के नाते यह युक्ति-समकक्ष है तथा निर्णय संवेदनात्मक है और सुख-दुःख की विधा होने के नाते यह रुचि-संभूत है। आगे चलकर इन्हीं के आधार पर कांट ने अनुभवों की भी क्रमशः तीन कोटियां कीं—'सैद्धांतिक', 'व्यावहारिक' तथा 'सौंदर्यबोधात्मक'। इन तीन भागों में से निर्णय अथवा सौंदर्यबोधानुभव दोनों के बीच **मध्यस्थ** का काम करता है। हीगेल की शब्दावली में कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार का सामंजस्य या समन्वय है। पृष्ठ ११५ पर दी गई तालिका से मूल साध्य स्पष्ट हो जाएगा।

अपने तर्कशास्त्र का पूरा इस्तेमाल करते हुए कांट ने प्रकृति के जगत् तथा स्वतंत्रता के जगत् को पृथक् रखा। किंतु उसी तर्कशास्त्र की वजह से उन्होंने इन दोनों जगतों के बीच एक सेतु कायम करने के उद्देश्य से निर्णय के सिद्धांत की स्थापना की। **प्राकृतिक जगत्** प्राकृतिक प्रत्ययों का क्षेत्र है; यहां ज्ञान की शुद्ध विधा है; इसमें बुद्धि (—प्राकृतिक ज्ञान) एवं प्रत्यक्षीकरण (संवेग समेत) का उपयोग होता है और यहां पूर्ण का ज्ञान पूर्ण-रूप में न होकर अंश-रूप में होता है। यहां अति-ऐंद्रियिक बोधों की नींव है और यह **प्राकृतिक आवश्यकताओं का जगत्** प्रस्तुत करता है। **स्वतंत्रता का जगत्** समग्र रूप में 'ब्रह्मांड की प्रकृति' को लेकर विवेचन करता है—हेतु या युक्ति द्वारा। इसमें पूर्ण की स्थापनाएं हैं; जैसे ईश्वर, स्वतंत्रता आदि। यहां प्रत्यक्षीकृत अनुभवों के परे ऐक्य कायम होता है जिससे ये सैद्धांतिक प्रमापन के अयोग्य हैं। यह जगत् **विवेकशील स्वतंत्रता का विश्व** प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रकृति और स्वतंत्रता के **दो पृथक्** जगत् क्रमशः विज्ञान और नैतिक जीवन के तथ्यों के आधार पर स्थापित हो जाते हैं।

इस पार्थक्य को ऐक्य प्रदान करना ज़रूरी है और ऐक्य के लिए ज़रूरी है कि नैतिकता का प्रभाव यथार्थ-जगत् पर पड़े तथा स्वतंत्रता महज़ छूंछा आदर्श न रह जाए। अतएव प्रकृति की अति-ऐंद्रियिकता और स्वतंत्रता की व्यावहारिकता के बीच ऐक्य कायम करने के लिए एक सेतु होना चाहिए। यह सेतु है—सुख-दुःखमय अनुभूतियों के जगत् के निर्णय जो **रुचि-निर्णय के सिद्धांत** में परिणत होकर कांट के आभ्यंतरीण (ए-प्रायरी) के दर्शन की शीर्षस्थ उपलब्धि हो जाता है। रुचि-निर्णय का सिद्धांत प्रकृति और स्वतंत्रता के जगत् की सह-अस्तित्व या समन्वय की भूमि है। यह इंद्रियबोधों के जगत् में हेतु का तथा हेतु के जगत् में इंद्रियबोधों का प्रतिनिधित्व



करता है और इस प्रतिनिधित्व की सारी जिम्मेदारी **सौंदर्यबोधशास्त्र** को सौंप देता है।

कांट के अनुसार 'निर्णय' दोनों जगतों के समन्वय का कार्य दो पद्धतियों से करता है—प्रथम, या तो वह हेतुप्रसूत अधिक सर्वसामान्य नियमों से आरंभ करके विशिष्टों पर केंद्रित होता जाता है अथवा द्वितीय, विशिष्ट मसलों से आरंभ करके आगे बढ़ते हुए उनके लिए सर्वसामान्य नियम की रचना करता है। इनमें से पहली पद्धति निश्चयक (डिर्टमिनिंग) निर्णय तथा दूसरी वैचारिक (रिफ्लेक्टिव) निर्णय की कही जाती है। रुचि का संबंध **दूसरे प्रकार** के निर्णय से है।

इस विवरण के बाद हम 'निर्णय' संबंधी कांट का महासूत्र प्रस्तुत कर सकते हैं जिसका विस्तार-विवेचन आगे होगा—

'रुचि-निर्णय के सिद्धांत' की आभ्यंतरीण बुनियाद है 'प्रयोजन-विहीन-प्रयोजनात्मकता' (परपज़िवनेस विदाउट परपज़) अथवा आंतरिक 'प्रयोजनात्मकता (सब्जेक्टिव परपज़नेस) का सिद्धांत।'

स्पष्ट है कि इसके द्वारा कांट किसी-न-किसी प्रयोजन के सापेक्ष रूप में ही सौंदर्य का अस्तित्व मंजूर करते हैं। हमारी अनुकूलता भी दो वृत्तियों के साथ हुआ करती है। जब यह **ज्ञानवृत्ति के साथ** होती है तब उसके प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न 'सुख' की अनुभूति **अभिलाषा या कामना के साथ** हुई अनुकूलता की सुखानुभूति से भिन्न होती है। ज्ञानवृत्ति-संवलित सुखानुभूति ही सौंदर्यात्मक निर्णयों में विधेय होती है क्योंकि इसके अंतर्गत किसी वस्तु को महज़ उसके रूप (फार्म) की वजह से पेश किया जाता है और इसमें मूलतः ज्ञानवृत्तियों का मुक्त व्यापार हुआ करता है। इसका संबंध प्रत्ययों या अवधारणाओं और विश्वकों से नहीं हुआ करता; और न ही यह 'पूर्ण' को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार वस्तु का 'रूप' ही सौंदर्यानंद का स्रोत होता है। जब विधेय सुखानुभूति न होकर किसी लक्ष्यबोध का संबंध होता है तब सौंदर्यात्मक निर्णय का निषेध होकर उद्देश्य-विधेय-निर्णयों की प्रतिष्ठा होती है (इस स्थापना को लेकर कांट को 'रूपवादी' सौंदर्यबोधशास्त्री भी कहा जाता है)। अतः 'निर्णय' एक प्रकार से समझ और हेतु के बीच मध्यस्थ है और इन दोनों की क्रमशः ज्ञानवृत्ति एवं इच्छावृत्ति या संकल्पवृत्ति के बीच की कड़ी है। यह अंशों (समझ-क्षेत्र के) का 'पूर्ण' (हेतु-क्षेत्र के) में समन्वय है; इसकी सुखानुभूति या दुःखानुभुति ज्ञान या संकल्प को मिलाती है। अतएव जब यह अनुभूति व्यावहारिक हितों और कार्यों से मुक्त होती है—मात्र सुख या दुःख होती है—तब यह सिद्धांत (समझ) और कार्य (हेतु) के बीचोंबीच स्थिति होती है। इस स्थिति में वस्तु के प्रत्यक्षीकरण और भोक्ता की क्षमताओं के बीच संगति कायम होती है (जिसे कांट 'डिज़ाइन' कहते हैं) जिससे मानव-मस्तिष्क और प्रकृति एकतान हो जाते हैं अर्थात् कल्पना और समझ एकजुट हो जाते हैं। यही एकतान होना आंतरिक प्रयोजनात्मकता है। "इस प्रकार सौंदर्यात्मक सुख कामना और ज्ञान की विशिष्टताओं को उसी प्रकार संयुक्त करता है जिस प्रकार 'निर्णय' का स्वभाव—प्रयोजनात्मकता के भाव में—युक्ति या हेतु (ऐक्य) तथा समझ (विविधता या पार्थक्य) की विशिष्टताओं को मिला लेता है। इससे प्रतीत होता है कि क्यों 'सौंदर्यात्मक निर्णय' ही प्रकृति और स्वतंत्रता, समझ और हेतु, ज्ञानमूलक और इंद्रियबोधात्मक के मानदंड के लिए अधीक्षक माना जाता है।[२४]

इस प्रकार रुचि के निर्णय में दो अनुकूलताएं होनी चाहिए : **भोग्य** (वस्तु)—अर्थात् जिसका प्रत्यक्षीकरण हो—और **भोक्ता**—अर्थात् जो वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करे—के एकतान संबंध जिनमें क्रमशः इनसे संलग्न **विशुद्ध रूप** के तथा **अनुभूतियों** के सौंदर्यबोधों का मेल हो। निर्णय भी दो प्रकार हो सकता है—वैयक्तिक हितों से संलग्न जैसे शुभ और सुखद का; तथा वैयक्तिक हितों से विहीन जैसे सुंदर का। **वैयक्तिक** हितों से संलग्न शुभ या सुखद के निर्णय में तीन बातें होती हैं—निर्णीय वस्तुओं का प्रत्यय (कांसेप्ट), प्रयोजन (परपज) का प्रत्यय तथा इच्छावृत्ति (फैकल्टी

२४. बर्नार्ड बोसांके : 'ए हिस्ट्री आफ़ ऐस्थेटिक्स', पृ० २६३।

आफ़ डिज़ायर) । वैयक्तिक हितों से विहीन सुंदर के निर्णय में भी तीन समानांतर बातें होती हैं—निर्णयासन्न वस्तुओं का प्रत्यय, प्रयोजनहीन प्रयोजनात्मकता का प्रत्यय तथा इच्छावृत्ति का अभाव । सारांश यह है कि **शुभ-निर्णय हित-संयुक्त होता है और सौंदर्य-निर्णय हित-वियुक्त** । इस सूत्र के ज़रिये सुख की कई विशेषताएं भी प्रकट होती हैं तथा अनेक अंतर्विरोध भी ।

कांट रुचि को आद्यंत आभ्यंतरिक मानते हैं जिससे यह किसी भी प्रकार से ज्ञान में योग नहीं दे सकती । किंतु वे इसे ज्ञानगोचर भी मानते हैं । हम किस प्रकार सार्वभौम स्वीकृति वाली अनुभूतियों को ऐसी आंतरिक मानें कि वे बहिर्तत्त्वों को शामिल न कर सकें । यह तो हमें सौंदर्य को आंतरिक मानने की एक ऐसी अति पर ले जाकर खड़ा कर देता है जहां उसका अस्तित्व केवल भोक्ता में तथा भोक्ता के लिए ही हो जाता है । इसके अलावा कांट ने सुंदर को सुखद और शुभ से भी पृथक् किया है क्योंकि इनमें क्रमशः निश्चित अंतर्प्रयोजन तथा साध्य के विचार होते हैं । किंतु बाद में सौंदर्यचेतना को इंद्रियबोधों और हेतु की मिलन-भूमि मानने के कारण उन्होंने अपनी धारणा को संशोधित भी किया । उन्होंने माना कि सुखद का निर्णय **वैयक्तिक** है, शुभ के निर्णय में **चिंतनप्रधान भाव** रहता है किंतु सुंदर का निर्णय **सार्वभौम** तथा **अनिवार्य** होने के नाते उक्त दोनों से भिन्न हो जाता है । चिंतनप्रधान भाव का अभाव रुचि के निर्णय को आंतरिक बनाए रखता है । कांट के अपने निजी तर्क-शास्त्र के आधार पर यह सही हो सकता है, किंतु इस 'निर्णय' में व्यक्ति या भोक्ता वैयक्तिक हितों से विहीन होने के कारण वैयक्तिकता से इतना निर्मुक्त हो जाता है कि वह एक निर्विकल्प मानव लगने लगता है । इस रुझान की वजह से तथा भोक्ता को वैयक्तिक रुचि-अभिरुचि के संस्कारों से मुक्त मानने के कारण वे सौंदर्य-निर्णय को सार्वभौम रूप से युक्तियुक्त मानते हैं ।

कांट के विवेचन से प्रतीत होता है कि उन्होंने सौंदर्य को सत्य से पृथक् (—"सुंदर वह है जो प्रत्ययों के बिना सुख दे") तथा उपयोगी और शुभ और सुखद (—"सुंदर वह है जो हितों के बिना सुख दे") से पृथक् करने के लिए 'सुख' तथा 'सुखद' के बीच भी अंतर किया है । वे स्वयं मानते हैं कि वैचारिक (रिफ्लेक्टिव) 'निर्णय' का आभ्यंतरीण सिद्धांत हमेशा अंतर्मुखी होता है; देश, काल और कारण के अन्य सभी आभ्यंतरीण (ए-प्रायरी) सिद्धांत प्रकृति की सत्ता में समाविष्ट हो जाते हैं । एक कमल के फूल या नीले मोर को देखने पर हममें आंतरिक प्रयोजनात्मकता या 'डिज़ाइन' का सौंदर्यात्मक सिद्धांत सक्रिय हो जाता है, किंतु बहिर्जगत् में पुष्पों या पक्षियों पर यह सिद्धांत सक्रिय नहीं होता । अतः ऐसे अवसरों पर प्राप्त संगति वस्तुतः हममें होती है, यद्यपि हम इसका स्थानांतरण वस्तुओं (भोग्य) में कर देते हैं । इस सक्रियता में सौंदर्यबोधात्मक सुख है । 'हित-संयुक्त' (इंटरेस्टेड) कामनाओं में तो अपनत्व और उपयोग होता है किंतु 'हित-वियुक्त' (डिस-इंटरेस्टेड) सुख (जिसे कांट 'मुक्त अनुग्रह' की संज्ञा देते हैं) प्रस्तुत वस्तु के वास्तविक अस्तित्व से उदासीन होता है अर्थात् यह 'मुक्त सुख' (फ्री प्लेज़र) होता है । इस मुक्त सुख में वस्तु के

अस्तित्व के बजाय वस्तु की भावना से संबंधन होता है। अतः अभिलाषा लुप्त रहती है; और यही लोप इसे **हित-वियुक्त सुख** से अभिषेकित करता है। अतः हम पुनः दुहराते हैं कि सुखद-संबंधी निर्णय 'हित-संयुक्त' होता है और सौंदर्य-संबंधी निर्णय 'हित-वियुक्त'। इस प्रकार कांट रूपवादी होने के अलावा एक प्रबल उद्गतिवादी होने का भी सबूत देते हैं।

सौंदर्यबोधात्मक 'निर्णय' या सौंदर्यात्मक अनुभव या रुचि का निर्णय चिंतन-प्रधान (कांटेम्प्लेटिव) है। एक कमल या मोर की रूपाकृति के प्रति आनंद का उद्गम उनके प्रति कामना नहीं है बल्कि उनकी उपस्थिति में हमारी ज्ञानात्मक (इंद्रिय-बोधात्मक+कल्पनात्मक) वृत्तियों का मुक्त-विलास है। कामना या तृष्णा से युक्त होने पर भोक्ता सौंदर्य-निर्णय करने में अयोग्य हो जाता है। कांतिचन्द्र पांडेय ने कांट के अनुसार सौंदर्यानुभव की विशेषताएं गिनाते हुए लिखा है कि "वे मानते हैं कि (अ) सौंदर्यानुभव हित-वियुक्त होने के साथ-साथ अपने अंतर्मुखी पक्ष में वैयक्तिकता से मुक्त एवं बहिर्मुखी पक्ष में पदार्थ के संबंध से मुक्त है; (ब) यह आंतरिकतया प्रयोजनात्मक है, अर्थात् हम कलात्मक प्रक्रिया का जो कारण मानते हैं वह ऐसी अनुभूति के संदर्भ से जुड़ा है जो आंतरिक तो है किंतु बहिर्तत्त्व से उसे कुछ लेना-देना नहीं है; (स) इसमें आभ्यंतरीण तथा अनुभवप्रधान धारणाओं के अंकुश से **कल्पना** और **समझ** की स्वतंत्रता है; और (द) यह सार्वभौम रूप से प्रामाणिक है।···यह विशुद्ध आंतरिक है; और सुखद एवं शुभ के अनुभवों से नितांत भिन्न भी।"[1] सौंदर्य-निर्णय संबंधी इन पांच मूल्यों के पीछे भी उनकी एक दार्शनिक योजना है। वे उच्चतर मानसिक क्षमताओं (समझ, हेतु और निर्णय) में से **समझ** की चार श्रेणियां मानते हैं—(१) गुण, (२) मात्रा, (३) विधि-विषयता (मोडेलिटी) और (४) संबंध। इन्हीं चार श्रेणियों के आधार पर ही सौंदर्यबोधात्मक अनुभव के मध्यवर्ती मूल्यों का विकास होता है; जैसे—

गुण के अनुसार यह (=सौंदर्यबोधानुभव) **हित-वियुक्त** है;

मात्रा के अनुसार यह **वैश्यक** या सार्वभौम है;

संबंध के अनुसार इसमें **'प्रयोजनविहीन प्रयोजनात्मकता'** का अभिधान होता है; और

विधि-विषयता के अनुसार **अनिवार्य** है।

गुण-श्रेणी के द्वारा सभी प्रकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का उन्मूलन होता है। जिस वक्त हम सौंदर्यबोधानुभव करते हैं, उस समय हम अपने स्थूल शरीर की कामनाओं और तृष्णाओं के बाह्य प्रभावों के वशीभूत नहीं होते। उस समय वैयक्तिक संबंधों और व्यक्तिगत लाभों का लोप हो जाता है और रुचि का निर्णय केवल सौंदर्यात्मक रहता है अर्थात् सुख विधेय के रूप में भी रहता है और हितों से बहिर्भूत भी। इस प्रकार यह सुख केवल वस्तु के ऐंद्रियिक भाव से भिन्न होता है अर्थात् यह

१. डॉ० कांतिचंद्र पांडेय : 'कम्पेरेटिव ऐस्थेटिक्स', भाग २ (चौखंबा, बाराणसी), पृ० २६२।

शुभ और सुखद से पृथक् होता है। इस स्थिति में हमारा वस्तु-अनुभव हित-वियुक्त तो होता ही है; प्रत्युत अत्यंत रोचक भी होता है क्योंकि रुचि हित पर आश्रित न होकर हित उत्पन्न करने वाली होती है अर्थात् वह स्थूल शरीरी सीमाओं का त्याग कर देती है।

मात्रा-श्रेणी के अनुसार रुचि का निर्णय सार्वभौम होता है। इसके द्वारा रुचि-निर्णय को सार्वजनिक संदर्भ से संयुक्त किया जाता है। गुण-श्रेणी में तो हम वस्तु के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं किंतु हितों से संचालित नहीं होते। जब सुख वैयक्तिक संबंधों और व्यक्तिगत लाभों से युक्त हो जाता है तब वह समान रूप से **सभी** को सुख प्रदान करने में भी सक्षम हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो विशिष्ट रूप से किसी पर भी लागू नहीं होता, वह सामान्य रूप से सभी पर लागू होता है। अर्थात् हित-वियुक्त स्थिति में जो वस्तु हमें सुख प्रदान करती है वह मुझे निर्वैयक्तिक अवस्था में एक मानव के रूप में सुख प्रदान करती है अर्थात् तब मैं एक विलक्षण अहंयुक्त व्यक्ति नहीं होता, अपितु एक मानव मात्र होता हूं। इस प्रकार इस श्रेणी में सौंदर्य-निर्णय अपनी सार्वभौमिकता की वजह से सुखद से भिन्न तथा चिंतन-प्रधान भाव के अभाव की वजह से शुभ से भिन्न हो जाता है।

संबंध-श्रेणी के अनुसार प्रयोजन-विहीन प्रयोजनात्मकता की स्थिति आती है। कांट ने कहा है कि सौंदर्य किसी वस्तु में प्रयोजनात्मकता का रूप है (दि ब्युटीफुल इज़ द फार्म आफ़ परपज़िवनेस इन एन ऑब्जेक्ट)। इसका आशय यह है कि हमारी तर्कहेतु (रीज़न) और इंद्रियबोध (सेंस पर्सेप्शन) की क्षमताओं में संगतिपूर्ण संबंध हों। यह संगति तभी होगी जब हमारे ज्ञानात्मक तथ्य की सभी अवस्थाएं हमारे ज्ञान के विकास के अनुकूल होंगी। इसके लिए आवश्यक है कि भोक्ता की विशिष्ट मानसिक अवस्था भी हो और यह अवस्था है—प्रयोजनहीन प्रयोजनात्मकता। इस अवस्था में हम शुद्ध सुख प्राप्त करते हैं, निर्वैयक्तिक होते हैं, और वस्तु के ज्ञान में हिस्सा न बंटाकर वस्तु संबंधी ज्ञान के लिए अपेक्षित अनुभूति के सुख में लीन होते हैं। मनुष्य में इंद्रियबोध और हेतु का सहयोग करने वाली यह वृत्ति 'सामान्य ज्ञान' (sensus communis) कहलाती है जिसका तात्पर्य है सर्वसामान्य लोकोत्तर एवं सर्वसंवेद्य ज्ञानगोचरता। इस ज्ञान में कोई निहित लक्ष्य या कामना नहीं होती अर्थात् सौंदर्यबोध साधन न होकर साध्य होता है।

अंततः विधि-विषयक श्रेणी (मोडेलिटी) में विकसित होकर 'रुचि का निर्णय' अनिवार्य हो जाता है। जब हम हित-वियुक्त मानव-मात्र हो जाते हैं; जब सौंदर्यानुभव सार्वजनीन हो जाता है तथा जब हममें प्रयोजनहीन प्रयोजनात्मकता की मनःस्थिति आ जाती है तब यह ज़रूरी हो जाता है कि हम जिस वस्तु को सौंदर्यपूर्ण मानें उसे **सभी** मनुष्य भी वैसा ही मानें अर्थात् वे सहमत हों, अर्थात् सभी की सुंदर वस्तु के प्रति अनिवार्यतः एक-सी प्रतिक्रिया हो। इस स्थापना की पुष्टि के लिए कांट ने ठोस कारण नहीं बताए हैं।

[सौंदर्य-निर्णय के ये चारों मूल्य भारतीय आचार्य भट्टनायक तथा अभिनव-

गुप्त के 'साधारणीकरण' से काफी साम्य रखते हैं यदि चौथी स्थिति का भी संशोधन कर दिया जाए]

सौंदर्य-मूल्यों की चार श्रेणियों के बाद 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान', कल्पना, सत्य से संबंधित कांट के विचारों का स्पष्टीकरण ठीक होगा ताकि हम उनके सौंदर्यसिद्धांत को आगे समझ सकें।

हम यह भली भांति जानते हैं कि **सौंदर्यात्मक सत्य और तार्किक सत्य भिन्न-भिन्न** होते हैं। 'उष: सूर्य के रथ की वल्गा थामे हुए आगे-आगे आई'—यह कथन सौंदर्यात्मक सत्य की दृष्टि से तो सही है किंतु तर्क एवं बहिर्मुखता की दृष्टि से गलत। बहरहाल ये किसी सीमा तक संयुक्त किए जा सकते हैं; यद्यपि सभी तार्किक सत्य सौंदर्यात्मक सत्यों में परिणत नहीं हो सकते। इस परिवर्तन के लिए पहले तो बहिर्मुखी तत्त्वों को शनैः-शनैः अंतर्मुखी होना पड़ेगा; और तार्किक सत्यों को सौंदर्यात्मक सत्यों की ओर मुखातिब होकर उन्हीं में परिणत होना पड़ेगा। अत: **कुछ और उचित** तार्किक सत्य ही सौंदर्यात्मक सत्य में परिणत हो सकते हैं, बशर्ते कि सत्य पहले 'पूर्णता' प्राप्त करे अर्थात् तार्किक सत्य के कुछ तत्त्वों का परित्याग किया जाए जिससे वह सहृदय के निकट हो जाए। इस प्रकार कांट ने सौंदर्य तथा कला को एक बौद्धिक प्रत्यय के इंद्रियबोधात्मक तथा काल्पनिक अवगुंठन की तरह माना है। यह बौद्धिक ज्ञान (लाइब्निज़ तथा वॉल्फ़ की धारणा के अनुसार) भ्रांत नहीं है; यह इंद्रियबोधात्मक या ऐंद्रियिक (सेंसिबल या सेंसुअस) है; यह वस्तु से अविलंब संबंधित है; यह सभी विचारों को सामग्री देता है और यह 'प्रातिभ ज्ञान' है। अत: **कांट के अनुसार ऐंद्रियिक ज्ञान ही प्रातिभ ज्ञान है।** प्रत्ययों ('समझ' की क्षमता) से विहीन प्रातिभ ज्ञान (कल्पना+ऐंद्रिकता) अंधा है और प्रातिभ ज्ञान से विहीन प्रत्यय खोखले हैं। इस प्रकार कांट ने अपने 'इंटुइशन' को क्रोचे के 'इंटुइशन' से पृथक् कर दिया। क्रोचे इसे ज्ञान-संबद्ध (प्रातिभ) न मानकर स्वयं-प्रकाश्य मानते हैं और बहुधा प्रत्ययों से असंयुक्त। कांट ने तो उपर्युक्त सूत्र द्वारा हेतु तथा ऐंद्रियिक प्रत्यक्षीकरण की ही 'संगति' कायम की है। प्रातिभ या ऐंद्रियिक ज्ञान-संपन्न कोई अस्पष्ट वस्तु को कांट 'प्रतीय' (फेनोमेना) कहते हैं जिसके दो पक्ष हैं—संवेदना-युक्त पक्ष 'पदार्थ' और बहुर्मुखी पदार्थ को एक व्यवस्था में प्रस्थित देखने-समझने वाला पक्ष 'रूप'। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान प्रतीयमान को पुनर्प्रस्तुत करता है। कांट की यह स्थापना भारतीय मायावाद के समानांतर प्रतीत होती है। फलतः वे इस विश्व तक को केवल प्रतीयमान (एपियेरेंस) मानकर तात्कालिक ज्ञेय से परे भी कुछ (Neumena : सत्-रूप) मानते हैं। किंतु उनके प्रातिभ ज्ञान का विषय तो प्रतीय ही है।

हम देखते हैं कि तर्कहेतु तथा ऐंद्रियिक प्रत्यक्षीकरण के द्वैताद्वैत को लेकर ही कांट ने अपने ढंग से सत्य तथा प्रातिभ ज्ञान की चर्चा की है। इससे ही उनके सौंदर्य-चिंतन में स्थूल बनाम सूक्ष्म का द्वंद्व भी झलक उठता है और इसकी वजह से ही वे कल्पना को उच्चतर मानसिक क्षमताओं—समझ, हेतु और निर्णय—के त्रित्व के बीच न रखकर 'संवेदना के तथ्य' के अंतर्गत रखते हैं (दे० क्रोचे : 'ऐस्थेटिक्स',

पृ० २७७) । उनके मुताबिक कल्पना तीन प्रकार की होती है—(१) उत्पादक, (२) पुनरुत्पादक और (३) मुक्त या सौंदर्यात्मक। **उत्पादक कल्पना** अनुभव से असंपृक्त होते हुए भी 'समझ' पर आश्रित होती है और विश्वकों-विशेषों अथवा विचार-यथार्थ की समस्या सुलझाती है। **पुनरुत्थान कल्पना** स्वतंत्र न होकर अनुभव-मूलक कानूनों से नियंत्रित होती है। केवल **मुक्त या कलात्मक कल्पना** ही 'निर्णय' में योगदान करती है। यह 'समझ' के नियमों के अधीन न होने से मुक्त है; साहचर्य के नियमों के अधीन न होने से पुनरुत्पादक नहीं है और सहज-स्फूर्त होने की वजह से उत्पादक है। इस प्रकार कांट कल्पना को मौलिक, निर्विकल्प, पूर्ण तथा उत्पादक मानते हैं। लेकिन उनकी यह स्थापना—साहचर्य और अनुभवों से कल्पना के पार्थक्य की—उनके दर्शन के अनुसार ही ग्राह्य है; मनोविज्ञान और सौंदर्यबोधशास्त्र इस प्रकार की अपूर्ण कल्पना के अस्तित्व का अंगीकार कतई नहीं करते।

कल्पना को अधिक चारु बनाने के लिए उन्होंने **निर्णय** की दो वृत्तियों की योजना की—पहली **रुचि** और दूसरी **प्रतिभा**। ललित कलाओं की सृजनात्मक (उत्पादक) क्षमता को बढ़ाने के लिए **रुचि** के साथ **प्रतिभा** का संयोग होना चाहिए। प्रतिभा का सार सौंदर्यात्मक भावों के अंकन की शक्ति है; और सौंदर्यात्मक भाव अथवा विचार ही काल्पनिक प्रस्तुत्य हैं जिनकी महत्ता को कोई भी प्रत्यय रिक्त नहीं कर सकता। प्रतिभा में तात्कालिक सहज-स्फूर्त सक्रियता होती है; इसके लिए कोई नियम नहीं दिए जा सकते; इसके विकास के लिए आत्मा (जीइस्ट) का होना अनिवार्य है (—संभवतः लांजाइनस-परंपरा का भी परोक्ष प्रभाव) और यह स्वयं 'प्रकृति' ही है जो तर्कहेतु के वेश में सक्रिय है। इन चार तत्त्वों से मिलकर प्रतिभा मुक्त (-सृजनात्मक) कल्पना के द्वारा सौंदर्यात्मक भावों अथवा विचारों का अंकन करती है जो केवल स्थूल प्रतीकों से पूरी तौर पर नहीं समझे जा सकते, और जिनके लिए न ही कोई कानून बनाए जा सकते हैं (यहां कांट बर्क-सम्मत भाषागत उदात्त की भी आलोचना करने की तैयारी कर लेते हैं)।

किंतु कलात्मक प्रतिभा की जो शक्ति है उसमें आत्मा की वजह से अलौकिकता भी आती है अर्थात् आत्मतत्त्व (मानस की प्रचुरता) कृति के उद्देश्य के रूप में एक 'निश्चित प्रत्यय' की पूर्व-धारणा रखता है; यद्यपि यह निश्चित प्रत्यय पर्याप्त रूप से पेश नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अपरिभाषेय भी है। अतः सृजनात्मक कल्पना इस (निश्चित प्रत्यय) का चेतन जगत् में विस्तार करने के लिए एक बिंब का निर्माण करती है। इस प्रकार सृजनात्मक क्रिया में कल्पना का नियंत्रण ये प्रत्यय करते हैं जिन्हें 'समझ' की वृत्ति प्रदान करती है। इन्हीं का परिणाम 'बिंब' होता है। "इस बिंब के कुछ तत्त्व तो प्रत्यय या धारणा को अपर्याप्त रूप से पुनर्प्रस्तुत करते हैं और शेष दूसरे तत्त्व सृजनात्मक कल्पना के योगदान होते हैं। वे प्रत्यय-सन्निहित परिणामों को तथा उसके अन्य प्रत्ययों के साथ के संबंधों को अभिव्यक्त करते हैं। वे किसी वस्तु के गुण (एट्रीब्यूट्स) कहे जाते हैं जिसके (वस्तु के)

प्रत्यय पर्याप्त रूप से प्रस्तुत नहीं किए जा सकते ।"[1] इस संपूर्ण गुण-प्रत्यय-युक्त बिंब को स्पष्ट करने के लिए कांट ने स्वयं एक उदाहरण दिया है : यदि हम यूनानी देवता जुपीटर का बिंब-विधान करना चाहते हैं तो पहले हमें वे प्रत्यय चाहिए जो जुपीटर की धारणा या प्रत्यय की अपरिभाषेयता को कुछ तत्त्व दें; तदुपरांत (सृजनात्मक कल्पना के संयोग से) वे गुण चाहिए जो उसे अन्य प्रत्ययों से जोड़ दें : जैसे उनका गरुड़, पंजों में धरा हुआ विद्युत् वज्र आदि । इस तरह से प्रत्यय-गुण (कांसेप्ट-एट्री-ब्यूट्स) के संयोग से बिंब के तत्त्व पूरे हो जाते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि कांट कल्पना की सीमाओं को प्रतिभा के संयोग से विस्तृत कर देते हैं और उसकी सृजनात्मक सक्रियता में उसे साफ-सुथरे प्रत्ययों से भी संबद्ध कर देते हैं । ये प्रत्यय प्रतीकों के बहुत नज़दीक हैं । यही नहीं, ये अतींद्रिय वास्तविकता के क्रम या एक नैतिक क्रम की ओर भी इशारा करने लगते हैं ।

इसी को विकसित करते हुए कांट दो तरह का सौंदर्य मानते हैं—**विशुद्ध (प्योर) सौंदर्य** तथा **संपृक्त (एढेरेंट) सौंदर्य** । विशुद्ध सौंदर्य मुक्त है, और संपृक्त आधारित या आश्रित । विशुद्ध या मुक्त सौंदर्य में हमें प्रयोजन या उपयोग का ज्ञान नहीं होता । इसमें हम मुआफिक डिज़ाइन के प्रति तुरंत ही अपनी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं । प्रकृति के मुक्त सौंदर्य जैसे फूल, पक्षी, शंख, रवा-कण और मूक स्वांग, संगीत फैंटेसियां आदि इसके उदाहरण हैं । किसी फूल की आशंसा के लिए ज़रूरी नहीं है कि हम एक वनस्पतिशास्त्री हों, या किसी पक्षी की बोली की आशंसा के लिए ज़रूरी नहीं है कि हम ध्वनि-भौतिकशास्त्री हों । यदि हम फूल या पक्षी को एक वनस्पतिशास्त्री या ध्वनि-भौतिकशास्त्री की तरह से परखते हैं तो हमारे सम्मुख एक प्रयोजन या उपयोग होता है और शुद्ध सौंदर्य की सत्ता के साथ-साथ ही प्रयोजन-विहीनता की स्थिति भी लुप्त हो जाती है । यह सौंदर्य अपूर्ण है क्योंकि इसमें रूप का ही विशुद्ध बोध होता है व्यावहारिक बुद्धि का नहीं । अतः कला विशुद्ध सौंदर्य नहीं है, यद्यपि कभी-कभी प्रकृति के मुक्त सौंदर्यों की तुलना में प्रत्ययविहीन कला-निर्माण हो जाता है जिसके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं ।

संपृक्त या आधारित या आश्रित सौंदर्य में दोनों प्रकार की एकतान तुष्टियां हो जाती हैं—पहली 'रूप' के विशुद्ध बोध की और दूसरी व्यावहारिक बुद्धि की । अतः इसमें विशुद्धता की हानि और प्रचुरता का लाभ तो होता ही है; किसी मान्य शुभ के साधन के रूप में 'विषयवस्तु' तथा आकृति की संगति के लिए 'रूप' का भी संयोग हो जाता है । इसके उदाहरण घर, महल, मंदिर, बाउलियां आदि हैं । "कांट के लिए संपृक्त सौंदर्य की सर्वोच्च दशा आदर्श सौंदर्य है । उनका विश्वास है कि पुरुष और स्त्रियां केवल संपृक्त सौंदर्य ही रखते हैं क्योंकि उनके रूप की आशंसा में हम उनके टाइप और उपयोग के भाव में से कभी भी सार नहीं निकाल सकते । एक सुंदर नारी मात्र रेखापूर्ण ताल कभी नहीं हो सकती । हममें अपनी सुंदरता की अपील

1. डॉ० कांतिचंद्र पांडेय : वही, भाग दो, पृ० ३२७ ।

करने के लिए उसे नारी के करतबों के निमित्त उत्तम तरीके से व्यवस्थित नारी की तरह प्रस्तुत होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मानवता का आदर्श मानव-शरीर में प्रतिष्ठित है।"[१] इस प्रकार कांट-सम्मत संपृक्त सौंदर्य अपने शीर्षबिंदु पर पहुंचकर नैतिक महत्ता का भी समावेश करता हुआ प्रतीत होता है। अतः कला का सौंदर्य संपृक्त सौंदर्य है। सौंदर्य कोई सुंदर वस्तु नहीं, बल्कि एक वस्तु का सुंदर पुनर्प्रस्तुतीकरण है। सारांश यह है कि कांट—संभवतः अनजाने ही—संपृक्त सौंदर्य का निरूपण करते-करते आदर्श सौंदर्य के चरमोत्कर्ष को छूते हैं, और आदर्श सौंदर्य पर पहुंचकर नैतिक निर्णयों की ओर इशारा करने लगते हैं। संपृक्त सौंदर्य किसी एक प्रत्यय से संबद्ध होने की वजह से प्रतिभा की सक्रियता के वृत्त में आ जाता है और एक सौंदर्यबोधात्मक भाव या विचार को प्रस्तुत करने लगता है। इसीलिए, जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि कला का सौंदर्य संपृक्त सौंदर्य होता है।

उदात्त के निरूपण में भी कांट ने निर्णय की क्षमता का ही विस्तार किया है जिसमें शनैः-शनै नैतिक अभिरुचियों का पदार्पण हो जाता है।

ऐतिहासिक संदर्भ में कांट बर्क की उदात्त संबंधी धारणाओं से अनुप्रेरित थे। बर्क ने सुख की सुखदता में, सौंदर्य और पीड़ा की सुखदता में उदात्त का अभिधान किया है। कांट ने भय के उदात्तीकरण में उदात्त की प्रतिष्ठा की जिसके रेखाचिह्न हीगेल के प्रतीकात्मक तथा रोमांटिक कला-विवेचन में मिलते हैं। कदाचित् वे विंकेलमान से भी परोक्ष रूप में प्रभावित रहे हैं। समुद्र-दर्शन पर विंकेलमान ने कहा था कि पहले तो मस्तिष्क में अधोगामी दबाव आता है किंतु बाद में यह अधिक शक्ति-संपन्न होकर पुनर्प्रस्तुत होता है। कांट ने अपने उदात्त-विकास के दो चरणों को मानो इसी अनुशीलन पर आधारित किया है। बर्क की तरह वे भी उदात्त और सुंदर का समन्वय नहीं करते और दोनों को पृथक् विधाएं मानते हैं, जबकि यह सौंदर्य का ही विस्तार है।

उदात्त-अनुभव के दो चरण हैं—**पहले चरण में** प्रकृति के आकार या शक्ति की उपस्थिति में मानवीय बोधात्मकता का स्थगन या स्तंभन (सस्पेंसन), और **दूसरे चरण में** उसका प्राकृतिक महत्ता के प्रभाव से पलटकर मनुष्य के नैतिक बड़प्पन पर आलंबन। इस प्रकार पहले प्रकृति मानव को जीत लेती है और बाद में मानव की महत्ता और मर्यादा जीत जाती है; पहले अवरोध होता है और बाद में अतिशय बहाव। इस प्रकार कांट जिस नैतिकता को सौंदर्य से नामंजूर कर देते हैं, उसे ही उदात्त में ग्रहण करके प्राथमिक स्थान दे देते हैं। इस प्रकार सुंदर प्रकृति में 'रूप' से बंधा होने के कारण निश्चित-सा है किंतु उदात्त सीमाहीन होने के कारण अनिश्चित है; सुंदर की तुष्टि गुणमूलक है, उदात्त की मात्रामूलक; सुंदर में आनंद निर्विरोध मिलता है, उदात्त में पहले जीवंत ऊर्जा का क्षणिक अवरोध और बाद में प्रबलतर प्रवाह होता है; सुंदर में वस्तु की ओर अनुभूति उन्मुख होती है, उदात्त में भोक्ता

१. गिलबर्ट और कुह्न : 'ए हिस्ट्री आफ़ ऐस्थेटिक्स' (सन् १९५४ का संस्करण), पृ० ३३८।

की ओर; सुंदर विराम का विमर्श देता है, उदात्त गति का; सुंदर कल्पना को 'समझ' के हवाले करता है और उदात्त 'हेतु' के। अत: उदात्त मानस से संबंधित हो जाता है और सुंदर की तुलना में संगतिपूर्ण रूपों के बजाय अन-रूप (फार्म-लेस) वस्तुओं पर आश्रित रहता है जिसके अंतर्गत रूपहीनता और कुरूपता दोनों ही उदात्त का आश्रय हो सकती हैं। कांट यह स्पष्ट नहीं कर सकते हैं कि उदात्त-अनुभव के क्रमशः बाह्य और आंतरिक तनाव में वस्तु और भोक्ता में से किसमें उदात्त की प्रतिष्ठा हो। दूसरे चरण का अनुभव सौंदर्यात्मक न होकर नैतिक अधिक है; और, वस्तु से संबद्ध न होकर भावुक से संबद्ध है। अत: हम उदात्त और नैतिक को समानांतर मानते हुए भी समान नहीं मान सकते और परिणत रूप में उदात्त को वस्तुबहिर्भूत भी नहीं मान सकते। उदात्त को सुंदर से पृथक् न मानकर सुंदर का विस्तार मानने से ही उसे वस्तु अंतर्भूत किया जा सकता है तथा मात्र भय या प्रशंसा के संवेगों के अलावा अन्य संवेगों से संबद्ध करके उसे अधिक प्रचुर और व्यापक बनाया जा सकता है। कांट ने उदात्त के उदाहरण केवल प्रकृति से देकर मानो उसे और भी संकुचित कर दिया है।

अपनी मान्यताओं की भूमिका पर ही उन्होंने **आकार** (साइज़) के आधार पर गणितात्मक उदात्त तथा **बल** (पावर) के आधार पर गत्यात्मक उदात्त नामक दो भेद किये। गणितात्मक उदात्त का अनुभव मापदंडों से परे की वस्तुओं का है क्योंकि उनकी संख्या और विस्तार दोनों अनंत-से हैं, जैसे आकाश के नक्षत्रपुंज, सिंधु-कूल के रेणुका-कण, इत्यादि। इसमें **विशाल** (ग्रेट) का बोध होता है जिसकी संख्या तथा विस्तार का मानदंड नहीं है। अत: यह प्रशंसा या सम्मान की भावना जगाता है। गत्यात्मक उदात्त का अनुभव मानवीय शक्ति-सीमा को लांघ जाता है, जैसे समुद्र के वक्षस्थल पर तूफान, घनघोर वर्षा-वेग आदि। इसमें भय के स्रोत होते हैं; किंतु इसके अनुभव में भय की अनुपस्थिति अनिवार्य है। भय-विरोध के कारण यह हमारे नैतिक व्यक्तित्व से जुड़ जाता है। सारांश यह है कि **विशाल** और बलवान वस्तुओं के सामने जब भय का लोप होगा तभी उदात्त का अनुभव होगा, क्योंकि भय की उपस्थिति में उदात्त का निर्णय उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार कामना की उपस्थिति में सुंदर का। अतएव केवल दो प्रकार के भावों से आबद्ध यह उदात्त-चिंतन निहायत सीमित है। इसकी महत्तम उपलब्धि है—उदात्त को प्रातिभ ज्ञान की उपज नहीं मानना।

जॉर्ज फ्रीडरिख विल्हेम हीगेल

जॉर्ज फ्रीडरिख विल्हेम हीगेल (१७७०-१८३१) की सौंदर्यबोधशास्त्रीय स्थापनाओं में यूरोपीय दार्शनिक धाराओं का अद्‌भुत मेल है।

हीगेल के संपूर्ण दर्शन में एक मूर्त या स्थूल प्रत्यय (कांक्रीट कांसेप्ट) की पुष्टि हुई है जो साधारण या वैज्ञानिक विचारों से नहीं जाना जा सकता और जो कला का निबंधन करता है। कला का धर्म सूक्ष्म-प्रत्यय-प्रकाशन नहीं है; वह तो

निरपेक्ष आत्मचैतन्य (एब्सोलूट स्पिरिट) के क्षेत्र में स्थित है। इस प्रकार कांट (१७२४-१८०४), शिलर (१७५९-१८०५), शेलिंग (१७७५-१८५४), सोल्गर (१७८०-१८१९) आदि हीगेल के अग्रगामी के रूप में आते हैं क्योंकि इनमें से लगभग सभी उनकी तरह सौंदर्य को 'आइडिया'-क्षेत्र के अंतर्गत रखते हैं जो "साधारण चेतना से परे और सत्य की धारणा से पृथक् है क्योंकि इसमें प्रतीति या 'आभास' का लोप नहीं होता"। हम आसानी से प्लेटो—बामगार्टन—कांट—शेलिंग—सोल्गर—हीगेल की कड़ी जोड़ सकते हैं जो कला और दर्शनशास्त्र के बीच एक समान भूमि खोजती रही है। कांट के 'आलोचना-त्रित्व' के आधार पर शेलिंग ने आवश्यकता-संभूत सत्य तथा स्वतंत्रता-संभूत शुभ का सौंदर्य में समन्वय कराया जहां 'आवश्यकता और स्वतंत्रता की उदासीनता' है और, जहां सौंदर्य दर्शन से भी ऊंचा हो जाता ह क्योंकि यह विश्वरूप में ईश्वर-जन्य है। इसी प्रकार सोल्गर भी कला को ईश्वर का सृजनात्मक कार्य मानते हैं जिसका सौंदर्य, अन्य भूतों की तरह, ईश्वर की वास्तविक शालीनता के सामने एक दर्प की तरह है। ...हीगेल ने छोटे-मोटे भेदों के साथ इस सुदीर्घ परंपरा का शोध किया। उन्होंने कला को संकीर्ण बौद्धिक व्याख्याओं की जकड़ तथा दार्शनिक पराधीनता से स्वतंत्र किया; विंकेलमान द्वारा ईसाई-कला के आदर्शों की अपेक्षा ग्रीक आदर्शों की श्रेष्ठता की धारणा को ढहा कर दोनों का समवाय (क्लासिकल के प्रति आस्था तथा रोमांटिक के प्रति आश्वासन) किया और तदुपरांत, शिलर एवं श्लेगेल के अधकचरे इतिहास-विवेचन का संशोधन करके कला के इतिहास तथा कला के पद्धति-चक्र, दोनों को एक ही द्वंद्वात्मक विधि का प्रकाश माना—दोनों भिन्न, किंतु अन्योन्याश्रित!

हीगेल ने अपनी संपूर्ण दर्शन-संहिता को द्वंद्वमान पर आश्रित किया जिसमें कार्य-कारण वाली प्लेटोनिक परंपरा की अस्वीकृति के बाद द्वंद्वात्मक अंतर्विश्लेषण द्वारा ब्रह्मांड या जगत् की व्याख्या की जाती है। उनके सौंदर्य-दर्शन और कला-दर्शन को समझने के लिए कुछ मूल प्रमाओं का ज्ञान अनिवार्य है; जैसे, तर्कहेतु-नियम (रीज़न), अंतःश्रेणियां (कैटागरीज), निरपेक्ष या निर्विकल्प (एब्सोल्यूट), आइडिया, आदि। एतदर्थ पहले हम उन्हें स्पष्ट करेंगे। उनके अनुसार हम जगत् के समस्त व्यापार के मूल में सापेक्ष पूर्वापर श्रृंखला वाला कोई **कारण** नहीं मान सकते क्योंकि आदि कारण से निःसृत होने वाले कार्य के कारण को हम नहीं जान सकते। इसके लिए हमें किसी **अवश्यहेतु** या तर्कहेतु के नियम की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी क्योंकि यह निरपेक्ष है, यह देश-काल-संबंधों से मुक्त है, यह स्वयं-सिद्ध है, यह अनिवार्यता-संचालित है, यह अतींद्रिय है तथा यह वैयक्तिक अनुभवों से अज्ञात् है। 'कारण' में तो वस्तुभाव (-'होता है') है, लेकिन 'अवश्यहेतु' में अन्य-निरपेक्ष-भाव ('अवश्य होना चाहिए') मौजूद है। इसीलिए अवश्यहेतु को जगत् की व्याख्या के लिए स्वीकार किया जाता है। हमें आगे बढ़ने के लिए इस रहस्यवादी दुरूहता को मंजूर करना ही पड़ेगा।

चूंकि यह नियम अनंत (देश-काल-मुक्त) होने के साथ-साथ आदि-मध्य-

अंत-विहीन भी है, अतः यह वृत्ताकार या गोलकाकार है। इसी के मध्य और माध्यम से समस्त जगत् की वस्तुएं आत्म-प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार द्वंद्वन्याय के अनुसार अनंतता (इनफाइनिटी) रेखाकार न होकर वृत्ताकार है। सौंदर्य भी इसी तरह इसी क्रम से अनंत है क्योंकि यह सापेक्षता से स्वतंत्र है, आत्म-स्थित है, आत्म-पूर्ण है और आत्म-व्याख्येय है अर्थात् यह अपने क्षेत्र या गोलक से बाहर के कारणों या प्रयोजनों की ओर उन्मुख न होकर प्रत्यक्षीकरण को तुष्ट करता है।

अवश्यहेतु या रीज़न के नियम के द्वारा सभी 'वैश्वकों' का आंतरिक संबंधन भी किया जाता है। ऐसे व्यवहारों में यह तर्क का भी कार्य करता है। उदाहरणतः 'यह मोर है, इसीलिए यह पक्षी है। सभी मोर सुंदर होते हैं क्योंकि ये नीलवर्ण होते हैं, इसीलिए कई नीलवर्ण वस्तुएं सुंदर होती हैं।'—इस कथन में मोर, नीलवर्ण तथा सुंदर तीनों विश्वक (यूनिवर्सल) हैं और परस्पर अंतःसन्निहित भी हैं। मोर के विश्वक में नीलवर्ण का विश्वक तथा नीलवर्ण के विश्वक में सुंदर का विश्वक सन्निविष्ट हो जाता है। इस-लिए मोर कहने पर उसका नीलवर्ण, और उसके नीलवर्ण की चर्चा में उसकी सुंदरता ग्रहण कर ली जाती है अर्थात् मोर-विश्वक का पक्षी-विश्वक में, नीलवर्ण-विश्वक का सौंदर्य-विश्वक में तादात्म्य हो जाता है। इस प्रकार समस्त जगत् की सभी वस्तुएं और संपूर्ण व्यापार अवश्यहेतु का ही अनुसरण करते हैं। यहां इसके आधार पर हमने प्लेटो की तरह ही विश्वकों की प्राप्ति की है जो नितांत सूक्ष्म के बजाय मूर्त और ऐंद्रिक संबंधों से संयुक्त भी हैं। यदि हम इस विश्वक-सत्ता से परे विशुद्ध सत्ता की खोज करें तो हमें 'ऐंद्रियिक पदार्थ' को अस्तित्व प्रदान करने वाले तत्त्वों की खोज करनी पड़ेगी जो (हीगेल के अनुसार) अनैंद्रिक हैं। उदाहरणार्थ : **'सभी मोर'** कहने पर 'सभी' की उपसर्गता परिमाण (क्वांटिटी) का बोध कराती है जो मोर (ऐंद्रियिक वस्तु) से पूर्व है, मोर (वस्तु) से संश्लिष्ट है और मोर (वस्तु) से स्वतंत्र भी है। यदि हम इसे 'मोर' (वस्तु) के आगे से अलग कर दें तो 'मोर' की सत्ता का प्रकाश नहीं होगा। अतः दोनों की उपस्थिति लाज़िमी है : 'सभी' के न होने पर मोर जगत् या वस्तु (मोर) नहीं हो सकती तथा 'मोर' के न रहने पर इस अनैंद्रिक धारणा (जैसे सभी, कुछ, एकत्व, बहुत्व, द्रव्यत्व आदि) का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अतएव हम यहां इन अनैंद्रिक धारणाओं को ही अंतःश्रेणियां कहते हैं। ये अंतःश्रेणियां पदार्थ (मैटर) से अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं। इनकी पदार्थ-सत्ता तो नहीं होती किंतु आंतरिक अस्तित्व होता है। अतः **ये ऐंद्रिक संबंध-रहित विशुद्ध विश्वकों की तरह हैं** और इनके द्वारा ही ब्रह्मांड या जगत् अवश्यहेतु के नियम (अर्थात् अपने कार्य-व्यापार) का व्यवहार करता है। अतः इन **अन्तःश्रेणियों के द्वारा ही जगत् की सत्ता प्रकाशित होती है**। ये निर्विकल्प या निरपेक्ष परिभाषाएं, धारणाएं, चिंतन आदि भी हैं।

विश्वकों की सत्ता मानने पर ही निरपेक्ष या निर्विकल्प की स्वीकृति होती है। यदि हम विश्वकों के जगत् से पृथक् हो जाएं तो ज्ञान होने पर भी हमें ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञेय तो ज्ञात पर आश्रित है। प्रत्येक विशेषक में भी विश्वक की

ही सार-सत्ता होती है : एक चित्रांकित या काव्यवर्णित मोर (विशेष) के मूल में विचार-प्रक्रिया से उद्बुद्ध सामान्य मोर (विश्वक) की सार-सत्ता है ही। अतः ज्ञान और ज्ञेय के बीच तादात्म्य रहता है, यद्यपि ज्ञान में ही समस्त ज्ञेय सन्निहित है। अतः केवल विशेष मोर द्वारा अर्थात् बहिस्सत्ता के द्वारा हमें पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। हमारी आंतरिक 'चित्शक्ति' या आत्मचैतन्य पूर्णता की प्राप्ति की ओर निरंतर अग्रसर रहता है। अतः ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता त्रित्व ही जगत् की सभी वस्तुओं का उद्गम-स्रोत है। मनुष्य अपने आत्मचैतन्य के द्वारा विश्वकों और अंतःश्रेणियों के संयोग से अपूर्ण और खंडित को आत्म-प्रकाशित करता हुआ पूर्णता की उपलब्धि करता है और यही पूर्णता-प्राप्ति निर्विकल्प या निरपेक्ष में है; और कला में भी। अतएव निरपेक्ष में ज्ञान-ज्ञेय (ज्ञाता तो संयोजक है) का सामंजस्य स्वरूप होता है। इस निरपेक्ष में ही अंतःश्रेणियां, मानस-सत्ता, ऐंद्रिक ज्ञान (अर्थात् पदार्थ और चैतन्य दोनों ही) आदि स्थित हैं। यह निरपेक्ष आदिम मानस है जिससे समस्त ब्रह्मांड का विस्तार होता है ; यह सार्वभौम मस्तिष्क है जो विशिष्ट से परे होकर वस्तुसत्ता के बजाय तर्कयुक्त सत्ता रखता है; यह स्थान और काल के संबंधों से मुक्त है, और अनेकता में एकता है। यह आंतर और बाह्य के संयोग में प्राप्य है, अर्थात् अनेकता में, विषमता में, खंडता में यह एकत्व, सामरस्य और अखंडता है। इस प्रकार निरपेक्ष ही विश्व-मानस है जो ब्रह्म के समकक्ष है। इसके उद्गम में प्लेटो की आदर्शवादी परिणति है जिसमें उनके द्वंद्वमान का योग है। हीगेल-दर्शन का तो यह महत्तम प्रकृत मूल्य है; किंतु यह निरपेक्ष मानव-व्यक्तित्व का एक बहुत ज़बर्दस्त हंता रहा है।

उपर्युक्त परिभाषी व्याख्याओं के बाद हीगेल की द्वंद्वात्मक पद्धति ज्ञानगोचर हो सकती है। उनके अनुसार विकासक्रम सीधा न होकर द्वंद्वात्मक है जिसमें दो विरोधी तत्त्वों—जिनमें से एक **वाद** और दूसरा **प्रतिवाद** है—का **समन्वय** हुआ करता है। इस प्रकार एक त्रिपुट या त्रित्व (ट्रायड) कायम होता है जिसका अंतिम तत्त्व (—समन्वय) आगामी त्रिपुट का पहला तत्त्व (—वाद) हो जाता है और इसी प्रकार छोटे त्रिपुट को बड़े त्रिपुट में समाहित करने की एक धारावाहिक श्रृंखला चला करती है जहां अग्रगामी त्रिपुटों में से प्रत्येक के अंतिम तत्त्व में पहले दोनों तत्त्वों का संतुलन और समन्वय होता है। इस त्रिपुट-क्रम में से सबसे अंतिम अंतःश्रेणी 'निरपेक्ष आइडिया' की है। हीगेल के अनुसार निरपेक्ष आइडिया या 'आदि-मस्तिष्क' जगत् के प्रकाश के पूर्व का मस्तिष्क है। यह विश्व का प्रथम अवश्य-हेतु या तर्कहेतु (रीज़न) है।

द्वंद्वमान-पद्धति के आधार पर ही हीगेल ने ज्ञान का स्वभाव भी स्वयं-विभाजक, स्वयंप्रकाशक और स्वयंसंश्लेषक माना है। ज्ञान अपने को अनेक आकारों तथा अनेक अंशों में विभक्त करता है और अनेक व्यापारों (कला भी) द्वारा अपना पूर्ण और नवीन स्वरूप प्रकाशित करता है। इन अनेक व्यापारों के अंतर्गत अंतर्जगत् तथा बाह्यजगत् का आत्मचैतन्य में समन्वय भी शामिल है (जिसमें

पदार्थ चेतना में विकसित हो जाता है) तथा सत्ता-असत्ता का द्वंद्व एवं संबंध भी। अतएव एक ओर तो **अंतर्जगत्** और **बाह्यजगत्** और उनके समन्वय वाले **आत्मचैतन्य-जगत्** के त्रित्व में 'आइडिया' की स्थिति है और दूसरी ओर 'लॉजिक'-सम्मत सत्, तत्त्व और विकासशील विचार (बीइंग, एशेंस तथा नोशन) के त्रित्व में भी। कहने का तात्पर्य है कि आइडिया में त्रिपुट की स्थिति होती है; उसमें अंतःश्रेणियों की चरम परिणति भी प्राप्त होती है और तीसरी ओर उनकी (अंतःश्रेणियों की) समष्टि भी प्राप्य है। सारांश यह है कि 'आइडिया' और अंतःश्रेणियों की परिणति एवं अंतः-श्रेणियों की समष्टि एक समान हैं। 'आइडिया' ही कला और ऐतिहासिक प्रारूपों में भी आत्मप्रकाश करता है; ज्ञान-ज्ञेय संबंध का समष्टि-स्वरूप है तथा विभिन्न अंतः-श्रेणियों में प्रकाशित होता है।

एक अति व्यापक दृष्टिकोण से विकासशील विचार या **आइडिया** (या नोशन) उनके त्रिपुट का पहला तत्त्व (अंतःश्रेणी) अर्थात् वाद है; इसका प्रतिवाद **प्रकृति** (नेचर) है तथा समन्वय **आत्मचैतन्य** (स्पिरिट) है। आत्मचैतन्य हमारे अंतर्जगत् तथा बहिर्जगत् के समन्वय से उद्भूत चित्तोल्लास है।

इस प्रकार संपूर्ण हीगेलियन दर्शन-चक्र के केंद्र में यही बुनियादी त्रिपुट है—आइडिया (वाद), प्रकृति (प्रतिवाद) तथा आत्मचैतन्य (स्पिरिट)। यही बुनियादी त्रिपुट द्वंद्वात्मक दर्शन का आप्तबिंदु है।

इससे आगामी त्रिपुट में आत्मचैतन्य (स्पिरिट) के तीन भाग हो जाते हैं—अंतर्व्यक्त (सब्जेक्टिव) आत्मचैतन्य, बहिर्व्यक्त (आब्जेक्टिव) आत्मचैतन्य तथा निरपेक्ष्य (एब्सोल्यूट) आत्मचैतन्य।

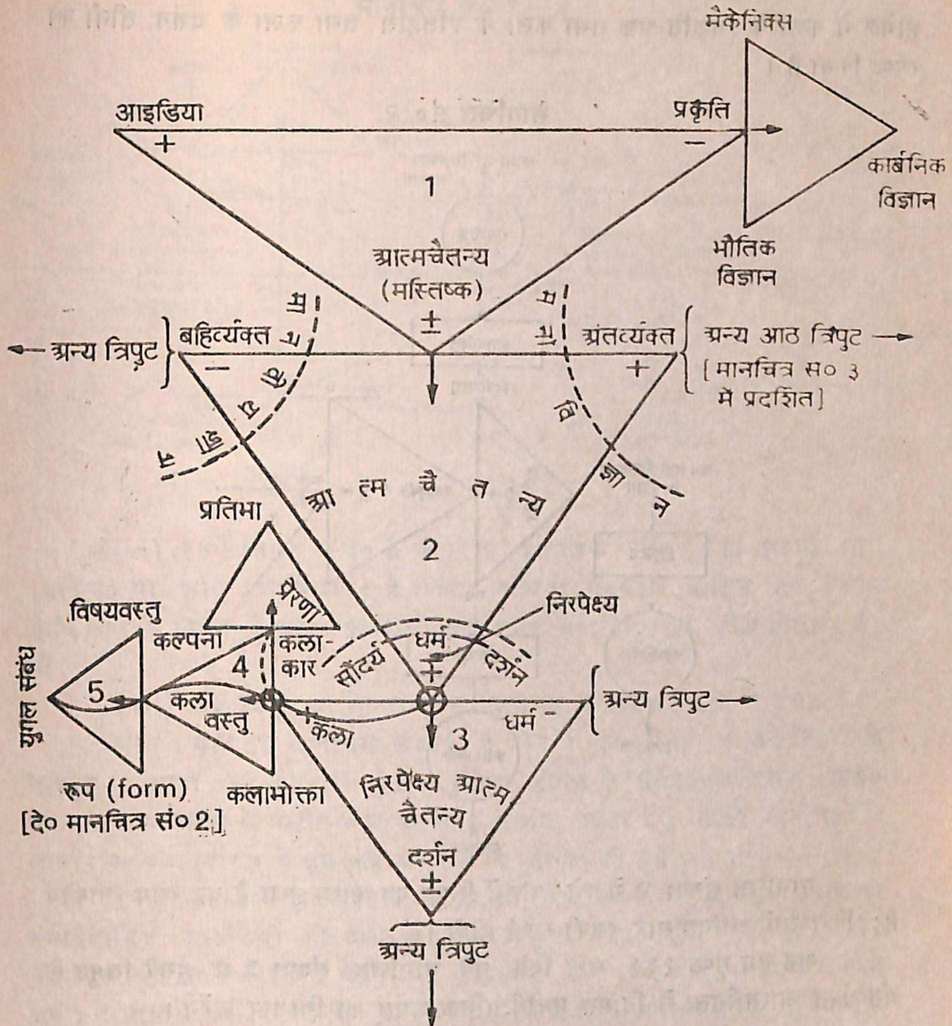
इससे आगामी त्रिपुट में निरपेक्ष आत्मचैतन्य के तीन भाग हो जाते हैं—कला (वाद), धर्म (प्रतिवाद) तथा दर्शन (समन्वय)। इसी प्रकार अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य से आठ त्रिपुट निःसृत होते हैं जिनके अंतर्गत संपूर्ण मनोविज्ञान का क्षेत्र सन्निहित है; तथा बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य से जिन त्रिपुटों का विकास होता है उनके अंतर्गत मानवीय ज्ञान-विज्ञान (आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि) का क्षेत्र सन्निहित है। पूर्ववर्ती प्रथम बुनियादी त्रिपुट (आइडिया-प्रकृति-आत्मचैतन्य) में से प्रकृति के अंतर्गत विज्ञान (मैकेनिक्स, भौतिकशास्त्र, कार्बनिक विज्ञानादि) का समावेश किया गया है। सारांश यह है कि आत्मचैतन्य के तीनों खंडों के अंतर्गत हीगेल ने मानविकी-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा सौंदर्यबोधशास्त्र एवं धर्म दर्शन आदि का सन्निवेश कर लिया है। इसे पृष्ठ १२९ पर दिये **मानचित्र संख्या-१** द्वारा यों प्रदर्शित किया जा सकता है।

मानचित्र संख्या-१ में—

(१) बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य, धर्म, दर्शन आदि की त्रिपुट-शृंखलाएं छोड़ दी गई हैं क्योंकि उनके विस्तार से सौंदर्यबोधशास्त्र का विवेचन बिखर सकता है; और

(२) दूसरे त्रिपुट में ज्ञान-विज्ञान-विचारादि के विकास को खंडित अर्द्धवृत्तों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

मानचित्र सं० १



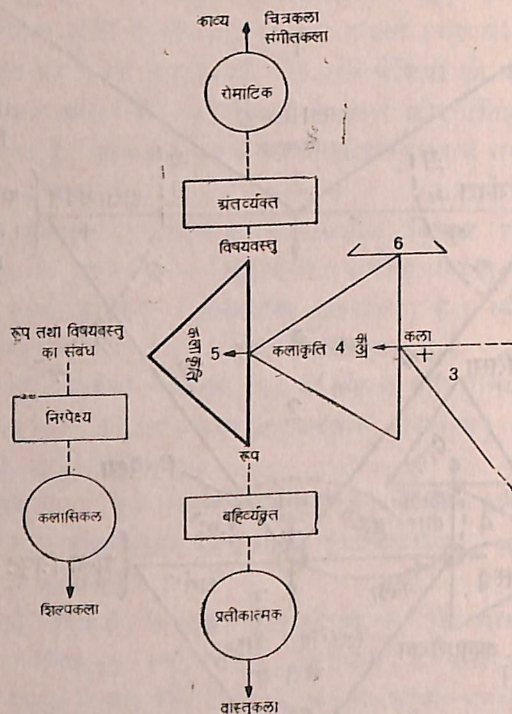
संकेत चिह्न:

+ वाद — प्रतिवाद ± समन्वय ▽ त्रिपुट → त्रिपुट-क्रम

पहला त्रिपुट — आदिम त्रित्वयुक्त
दूसरा त्रिपुट — आत्मचैतन्य वाला
तीसरा त्रिपुट — निरपेक्ष आत्मचैतन्य वाला
चौथा एवं — सौंदर्य-सिद्धान्त का आधार
पांचवां एवं
छठा

अब हम **मानचित्र संख्या २** में पांचवें त्रिपुट का विस्तार करेंगे जिसमें हीगेल ने कला के पद्धति-चक्र तथा कला के इतिहास तथा कला के दर्शन, तीनों का स्पष्ट किया है ।

मानचित्र सं० २



मानचित्र संख्या २ में जो पांचवें त्रिपुट का भाष्य हुआ है वह स्वयं व्याख्येय है; किंतु आगे प्रसंगानुसार इसकी चर्चा होगी ।

अब हम पृष्ठ १३१ पर दिये गये **मानचित्र संख्या ३** में दूसरे त्रिपुट के अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य से निःसृत मनोवैज्ञानिक जगत् का विस्तार करेंगे ।

इस मानचित्र में निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं—

(i) ११वां त्रिपुट **संवेग-सिद्धांत** का आधार है (जिस प्रकार मानचित्र २ में चौथा-पांचवां-छठा त्रिपुट सौंदर्य-सिद्धांत का आधार है);

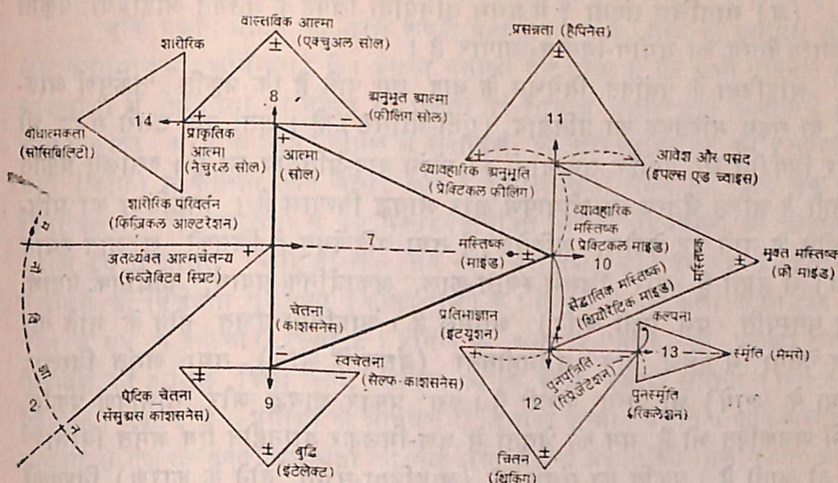
(ii) १०वें त्रिपुट का व्यावहारिक मस्तिष्क **नाटकीय कार्यव्यापार** का आधार है;

(iii) १२वें त्रिपुट का प्रातिभ ज्ञान क्रोचे के विस्तारों का मूल है;

(iv) ८वें त्रिपुट की वास्तविक आत्मा में व्यक्तित्व का उत्थान होता है;

(v) १३वें त्रिपुट में स्मृति का तात्पर्य वाचिक बिंबों के माध्यम से प्रस्तुति है;

मानचित्र सं० ३



(vi) १०वें त्रिपुट (दे० ii भी) के सैद्धांतिक मस्तिष्क का तात्पर्य ज्ञान (नॉलेज) या ज्ञातृ (काग्निशन) है। अत: कल्पना, संस्मरण, प्रातिभ ज्ञान, चिंतन आदि ज्ञान के विधेय हैं और कला भी ज्ञानात्मक आइडिया का लीलाविस्तार है; और

(vii) ७वें त्रिपुट की चेतना सूक्ष्म अहम् या रूपात्मक चिंतन से संबद्ध है।

अस्तु। यदि हम मानचित्र सं० १, २ और ३ को मिला दें तब त्रिपुटों के आलोक में त्रित्वों तथा अंत:श्रेणियों से अंतर्भुक्त हीगेल के **'सौंदर्यबोध-दर्शन'**, **'कला-इतिहास** तथा **'कला के पद्धति-चक्र'** पर पूरा प्रकाश पड़ता है। तीनों मानचित्रों के आधार पर समष्टि रूप में हम कह सकते हैं कि हीगेल की इस संहिता में—

(क) 'अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य' के अंतर्गत लाइब्निज़, बर्क, एडीसन आदि की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को दर्शन के सांचे में ढाल दिया गया है जो सही और वैज्ञानिक नहीं है—अगर हम चेतना या 'आइडिया' के उद्‌गम-स्रोतों पर विवाद करने लगें। वास्तव में नये विकास के फलस्वरूप इसके अंतर्गत मनोवैज्ञानिक परिभाषाएं तथा भेद पुराने पड़ चुके हैं। उदाहरणत: त्रिपुट ८ या ९ में कौन-सा बुनियादी या बड़ा फर्क है?

(ख) वाद-प्रतिवादों के चुनाव में बहुत कुछ ऐच्छिकता और स्वेच्छा नज़र आती है; मानो इनका चुनाव 'आइडिया' या अंतर्व्यक्त तत्त्वों को पहले ध्यान में रखकर किया गया है। इसके अलावा वाद-प्रतिवाद-समन्वय का अंतर्विश्लेषण हमेशा तथा हरेक त्रिपुट में लागू भी नहीं हो पाता; और

(ग) हीगेल का यह त्रिपुटीकृत लोक उनके दर्शन के अनुसार ही प्रकाशित है। सौंदर्यशास्त्र के लिए मुख्तत: कुल मिलाकर तेरह त्रिपुटों का लोक रचा गया है।

अब हम क्रमश: तीन चरणों में तीनों मानचित्रों में आये त्रिपुट-संबंधों की

विवेचना करेंगे—(अ), (ब), और (स) उपशीर्षकों में।

(अ) **मानचित्र संख्या १** में प्रथम बुनियादी त्रिपुट के अंतर्गत आइडिया, प्रकृति और आत्मचैतन्य का **संयोग-वियोग-व्यापार** है।

आइडिया के पूर्वोक्त विवेचन के बाद हम पाते हैं कि **प्रकृति** 'तर्कपूर्ण आइडिया' या सूक्ष्म मस्तिष्क का प्रतिवाद (एंटी-थीसिस) है। अतः यह उससे संबद्ध भी है और विपरीत भी, क्योंकि उन दोनों का संबंध वाद-प्रतिवाद का है। इसलिए प्रकृति जड़ नहीं है बल्कि चैतन्य का **सीमापूर्ण** और **आबद्ध** विन्यास है। आइडिया का प्रतिवाद होने के नाते यह बेडौल, अविवेकपूर्ण तथा बहिर्जगत् है जिसकी शुरुआत स्थान (स्पेस) से होती है और जिसमें स्थान-काल, अकार्बनिक पदार्थ, कार्बनिक पदार्थ, (जैसे वनस्पति, पशु, पक्षी आदि) शामिल हैं। आइडिया-संभूत होने के नाते यह मानव-चेतना में प्रवेश पाकर **बंधनहीनता** (बंधन के आगे) तथा **अनंत विस्तार** (सीमा के आगे) भी प्राप्त करती है। इस प्रकार आबद्ध और सीमापूर्ण प्रकृति, जिसमें जड़शक्ति भी है, मन की चेतना में घुल-मिलकर बंधनहीन एवं अनंत विस्तारमयी हो जाती है। प्रकृति का संबंध भी (आइडिया-संभूत होने के कारण) विश्वकों (यूनिवर्सल्स) से है; विशेषों (पार्टीकुलर्स) से नहीं और यह ससीम रूप में चित्तधर्मा है।

आइडिया उसे स्वतंत्रता और असीमता प्रदान करता है और स्वयं भी उसके विविध स्वरूपों में विभिन्न अंतःश्रेणियों को धारण करता है। इसलिए कला, जो आइडिया की लीला है, पूर्णरूप, पूर्ण असीमता और पूर्ण स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होती है अर्थात् कला प्रकृति से अधिक श्रेष्ठ है और वह प्रकृति का (उसकी सीमा, खंडता, बद्धता का) अनुकरण नहीं करती। यदि प्रकृति का सौंदर्य ससीम है, बद्ध है तो कला का व्यापक और मुक्त; यदि प्रकृति वस्तु के बाह्य रूप से पूर्ण है तो कला उसके आंतरिक रूप को व्यक्त करती है; यदि प्रकृति की मौजूदगी प्रत्यक्षीकृत चैतन्य (पर्सेप्टिव कांशसनेस) के लिए है तो कला की उपज मस्तिष्क में है; और यदि (त्रिपुट में) प्रकृति का धर्म मध्यस्थ का है, तो आइडिया (कला) का अनवरुद्ध का। अतः हीगेल का विचार है कि प्रकृति और उसकी लीलाएं आत्मचैतन्य और उसकी लीलाओं से निम्नतर हैं; और प्राकृतिक सौंदर्य की अपेक्षा आत्मचैतन्य-जन्य सौंदर्य अधिक श्रेष्ठ है और सर्वोच्च सौंदर्य की दृष्टि से तो प्राकृतिक सौंदर्य शामिल तक नहीं किया जा सकता। अपने द्वंद्वमान के अनुसार हीगेल ने प्राकृतिक सौंदर्य को असम्मिलित कर दिया; जबकि उनके अगुआ कांट के सौंदर्य-सिद्धांत में ललित कलाओं और प्रकृति, दोनों की सुंदरता शामिल की गयी है।

यहां हीगेल और प्लेटो की तुलना भी रोचक होगी। प्लेटो का विचार है कि प्राकृतिक जगत् की अपेक्षा कला जगत्हीन है क्योंकि वे इस जगत् को मिथ्या मानते हैं। हीगेल ने प्राकृतिक जगत् को लक्ष्य और उपयोगिता (तुल०, कांट) से पूर्ण तथा कला-जगत् को जीवन से व्यक्त और प्रयोजनहीन और मानव चेतना का प्रकाश माना है। हां, प्लेटो के विश्वकों की तरह हीगेल ने भी प्रकृति का संबंध विश्वकों से

जोड़ा। परिणाम यह होता है कि विश्वकों के समावेश के कारण वस्तुएं विचार, मात्र विचार हो जाती हैं। इस प्रकार वे सामान्य-विशेष का द्वैत भी कायम करते हैं।

चूंकि प्रकृति-सौंदर्य की सत्ता केवल प्रत्यक्षीकरण के लिए है, इसलिए सौंदर्य-क्षेत्र रूपसंयोजक (फॉर्म-इंग) है। इसका नतीजा यह होता है कि सभी ऐंद्रियक अभिव्यंजनाओं में विविधता या बहुत्व में एकता का सिद्धांत लागू होने लगता है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए हीगेल ने **मूर्त्तादर्श** की धारणा प्रस्तुत की। पदार्थ जब रूपों (फॉर्म) में कल्पित किये जायें; जब वे पुनर्प्रस्तुति में समर्थ हों और जब आइडिया कल्पना की प्रवृत्तियों से इस प्रकार अनूदित हो कि इंद्रियबोधों को प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से प्रस्तुत किया जा सके तब वह मूर्त्तादर्श (आइडियल) कहलाता है। मूर्त्तादर्श की विशेषता मूर्त्ततत्त्व (कांक्रीटनेस) है। हीगेल ने इसे कला के सिद्धांत और वस्तु के रूप में स्वीकार किया है। हीगेल के अनुसार "प्रकृति की अपेक्षा कला में मूर्त्तादर्श को हासिल किया जाना चाहिए क्योंकि कला दुबारा संप्राप्त (twice-be-gotten) प्रकृति है—प्रतिभा के अन्वेषण में दुबारा जन्मी प्रकृति। कवि-मस्तक के माध्यम से गुज़रते वक्त यथार्थता का गद्य तथा बेडौल प्रकृति की पाशविकता आत्म-चैतन्य की संगति तथा रूपांतरण (प्लास्टिसिटी) प्राप्त करती है।···कला के मूर्त्तादर्श होने का मतलब यही है कि काव्यात्मक कल्पना में इसका स्रोत होने से इसका अपरिष्कृत एवं प्रदत्त तथ्यों की साधारणता से उन्नयन हो जाता है।···तो प्रकृति एक मानदंड पेश करती है जो सौंदर्य की ओर बढ़ता तो है, लेकिन सौंदर्य उपलब्ध नहीं करता; सौंदर्योपलब्धि तो कला ही करती है।"[1] इसी बात को बोसांके ने अधिक स्पष्ट करते हुए ('ए हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक्स', पृ० ३४० में) मस्तिष्क द्वारा प्रकृति के संधान के दो चरण माने हैं—पहला अनुकृति का और, दूसरा मूर्त्तादर्शीकरण का। अनुकृत विषय हमें इसलिए आनंदित नहीं करते कि वे इतने नैसर्गिक हैं, बल्कि वे इतने नैसर्गिक **बना दिये गये हैं** अर्थात् इनमें एक ओर वैयक्तिक वृत्ति का वर्जन एवं दूसरी ओर कौशल का समावेश है। इसके अलावा आदर्शीकृत विषयों—जैसे काव्य—में हम पदार्थ पर अधिकार करके उसके प्रत्यक्षीकृत पुनर्प्रस्तुत बिंबों के सार्वभौम चरित्र का उद्घाटन करते हैं क्योंकि यह (=पदार्थ) **मस्तिष्क के माध्यम** से गुज़रता है जो खुद भी सार्वभौम की क्षमता है। अतः मूर्त्तादर्शीकरण कौशल से भिन्न है; इसमें निर्माण-भाव का विरोध है और यह यथातथ्य के बजाय मूर्त्तादर्श पर जोर देता है (जैसे ललित कलाएं)। इस प्रकार हीगेल इसमें वैयक्तिक चारित्र्य की समृद्धि जोड़ लेते हैं।

इस स्थल पर पहुंचकर हम एक महासूत्र दे सकते हैं—"इंद्रियबोधात्मक रूपों में चिन्मय मूर्त्तादर्श (आइडियल) का आत्म-प्रकाशन ही **सौंदर्य** है।" जब कोई प्रेरणा शब्द-रस-रूप-गंध-स्पर्शादि के माध्यम से बहिर्वस्तु की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई सार्वभौम होकर प्रकाशित होती है, तब सौंदर्य की सृष्टि होती है। दूसरे शब्दों

१. गिलबर्ट और कुह्न : वही, पृ० ४३९।

में कह सकते हैं कि **सौंदर्य वह निर्विकल्प** (एब्सोल्यूट) **है जो ऐंद्रियक जगत् के आवरण से झिलमिलाता है।** जिन ऐंद्रियक विषयों और वस्तुओं के माध्यम से निर्विकल्प या निरपेक्ष दीप्तिमान होता है वे **सुंदर** (-सौंदर्यपूर्ण) कहे जाते हैं। अतएव सौंदर्य **मूर्त्तादर्श** का प्रस्तुतीकरण है, क्योंकि यह **आइडिया** है जो कि ऐंद्रियक रूप से धारण किया गया है। अस्तु।

आइडिया या चित्स्वभाव प्रकृति में पूर्णतः लब्ध नहीं हो सकता क्योंकि इंद्रियबोध से संबद्ध होकर यह बहुत्व प्राप्त करता है और हमेशा संगति (हॉर्मनी) तथा संघटन की ओर भी बढ़ता है। यूं कहा जा सकता है कि प्रकृति में अनिवार्य हेतु (रीज़न) एक **अंधशक्ति** के रूप में विद्यमान रहता है जिसके अपने कुछ नियम होते हैं जो क्रमशः मैकेनिक्स, जैविक तंत्र (आर्गेनिज़्म) तथा भौतिक-विज्ञान में लागू होते-होते उत्तरोत्तर परिष्कृत और विकसित होते जाते हैं। उदाहरणतः नौसादर के एक रवे के गठन से लेकर कदंब के फूल के मानचित्र, हिरण के अंग-संगठन और मनुष्य के अंग-गठन में यह विकसित होता है। अंधशक्ति से विकसित होकर यह **'पाशु बोधात्मकता'** (पशु-गठन : ऐनिमल-सेंसिबिलिटी) में स्थित होता है अर्थात् एक रवे में तो प्राणहीनता तथा साधारण संयोजन है, किंतु वनस्पति-जगत्, पशु-जगत् में सप्राणवंतता तथा विविधता में एकता है। आगे ज्यों-ज्यों प्राणि-जगत् विकसित होता है त्यों-त्यों एकत्व में बहुत्व और उसकी संगति तथा संगठन अधिक जटिल, सूक्ष्म और चैतन्य होता जाता है। इसकी अंतिम परिणति आत्मचैतन्य (मानवीय गठन) में होती है जहां यह **आत्मा** के रूप में आसीन हो जाती है। अतएव अंधशक्ति—पाशु-बोधात्मकता—आत्मा में क्रमशः अनिवार्यहेतु का विकासोत्कर्ष होता है। इसी कारण प्राकृतिक जगत् का सौंदर्य कलाजगत् (आइडिया प्रधान) के सौंदर्य से हीन है। इसी कारण मनुष्य न केवल सर्वोच्च पशु है, बल्कि प्रकृति की सर्वसुंदर उपज का तिलक भी है क्योंकि उसमें अवश्यहेतु (रीज़न) की छाप सर्वाधिक है। इसीलिए मनुष्य में एकत्व में बहुत्व की विपुलता विद्यमान है; और उसमें आत्मचैतन्य (स्पिरिट) भी है। मनुष्य की काया में आइडिया का अवतार होता है। अतएव प्रकृति-सौंदर्य का मनुष्य और पशु-सौंदर्य से असादृश्य है; किंवा, 'मानवीय रूप' का सौंदर्य ही आइडिया के लीलावतार की स्थली है।

इस स्थल पर पहुंचकर हम एक अन्य उपसूत्र स्थापित कर सकते हैं—"प्रकृति की स्वतंत्र उपज के रूप में मनुष्य न तो देवत्व के, और न ही कला के उपादानों की पूर्ति करता है। उसे प्रकृति—परिपार्श्व—से बद्ध रहना पड़ता है। किंतु चूंकि उसमें आइडिया का अवधान है। अतः वह कला द्वारा अपने ऐक्य में गोपनीय बहुत्व को प्रकट करता है (वाद-प्रतिवाद) और पुनः उनका 'समन्वय' कर देता है। कला में ही मनुष्य के चित्त का लीलाविस्तार होता है; प्रकृति माध्यम है; मनुष्य प्राणि जाति के चरम सौंदर्य की अभिव्यक्ति है।" किंतु यहां भी हीगेल मानव-रूप तथा मानवात्मा को बिलकुल बांट-सा देते हैं।

रूपगत सौंदर्य के क्रम में हम प्रकृति को उच्चतर सौंदर्य के मानदंड प्रस्तुत

करते हुए पाते हैं; किंतु वह स्वयं सौंदर्य उपलब्ध नहीं कर पाती ।हीगल ने प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उदासीनता दिखाकर कला-दर्शन के प्रति भी बड़ा भारी अन्याय किया है और अपने दर्शन को तो एकांगी बनाया ही है । सादृश्य के आधार पर वे रूपगत वैशिष्ट्यों में से 'संतुलन' और समानुपात (सिमेट्री) को सौंदर्य के उद्बोधक मानते हैं जो क्रमशः समृद्ध अभिव्यंजना एवं संगति (हॉर्मनी) प्राप्त करते जाते हैं। **रूपगत सौंदर्य के सभी सिद्धांतों के मूल में 'बहुत्व में एकत्व' की प्रतिष्ठा है।** यह अमूर्त सौंदर्य निखिल प्रकृति में परिव्याप्त है और इंद्रियबोधों को (न कि आत्मा को) एक एकत्व प्रदान करता है। हीगेल क्रमानुसार इस बाह्य सौंदर्य की गणना करते हैं—

(१) नियमितता (रेगुलरिटी)—यहां मात्र आवृत्ति होती है; जैसे दालानों के स्तंभों का क्रम;

(२) या समानुपात (सिमेट्री)—यहां भेद के साथ आवृत्ति होती है जो किसी केंद्र के इर्दगिर्द हो;

(३) नियमपूर्णता (लॉ-फुलनेस)—यहां भेदों की संख्या किसी सामान्य नियम द्वारा संश्लिष्ट रहती है; जैसे सर्पिल रूप, सतकलाछत्र (पेरॉबोला); अंडाकार वृत्त (इलिप्स); मानव-भुजा की अंतर्बाह्य रेखाएं आदि;

(४) चरित्रसंगति (हार्मनी)—यहां गुणात्मक तथा मात्रात्मक तत्त्वों में समान संबंध होता है, जैसे आकृतियुक्त रंग, तालयुक्त संगीत। यहां यह भी सिद्ध हो जाता है कि सौंदर्य संपूर्णता में स्थित है; और

(५) ऐंद्रियक पदार्थों का एकत्व (यूनिटी आफ सेंसुअस मेटीरियल)—यहां ऐंद्रियक माध्यम की पवित्रता या सरलता होती है; जैसे नीले आकाश की निर्मलता, वातावरण का झीना आलोक, विशुद्ध स्वर-ध्वनियां आदि। हीगेल इसे बहुत श्रेष्ठ मानते हैं।

प्रकृति के इस क्रमशः उच्चवर्ती मानदंड में यही ध्यान रखना है कि (क) इसकी सत्ता केवल प्रत्यक्षीकरण के निमित्त है और (ख) इसमें बहुत्व में एकत्व का सिद्धांत ही विभिन्न रूपों की सृष्टि करता है।

अब हम प्रकृति तथा तत्संबंधी अन्य मीमांसाओं को बंद करते हैं।

आत्मचैतन्य (स्पिरिट) आइडिया (वाद) तथा प्रकृति (प्रतिवाद) का समन्वय है जिसमें आइडिया की अनवरुद्धता (इमीडिएसी) और प्रकृति की मध्यस्थता (मीडियेसी) का उभय संतुलन है। इस प्रकार आत्मचैतन्य प्रकारांतर से

मस्तिष्क (हीगेल शब्दावली में) की धारणा है। यह हमारे अंतर्जगत् तथा बहिर्जगत् में होने वाली चित्स्फूर्ति है। इसके तीन भाग हैं—बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य, अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य तथा निर्विकल्प आत्मचैतन्य।

बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य में संकल्प या इच्छाशक्ति अपनी अभिव्यक्ति भौतिक जगत् में करती है और अपने लक्ष्यों के अनुरूप उसका निर्माण भी करती है। यह आभ्यंतरिक चित्-तत्त्व से भी पूर्ण रहती है क्योंकि यही तो बाह्य भौतिक जगत् में अभिव्यक्ति होता है। इसलिए मानवीय संस्थाओं जैसे कानून, समाज, राज्य, रीति-रिवाज, नागरिक कर्त्तव्य और अधिकार, नैतिकता और आचार-शास्त्र आदि में जब आत्मचैतन्य का आत्मप्रकाशन होता है तब वह बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य हो जाता है। इसका जगत् प्रकृति-जगत् नहीं है बल्कि वह लोक है जहां आत्मचैतन्य वास्तविक जगत् में बहिर्व्यक्त होता है। अतः इसके अंतर्गत मानवीय संस्थाएं (जैसे समाज, राज्य और कानून) तथा उनके पारस्परिक सत्तात्मक संबंध (रीति-रिवाज, नागरिक कर्तव्य-अधिकार, नीति, आचार आदि) भी समाहित हैं। अतः यह सामाजिक व्यवस्था, राज्य-संचालन और नागरिक आदर्शों का मूल स्रोत है। हीगेल के विपरीत कार्ल मार्क्स इन पक्षों को 'सुपरिगठन' के अंतर्गत मानते हैं; वे इन्हें हीगेल की तरह निरपेक्ष-निःसृत न मानकर समाजार्थ-उद्भूत मानते हैं। इसका सीधा संबंध हीगेलीय सौंदर्यबोध दर्शन से न होने की वजह से हम इसे छोड़ देते हैं।

(**अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य** की चर्चा प्रसंगानुसार होगी)

निरपेक्ष्य या निर्विकल्प आत्मचैतन्य (एब्सोल्यूट स्पिरिट) में अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य की एकपक्षीय आंतरिकता (अंतर्मुखी, वैयक्तिक) तथा बहिर्व्यक्त आत्म-चैतन्य की एकपक्षीय बहिर्मुखता (बाह्य, अवैयक्तिक) का समन्वय होता है। इसमें अंतर्बाह्य ससीमता का लोप होकर आत्मचैतन्य की नैसर्गिक असीमता या अनंतता कायम होती है; आंतरिक और बाह्य का तादात्म्य होता है। अतः इसमें पदार्थ अपनी सीमा से मुक्त होकर अनंतता में प्रसार पाता है और चित्शक्ति बहिर्व्यक्त रूपों का भी आश्रय लेकर नाना प्रकार के माध्यमों में आत्मप्रकाश करती है। इसमें अंतर्बाह्य के मिलन के कारण **कला** और **सौंदर्य** की भी सृष्टि होती है और इसी वजह से इसमें आइडिया-रूप का, मूर्त-अमूर्त का, कल्पना-यथार्थ का सामंजस्य हो जाता है। इसमें पूर्णता-प्राप्ति की चेष्टा रहती है अर्थात् पदार्थ की प्राकृत वस्तुएं बद्धता व ससीमता त्यागकर आंतर आलोक से दीप्त हो उठती हैं।

इसके त्रिपुट में **कला** वाद के रूप में, **धर्म** प्रतिवाद के रूप में तथा **दर्शन** समन्वय के रूप में व्यक्त होता है। ऐसा लगता है कि हीगेल ने प्लेटो के सौंदर्य, शुभ और सत्य नामक तीन चरम मूल्यों का [अपने अनुसार] त्रिपुट में अभिषेक किया है। किंतु इसमें धर्म को कला का प्रतिरोधी मानना तो संपूर्ण ज्ञानराशि का ही विरोध होगा। यही नहीं, दर्शन को (बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य वाले) नीति-आचार से भी किस प्रकार पृथक् किया जा सकता है ? केवल लक्ष्य या उपयोगिता ही तो कसौटी नहीं बन सकते। हीगेल का विचार है कि कला-धर्म-दर्शन में मानव-मस्तिष्क की

ससीमता से उत्तरोत्तर मुक्ति होती है। ('धर्म' के प्रतिवाद में यह पूर्वापर क्रम-न्याय कैसे लागू होगा?) कला में 'इंद्रियबोधों' के माध्यम से निरपेक्ष का प्रस्तुतीकरण होता है (अतएव यहां कुछ ससीमता भी जुड़ी रहती है); धर्म में 'अनुभूतियों' के माध्यम से (अतएव यहां भी कुछ ससीमता जुड़ी रहती है) तथा दर्शन में 'चिंतन' के माध्यम से (अतएव यहां इंद्रियबोधों तथा अनुभूतियों से उठकर पूर्ण मुक्ति मिल जाती है) यह चलता है। इस प्रकार हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(क) कला निरपेक्ष की इंद्रिय-धर्मा अभिव्यक्ति है;

(ख) कला धर्म और दर्शन की अपेक्षा कम श्रेष्ठ है;

(ग) कला धर्म और दर्शन से पर्याप्त मुक्त है, और

(घ) कला धर्म तथा दर्शन की अपेक्षा हमारे संवेगात्मक तथा इंद्रियबोधात्मक जीवन के अधिक नज़दीक है।

उनकी अनुभव-धारणा के आधार पर इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। उनके अनुसार अनुभव के तीन स्तर हैं—

(१) ऐंद्रियक (सेंसुअस)—यह प्रकृति की बाह्य वस्तुओं के संपर्क से जन्य है; यह दैनंदिन जीवन का लौकिक स्तर है जहां कामना, उपयोग आदि के लक्ष्य होते हैं।

(२) अत्यैंद्रियक (सुपर-सेंसुअस)—यह ऐंद्रियक स्तर से ऊपर है और पंडित-राज जगन्नाथ की शब्दावली में 'अलौकिक' है। यह मस्तिष्क की मुक्तावस्था होने के नाते वैचारिक चेतना से उद्भूत है। इसमें लौकिक ससीमता और शरीरऐंद्रियक यथार्थ से मुक्ति मिल जाती है और मस्तिष्क देशकाल (तुल० अभिनवगुप्त के साधारणी-करण से) से मुक्त होकर कलाकृतियां उत्पन्न करता है।

(३) विवेकशील (रैशनल)—यह दर्शन और तर्क से संबंधित है।

इसलिए हीगेल ने कलानुभव को अत्यैंद्रियक या अलौकिक माना है जो ऐंद्रियक अनुभव से उच्चतर तथा विवेकशील अनुभव से निम्नतर है। यह अनुभव देश-काल, ससीमता-स्थूलता से मुक्त होकर आगे बढ़ता है। इस अनुभव में आइडिया का चिद्विलास भी शामिल है। अतः यह मस्तिष्क की मननशील क्षमता के लिए है। इस बिंदु पर तो इससे यही ज़ाहिर होता है कि कलावस्तुएं इंद्रियों की ओर लक्षित न होकर 'मस्तिष्क' की ओर लक्षित हैं। इसके अलावा हीगेल कलावस्तुओं के संसर्ग से कोई कामना या लालसा की जागृति अस्वीकार करते हैं। अतः कला

(कृति)-जन्य तुष्टि ऐंद्रियक न होकर आत्मिक ('लौकिक' न होकर 'अलौकिक') है। इस अनुभव में हम पुनः बाह्य आकृति-संपन्न कलाकृति के माध्यम से अपने मस्तिष्क को पुनः पहचानते हैं। इस प्रकार यह अनुभव "पुनः पहचान का अनुभव" है। यहां भी हीगेल अभिनवगुप्त की तरह सौंदर्यानुभव को सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक अनुभवों से भिन्न कर देते हैं और मस्तिष्क को एक देशकाल-प्रवाही (अभिनवगुप्त-कृत संस्कार या 'वासना' से तुलना कीजिए) मान लेते हैं।

इस स्थापना से स्वयंसिद्ध हो जाता है कि हीगेल ने इसी त्रिपुट में सौंदर्यबोधशास्त्र की ठोस बुनियाद डाली है। उन्होंने स्वीकार किया है कि कला निरपेक्ष का एक अंतर्बाह्य विकास-चरण होने के नाते ऐंद्रियक रूप (सेंसुअस फॉर्म) में स्थित है। निरपेक्ष आत्मचैतन्य (एब्सोल्यूट स्पिरिट) को धुरी मानकर उन्होंने भी बामगार्टन-सम्मित सौंदर्यबोधशास्त्रीय परिभाषा ('संवेग या इंद्रियबोध का विज्ञान') ही मंजूर की। लेकिन उसे अत्यंत सीमित अर्थों में 'कला—विशेषकर ललित कलाओं—के दर्शनशास्त्र' के रूप में ग्रहण किया।

यहां उन्होंने कला के अंतर्गत **कला** तथा **सौंदर्य** में भी भेद किया है। कला को उन्होंने निरपेक्ष आत्मचैतन्य की दार्शनिक आत्मचैतन्य तक की **अनंत** यात्रा के बीच मात्र एक अपेक्षाकृत **ससीम विकास-चरण** माना है जहां पहुंचकर अंतर्बाह्य में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसका मुख्य लक्षण अनवरुद्धता (इमीडिएसी) है और माध्यम ज्ञानेंद्रियां। इसके विपरीत सौंदर्य निरपेक्ष की अनंत यात्रा का विकास-चरण न होकर **स्वयं** उसका ही आवरणयुक्त झिलमिलाता नीला प्रकाश है। यह ऐंद्रियक धर्म के रूप में चित्-तत्त्व का आत्मपरिचय और अंतःप्रज्ञ प्रकाश है। यह इंद्रियबोधों के सामने प्रस्तुत होता है, एक मानस-बिंब की रचना करता है और किसी मौजूद विषय में स्थित रहता है। सो, जिस माध्यम (वास्तविक या उपस्थित विषय) से निरपेक्ष आलोकित हो वह सुंदर (विशेषण) है। अतः सौंदर्य निरपेक्ष आइडिया ही है जिसका बोध ज्ञानेंद्रियां करती हैं। इस 'आइडिया' का सत्य कई अंतःश्रेणियों में प्रकट होता है : सौंदर्य ऐंद्रियक माध्यम—भौतिक सौष्ठवता—के बीच में ही इसके सत्य का उद्घाटन करके बहुत्व में एकत्व कायम करता है। अतएव कला और सौंदर्य, दोनों में यह आइडिया आत्मा और प्रकृति—सूक्ष्म और स्थूल—का सामंजस्य और तदाकार है। इसलिए जिस प्रकार कला में प्रकृति का अनुकरण नहीं होता उसी प्रकार नीति (बहिर्व्यक्त आत्मचैतन्य संलग्न) का भी। अतः हीगेल ने कला-क्षेत्र से **प्रकृति** और **नीति** दोनों को ही बहिष्कृत-सा कर दिया। क्रोचे के शिष्य जेंतील ने इस असंगति को दूर करते हुए कला को द्वंद्वात्मक न मानकर अंतर्विरोधात्मक माना है। हीगेल मानते हैं कि आत्मचैतन्यगत सत्य का उद्घाटन इंद्रियबोध-प्रधान कला की अपेक्षा चिंतन-प्रधान दर्शन या अनुभूति-प्रधान धर्म में अधिक पूर्ण होता है। जेंतील कला को विपरीतात्मक मानने की वजह से इसका समन्वय दर्शनशास्त्र में धर्म के साथ करते हैं अर्थात् वे कला और धर्म के बीच वाद-प्रतिवाद का संबंध नहीं मानते।

इसके उपरांत हीगेल कला का सर्वोच्च व्यापार **दिव्य या दैवी** मानते हैं (यद्यपि वे नीतिशास्त्र को इस से पृथक् कर देते हैं)। यह व्यापार कलाग्राही [सामाजिक (हीगेल के प्रिय प्रशियन साम्राज्य के नागरिक)] के सम्मुख मानव जाति के गंभीरतम हित, अत्यंत व्यापक आत्मसत्य, सर्वसमृद्ध प्रातिभ ज्ञान (किंतु सामाजिक, राष्ट्रीय ज्ञान नहीं) और विचारों को लाकर रखता है। कला, धर्म और दर्शन की तरह ही, दैवी को ऐंद्रियक रूपों के माध्यम से पेश करती है अर्थात् यह हमें प्रकृति के स्तर से ऊपर उठाकर हमारे अंदर ही आत्मप्रसार करके 'कर्महीन और असीम आत्म-विश्रांति' में तल्लीन कर देती है। कला का दिव्य धर्म के दिव्य से भिन्न भी है क्योंकि कला की दिव्य-भावना जीवंत रूपों की परिणतियों में उत्कर्ष प्राप्त करती है। इसीलिए क्लासिकल और पौराणिक चरितनायकों की ही सृष्टि उदात्त है। वहां वे अपने पूर्ववर्णित **'रूप-सिद्धांत'** का भी विस्तार करते हैं। वे आत्मचैतन्य-युक्त मनुष्य को प्रकृति की सबसे अधिक सुंदर व्युत्पत्ति मानने के साथ-साथ उसमें विविधता (बहुत्व), चरित्रसंगति (एकत्व), स्वतंत्रता, बुद्धि आदि मानते हैं। किंतु उसे दैवी से कुछ कम पूर्ण स्थान देते हैं। जब यह दैवी तत्त्व भिन्न-भिन्न यूनानी देवताओं के स्वरूप में बंटकर आता है तब कलात्मक पुनर्प्रस्तुति श्रेष्ठ होती है। इसी धुरी पर वे विंकेलमान के संपूर्ण आदर्श के प्रति भी अपनी दार्शनिक आस्था मजबूत करते हैं। विंकेलमान के अनुसार यूनानी देव-देवियों में नैसर्गिक इकाई, मानव-काया, आत्म-सौंदर्य सभी का चरमोत्कर्ष और पूर्ण समन्वय है। हीगेल भी इसे लगभग ज्यों-का-त्यों मान लेते हैं। किंतु ये यूनानी देवता और देवियां मानवों से श्रेष्ठतर हैं। अत: हीगेल इसके बाद ईश्वरावतार ईसा मसीह को मानवीय आदर्श मानते हैं। यहां वे ईसाई-कला की रिनैसां-संभूत रोमांटिकता को भी ग्रहण कर लेते हैं। यूनानी देव-देवियों को वे शिल्प और काव्य के लिए तथा ईसावतार को चित्रकला के लिए उपयुक्त घोषित करते हैं। यहां वे शेलिंग और शिलर के कला-इतिहास के प्रभाव की भी झलक देते हैं। अतः **हीगेल ने मनुष्य के सामने हमेशा एक न एक अलौकिक आदर्श रखा है** और मनुष्य की महानता की जो विराट् कल्पना की है वह उनके निरपेक्ष न्यादर्श के कारण—यथार्थ जगत् से बहुत ऊंचे उठकर वायवी हो जाती है।

इसी कड़ी में वे मनुष्य को त्रिपार्श्व से पूरी तरह बांध-सा देते हैं। वे मनुष्य के सामने यूनानी देवों या ईसावतार की आत्माओं की उच्चावस्थाएं रखते हैं जिससे उसकी आत्म-चेतना में आलोक छा जाये। अतः एक प्रकार से वे एक **'निरपेक्ष निश्चयवाद'** की भी बुनियाद डालने की गलती करते हैं। वे मनुष्य और उसके आत्म-चैतन्य को सार्वभौम मानने के साथ-साथ कुछ ऐतिहासिक कालों, कुछ विश्व-स्थितियों को भी **आत्मगत्** ढंग से आलोकपूर्ण या प्रतिकूल मान लेते हैं। जिस युग में दैवी नायकों या ईश्वरावतार की प्रेरणा के फलस्वरूप मनुष्य की महानता बढ़ जाये, तो वह युग वीरनायक-युग होगा। इस युग में एक चरितनायक सारे समाज के कर्तव्य को धारण करता है। इसके विपरीत आधुनिक युग है जहां नायक सारे समाज के प्रति विद्रोह करता है (जैसे क्विग्ज़ोट या चार्ल्स मूर या राबिन हुड आदि)। हीगेल

ऐसे नायकों को महाकाव्यों तथा नाटकों के पात्र स्वीकृत करते हैं।

सारांश यह है कि कला, सौंदर्य और कला-वस्तु संबंधी हीगेल के निष्कर्ष उपरिलिखित हैं।

(ब) **मानचित्र संख्या २** में पांचवें त्रिपुट का जो सूक्ष्म विस्तार है उसमें **कला के पद्धति-चक्र, कला के इतिहास** और **कला के दर्शन**—तीनों का निरूपण हुआ है। वस्तुतः इस त्रिपुट (सं० ५) में तीसरे-चौथे-छठे त्रिपुटों के ही **सौंदर्य-सिद्धांत** का प्रसार है। यह प्रसार (i) आत्मचैतन्य (त्रिपुट सं० १, २) से आरंभ होकर (ii) निरपेक्ष आत्मचैतन्य (त्रिपुट सं० ३), (iii) कला (त्रिपुट सं० ४), (iv) कलाकृति (त्रिपुट सं० ५) में अंतर्विश्लेषित होता हुआ, (v) रूप एवं विषयवस्तु के आपसी संबंधों में परिणत होता है। इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाता है जो आत्मचैतन्य के अंतर्बाह्य को पांच अवस्थाओं के बाद आइडिया या एब्सोल्यूट के आंतरिक (वस्तु) और बहिर्गत (रूप) के समन्वय (सिंथीसिस) में परिणत करता है। इस दशा में कलाकृतियों के कई कसौटियों के आधार पर पक्ष निर्धारित किये जाते हैं।

हीगेल ने कला को निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) का ऐंद्रियक माध्यम में और कलाकृतियों को भौतिक माध्यम में पुनर्प्रस्तुति माना है। ऐंद्रियक माध्यम के बाईं ओर तो प्रत्यक्ष गोचर बाह्य जगत् और दाईं ओर शुद्ध विचार का आइडिया-प्रकाशन है। अतः यहां मूर्त्तादर्श के उन रूपों की मीमांसा की जाती है, जो वह मूर्त्त जीवन में प्रवेश करने पर धारण करता है। दूसरे शब्दों में इसे हम मूर्त्तादर्श की वास्तविक आत्म-साधना को मानते हैं जिसकी प्रक्रिया के रूप में कला के पद्धति-चक्र, कला-दर्शन, कला-इतिहास आदि प्राप्त होते हैं। इस 'आत्मसाधना' के ये सूत्र हैं—

(क) कला में आत्मचैतन्य (स्पिरिट) या मूर्त्तादर्श (आइडियल) या आइडिया का उन्मीलन तीन **अवस्थाओं** में होता है—प्रतीकात्मक युग, क्लासिकल युग और रोमांटिक युग। ये अवस्थाएं कालगत हैं। इनका समूह मिलकर **आइडिया के ऐतिहासिक अभ्युदय** की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। ये मस्तिष्क के द्वंद्वात्मक विकास की तीन अवस्थाओं के प्रतिरूप भी हैं।

(ख) तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक के अपने विशेष **कला-प्रारूप** भी हैं—अर्थात् यहां विषयवस्तु एवं रूप के आधार पर कला-विभाजन के बजाय दोनों के आपसी संबंधों के आधार पर विभाजन होता है। ये प्रारूप अभिव्यंजना-माध्यम की देन हैं। इन अभिव्यंजना-माध्यमों का समूह मिलकर **कला-प्रारूपों के पद्धति-चक्र** की रूपरेखा बनाता है; जैसे—प्रतीकात्मक कला, क्लासिकल कला और रूमानी कला।

सार : सबसे पहले अवस्थाओं या प्रारूपों का एकलय होता है।

(ग) प्रत्येक अवस्था और प्रारूप के बाह्याभिव्यक्तीकरण (आब्जेक्टिवाइजेशन) के लिए भी सर्वोचित **विशिष्ट कला** होती है; जैसे, प्रतीकात्मक अवस्था और प्रारूप के लिए सर्वोचित विशिष्ट कला—**वास्तुकला**; क्लासिकल अवस्था और प्रारूप के बाह्याभिव्यक्तीकरण के लिए सर्वोचित विशिष्ट कला—**शिल्प कला**; एवं रूमानी अवस्था और प्रारूपों के बाह्याभिव्यक्तीकरण के लिए सर्वोचित विशिष्ट कलाएं

—चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला।

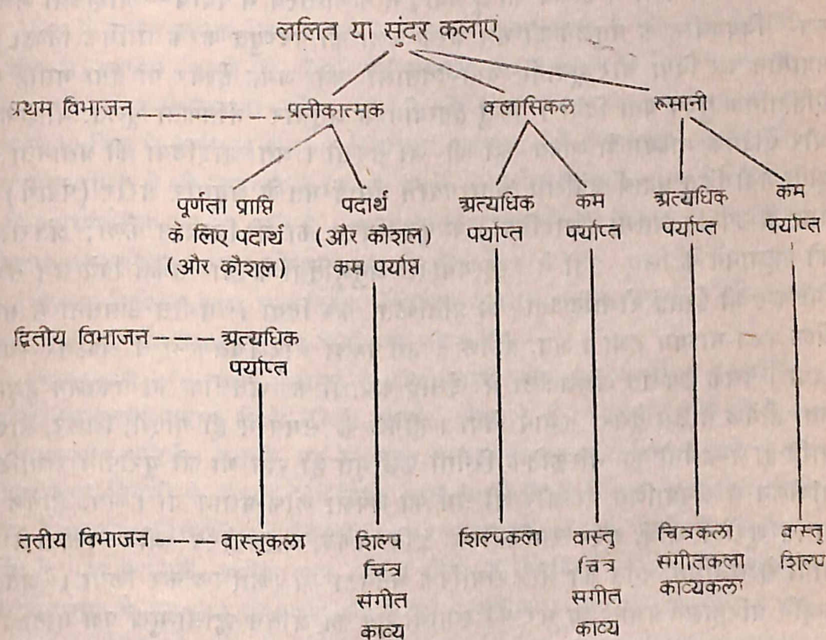
सार : विशेष कला-प्रारूप के लिए सर्वोचित केंद्रीय विशिष्ट कला भी होती है।

(घ) विशिष्ट कलाओं के आपसी भेद—क्रमशः वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला—प्रयुक्त ऐंद्रियक माध्यमों की देन हैं अर्थात् भौतिक दृष्टि से विभाजन करने पर विशिष्ट कलाएं प्राप्त होती हैं।

(ङ) विशिष्ट कलाओं का पूरा समूह तीनों अवस्थाओं में पुनरावृत्त होता है, जैसे वास्तुकला का विकास प्रतीकात्मक—क्लासिकल—रोमांटिक, तीनों युगों से गुजर कर होता है।

(च) उपर्युक्त सभी सूत्र [(क), (ख), (ग), (घ) और (ङ)] मिलकर **कला के दर्शन** की रूपरेखा हो जाते हैं।

टामस मुनरो के एक मानचित्र (दे० 'आर्ट्स एंड देयर इंटररिलेशंस', पृ० १७७) के आधार पर इस व्यवस्था को इस प्रकार अंकित कर सकते हैं—



अब हम इन पांचों सूत्रों की व्याख्या करेंगे।

कला के इतिहास को हीगेल आइडिया या विश्वचित् का विकास मानते हैं। अपनी 'प्रतीकात्मक' अवस्था में यह ईजिप्ट (मिस्र)—कुछ हद तक चीन और भारत—की वास्तुकला में दृष्टिगोचर होता है। इसमें सच्ची पुनर्प्रस्तुति के बजाय मात्र संघटना रहती है; और गति के अभाव में स्थिरता। यहां पदार्थ आत्मचैतन्य को

लपेट लेता है। मकबरों, स्तूपों, पिरेमिडों, ऊंचे स्तंभों के निर्माण में ही यह युग मुखर हो उठता है। इसमें भारतुल्यता (प्वाइज़)—पदार्थ और आइडिया की—का अभाव होता है।···क्लासिकल युग में पदार्थ और आइडिया का समतोलन कायम हो जाता है। इसके दर्शन यूनान की शिल्पकला में होते हैं जहां यूनानी देवी-देवताओं की प्रतिमाओं में काव्यात्मकता (आइडिया) भी है। इसके अंतर्गत मानवात्मा की अभिव्यक्ति के लिए मानव-शरीर की अखंड अनुकूलता स्वीकार की गयी है। अतः हीगेल के अनुसार यूनानी शिल्पकला का युग न वर्तमान में है और न भविष्य में कभी हो सकेगा (विंकेलमान-प्रभाव)। हीगेल देवताओं की ओलिंपिक-दुनिया में अपने को पूर्णतः नहीं भुला सके। उन्होंने कहा कि इन बेचारे सुंदर और स्वतंत्र और आत्म-चैतन्ययुक्त देवों के ऊपर भी भाग्य है और इसी अपूर्णता को प्रकट करने के लिए रोमन व्यंग्य-कला का विकास हुआ।···रूमानी या रोमांटिक युग के विषय में वे कहते हैं कि यहां जिस पदार्थ पर अनंत आइडिया का प्रभुत्व हो जाता है उसके फलस्वरूप बाह्य रूप के कौशल से ध्यान हट जाता है। ईसाई आध्यात्मिकता (जिसका उत्थान रिनैसां-कला में उत्कर्ष को छू गया) ने कला-तत्त्व में पदार्थ—आइडिया अथवा रूप—-विषयवस्तु के संतुलन को भंग करके कला को पदच्युत करके धार्मिक निष्ठा को पदासीन कर दिया और यूनानी देवी-देवताओं की जगह ईश्वर या ईसा मसीह को ऐतिहासिक पुरुष बना दिया। किंतु द्वंद्वन्याय के अनुसार नैतिकता मूलतः बौद्धिक है और ऐंद्रियक माध्यम में व्यक्त नहीं की जा सकती। अतः आइडिया की प्रधानता तो होती गयी किंतु पदार्थ उपेक्षित होता गया। ईसाई मत के अनुसार शरीर (पदार्थ) के नाश के उपरांत आत्मा (आइडिया) के पुनर्जागरण का जो विश्वास फैला; अंतरात्मा को पहचानने के लिए संतों ने रहस्यवादी अनुभूतियों के जो संकेत दिये उन सबने मिलकर भी **ईसाई रोमांटिकता** को प्रतिष्ठित कर दिया। संगीत उपासना में सर्व-श्रेष्ठ कला-माध्यम हुआ। अतः हीगेल ने उसे पहला और चित्रकला से श्रेष्ठतर स्थान दिया। इसके उपरांत चित्रकला में ईसाई कथाओं के अंतर्लोक का प्रकाशन हुआ। अतः हीगेल ने उसे दूसरा स्थान दिया। हीगेल के समय में ही गोएथे, शिलर, हाइने आदि द्वारा जर्मनी का सांस्कृतिक रिनैसां फलीभूत हो रहा था जो यूरोपीय रोमांटिक आंदोलन से अनुप्राणित था और जो धर्म की अपेक्षा लोक-प्रधान था। अतः हीगेल ने सामंत शूरों के शौर्य, सुंदर रमणियों के प्रति प्रणय, आत्मगौरव और वफादारी के भावों से संबंधित जगत् को भी रोमांटिक चेतनता में शामिल कर लिया। अंततः उन्होंने परिहास्य अर्थात् ह्यूमर को रूमानी युग का अंतिम ह्रासोन्मुख पक्ष माना।

इस समग्र कला-इतिहास की धारणा पर श्लेगेल के विश्व-इतिहास की कल्पना की छाप है। इतिहास, समाजशास्त्र और इतिहास-दर्शन, तीनों के अनुसार कला के केवल ये ही तीन युग इसी क्रम में कहीं नहीं हुए हैं। वस्तुतः हीगेल ने अपने दर्शन के अनुरूप ही कला-इतिहास को इस प्रकार रंग डाला है। ऑर्नल्ड टायन्बी ने लगभग बीस देशों के कला-इतिहास की क्रमानुसार सूची पेश करके इसे अंतिम रूप में अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। फिर, केवल यूरोप के आधार पर ही वे इसके सार्व-

भौम और सार्वकालिक होने का दावा किस प्रकार कर सकते हैं ? अब इसका महत्त्व केवल किसी संग्रहालय के लिए ही है। इसके अलावा हीगेल ने प्रत्येक कला-युग के अनुरूप एक सर्वोचित [दे० सूत्र (ख), पिछला पृष्ठ] कला-प्रारूप की व्यवस्था करके इसे और भी असंगत बना दिया है।

जैसाकि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, उन्होंने ऐतिहासिक अभ्युत्थान के साथ-साथ **कला-चक्र** भी प्रस्तुत किया है; जैसे प्रतीकात्मक युग की प्रतीकात्मक कला, जिसकी विशिष्ट श्रेणी वास्तुकला है। इसका विकास ऐतिहासिक विकास का पूरक है—

प्रतीकात्मक कला में आइडिया की अपर्याप्त अभिव्यक्ति होती है और उस पर बाह्य रूप हावी रहता है (पदार्थ का आइडिया पर प्रभुत्व)।

क्लासिक कला में आइडिया और बाह्य रूप दोनों में संगति रहती है (पदार्थ और आइडिया की भारतुल्यता) और

रोमांटिक कला में अनंत आइडिया बाह्यता के ससीम रूपों से मुक्त होने की कोशिश करता है और स्वतंत्र, अनंत, आत्मचेतन होकर ऊर्ध्वविचरण करता है (आइडिया का पदार्थ पर प्रभुत्व)।

अंत में हीगेल प्रत्येक कला-प्रारूप के बाह्याभिव्यक्तीकरण के लिए एक **विशिष्ट कला** की भी कल्पना करते हैं; जैसे, प्रतीकात्मक कला-प्रारूप के लिए वास्तुकला, क्लासिकल के लिए शिल्पकला और रूमानी के लिए चित्रकला, संगीतकला एवं काव्यकला। किंतु ये विशिष्ट कलाएं (विशिष्ट कला-प्रारूपों से संयुक्त) तीनों ऐतिहासिक अवस्थाओं से भी गुजरती हैं। अतः इनमें से प्रत्येक के भी प्रत्येक ऐतिहासिक काल के अनुरूप तीन रूप हो जाते हैं। उदाहरणतः वास्तुकला का विकास प्रतीकात्मक, क्लासिकल और रोमांटिक युग से गुज़रकर ही होता है।

प्रत्येक विशिष्ट कला एक विशेष ऐंद्रियिक माध्यम का विकास है। ललित या सुंदर कलाओं की विशेषताएं संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

वास्तुकला बाह्य (रूप-प्रधान) है और इसका उपादान अकार्बनिक (कार्बनिक भी, जैसे प्लास्टर) पदार्थ (जैसे मिट्टी, पत्थर, काष्ठ) हैं। इसके मूल्य दो हैं—उपयोगिता और सौंदर्य। इसकी रूप-व्यवस्था समानुपात पर आधारित बौद्धिक संबंध हैं। यहां कला-नियमों के बजाय मैकेनिक्स तथा ज्यामिति के नियम लागू किये जाते हैं और ये सामान्य विचारों का (आइडिया का न्यूनतम) संवहन करते हैं। प्रतीकात्मकता के युग में इसके प्रतीक स्तूप, स्तंभ और तोरणादि हैं। यद्यपि यह मुख्यतः प्रतीकात्मकता के युग की ही कला है लेकिन क्लासिकल युग में यह देवत्व का प्रतिष्ठान करती है और इसके प्रतीक मंदिर, गिरजाघर, आवासगृह, रंगशालाएं, नाट्यशालाएं आदि हैं। इस बिंदु पर इसमें (—वास्तुकला) से शिल्पकला का आविर्भाव होने लगता है। रूमानी युग में यह लौकिक होती है जिसकी प्रतीक गोथिक इमारतें हैं जिनमें शनैः-शनैः पदार्थ का ठोस-पन समाप्त होने लगता है। यहां अंतर्देवत्व और बाह्य वास्तुकला-वस्तुओं का संबंध है। अतः यह प्रतीकात्मक है।

शिल्पकला में यद्यपि माध्यम वास्तुकला वाला ही होता है और यह भी

त्रि-आयामी होती है, लेकिन इसमें रूप (फॉर्म) तथा विषयवस्तु (कांटेंट) की संगति होती है। इसीलिए यह क्लासिकल प्रारूप वाली है यद्यपि यह भी कठोर पदार्थ (जैसे तांबा, कांसा, पीतल, पत्थर, काष्ठ आदि) में ही अभिव्यक्त होती है। वास्तुकला-वस्तु में व्यक्त आइडिया धुंधला होता है; किंतु एक मूर्ति (शिल्प) में यह स्पष्ट होता है। यह आत्मचैतन्य को धारण करती है और उसके (आत्मचैतन्य) आविर्भाव की मध्यबिंदु है। यूनानी शिल्पकला क्लासिकल कला का चरमोत्कर्ष है।

चित्रकला रोमांटिक प्रारूप में से पहली कला है जिसमें स्थानगत स्थूलों का लोप होना शुरू होता है जिससे यह द्वि-आयामी रह जाती है। यह प्रकाश-छाया और रंगों-रेखाओं का उपयोग करती है। अतः भौतिक वास्तविकता में जो कुछ यह खोती है, वही पुनर्प्रस्तुति की शक्ति में हासिल भी कर लेती है। यह ठोस विस्तार की ऐंद्रियक भौतिकता से वियुक्त है। अतः पुनर्प्रस्तुति-सामर्थ्य के कारण यह शिल्प की तरह एक या समूह मानव-प्रतिरूपण के बजाय एक संपूर्ण दुनिया, संवेग, आवेश, कार्य, अंतर्जगत, संबंध, आदि की अभिव्यंजना की शक्ति प्राप्त कर लेती है। फलस्वरूप माध्यम की सीमाएं अभिव्यंजना की उपलब्धियों में क्षतिपूर्ति करती हैं। हीगेल रिनैसां कालीन ईसाई-चित्रकला से अनुप्राणित होकर इसका प्रथम रोमांटिक कला के रूप में अभिषेक करते हैं। इस आधार पर गिओटो की 'जोशिम की चरागाह के बाड़े में वापसी', फ्रा एंजेलिको की 'एनन्शियेसन', टिशियां की 'पिसारो मेडोना', वेरोनीज़ की 'सेंट केथेरीन की शादी', टिंटोरेट्टो की 'काना की विवाह की दावत', एलग्रिको की 'संत फ्रांसिस', रेम्ब्रां की 'व्यभिचार में पकड़ी गयी स्त्री ईसा के सम्मुख' आदि उदात्त ईसाई रोमांटिक-कलाकृतियां ठहरेंगी।

संगीतकला रोमांटिक प्रारूपों में दूसरे नंबर की कला है जिसमें स्थान का पूर्णतः लोप हो जाता है। यह चित्रकला से अधिक चिद्विलास को प्रकट करने वाली और मर्म-स्पंदन उत्पन्न करने वाली है। इसमें राग-रागिनियों का संसार मानव जाति के भाव-संस्कारों का मंथन करता है, स्मृति को जागृत करता है और आत्मचैतन्य के लोक में दीप्त हो उठता है। इसमें गति है; यहां तक कि भौतिक पदार्थों तक में यह कंपन उत्पन्न करती है।

काव्यकला रोमांटिक प्रारूपों में तीसरे और अंतिम नंबर की कला है जो केवल रोमांटिक ही नहीं, सार्वभौम या वैश्वक (यूनिवर्सल) भी है क्योंकि यह सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है। यह देश और काल दोनों की कला है: बिंबों की उत्पादक होने के कारण यह देश-युक्त, तथा समय के प्रवाह में मानवों की कथा कहने के कारण काल-युक्त है। इसमें ही **'मानव जाति की सामूहिक आत्मचेतना'** का अंगीकार होता है। यही आत्मचैतन्य को पूर्णतः धारण करती है। यह संगीत से उच्चतर है। गिलबर्ट और कुह्न के अनुसार "काव्यकला की सार्वभौमता—घटनाओं की दशाओं और रागों का उन्मूलन कर सकती है। इसके अलावा इसमें (निहित आइडिया की) दीप्ति एक चरित्र या दृश्य को भी तीव्रता से उत्कीर्ण करके अंकित कर सकती है। जब होमर आर्किलीज़ की ढाल का वर्णन करते हैं तब वे **काव्य में शिल्प**

से प्रतियोगिता करते हैं। किंतु जब वे आर्किलीज के क्रोध के परिवर्तनों का वर्णन करते हैं तब वे एक **संगीतकार** के सदृश एक आंतरिक 'स्व' के संवेगों का अनुकरण करते हैं। संगीत की ध्वनि की तरह काव्य का माध्यम (ध्वनि न होकर) बिंब है; और बिंब एक पदार्थ तथा चिंतन के बीचोंबीच होता है। लेकिन काव्यात्मक बिंब तो ठीक आधी दूरी पर स्थित एक घर है जिसका सिंहद्वार तो चिंतन एवं दर्शन की ओर है तथा पिछवाड़ा कला की ओर।...शब्दार्थ—ध्वनि नहीं—ही काव्य में सब-कुछ है।"[1]

इस प्रकार वे काव्य को दर्शन से पृथक् भी कर देते हैं और उसे दर्शन के सर्वाधिक सन्निकट भी ले आते हैं।

काव्य तीन भागों में विभक्त है—महाकाव्य, वेणुगीति तथा नाटकीय या नाटक। हम इनका अत्यंत संक्षिप्त परिचय देंगे।

महाकाव्य में किसी राष्ट्र के आदिम इतिहास की महत्तम घटनाओं का इतिवृत्त होता है। अतः यह बेहद बहिर्मुख और विस्तारपूर्ण होता है। इसमें कार्य-व्यापार की बहुलता और राष्ट्र की एकजुट चेतना का ग्रहण होता है। फलस्वरूप इसमें वर्णित नायक वैयक्तिक न होकर चरितनायक होते हैं जो बाह्य जीवन में महत्तम संघर्ष-आदर्श आदि उपस्थित करते हैं। इस प्रकार महाकाव्य और राष्ट्र-इतिहास का संगम हो जाता है। हीगेल ने केवल राष्ट्रों के आदिम इतिहास को ही दृष्टि-सम्मुख रखा है जबकि इटालवी दांते, अंग्रेज़ मिल्टन और जर्मन गोएथे के महाकाव्यों को बरबस भुलाने की कोशिश की है। महाकाव्य-क्षेत्र में वे यूनानी कवि होमर को सर्वोत्तम मानते हैं।

वेणुगीति में अंतर्मुखी जीवन से अलग वैयक्तिक मनुष्यों का जगत् होता है। अतः यह सब से कम बहिर्मुख और विस्तृत होता है। इसमें 'व्यक्तित्व' का आविर्भाव होता है [स्पिरिट से आत्मा, और आत्मा से व्यक्तित्व] जिसकी वजह से काव्यकृति प्रकृति-उपज से अधिक उसकी स्व-सृष्टि होती है। इसलिए इसमें एक ओर तो तीव्र ऐकान्तिकता मिलती है और दूसरी ओर निर्विकल्प विलक्षणता (यूनीकनेस)। वेणुगीति-क्षेत्र में वे जर्मन महाकवि गोएथे को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

नाटकीय काव्य या नाटक में महाकाव्य एवं वेणुगीति दोनों का संयोग होता है। इसमें एक ओर तो कार्य-घटनाओं के द्वारा महाकाव्य का सामाजिक सत्त्व तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय समग्रता के बजाय वैयक्तिक चिंतन के द्वारा वेणुगीति का वैयक्तिक रुझान घुल-मिल जाता है। इसकी परिणति त्रासदी (ट्रेजेडी) में है [यहां वे अरस्तू की स्थापना को अपने ढंग से ग्रहण करते हैं] जहां दो परस्पर विरोधी शाश्वत शक्तियों का द्वंद्व चला करता है। इस द्वंद्व के कारण निर्विकल्प आत्मचैतन्य का संतुलन भंग होता है और फलस्वरूप पात्रों में तनाव और खिंचाव आता है। अंत में फलागम की स्थिति में जब कलावस्तु का उत्कर्ष होता है तब यह द्वंद्व समाप्त

१. 'ए हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक्स', पृ० ४५२।

होता है और इस समाप्ति में व्यक्ति की वैयक्तिकता का नाश (तुल० 'रेचन' से) हो जाता है। अंत में पूर्ण प्रशांति छा जाती है। इस क्षेत्र में वे सोफ़ोक्लीज़ को महत्तम नाटककार मानते हैं। तीव्र द्वंद्वों के बीच भी पात्रों को दुःख और भय की विभीषिकाओं को झेलते हुए भी आंतरिक लोक को सशक्त बनाना चाहिए। इसके लिए वे नायक प्रोमेथियस को आदर्श मानते हैं। उन्होंने प्रसिद्ध चित्रकार मुरिल्लो द्वारा गरीब भिखारी-बच्चों के चित्रण का भी उदाहरण देते हुए कहा कि वे नन्हे बाह्य संघर्ष को झेलते हुए भी अंतःप्रकाश से दीप्त हैं। इस प्रकार हीगेल नाटक में विरोधी भावों और मानव के मंगल मार्ग के अभियानों को अनिवार्य-सा मान लेते हैं।

सारांश यह है कि हीगेल अपने कला-दर्शन में आद्यंत एक पुनरुत्थानवादी के रूप में नज़र आते हैं; जहां भी उन्हें मौका मिलता है, वे झटपट मानव-जाति की आदिम अवस्था के आदर्श लोक की ओर ललक उठते हैं। उन्होंने कलाओं में भी केवल त्रित्व स्वीकार करके उन्हें स्वतः पुष्पित होने से रोककर अपने दर्शनपाश में जकड़ दिया है। इसके अलावा उनकी नज़र शास्त्रीय पांच ललित कलाओं से आगे का वर्गीकरण करने में असमर्थ रही जबकि उनके युग में ही कई नयी कलाएं विकसित हो चुकी थीं।

इसी धाराप्रवाह में—सौंदर्य-सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले इन त्रिपुटों से हटकर—अप्रासंगिक रूप से **उदात्त** संबंधी उनके निर्णयों को जान लेना भी समीचीन होगा।

उनकी उदात्त-धारणा आंतर पक्ष के बजाय (कांट) बाह्य पक्ष (बर्क) पर आश्रित लगती है। ज़ाहिर है कि उन पर उदात्त-संबंधी बाह्य पक्ष वाली प्राचीन धारणा की ही छाप है जहां वस्तु की विराटता प्रधान होती है। वस्तु की विराट् कल्पना की वजह से ही वे उदात्त को प्रतीकात्मक कला से निःसृत मानते हैं और विशाल पिरेमिड, हिब्रू-काव्य आदि की रूपगत प्रमुखता में उसे केंद्रित करते हैं। इस प्रकार वे 'पूर्ण' के बजाय 'प्रतीक' को, और आइडिया के बजाय पदार्थ को उदात्त का मूल तत्त्व सिद्ध करते हैं।

यही नहीं, उदात्त प्रतीकात्मक कला-रूप का एक गुण भी है। उसमें समतोलन (प्वाइज़) का अभाव होता है। उसमें रूपगत विराट्ता तो होती है लेकिन संगीतात्मकता और गत्यात्मकता नहीं होती क्योंकि वह क्लासिकल और रोमांटिक दोनों कलाओं से पृथक् है।

इस प्रकार यह **अपर्याप्त अभिव्यंजना** से जुड़ जाता है। यह अनंतता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा-मात्र है। अतः असंभव है, अपर्याप्त है। उदात्त के अनुभव में मनुष्य को अपनी ससीमता का और ईश्वर से अपनी अनंत दूरी का भान होता है। इसलिए उदात्त के अनुभव में अमरता का भाव प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। सौंदर्य और आइडिया में तो देश-काल-निरपेक्षता है किंतु अनंत की अपर्याप्त अभिव्यंजना वाले उदात्त में नहीं। अतः उदात्त सौंदर्य और आइडिया से भी पृथक्

है। इस प्रकार हीगेल उदात्त को 'अपर्याप्तता की चेतना' से जोड़ देते हैं (जबकि उनके पूर्ववर्ती कांट उसे नैतिक नियम से संलग्न करते हैं)। इन्हीं कारणों से हीगेल ने त्रासद को भी उदात्त-बहिर्भूत घोषित किया है। अस्तु।

(स) **मानचित्र संख्या ३** में जिन आठ त्रिपुटों (संख्या ७ स १४ तक) का द्वंद्वात्मक विकास है, उनमें से अधिकांश को लघुता तथा प्रसंग-संबद्धता के लिए छोड़ा जा सकता है। यहां हम केवल कला-दर्शन-संवर्द्धक त्रिपुटों और अंतःश्रेणियों का निरूपण करेंगे।

ये सभी त्रिपुट **अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य** के अंतर्गत हैं जिनमें हीगेल ने मनोलोक की मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक निष्पत्ति की कल्पना की है। इनमें मूलप्रवृत्ति, चेतना, अनुभूति, संवेदना, स्मृति, संस्मरण, कल्पना, प्रातिभ ज्ञान, चिंतन, पुनर्प्रस्तुति आदि सभी मानव-वृत्तियां संग्रथित हैं। इस त्रिपुट-शृंखला की मूल प्राणिशास्त्रीय समस्या है—'पाशु बोधात्मकता (ऐनिमल सेंसिबिलिटी) से बुद्धि और अभिलाषा या कामना किस प्रकार विकसित होती है; अर्थात् वे (बुद्धि और अभिलाषा) किस प्रकार जैविक प्राणियों और पशुओं से **पुनः** दार्शनिक मस्तिष्क में आकर अपने मूल विवेक को प्राप्त कर लेती हैं?'

इसके पहले हम बता चुके हैं कि आइडिया विवेकशील होते हुए भी **प्रकृति-त्रिपुट** में विवेकहीन प्रतीत होता है और अंधशक्ति के रूप में रहता है। इसके उपरांत **पशु-जीव-संगठन** में उसमें पाशु बोधात्मकता का विकास होता है। अंततः **मानव-जीव-संगठन** में उसमें पूर्ण व्यवस्था तथा विशेष क्षमताएं विकसित हो जाती हैं जो मिलकर आत्मा कहलाती हैं। यह आत्मा प्रकृति एवं आत्मचैतन्य का द्वंद्वात्मक ऐक्य है। अतः **यह प्रकृति का अभौतिक सार्वभौम पक्ष है।** आत्मा मस्तिष्क के विशेषीकरण (पर्टीकुलराइज़ेशन) और वैयक्तीकरण (इंडिविजुअलाइज़ेशन) का भी आधार है।

इस आत्मा के उपत्रिपुट (संख्या ८) में 'प्राकृतिक आत्मा' में इदम् की स्थिति है; 'अनुभूत आत्मा' में इदम्=अहम् की स्थिति है और 'वास्तविक आत्मा' में सोऽहं की स्थिति है। वास्तविक आत्मा में शरीर-आत्म का ऐक्य है। अतः यहां व्यक्तित्व के सार्वभौम और वैयक्तिक दोनों पक्षों का उत्थान होता है। इसी वजह से मानव सार्वभौम होते हुए भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों वाले होते हैं और भिन्न-भिन्न प्रतिभाएं भिन्न-भिन्न रसों से आप्लावित रहती हैं।

अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य की दूसरी अंतःश्रेणी (आत्मा के बाद) 'चेतना' की है। इस दशा में पूर्ण आत्म-साक्षात्कार होता है। इसलिए यह वास्तविक आत्मा से अधिक विकसित है क्योंकि इसमें विषय के प्रति सजगता है जो स्व-बहिर्भूत होती है। अतः यहां विषयी का ही नहीं, विषय का भी परिज्ञान होता है।···इसके एक उप-त्रिपुट (सं० ६) में समन्वय की स्थिति में बुद्धि उपलब्ध होती है जहां ऐंद्रियक चेतना तथा स्व-चेतना के वाद-विवाद के बीच संतुलन है। यहीं सार्वभौम और विशिष्ट

के बीच भेद होता है अर्थात् ऐंद्रियक जगत् के मायावगुंठन तथा अतींद्रिय जगत् के सत्य का भेद नज़र आता है।

अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य का समन्वय मस्तिष्क (दे० सं० ७) में होता है। यह हीगेल की निष्पत्ति का दूसरा केंद्रबिंदु है। यहां पहुंचकर बहिर्वस्तु अंतर्धान हो जाती है और वह आत्मचैतन्य के रूप में ही जानी जाती है। इसकी सभी प्रतिक्रियाएं इसमें ही सन्निहित एवं इस जगत् से सम्बद्ध हैं। इसके तीन खंड हैं—सैद्धांतिक मस्तिष्क, व्यावहारिक मस्तिष्क और मुक्त मस्तिष्क (त्रिपुट सं० १०)।

इस त्रिपुट (सं० १०) के 'व्यावहारिक मस्तिष्क' के क्षेत्र में मस्तिष्क अपनी सक्रियता से स्वयं ही इस जगत् का निर्माण करता है। अतः इसकी वृत्तियों का विकास एक बहुमुखी त्रिपुट (सं० ११) में होता है। **यह उप-त्रिपुट हीगेल-कृत 'संवेग-सिद्धांत' का आधार** और अंतर्व्यक्त आत्मचैतन्य-श्रृंखला में सर्वोच्च है। इसके तीन खंड हैं—(१) 'व्यावहारिक अनुभूति' में समंजस और असमंजस दोनों अवस्थाओं के होने से सुख और दुःख दोनों का सहयोग है; (२) 'आवेश और चुनाव' की उपस्थिति के कारण अनुकूलता का तत्त्व आ जाता है जिसके वशीभूत होकर वांछित रूपों की रचना होती है। वांछित वृत्ति में आवेशों का चुनाव ही है अर्थात् जब हम आवेशों में से चुनते हैं और अनुकूल को ग्रहण करते हैं, तभी चुनाव की पुष्टि होती है और (३) हर्ष किसी विशिष्ट चुने गये आवेश से उत्पन्न दशा है जहां व्यक्ति की संपूर्ण वैयक्तिकता का तिरोभाव हो जाता है (तल्लीन दशा)। इस तल्लीनता में एकाध कामना या राग से पूर्ण संबंध जुड़ जाता है जो अपनी परिणत दशा में **संवेग** (इमोशन) कहलाता है। इस प्रकार संवेग की अवस्था में एक चुने हुए आवेश की परिपक्वता होती है जहां संपूर्ण 'आत्मा' लय हो जाती है। अतः एक समय में एक ही आवेश की प्रधानता हो सकती है। इस प्रकार संवेग और आवेग मिलकर क्रिया को उत्प्रेरित करते हैं। अतः यह (हर्ष) सृजनात्मक मस्तिष्क की क्रियाशीलता और संस्कार तथा अभिरुचियों से संलग्न है। इसमें क्रियातत्त्व की अधिकता के कारण इसे **नाटकीय कार्यों** (अभिनय समेत) का भी आधार माना जाता है। यह महत् लक्ष्यों की पूर्ति (=संतुष्टि) से उत्पन्न होता है [इस त्रिपुट-व्याख्या के समानांतर आई० ए० रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत रखकर परखे जा सकते हैं]।

त्रिपुट सं० १० का दूसरा खंड 'सैद्धांतिक मस्तिष्क' है जहां हम ज्ञान तथा उसके समस्त लीलारूपों को प्राप्त करते हैं; जैसे कल्पना, संस्मरण, स्मृति, प्रातिभ ज्ञान आदि। ये सब ज्ञान के विधेय हैं। सैद्धांतिक मस्तिष्क स्थूल रूपों की रचना न करके कल्पना, प्रातिभ ज्ञान, संस्मरण जैसे सूक्ष्म रूपों की सृष्टि करता है। अतः यहां धारणाओं की उपलब्धि होती है।

इसके पहले उपत्रिपुट (सं० १२) के अंतर्गत सबसे पहले 'प्रातिभ ज्ञान' आता है जिसे हीगेल अनवरुद्ध या विकल्पहीन मानते हैं। यह वैयक्तिक मस्तिष्क की अंतर्मुखी छाप है जिसमें सार्वभौम चरित्र नहीं होता। यह नितांत अंतर्लीन है। इसमें निर्णय की अवस्था का पहला धुंधला आभास तो होता है किंतु उसे साफ-साफ

चीन्हा नहीं जा सकता । इसकी दो विशेषताएं हैं—'ध्यान' (अटेंशन) जो मस्तिष्क को दिशोन्मुख करके किसी स्थल पर केंद्रित करता है, और आत्मबाह्यकरण (सेल्फ-एक्सटर्नलाइजेशन) जो अंतर्मुखी अभिव्यक्ति को विषयगत अर्थात् देश-काल-संभूत बना देता है। प्रातिभ ज्ञान के प्रतिवाद अर्थात् 'पुनर्प्रस्तुति' में बाह्यीकरण नहीं होता।

'पुनर्प्रस्तुति' के विकसित त्रिपुट (सं० १३) में संस्मरण या पुनर्स्मृति है जहां अवचेतन में पड़े सर्वसाधारण (प्रातिभ ज्ञान के वैयक्तिक के विपरीत) बिंब मस्तिष्क के प्रत्याह्वान द्वारा चेतन जगत् में प्रकट होते हैं। ये बिंब विशिष्ट न होकर सार्वभौम होते हैं।···पुनर्प्रस्तुत का दूसरा स्वरूप 'कल्पना' है जहां कोई **एक** तथा **ऐकांतिक** बिंब के बजाय **अनेक** तथा **संबद्ध** बिंबों का चेतन जगत् में धारावाहिक प्रकटीकरण होता है। यहां मनोविज्ञान का मुक्त साहचर्य वाला नियम लक्षित होता है क्योंकि बिंब-प्रवाह पर तर्क या हेतु का नियंत्रण नहीं लग पाता। अतः यहां नये बिंब भी उत्पन्न होते हैं और अनुस्यूत भी। अतः कल्पना उत्पादक और पुनरुत्पादक दोनों है। अंत में 'स्मृति' है जो वाचिक बिंबों के माध्यम से (मूलतः शब्द, स्वर द्वारा) उत्पन्न एक प्रकार की पुनर्प्रस्तुति है।

सबसे आखिर में त्रिपुट सं० १० का तीसरा खंड (-'समन्वय') 'मुक्त मस्तिष्क' है जहां संकल्प या कामना 'शुद्ध सार्वभौमिकता या वैश्वकता' में परिणत होती है अर्थात् जहां लौकिक विषय तथा क्रिया के लोप के साथ-साथ कामना के आलंबन वैयक्तिक न रहकर सार्वभौम देश-काल-निरपेक्ष हो जाते हैं। यह पूर्ण-काम और स्व-विस्तारी है, इसीलिए यह **मुक्त** है। यहीं कला और मानव-आत्मा की सार्वदेशिकता तथा सार्वकालिकता के मानस-उत्स हैं। (इस दशा की तुलना अभिनव-गुप्त के देश-काल-मुक्त साधारणीकरणवाद से की जा सकती है)।

इस तरह हीगेल के सौंदर्य-दर्शन की तरह त्रिपुटों की शृंखला पूरी होती है। मनोलोक-संबंधी त्रिपुटों पर बर्क तथा एडीसन की परंपरा की गहरी छाप है और कई वृत्तियों की स्थापनाएं आज मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत होंगी; जैसे आत्मा का विवेचन (त्रिपुट सं० ८), सैद्धांतिक और व्यावहारिक मस्तिष्क का विभेद (त्रिपुट सं० १०), कल्पना की धारणा (त्रिपुट सं० १३) आदि। इनके विषय में हम आरंभ में बातें कर चुके हैं।

अंत में हम क्रोचे के एक कथन से हीगेल के सौंदर्यबोधशास्त्रीय चिंतन का समापन करते हैं—"हीगेल का सौंदर्यबोधशास्त्र (मानो) अंत्येष्टि समय का ओजस्वी भाषण है। वे कला के क्रमबद्ध रूपों का पुनर्निरीक्षण करते हैं; आंतरिक यक्ष्मा की क्रमशः बढ़ती हुई दशाओं को दिखाते हैं और फिर सबको कब्र में रख देते हैं। सबसे अंत में दर्शनशास्त्र उसका मर्सिया लिखने को बाकी बच जाता है।"[१]

× × ×

इस मध्यांतर में हम तीन संवेगवादी (इमोशनलिस्ट) सौंदर्यबोधशास्त्रियों की

१. क्रोचे : 'ऐस्थेटिक्स', पृ० ३०२

मूल्य-स्थापनाओं का निरूपण करेंगे। ये हैं—यूजीन वेरोन्, लियो निकोलाएविच तोल्सतोय और यर्जो हर्न।

यूजीन वेरोन्

फ्रांसीसी यूजीन वेरोन् (१८२५-८९ ई०) ने 'रूपवाद' के विरोध में **संवेगवाद** की प्रतिष्ठा की। उन्होंने कला का अभिधान संवेगों में मानते हुए उसे संवेगों की सार्वभौम भाषा घोषित किया। अभी तक पुस्तकीय (एकेडेमिक) सौंदर्यबोधशास्त्र में आत्मचैतन्य या आइडिया-प्रसूत 'निर्विकल्प सौंदर्य' ही सार्वभौम माना जाता था; किंतु वेरोन् ने संवेगों को मानव-जाति की वसीयत मानकर कला की सामाजिकता, लौकिकता और भावात्मकता की भी प्रस्थापना की।

उनके अनुसार वस्तु के दो पक्ष हैं—पहला, स्वयं वस्तु का रूप; और दूसरा उसका सार या सत्त्व। स्वयं वस्तु तो बाह्य विभूषण है किंतु सार है अंतर्जगत् से उसका संधान। बाह्य विभूषण और अंतर्जगत् के बीच सामंजस्य कायम करने के लिए **कला अभिव्यंजना करती है**। इस अभिव्यंजना में कलाकार और परिपार्श्व तो आपस में गुंथ जाते हैं किंतु कलाकार और अन्य मनुष्यों की कड़ी छूटी रह जाती है। वेरोन् कला का धर्म 'अभिव्यंजना मात्र मानते हैं—प्रेषणीयता के सहित या बिना। इस प्रकार वे **प्रेषणीयता** के बजाय **अभिव्यंजना** को महत्त्व देते हैं। यदि कलाकार आंतरिक अभिव्यंजना की अपेक्षा बाह्य अभिव्यंजना में लीन रहता है तो निश्चय ही अनुभूति-अभिव्यक्ति-अनुभव, तीनों का समावेश होगा और प्रेषणीयता लाज़िमी होगी। वेरोन् इस मूल तथ्य को छोड़ जाते हैं।

यह अभिव्यंजना या तो **दृश्य** होती है (रेखा, रूप, रंग आदि), या **श्रव्य** (शब्द, ध्वनि आदि), या फिर **मुद्रात्मक** (अभिनय, अनुभवादि)। अतः इन तीन प्रकार की अभिव्यंजनाओं में ही कला की स्थिति है। चूंकि अभिव्यंजना मात्र संवेगों का प्रकाशन करती है इसलिए सौंदर्य इसका सहवर्ती होते हुए भी अभिव्यंजना के अधीन है। इस प्रकार वेरोन् सौंदर्य को भी दूसरा दर्जा दे देते हैं। यह अभिव्यंजना तात्कालिक या सहज या संस्मरणात्मक, तीनों ढंग के संवेगों का कला में अपनी शक्ति द्वारा समावेश करती है। अतः **कला में रूप का प्रत्यक्षीकरण** तथा **अभिव्यंजना की शक्ति**, दोनों का समावेश है। यही उनके 'संवेगात्मक अभिव्यंजनावाद' का पक्ष-वाक्य है।

इसी पक्षवाक्य के आधार पर वे सौंदर्यतत्त्व के दो स्वरूप मानते हैं (जो मूलतः 'रूप' और 'विषयवस्तु' ही हैं)—(१) अलंकरणात्मक (डेकोरेटिव) और (२) अभिव्यंजनात्मक (एक्सप्रसिव)।

अलंकरणात्मक कला में रूप प्रधान है। इसमें विचार और अनुभूति की उपेक्षा तथा रेखा, रंग, ताल, गति, ध्वनि, प्रकाश-छाया आदि दृश्य एवं श्रव्य रूपों की प्रधानता है। अलंकरणात्मक कला के तत्त्वों के निरूपण में वे मानो विंकेलमान की तरह ही संगति (हॉर्मनी), लावण्य और ऐंद्रियता को ढूंढ़ते हैं। इस कला की

प्रधानता प्राचीन (क्लासिकल ?) युग में रही है।

अभिव्यंजनात्मक कला 'मानव-व्यक्तित्व की उत्तेजित अभिव्यक्ति' होती है अर्थात् यह गहन संवेग-प्रधान है। अतः यह महत् विषयवस्तुओं के योग्य है और नैतिक तथा बौद्धिक मूल्यों का भी अंगीकार करती है। इस प्रकार वे उदात्त विषय-वस्तुओं के महत्त्व को पुनर्स्थापित करके रूपवादियों की एकांगिता को तहस-नहस कर देते हैं। यह कला आधुनिक युग में परिव्याप्त है।

वे भी अंतत रूप और विषयवस्तु के संतुलन के रहनुमा हो जाते हैं। उत्तम कला में दोनों का संयोग होना चाहिए क्योंकि दोनों परस्पर पूरक हैं। उत्तम अभि-व्यंजनात्मक कला के लिए तो अलंकरणात्मक कला की नींव ही चाहिए।

इस प्रकार वेरोन् महत्त्वहीन होते हुए भी रूपवादियों की मान्यताओं के ध्वंसक तथा तोल्सतोय के अग्र प्रभावक के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने **'संवेगात्मक अभिव्यंजनावाद'** को आधुनिक धरातल दिया, यद्यपि प्रेषणीयता और सौंदर्य के प्रश्नों पर वे गुमसुम-से हो गये हैं।

तोल्सतोय

रूसी कलाकार लेव निकोलाएविच तोल्सतोय (१८२८-१९१० ई०) ने वेरोन् की कला-परिभाषा का परिवर्द्धन किया। वेरोन् ने संप्रेषण-युक्त अथवा वियुक्त **अभिव्यंजना** पर जोर दिया तो तोल्सतोय ने संप्रेषणीयता को अनिवार्य ठहराया; वेरोन् के अनुसार कला अभिव्यंजना-प्रवण संवेगों की **सार्वभौम भाषा** है तो तोल्सतोय के अनुसार वह **सार्वभौम संवेगों** के माध्यम से प्रेषणीय भाषा; वेरोन् के अनुसार संप्रेषण-युक्त अथवा वियुक्त अभिव्यंजना ही लाज़िमी है तो तोल्सतोय के अनुसार संवेगों के द्वारा संप्रेषण या प्रेषणीयता; वेरोन् संवेगों की परिधि में हास-रुदन जैसे **तात्कालिक** तथा **सहजस्फूर्त** संवेग भी शामिल कर लेते हैं किंतु तोल्सतोय वर्डस्वर्थ की तरह केवल **सुस्मृत** संवेगों को ही ग्रहण करते हैं। अतः तोल्सतोय सार्वभौम संवेगों के लिए सार्वभौम भाषा की परिस्थितियां भी उत्पन्न करके कला में गंभीरता, व्यापकता एवं सहजता शामिल कर लेते हैं।

अपनी सौंदर्य-मीमांसा में वे कोरमकोर एक **'संवेगवादी'** हैं जो बार-बार 'अभिव्यंजना' तथा 'प्रेषणीयता' को साधन-मूल्य घोषित करते हैं। यही नहीं, रिनैसां के पश्चात् के फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका की सौंदर्य-कला विषयक स्थापनाओं को वे अपनी महान् चुनौतियों से लड़खड़ा देते हैं, यद्यपि अपने अंतर्विरोधों के सामने खुद भी लड़खड़ा-से जाते हैं। उन्होंने प्लेटो की परंपरा में—किंतु उनसे भिन्न होकर—सच्ची कला एवं मिथ्या कला की कसौटी बदलने की चुनौती दी। उन्होंने यूनानी कला (जैसे होमर) के साथ-साथ ईसाई कला (गोस्पेल) को भी ग्रहण किया तथा संत आगस्टाइन (३५४-४३० ई०), संत थामस के मध्यकालीन ईसाई-दर्शन के सिद्धांतों से प्रेरणा ली। परिणाम यह हुआ कि वे 'कला के धार्मिक सिद्धांत' के प्रतिपादक हो गये जिसमें ईसाई अराजकतावाद तथा फ्रांसीसी प्रजातंत्रवाद का मिलाप है। उनकी

दूसरी चुनौती रसग्राही या भोक्ता के संबंध में है। न तो वे प्लेटो की तरह उसे दार्शनिक मानते हैं, न ही मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-१८८८ ई०) की तरह समाज का बर्बर-फिलिस्तीन-पोपुलेस नामक तीन वर्गों में विभाजन करते हुए प्रधानतया फिलिस्तीनी लोगों में संस्कृति की मधुरता ('हिब्रेइज़्म') एवं आलोक ('हैलेनिज़्म') का कल्पित मेल कराकर एक यूतोपियन रसग्राही खोजते हैं। बल्कि उनका कला-भोक्ता जनसाधारण के बीच में से कोई सरल अविकृत ग्रामीण किसान है। उनकी तीसरी चुनौती कलाकृति के बारे में है। यद्यपि कलाकृति के रूप-संधान के विषय में वे लगभग खामोश हैं किंतु 'विशुद्ध' सौंदर्य की धारणा का वे आद्यंत उन्मूलन कर देते हैं। सौंदर्य को वे धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक परिवेशों से संलग्न करके कला में सौंदर्य के साथ-साथ धार्मिक-सामाजिक सौंदर्य का भी अभिधान करते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से वे सामाजिक रिनैसां के अंतराल में कला के वर्गीय तथा राजनीतिक चरित्र और उसकी शक्ति को पहचान लेते हैं किंतु पुनः अपनी खोज को थोरोवादी व्यापकता से ढांक देते हैं। उनके अनुसार क्षयिष्णु उच्च वर्गों द्वारा पाली-पोसी गयी कला दुरूह, बनावटी, भ्रष्ट, कुरुचिग्रस्त आदि है। अतः तिरस्कार्य है। उनकी चौथी चुनौती कलाप्रभाव के बाबत है। न तो वे अरस्तू की तरह होम्योपैथिक कैथार्सिस स्वीकार करते हैं; न ही आस्कर वाइल्ड, गॉशियर, बादलेयर आदि की तरह मात्र सौंदर्यबोधमूलक या ऐस्थेटिक संवेग मानते हैं बल्कि भोजन के प्रभाव की तरह उसका भी स्वस्थ-अस्वथ प्रभाव मानते हैं (उ० 'स्वस्थ कलाएं)। इस प्रकार उनके मुताबिक कला का अंतिम मूल्य 'मनोविनोद' अथवा 'सुख' न होकर सहकार अथवा शिक्षा है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, तोल्सतोय ने कला के वर्गीय चरित्र और राजनीतिक-सैद्धांतिक परिवेश को काफी पहचान लिया था। उन्होंने अपने समकालीन कार्ल मार्क्स (दे० 'कला क्या है' : अध्याय ७ : अनुच्छेद ९) के सिद्धांतों का भी परिचय हासिल किया था। उनकी त्रिवेचना के आधार पर निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि वे कला के 'विशिष्ट-जन' सिद्धांत की जगह पर 'सामान्य जन' के सिद्धांत तथा शासक वर्ग की कला की विषय-वस्तु के निरूपण में मार्क्स से परोक्ष रूप से प्रभावित हुए हैं। वैसे फ्रांसीसी प्रजातंत्रवाद, ईसाई अराजकतावाद तथा रूसी सामंतवाद भी उन्हें उनके अंतर्विरोध-ग्रथित समानांतर निष्कर्षों के नजदीक लाये।

"कला क्या है ?" (१८९८) में वे कला के वर्गीय चरित्र के आधार पर दो कलाएं मानते हैं—जनता की कला और अभिजात वर्ग या शासक वर्ग की कला। इस आधार के शोषण-बहुल और आर्थिक पहलू पर जोर न देकर वे उच्च वर्ग की कला को चर्च-ईसाइयत से उद्भूत मानते हैं जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत आनंदोपभोग है और जनसाधारण की कला को सच्ची ईसायत से उद्भूत मानते हैं जिसका मकसद ईश्वर का पितृत्व और मानवों का भ्रातृत्व एवं साम्य, परमपिता से तात्कालिक संबंध तथा हिंसा के बदले प्रेम और विनय का अभिधान है। उन्होंने घोषणा की—शासक-वर्ग के इंद्रियसुखानंद-साधना विषयक विचारों को बामगार्टन के सौंदर्यवादी सिद्धांतों

का लिबास पहनाया गया और विषय-वस्तु की दृष्टि से बोकेशियो से लेकर मार्सेल प्रेवोस्त तक उपन्यासों, कविताओं और गीतादि में उच्चवर्गीय व्यभिचारमूलक भावनाओं को बदल-बदलकर पेश किया गया। इसी प्रकार फ्रेंच कलाकारों के अधिकांश चित्र अनेक रूपों में नारी की नग्नता की नुमाइश लगाते हैं (अ० : ६) और नृत्य-नाटक कामोत्तेजक खेल में बदलकर अश्लीलता प्रदर्शित करते हैं (अ० : १)। अतः उच्चवर्गीय कला की विषयवस्तु में घोर दरिद्रता है। उनके अनुसार उच्चवर्गीय लोगों की तकरीबन सभी भावनाएं तीन तरह की हैं—गर्व की भावना, कामवासना की भावना एवं जीवन के प्रति थकान तथा असंतोष की भावना। झूठी गर्व-भावना की वजह से अभिजातवर्गीय कला में कृत्रिमता और ऐकांतिकता समाती गयी; कामवासना की वजह से इंद्रियलोलुपता, जटिलता और पतनशीलता हावी होती गयीं तथा जीवन के प्रति असंतोष-थकान की वजह से धुंधलापन, रहस्यात्मकता, दुरूहता आदि ने जकड़ लिया। इस प्रकार ज्यों ही कला 'सामान्यजन' के लिए न रहकर केवल शासक वर्ग तथा धनिक वर्ग ('विशिष्टजन') के लिए हो गयी, त्यों ही वह पेशा बन गयी, खर्चीली हो गयी, विभ्रष्ट हो गयी और झूठी हो गयी। उनके अनुसार रिनैसां के बाद की अधिकांश कला (पहले की भी क्यों नहीं ?) ने मनुष्यों को समूहों, वर्गों, राष्ट्रों और संप्रदायों में ही नहीं बांटा, बल्कि आपसी दुश्मनी भी पैदा की है। अतः देशभक्तिपूर्ण काव्य और धन्नासेठों द्वारा पालित चर्च-कला हेय है। सच्ची कला तो ईसाई-कला है जो सच्ची ईसाइयत के भाईचारा, प्रेम, विनय, शुद्ध जीवन, आपसी सहयोग, सार्वजनिक बंटवारा जैसे मूल्यों को धारण करके आनंदसाधक होने के बजाय, सरल भावनाओं द्वारा मनुष्यों को एक करती है। इस प्रकार तोल्सतोय अच्छी कला और ईसाई कला को एक बना देते हैं। यह सही है कि वे रूढ़िगत चर्च को ही सब दुर्गुणों का मूल मानकर सच्ची ईसाइयत की रहनुमाई करते हैं लेकिन रूढ़िगत चर्च और सच्ची ईसाइयत दोनों ही सामाजिक-आर्थिक दशाओं के दर्पण हैं जिन्हें वे नज़रअंदाज़ कर जाते हैं। अलबत्ता धर्म के उस पातक और शोषक रूप के खिलाफ वे बगावत करते हैं जो राज्य और उसके अत्याचारी साधनों (जैसे पुलिस, फौज, कर, अदालत, चर्चादि) के साथ मिला रहता है। चर्च-ईसाइयत का ध्वंस करके सच्ची ईसाइयत की प्रतिष्ठा के साधनों में वे जनता का 'असहयोग' और जनता का भाईचारा अंतिम अस्त्र मानते हैं। यही उनका संक्षिप्त **'ईसाई अराजकतावाद'** है जो 'धर्म' के बजाय 'धार्मिक धारणा' तथा 'व्यापक ईसाई-भाईचारे' के बजाय 'मानवजाति के सार्वभौम भाईचारे' में परिणत हो जाता है। अपने इस जीवन-दर्शन को उन्होंने अपने उपन्यासों-कथाओं में प्रतिपादित किया है तथा इसमें उन्होंने अपना कला-दर्शन भी सन्निहित कर लिया है। सारांश यह है कि तोल्सतोय के कला-सिद्धांत में नैतिक सिद्धांत तथा भाववादी सिद्धांत का मेल है।

उन्होंने देखा था कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति भी व्यापक ईसाई भाईचारे को सार्वभौम भाईचारे में नहीं बदल पायी। अतः उन्होंने मनोक्रांति की योजना पेश करते हुए बताया कि कला द्वारा ही व्यापक ईसाई-भाईचारा मानव जाति को सार्वभौम

भाईचारे में बांध लेगा। यह 'भाईचारा' ही युग का क्रांतिमंत्र है। यह भाईचारा धार्मिक है किंतु 'धर्म' (=चर्च) के इर्द-गिर्द न घूमकर धार्मिक धारणाओं जैसे ईसाई धर्म-संभूत सभी मनुष्यों के आपसी प्रेम और सहयोग और साम्य के केंद्र की ओर जा रहा है। यह भाईचारा ही भौतिक और आध्यात्मिक, वैयक्तिक और सामूहिक, सामयिक और चिरंतन शुभ (कल्याण) की प्रतिष्ठा करेगा। यह भाईचारा शुद्ध जीवन, आपसी सहयोग और सार्वजनिक बंटवारा जैसे साधन-मूल्यों द्वारा उच्च-अभिजात-शासक वर्ग की स्थिति को अनुचित और असुरक्षित सिद्ध कर देगा और उनके बनावटी, ऐंद्रियक ढोंगी भोग-सुख का पर्दाफाश करेगा। और यह भाईचारा कायम होगा कला के द्वारा। ज़ाहिर है कि यह कला ('धर्म'-युक्त न होकर) धार्मिक धारणाओं में गुंफित होगी। इस कला की वस्तु का निर्णय युग की धार्मिक चेतना के आधार पर होगा और उसका मूल लक्ष्य सुख न होकर—मानवों का भाईचारा या संघ होगा। यह संघ तभी कायम होगा जब वर्ग-भेद मिटेगा। वर्ग-भेद भी कला तथा कला में ग्रहीत भावनाएं ही मिटायेंगी, हिंसक क्रांति (उदा० फ्रांसीसी क्रांति) नहीं। अतः कला के नेतृत्व में धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक स्थितियों में परिवर्तन-संशोधन होगा अर्थात् क्रांति कर्मशील न होकर मानसिक अधिक होगी। यह तोल्सतोय का प्रबल अंतर्विरोध है कि वे सिद्धांततः तो समाज की विषमताओं के मूल में मात्र चर्च-ईसाइयत; तथा क्रांति और पुनर्जागरण के मूल में मात्र धार्मिक कला के साध्य मूल्य प्राप्त करते हैं, किंतु अपने व्यावहारिक जीवन तथा कलाकृतियों में सामाजिक विषमताओं तथा सक्रिय विरोध का घोष करते हैं। तोल्सतोय की इस स्थापना में कृषक रूस झांकता है। सामंत युग में सबसे बड़ा और मज़बूत पंजा सच्चे तथा सहज धर्म का न होकर मठ संगठित और शोषक-पोषित धर्म का होता है। तोल्सतोय इसी पंजे को तोड़ने के लिए चर्च-धर्म को पूर्णतः विनष्ट करने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त कृषक देशों की ९९% जनता किसान होती है जो धर्म-भीरु तथा नेक होती है। वह दुर्बल, अपढ़ और अ-संस्कृत भी होती है। यदि वह असफल हिंसा करती तो शासक वर्ग की सेना-पुलिस-अदालत की सहस्रबाहु प्रति-हिंसा उसका खात्मा ही कर सकती है। इसलिए तोल्सतोय एक ओर तो नेक सीधे-सादे तथा नितांत ईमानदार औसत रूसी किसान (अर्थात् ९९% बहुसंख्यक जनता) को आदर्श कलाग्राही घोषित करते हैं, दूसरी ओर ईसाई धर्म के सामूहिक और उदात्त मूल्यों (अर्थात् धार्मिक दृष्टि से उद्भूत भावनाओं) को ग्रहण करके 'सामान्य जन के लिए विशिष्ट भावनाओं से युक्त' कला अर्थात् **सच्ची कला** के आदर्श पेश करते हैं और अंततः इन भावनाओं की प्रेषणीयता के लिए कला द्वारा हिंसा को दूर करते हैं; 'सही दिशा' बताकर कला की गतिगामी शक्ति असीमित कर देते हैं। यह सब उन्होंने जाने-अनजाने दोनों ढंग से किया है।

इस प्रकार उन्होंने 'सच्ची कला' और 'जनता की कला' को समानार्थक संदर्भ दिये हैं—जो बहुसंख्यक लोगों के लिए बोधगम्य हो। कला बोधगम्य तभी होगी जब उसमें श्रम करने वाले करोड़ों लोगों की ज़िंदगी के विविध और अनंत रूप

होंगे, जब वह गर्व, वासना, असंतोष की कुंठित भावनाओं से आज़ाद होकर धार्मिक दृष्टि से उद्भूत विशिष्ट महत्त्व वाली सार्वभौम व्यापक भावनाएं लिये होगी, जब वह सुलभ, सुगम, सामूहिक, सुबोध होगी और जिसे शिक्षित-अशिक्षित दोनों ही समझ सकेंगे क्योंकि उसमें उदात्त भावनाओं का प्रेषण होगा। अतः बहुत अच्छी कला उच्च वर्ग के एक बहुत छोटे से समूह के लिए ही सुबोध नहीं है। सर्वोत्कृष्ट कला उनके लिए अबोध्य हो सकती है किंतु सरल मानवों के बहुसंख्यक समूह के लिए हर्गिज़ नहीं। महान् कलाकृतियां इसलिए महान् हैं कि उन्हें बहुसंख्यक समुदाय ने हमेशा समझा है और वे सुगम तथा सामूहिक हैं। दुर्बोध कला या तो कला नहीं है, या फिर बुरी कला है क्योंकि कला का कार्य तो अगम्य और अबोध को सुगम और बोधगम्य बनाना है। अतः सच्ची कला बहुसंख्यक समुदाय के लिए बोधगम्य और अनुभूत है; उसमें उदात्त भावनाओं का प्रेषण होता है और वह सभी मानवों के लिए—जाति, देश, राष्ट्रीयता, शिक्षा, काव्य-संस्कारों का अतिक्रमण करके—'सार्वभौम' होती है। उसका 'संक्रमण' (इन्फेक्शन) तात्कालिक होता है। इस कोटि में इलियड और ओडिसी; आइजक, जेकोब और जोसेफ़ की कथाएं, भजन, धर्म-कथाएं, शाक्यमुनि की कथाएं, वेदों के स्रोत ('कला क्या है ?' अध्याय १०), पालने की लोरियां, स्वांग, ग्रामीण हास्य-प्रहसन, घरों की सज्जा, वेश-भूषा, बर्तनों की आकृतियां, ईसा-प्रार्थनाएं, स्मारक, धार्मिक जुलूस आते हैं। उन्होंने सच्ची कला के अपने सिद्धांत की अति भी कर दी है। जो भी कलाकृति अशिक्षित और संस्कारों से अप्रदत्त किसान की समझ में नहीं आती, वह हेय है। इस प्रकार सोफ़ोक्लीज़, दांते, शेक्सपियर, मिल्टन, गोएथे, हाइने, इब्सन, मलार्मे, बीथोवेन, वाग्नर, मोनेट, रेनोएं, ज़ोला आदि और स्वयं उनकी अधिकांश कृतियां उनकी इस परिधि में नहीं आतीं। स्पष्ट है कि जीवन के अंतिम समय तक उन्होंने एक ओर तो सभी श्रेष्ठ क्लासिकल यूनानी-रोमन-लातीनी कलाकृतियों को अपनी इस कसौटी पर खोटा सिद्ध कर दिया और दूसरी ओर खुद अपनी अधिकांश कृतियों को भी त्याग दिया। लेकिन तीसरी ओर संपूर्ण प्राकृत् जन-जीवन को ही कला तथा कलाकृतियों की उपस्थिति एवं संभावनाओं से पूर्ण माना। यह गोपुच्छन्यायवत् स्पष्ट है कि उक्त कसौटी की मूल प्रेरणाएं दो हैं—(क) उनकी शुद्ध ईसाइयत की धारणा जो ऐतिहासिक चर्च तथा उसकी रूढ़ियों से मुक्त हो, और (ख) उनकी विशिष्ट संवेगों की धारणा जिसमें **धार्मिक, संक्रामक** और **संस्मृत** संवेग ही शामिल हों। यहां एक बुनियादी सवाल उठता है कि क्या शुभ या कल्याणपूर्ण जीवन में धर्म-विहीन (यदि अधार्मिक न हो) कला की कोई जगह या अहमियत नहीं है ? तोलसतोय का उत्तर है—'नहीं !' यह स्थापना उनकी सारी व्यापकता और गहराई का निषेध कर देती है क्योंकि इसमें उनके अंतर्विरोध की परिणति हो गयी है। यहां आकर ही वे बामगार्टन से भी बहुत छोटे और पीछे हो जाते हैं। वस्तुतः वे मानते हैं कि कला हमेशा उन्हीं भावनाओं का प्रेषण करती है जो हमारे युग के **धार्मिक प्रत्यक्षीकरण** से निःसृत होती हैं, जबकि भावनाएं प्रमुखतः हमारे युग के **सामाजिक (आर्थिक और सांस्कृतिक)** प्रत्यक्षीकरण से निःसृत

होती हैं। वे प्लेटो से प्रभावित लगते हैं, समाज की अशुभ विचारों से रक्षा करने के लक्ष्य में। यही नहीं, वासनात्मक, अहंवादी, अधार्मिक लोक का परित्याग करने के अलावा वे परिपाटी-बहिर्भूत, कटु-कठोर और आक्रामक तथा लोकमंगल की साधनावस्था के लोक का भी परित्याग कर देते हैं। यह उनकी तीसरी कमी है जो कला को सीमित कर देती है। वे कला को केवल इच्छा-लोक की पंथगामिनी बनाते हैं जहां आत्म-समाधि की तल्लीनता तो है किंतु ज्ञान-लोक का तेज और कर्म-लोक का संघर्ष नहीं। वे रूसी किसानों की झोंपड़ियों में जाकर उनमें सोये इंसान को जगाते तो हैं किंतु उसे विशाल जन-पथों में साधिकार चलने न देकर विनय और कृपा के द्वारा चलाते नज़र आते हैं।

अभी तक हमने मुख्यत: उनके कला-सिद्धांत के सामाजिक आयाम पेश किये हैं जो उनके जीवन-दर्शन और राजनीतिक चिंतन के प्रतिबिंब हैं। इनकी तीन विशेषताएं हैं—(१) कला में गंभीरातिगंभीर उदात्त धर्माश्रित भावनाएं हों, (२) कला को सामान्य जन अर्थात् अधिकाधिक लोग ग्रहण कर सकें, और (३) कला में सहज संक्रमण और सार्वभौम प्रेषणीयता हो।

अब हम कला-प्रक्रिया तथा कला-व्यापारादि का पर्यालोचन करेंगे।

उनकी दो परिभाषाएं द्रष्टव्य हैं—

"अपने में ही वह भावना पुनर्जागृत करना जिसे व्यक्ति एक बार अनुभव कर चुका हो और उत्पन्न कर लेने के बाद उसी भावना को रेखाओं, रंगों, गतियों, ध्वनियों या शब्दाश्रयी रूपों के माध्यम से दूसरों तक इस तरह संप्रेषित कर देना जिससे कि वे भी वैसी ही भावनाओं का अनुभव करें—कला की प्रक्रिया यही है।"

"कला वह मानवीय व्यापार है—जिसमें एक मनुष्य सचेतन रूप से बाह्य संकेतों के द्वारा उन भावनाओं को दूसरों तक प्रेषित करता है जिनमें वह स्वयं लीन हुआ हो। इस प्रकार दूसरे भी इन्हीं भावनाओं से संक्रमित होते और इनका अनुभव भी करते हैं।"

पहली परिभाषा के अनुसार तोलसतोय अभिव्यंजना से ज़्यादा प्रेषणीयता पर ज़ोर देते हैं। वे उन्हीं संवेगों का संप्रेषण प्रतिपादित करते हैं जो याद हैं। इस दृष्टि से वे वर्डस्वर्थ के 'प्रशांति में पुनस्मृ‍त संवेग' वाले कथन से प्रभावित होते हैं। इसके अलावा वे आंशिक संप्रेषण के बजाय समग्र संप्रेषण के हामी (उसी भावना का वैसा ही संप्रेषण) हैं जो सौंदर्यानुभूति में नितांत नामुमकिन है।

दूसरी परिभाषा द्वारा वे कला को सार्वभौम मानते हैं। उसकी विषय-वस्तु सार्वजनीन (=सार्वजनीन अनुभूतियां) हो। कलानुभव में वे चित्तल्लीनता की पहली शर्त रखते हैं। सौंदर्य-भावना के क्षेत्र को चेतन मानस और मानव जाति से जोड़कर सौंदर्य के मात्र अनुभूतिपरक एवं 'विशुद्ध' प्रत्यय का त्याग करके उसे 'सापेक्ष' बनाते हैं। वे संक्रमण के आधार को अधिकाधिक फैलाते हैं और अनुभूति के आधार को युगानुकूल धार्मिक प्रत्यक्षीकरण से जोड़ते हैं। इसीलिए वे यह भी कहते हैं कि कलात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य दूसरों तक सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम भावनाओं का संप्रेषण

है । यह संप्रेषण पूर्णप्रभावक और सार्वभौम हो ।

सबसे पहले हम **'भावनाओं'** की चर्चा करेंगे । तोल्सतोय ने जगह-जगह पर भावनाओं, अनुभूतियों तथा संवेगों के मनोवैज्ञानिक **अंतरों का ध्यान न रखकर** उन्हें 'भावों' के संश्लिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

उनकी परिभाषाओं में यह भी इशारा है कि कला तो मानवों की अनुभूतियों का प्रकाशन करती है किंतु शब्द विचारों का । यह नतीजा असंगत है । मानव—कलाकार या पाठक—केवल अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही नहीं, अपितु अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए भी शब्दों का इस्तेमाल करते हैं । अतः अब हम कह सकते हैं कि कला में, विशेष रूप से काव्य-कला में, विचारों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा प्रेषणीयता के लिए शब्दों का इस्तेमाल होता है और प्रेषणीयता कभी हूबहू पूर्णप्रभावक नहीं हुआ करती । शब्द तो मात्र माध्यम होते हैं ।

अतः हम अभिव्यंज्य के लिए एक शब्द गढ़ सकते हैं—'भाव-संवेग' । आगे हम इसका उपयोग करेंगे ।

जैसाकि हम जानते हैं कि भाव-संवेग स्वयं में शुभ-अशुभ, सुंदर-असुंदर नहीं होते । वे अपने परिपाश्वों की वजह से ऐसे हो जाते हैं । तोल्सतोय उनके सुंदर-असुंदर होने की पड़ताल नहीं करते । वे शुभ-अशुभ की कसौटी ही खरी रखते हैं और उसे 'सच्चे धर्म' के तराज़ू पर रख देते हैं । इस प्रकार वे शुभ के लिए सौंदर्य को तथा शिक्षा के लिए आनंद को बहिष्कृत-सा कर देते हैं ।

वे इन भावनाओं की सामान्यता का लोप करके शुभ तथा शिक्षामूलक विशिष्टता को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार पवित्रता तथा साधुता के माध्यम से ये भावनाएं संक्रमित होती हैं । इस तरह वे उन्हीं भावनाओं को संक्रमण के लिए आदर्श मानते हैं जो मनुष्यों को आपस में तथा उन्हें ईश्वर से मिलाती हैं । इनका संक्रमण भी संख्या के आधार पर सर्वाधिक तभी होगा जब वे रोज़मर्रा की सादी ज़िंदगी की सरल भावनाएं होंगी । अतः वे भाव-संवेग सर्वाधिक संक्रमण योग्य होने चाहिए, इन्हें मानवों को परस्पर तथा ईश्वर से ऐक्य कायम कराना चाहिए और सरल एवं सुबोध होना चाहिए । प्लेटो की तरह वे भी भावसंवेगौचित्य के दावेदार बन जाते हैं और भगवद्विषयक रति के हक में मनुष्य-विषयक प्रीति की उपेक्षा कर देते हैं । लगता है कि मानो वे इस क्षेत्र में अरस्तू से भी पीछे चले गये हैं । संत आगस्टाइन तथा संत थामस के दर्शन में वे अपना उद्धार करते हैं। जो वस्तुएं **'दैवी ऐक'** की तरह हैं वे सुंदर हैं । और जो **'पार्थिव अनेक'** की तरह हैं वे अन्य हैं । वे वस्तुएं उस दैवी ऐक का सच्चा दर्पण न होकर प्रतिबिंब हैं । मनुष्य की आत्मा ईश्वर को अपने मानसदर्पण में देखती है। अतः प्रतिबिंबित-प्रतिबिंबक तो एक हैं किंतु प्रतिबिंब पृथक् है । इसी वजह से मध्यकालीन यूरोपीय साधना में सौंदर्य और ललित कला का कोई खास रिश्ता नहीं है । यही छांह तोल्सतोय में धुंधली होकर उभरी है जिसका मुख्य उद्देश्य सौंदर्य और आनंद के बजाय शुभ और शिक्षा है तथा जो ईश्वर (दैवी ऐक) और मानवों (पार्थिव अनेक) का ऐक्य करती है ।

उनके अनुसार भाव-संवेगों का विभाजन कुछ इस प्रकार होगा—

श्रेय : शुभ	प्रेय	
	ग्राह्य	अग्राह्य
शांति, प्रेम धैर्य, क्षमा, अहिंसा, करुणा, दया, त्याग, आदि	ईश्वर रति, लोकरंजन वात्सल्य सख्य, प्रीति, प्रसन्नता, विनय आदि	भय, त्रास, घृणा, रति (वासना); शोक, चिंता, हिंसा गर्व आदि
सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट	सामान्य	

तोल्सतोय का **'संक्रमण'** केवल उन्हें श्रेय तथा ग्राह्य-प्रेय भाव-संवेगों के कला-प्रभाव में तो जमा जाता है किंतु वे साधारणीकरण या कैथार्सिस जैसी सार्वभौम प्रक्रिया नहीं बता सके। उनका 'सार्वभौम' भी बेहद सीमित है।

यह भी तो हो सकता है कि उत्तम तथा 'सच्ची' भावनाएं संक्रमण तो कर लें किंतु उत्तम तथा श्रेष्ठ कला की सृष्टि न करें। संक्रमण का इतना संकुचित आधार इसे नहीं सुलझा सकता क्योंकि उनके अनुसार तो संक्रमण—प्रेषणीयता के साथ मिलकर—मनुष्य की सौंदर्य-चेतना की वृद्धि करने के बजाय आध्यात्मिक उत्थान ही करता है अर्थात् वह धार्मिकता-मानवतावादी विधा वाला है।

दूसरा प्रसंग है कलात्मक प्रेषणीयता का। कलाकार कलाकृति के द्वारा पाठकों या दर्शकों तक भाव-संवेगों का संप्रेषण करता है। यदि वह संप्रेषण के द्वारा उनके शुभाशुभ और भ्रातृत्व का ज्ञान बढ़ाता है तो उसके संवेग संक्रमण के द्वारा उनके (पाठकों के) बोधात्मक ग्रहण को तीव्र बनाते हैं। इस प्रकार तोल्सतोय के अनुसार संप्रेषणीयता के आयामों में दर्शक या पाठक या श्रोता तटस्थ तथा रुचि-बहिर्भूत नहीं रह पाता, बल्कि कलाकार की भावनाओं में स्वयं भी भाग लेता है। यह एक जटिल सौंदर्यबोधशास्त्रीय समस्या है कि जब पाठक प्रेषणीयता में वस्तुतः भाग लेने लगेगा तो न तो वह कलाकृति की आशंसा कर सकेगा और न ही उसके परीक्षण-निरीक्षण के काबिल होगा। यदि रामायण में हम मंथरा की ईर्ष्या में पूर्ण-रूपेण भाग लें तो अन्य विपरीत भाव-संवेगों से बहिष्कृत हो जायेंगे। अतः भाव-संवेगों में भाग लेने वाली बात प्रेषणीयता को असार्थक बनाने के साथ-साथ कला की समग्रता भी खंडित कर देती है। तोल्सतोय ने प्रेषणीयता को भी विशिष्ट, सर्वोत्तम और सर्वोच्च भावनाओं के संदर्भ में देखा है। उन भावनाओं में बोधगम्यता के

स्थान पर विश्वास की शर्त-सी लगायी गयी है। यदि शेक्सपियर का 'हेमलेट' नाटक अत्यंत सरल और सुबोध लिख दिया जाय कि वह पूर्णरूपेण सुस्पष्ट हो जाय, तो भी तोल्सतोय उसकी प्रेषणीयता को अस्वीकार कर देंगे क्योंकि उन्हें या उनके कल्पनानुकूल रसग्राहियों को उस कलाकृति की विषय-वस्तु पर ही अविश्वास है। अतः स्पष्ट है कि वे पूर्ण प्रेषणीयता होने पर भी आस्था के अभाव में प्रेषणीयता को अस्वीकार कर देते हैं। आस्था या विश्वास प्रेषणीयता का एक सहायक अंग तो हो सकता है किंतु अनिवार्य नहीं। उनकी मूल भूल है—'विशिष्ट' भाव-संवेगों की ही प्रेषणीयता। यह सिद्ध होता है कि उनका प्रेषणीयता का सिद्धांत अपूर्ण और अयुक्तियुक्त भी है।

सारांश यह है कि उनके कला-दर्शन में ईसाई अराजकतावाद, फ्रांसीसी प्रजातंत्रवाद तथा आदर्श रूसी सामंतवाद का प्रभाव है। **उनकी कला-मीमांसा में वेरोन्** और वर्डस्वर्थ के अलावा यूनानी-रोमी कला, ईसाई कला (गोस्पेल) तथा लोक कला (रूसी) का प्रभाव है।

यर्जो हर्न

'संवेगात्मक अभिव्यंजनावादियों' की त्रयी में तोल्सतोय के पश्चात् महत्त्वपूर्ण सौंदर्यशास्त्री फिनलैंड-वासी यर्जो हर्न हैं। सन् १८०० ई० में उन्होंने 'दि ओरिजिंस ऑफ आर्ट' नामक पुस्तक में ब्रिटिश और फ्रांसीसी समाजशास्त्र, जर्मन मनोविज्ञान और यूनानी क्लासिकल परंपरा का पूरा उपयोग करके अरस्तू के विरेचन-सिद्धांत का आधुनिक रूपांतर किया। अरस्तू ने विरेचन-सिद्धांत को नाटकों—विशेषतया त्रासदी—में लागू किया था; किंतु हर्न ने संवेगात्मक अभिव्यंजनावाद की भूमिका में उसका प्रसार सभी प्रकार की कलात्मक अभिव्यंजनाओं में किया।

उन्होंने **सामान्य** संवेगों के स्थान पर **तीव्र** संवेगों को आधार माना और जर्मन महाकवि गोएथे तथा जर्मन काव्ययुग द्वारा स्वीकृत 'दबाव और तनाव' (स्ट्रम अंड ड्रांग) के सिद्धांत का ग्रहण अपने नव्य विरेचन में किया।

कलाकार के अंतर्लोक में तीव्र संवेगों का उपद्रव होता रहता है जिससे संवेगात्मक दबाव और तनाव उत्पन्न होता है। यह उसकी ऐसी वैयक्तिक मनःस्थिति है जिससे वह निस्तार चाहता है। निस्तार के लिए आवश्यक है कि उसके अंतर्जगत् से पृथक् कोई 'बहिर्गत यथार्थ' हो, जहां वह इस दबाव को स्थानांतरित कर दे। कला इस बहिर्गत यथार्थ के रूप में आती है। अतः कलाकार अपने संवेगात्मक दबावों को किसी कला-रूप में अभिव्यंजित करके स्वयं एक **'बहिर्गत दूरी'** पर हट जाता है। इस प्रकार, प्रथम चरण में, जो वास्तविक स्थिति में कुंठित और दबावयुक्त संवेग हैं वे ही बहिर्गत दूरी-संप्राप्य अनुभूति की काल्पनिक बाढ़ में बह जाते हैं जिससे रेचन (पर्गेशन) होता है और संवेग शांत हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि हम गर्जित प्रलय-सिंधु के किनारे खड़े हों तो वास्तविक स्थिति में वह त्रास उत्पन्न करेगा, लेकिन कलाकृति की काल्पनिक स्थिति के परिवेश में वह दुःख से राहत अर्थात् सुख

देगा; यदि फाउस्ट का मार्गरेट के प्रति तीव्र अनुराग है तो वास्तविक स्थिति में वह संवेगात्मक दबाव देगा, किंतु काल्पनिक अभिव्यंजना की स्थिति में उससे सुख की प्राप्ति होगी। इस प्रकार कलाकार अपने तीव्र संवेगों की **'वैयक्तिक अभिव्यंजना'** करता है।

संवेगात्मक अभिव्यंजना का दूसरा चरण **'सामाजिक अभिव्यंजना'** का है जो वैयक्तिक अभिव्यंजना का ही पूरक पक्ष है। कलाकार के संवेग यदि गहन और तीव्र हैं तो वे वैयक्तिक होने के बावजूद भी सामान्य हो जाते हैं और दूसरे व्यक्तियों में सहानुभूति उत्पन्न करने की क्षमता भी विकसित कर लेते हैं। कलाकार में तीव्र संवेगों की मौजूदगी का अर्थ ही उनका समाजीकरण है। अतः वे संवेग दूसरे व्यक्तियों में जागृत होते हैं। ये जितने अधिक व्यक्तियों में जितनी अधिक तीव्रता से जागृत होंगे, सामाजिक अभिव्यंजना भी उतनी अधिक सफल होगी। स्पष्ट है कि इसके अंतर्गत हर्न ने प्रेषणीयता के प्रश्न को उठाया है। उनका सूत्र है—जितनी अधिक और सफल प्रेषणीयता होगी, उतनी ही तीव्र और सामाजिक अभिव्यंजना होगी। इस तरह वे प्रेषणीयता और अभिव्यंजना के बीच वेरोन् द्वारा खोया हुआ समतोलन पुनः प्राप्त कर लेते हैं (वेरोन् तो प्रेषणीयता को तिरस्कृत-सा कर देते हैं)।

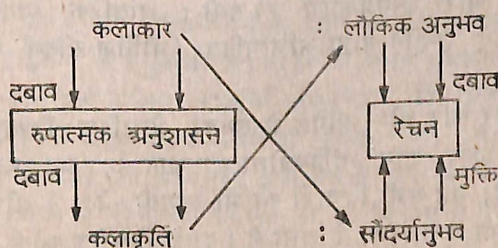
केवल तीव्र संवेगों की अभिव्यंजना से ही प्रेषणीयता नहीं हो जाती। क्योंकि कलाकार और सामाजिकों के बीच कलाकृति मध्यस्थ होती है, अतः हमें यह देखना है कि कलाकृति का रूप क्या है और उसमें संवेगों का अभिधान किस प्रकार हुआ है।

हर्न पहले ही कह चुके हैं कि कलाकार के मूल संवेगों में तनाव तथा उसमें अंतर्मुखी उपद्रव होते हैं। यदि वह इन हूबहू स्वानुभवों को कलाकृति में दे तो कलाकृति के रूप और विषयवस्तु नितांत वैयक्तिक हो जायेंगे। इसके अलावा उसके लौकिक अनुभव तात्कालिक संवेगात्मक प्रक्रिया वाले होते हैं। अतः कलाकृति में मूलरूप लौकिक-मानसिक परिप्रेक्ष्य नहीं आता। माध्यम और रूप की वजह से संवेगात्मक उत्तेजना पर नियंत्रण लगता है। इस प्रकार कलाकृति में मूल संवेग नियंत्रित होकर आते हैं क्योंकि माध्यम और रूप तो कुछ लोक-विश्रुत नियमों पर आश्रित होते हैं। सारांश यह है कि कलाकार के तीव्र अंतर्मुखी संवेग कलाकृति में नियंत्रित बहिर्मुखी संवेग हो जाते हैं और उनका लौकिक-उत्तेजक-तनावयुक्त अनुभव शांति और उपचारयुक्त सौंदर्यानुभव में बदल जाता है। अतः कला-सृजन एक उपचार भी है (विरेचन के कारण)।

कलाकृति में इस प्रकार का संवेग-अभिधान ही प्रेषणीयता उत्पन्न करता है। इसी प्रकार रूप का भी महत्त्व है। एक ओर तो रेचन संवेगों के तनाव तथा उत्तेजना को शांत और निष्कासित कर देता है तो दूसरी ओर 'रूपात्मक अनुशासन' भी कलाकृति को सामाजिक रूप प्रदान करता है जिससे वह माध्यम के द्वारा संवेगों को नियंत्रित कर सके। इस प्रकार प्रेषणीयता के लिए **रेचन** और रूप दोनों ज़रूरी हैं। रूपात्मक अनुशासन के प्रवेश से विचारों का संरक्षण भी शुरू हो जाता है।

जितना अधिक विचारों का संरक्षण होगा और कलाकार के हाथों (=कौशल) की छाप कलाकृति में होगी, उतनी सफल प्रेषणीयता भी होगी अर्थात् संवेगों की अंतर्मुखी अस्तव्यस्त रूपात्मक चरित्र-संगति (हॉर्मनी) शनैः-शनैः सौंदर्य (ब्यूटी), समानुपात (सिमेट्री) आदि के द्वारा घटती चली जायेगी। "बौद्धिक सक्रियता और संवेगात्मक उत्तेजना के बीच जो अविश्रांत द्वंद्व चला करता है उसमें पहली को अनुभूतियों की अधिकता को तटस्थ करना ही चाहिए, चाहे वह संवेगात्मक उत्तेजना के प्रयोजनों की ही अभिव्यक्ति करती हो। तीव्र सुख या दुःख की अवस्था को कभी भी बाहरी लोगों के लिए बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता, अगर उस पर विचारों की लगाम और अनुशासन नहीं है। एक निश्चित रूप में समाविष्ट होकर अनुभूति की संक्रामक शक्ति बढ़ जाती है।"[1] इस प्रकार के कला-उपचार को हर्न ने 'काव्यात्मक उपचार' कहा है और इसके दृष्टांत के लिए गोएथे के 'युवा वर्टेर के शोक' नामक उपन्यास को पेश किया है। अतः रूपात्मक अनुशासन द्वारा संवेगात्मक उत्तेजना की अराजकता का जो नियंत्रण होता है उसमें डाएओनीशियन **हर्षातिरेक** अपनी जगह अपोलाइन **निर्मलता** को दे देता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कला ही—केवल कला-सृजन ही—संवेगात्मक दबाव से पूर्ण और पुरअसर आराम देती है और केवल कला ही संवेगों के भार का वहन करने में सर्वश्रेष्ठ है, जो संगीत-देवता की तरह मनुष्य जाति के दुःखों का निवारण करती है और उनके हर्षों को उदात्त बनाते हुए विचारों से निर्मल कर देती है।

अपनी स्थापनाओं द्वारा हर्न ने संवेग-सिद्धांत को नयी दिशा तो दी ही, कला-क्षेत्र में घुस आये खेल-सिद्धांत की नयी स्थापनाओं को भी खंडित किया। उनका 'दबाव व तनाव' का सिद्धांत दो दिशाओं में अग्रसर हुआ है—कलाकार और कलाकृति की दिशा में तथा लौकिक अनुभव और सौंदर्यानुभव की दिशा में। कलाकार और कलाकृति की दिशा में यह (तनाव) बढ़ता ही गया और रूपात्मक अनुशासन द्वारा विचार-तत्त्व को संलग्न करके चरमोत्कर्ष तक पहुंचा है। लौकिक अनुभव तथा सौंदर्यानुभव के बीच में पहले का तीव्र दबाव दूसरे के बाह्यीकरण में मुक्ति की प्रतिक्रिया-स्वरूप, रेचन को संलग्न करके, प्रेषणीयता की सामाजिकता में उत्कर्ष को प्राप्त हुआ—



1. हर्न : 'दि ओरिजिन्स ऑफ आर्ट', पृ० १०३; मैकमिलन, १९०० ई०।

यर्जो हर्न की प्रबल सीमाएं भी हैं। उन्होंने आद्योपांत 'दबाव और तनाव' का ही विस्तार किया और रूपात्मक क्षेत्र में बुद्धि की बेहद आवश्यकता मानी है। यहां तक कि वे सौंदर्य को मुख्यतः रूपात्मक पक्ष से संलग्न करने की भी त्रुटि प्रदर्शित कर गये हैं। इसके अलावा सभी प्रक्रिया को उन्होंने शमन और शांति माना है जबकि कला-क्रियात्मकता का अधिकांश इससे अन्य भी है। हां, उन्होंने एक बड़ी देन भी दी है। उनके विचार से कलाकृति वास्तविक जीवन की दशा नहीं है; वह 'बहिर्गत दूरी' पर स्थित है। अतः हम उसकी आशंसा उत्तेजित संवेगों के साथ नहीं करते। उन्होंने सुखद संवेगों पर रेचन को संतोषजनक ढंग से लागू नहीं किया।

क्रोचे

इटली-वासी श्री बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६-१९५२) दक्षिणपंथी हीगेलियन परंपरा में आते हैं जिन्होंने अरस्तू की तरह ही अपने शिक्षण का अनुकरण तथा विवेचन किया। उन्होंने कला-सिद्धांत की अपनी एक महान् आधुनिक संहिता—'ऐस्थेटिक' (१९००)—द्वारा 'अभिव्यंजनावाद' का विकास किया जो उनके 'आत्मचैतन्य के दर्शन' के तीन अंगों (ऐस्थेटिका, लॉजिका, प्रेक्टिका) में से एक है। कहा जाता है कि क्रोचे हीगेल के अनुयायी होते हुए भी कांट या विको या स्पिनोज़ा की तरह उनसे स्वतंत्र थे और अपने आत्मचैतन्य के दर्शन द्वारा उन्होंने उन्नीसवीं सदी के अपरिष्कृत भौतिकवाद के खिलाफ बीसवीं सदी की प्रतिक्रिया को ध्वनित किया है। हम उनसे असहमत होते हुए भी उनके दिगंतव्यापी सांस्कृतिक अनुदान को स्वीकार करते हैं।

पीछे किये गये मूल्यांकन के आधार पर कहा जा सकता है कि क्रोचे को लेसिंग और विंकेलमान तथा विको, कांट और हीगेल ने भी अंतर्दृष्टियां दी हैं। लेसिंग ने अनुकरण-सिद्धांत में अभिव्यंजना का समावेश किया और अभिव्यंजना को सौंदर्य के विशेषण से युक्त किया। विंकेलमान ने कलारूपों में क्लासिकल सौंदर्य का शाश्वत अनुचिंतन भरा। इस प्रकार इन दोनों ने कला को अनुकरण की घोर भौतिकता से बचाया और अभिव्यंजना से संलग्न किया। क्रोचे ने अनुकरण का लोप करते हुए अभिव्यंजना और सौंदर्य को पर्याय बना दिया। इस समीकरण से कला नितांत अंतर्मुखी और स्वयंप्रकाश्य हो गयी। आंतरिक स्वयंप्रकाश्य ज्ञानपरक अभिव्यंजना के लिए उन्होंने बाह्य अभिव्यक्ति (भौतिक सौंदर्य या कलाकृति) को ठुकरा दिया।

इसी प्रकार कांट और हीगेल से उनका वैचारिक रिश्ता रहा। कांट के मुताबिक 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान' इंद्रियबोधात्मक ज्ञान है; यह वस्तु से तात्कालिक संबंध में स्थित है; यह सभी विचारों को भी सामग्री देता है और यह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान बिना प्रमा या अवधारणा के अंधा है। इसके विपरीत क्रोचे का विचार है कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान बुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र है; यह स्वयंप्रकाश्य है; इसकी विषयवस्तु आंतरिक और बाह्य दोनों हो सकती है (कांट केवल बाह्य मानते हैं); इसमें प्रमा

या धारणा का अनुस्यूत होना लाज़िमी और वांछनीय नहीं है। अतः कलात्मक स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान देश-काल-संबंधों से भी स्वतंत्र है (कांट देश-काल संबद्ध मानते हैं)।

हीगेल ने भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (दे० हीगेल के त्रिपुट) को १२वें त्रिपुट में रखते हुए पुनर्प्रस्तुति के साथ वाद-प्रतिवाद का रिश्ता कायम किया है और विचार में दोनों को समन्वित कर दिया है। यह सब सैद्धांतिक मस्तिष्क का विकास है। अतः स्वयंप्रकाश्य ज्ञान देश-काल-संबंध से युक्त है और केवल आंतरिक है। क्रोचे इसे देश-काल-संबंध-मुक्त कराकर आंतरिक और बाह्य बनाते हैं। इसके लिए वे एक ज़िद्दी गलती करते हैं। हीगेल स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को वाद तथा चिंतन को समन्वय मानते हैं किंतु क्रोचे मनमाने ढंग से कहते हैं कि हीगेल स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को वाद तथा चिंतन को प्रतिवाद मानते हैं। जबकि स्वयं हीगले चिंतन को स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तथा पुनर्प्रस्तुति का समन्वय मानते हैं।

हीगेल से उनके दूसरे गहरे मतभेद हैं। हीगेल ने त्रित्व की वजह से आत्म-चैतन्य को अंतर्व्यक्त, बहिर्व्यक्त तथा निरपेक्ष में लीलाधारी माना है।···त्रित्व की वजह से ही उन्होंने निरपेक्ष आत्मचैतन्य के त्रिपुट में कला को वाद (+) धर्म को (उसका) प्रतिवाद (—) तथा दर्शन को समन्वय (+) घोषित किया है। वास्तव में कला और धर्म परस्पर विपरीत क्यों और धर्म कला का निषेध क्यों होगा? ···यही नहीं, उनका निरपेक्ष अमूर्त न होकर मूर्त है; शुद्ध ऐक्य न होकर द्वैतपरक ऐक्य है; विपरीतों का ऐसा समन्वय है जहां दोनों वाद (+) ⇆ प्रतिवाद (—) परस्पर विरोधी होकर भी निरपेक्ष के लिए विपरीत नहीं हैं और जो अचल न होकर सचल है। इस प्रकार हीगेल **विपरीत** की तो कल्पना करते हैं किंतु अपने त्रिपुटीकृत द्वंद्वन्याय के कारण **विभिन्न** (डिस्टिंक्ट) का अभिज्ञान नहीं करते।

सारांश यह है कि त्रित्व के आधार पर हीगेल ने अपने (१) त्रिपुटिकृत द्वंद्वमान तथा (२) आत्मचैतन्य के दर्शन का विकास किया है।

बेनेदेत्तो क्रोचे ने इन दोनों मूलाधारों को संबोधित और विकसित करके (१) **द्विपुट-सिद्धांत** (थ्योरी ऑफ डायड) तथा उसके अनुरूप (२) द्वित्वपरक आत्मचैतन्य के दर्शन (फिलासफी ऑफ स्पिरिट) की स्थापना की है।

सारांश में उनके इस आत्मचैतन्य के दर्शन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे विको और हीगेल के अनुयायी हैं। विको की समग्र समाजशास्त्रीय गुरुता को रिक्त करके और हीगेल के समस्त राष्ट्रीय प्रशियनवाद को छानकर उन्होंने संसार को आत्मचैतन्य—केवल आत्मचैतन्य—घोषित किया। इस प्रकार विको से क्रोचे तक की परंपरा के विकास ने विषयवस्तु तथा रूप के भेद की क्लासिकल निष्पत्ति खत्म की है और, हीगेल से क्रोचे तक की परंपरा के विकास ने द्वंद्वात्मक त्रिपुट को खत्म करके द्विपुट-सिद्धांत की स्थापना की है। उनकी परंपरा में जेंतील, कालिंगवुड तथा कैरिट प्रधान हैं।

'द्विपुट-सिद्धांत' या 'विभिन्न' के सिद्धांत द्वारा उन्होंने हीगेल के त्रिपुट को

तथा उसके साथ-साथ विपरीत और समन्वय को भी नामंजूर कर दिया। उनके अनुसार दो विभिन्न प्रमा एक-दूसरे से ऐक्य स्थापित कर लेते हैं किंतु दो विपरीत धारणाएं एक-दूसरे का बहिष्कार तथा ध्वंस करती हैं (जैसे सौंदर्य-कुरूपता, शुभ-अशुभ, सत्-असत् आदि)। विभिन्न-सिद्धांत के अनुसार एक प्रमा स्वयं को दो भागों में विभक्त कर लेने में समर्थ है जिसमें प्रत्येक भाग अपनी पहचान कायम रखता है और एक-दूसरे से ऐक्य तथा विभिन्नता दोनों ही साथ-साथ कायम रखता है। अतः यहां तीसरी इकाई का समावेश नहीं होता। दो ही इकाइयां प्रमा-रूप में अर्द्धनारीश्वर की तरह संतुलित रहती हैं—विरोधयुक्त। इन दो इकाइयों में पहली की रचना तो दूसरी के बिना हो सकती है, किंतु दूसरी पहली के बिना नहीं स्थापित हो सकती। उदाहरणस्वरूप, कला और दर्शन में कला का नियमन दर्शन बिना हो सकता है लेकिन दर्शन की स्थापना कला बिना कतई नहीं हो सकती। कला में दर्शन शामिल नहीं होता; किंतु दर्शन कला के बिना स्थित नहीं हो सकता। इस प्रकार विभिन्नों का संबद्ध द्विपुटीकृत है जिसमें तीन नहीं, दो इकाइयां हैं। इसके अलावा श्रेणी के अनुरूप पहली इकाई (जैसे कला) आत्मसात् हो जाती है। लेकिन दूसरी (जैसे दर्शन) में सुरक्षित रहती है। अतः दूसरी इकाई के परिवेश में पहली इकाई का स्वतंत्र मूर्त रूप तो नहीं रह पाता किंतु उसके स्वरूप के अनुकूल वह (पहली) संरक्षित रह जाती है। सारांश यह है कि द्विपुट या विभिन्न के सिद्धांत के अनुसार एक विभक्त होकर अभिव्यक्त और रूपांतरित होता हुआ अंतिम अवस्था में पहुंचकर आत्मपूर्णता प्राप्त करके सभी पूर्ववर्ती अवस्थाओं को संकलित कर लेता है।[1]

इसी कड़ी में वे हीगेलकृत आत्मचैतन्य (स्पिरिट) की धारणा को तो स्वीकार करते हैं। लेकिन उसके तीन स्वरूपों—सैद्धांतिक या अंतर्व्यक्त, व्यावहारिक या बहिर्व्यक्त और निरपेक्ष—में से केवल दो स्वरूप—सैद्धांतिक या अंतर्व्यक्त तथा व्यावहारिक या बहिर्व्यक्त ही ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आत्मचैतन्य के दो विभिन्न (द्वित्वमूलक) स्वरूप हो जाते हैं—सैद्धांतिक आत्मचैतन्य और व्यावहारिक आत्म-चैतन्य। सैद्धांतिक आत्मचैतन्य ध्यान में लीन है तथा व्यावहारिक आत्मचैतन्य संकल्प में। इनमें से पहला ज्ञानोत्पादक है, दूसरा कर्मोत्पादक; पहले के द्वारा मनुष्य रूपों को पहचानता है, दूसरे के द्वारा रूपों को परिवर्तित करता है; पहले के द्वारा मनुष्य विश्वबोध-लाभ करता है, दूसरे के द्वारा विश्व-रचना करता है और अंततः पहला ज्ञान है तथा दूसरा संकल्प या इच्छा (दे० 'ऐस्थेटिक', पृ० ४७)। अतः सौंदर्यव्यापार में व्यावहारिक व्यापार का समावेश त्रुटि है। सौंदर्यव्यापार तो (द्विपुट-सिद्धांत के अनुसार) स्वयं पूर्ण हो जाता है; किंतु व्यावहारिक व्यापार में सौंदर्यव्यापार अनुस्यूत रहता है। यही नहीं, सौंदर्यव्यापार ध्यानवृत्तिमूलक होने के कारण आंतरिक है, पूर्ण है। लेकिन जैसे ही वह कर्मवृत्तिमूलक होता है तब बाह्य होता है और कला नहीं

१. दे० अंग्रजी अनुवाद में डगलस ऐंस्ली की भूमिका तथा डॉ० पांडेय का पर्यालोचन ('वेस्टर्न ऐस्थेटिक्स')

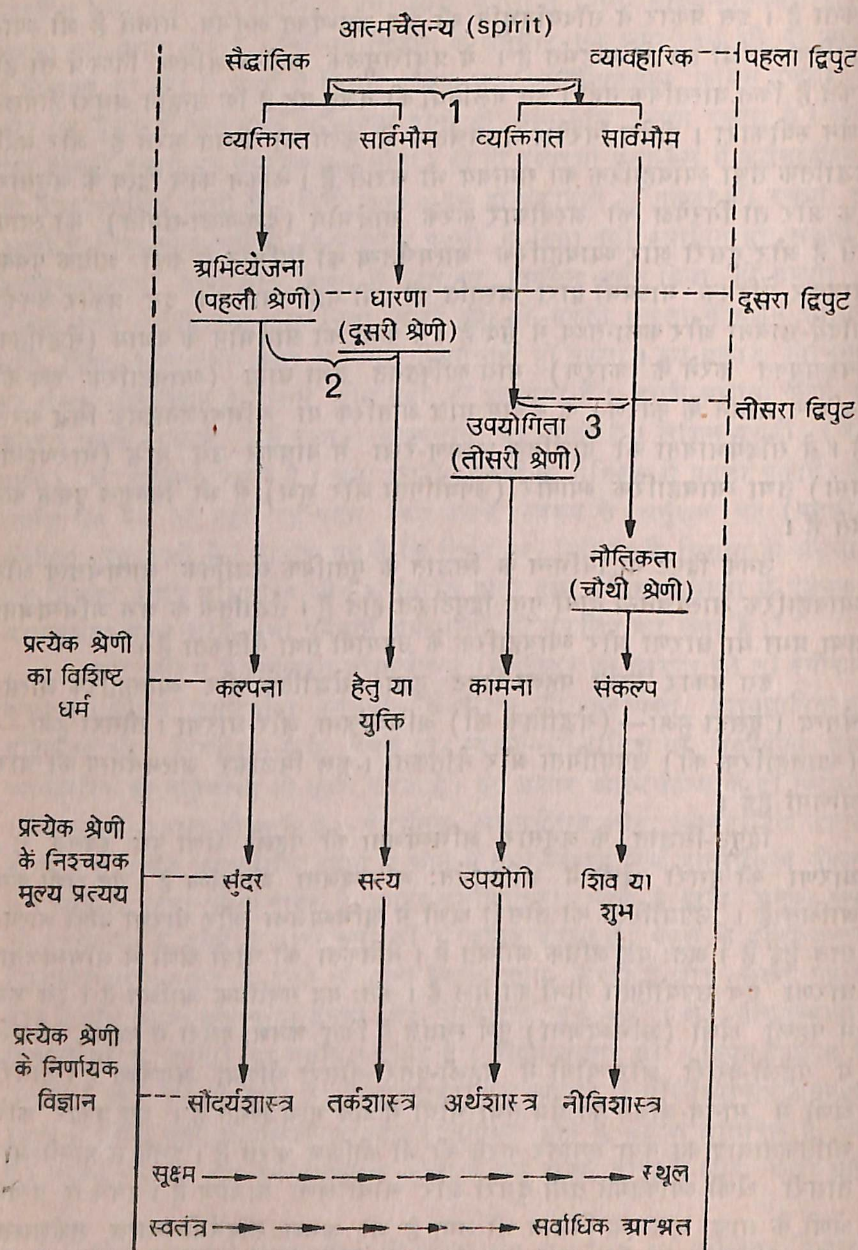
रहता। इसकी वजह यह है कि क्रोचे सौंदर्यबोधानुभूति को पहला सैद्धांतिक स्वरूप मानते हैं। कलाकृतियां तो बाह्य व्यापार की देन हैं। अतः वे सौंदर्य-तथ्य नहीं हैं अर्थात् सौंदर्यक्षेत्र के बाहर की हैं। उन्हें कलात्मक तथ्य (या 'भौतिक सौंदर्य') कहा जा सकता है। इस प्रकार वे सौंदर्यानुभूति को शुद्ध अंतर्व्यक्त अनुभव मानते हैं जो व्यावहारिक संबंधों तक से बहिर्भूत है। ये प्रवृत्तिमूलक सही दार्शनिक निष्कर्ष तो हो सकते हैं किंतु वास्तविक नहीं। इन गलतियों की वजह यह है कि उन्होंने अधूरा हीगेल-दर्शन स्वीकारा। हीगेल निरपेक्ष आत्मचैतन्य में कला को स्थित करते हैं और वहीं सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक का समन्वय भी कराते हैं। लेकिन क्रोचे द्वित्व के अनुसार एक ओर तो निरपेक्ष को अस्वीकार करके सार्वभौम (देश-कला-संगति) को त्याग देते हैं और दूसरी ओर व्यावहारिक आत्मचैतन्य को विभिन्न से कहीं अधिक पृथक् मानकर ऐंद्रियक माध्यमों द्वारा प्रस्तुति को भी नहीं मानते। इस प्रकार उनकी सौंदर्य-भावना और कला-तथ्य में भेद है। वे कला को सार्वभौम के बजाय (सैद्धांतिक स्वरूपयुक्त करने के कारण) मात्र व्यक्तिगत तथा बाह्य (व्यावहारिक रूप को विभिन्न मानने के कारण) के बजाय मात्र आंतरिक या अभिव्यंजनात्मक सिद्ध करते हैं। वे सौंदर्यभावना को दार्शनिक लक्ष्मण-रेखा में बांधकर उसे बुद्धि (धारणा या प्रमा) तथा व्यावहारिक व्यापार (उपयोगिता और शुभ) से भी बिलकुल पृथक् कर देते हैं।

उनके द्विपुट या विभिन्न के सिद्धांत के मुताबिक सैद्धांतिक आत्मचैतन्य और व्यावहारिक आत्मचैतन्य दोनों पुनः द्विपुटीकृत होते हैं। सैद्धांतिक के अंश अभिव्यंजना तथा प्रमा या धारणा और व्यावहारिक के उपयोगी तथा नैतिकता हैं।

इस प्रकार उनका **पहला द्विपुट** हुआ—सैद्धांतिक और व्यावहारिक आत्मचैतन्य। **दूसरा** हुआ—(सैद्धांतिक की) अभिव्यंजना और धारणा। **तीसरा** हुआ—(व्यावहारिक की) उपयोगिता और नैतिकता। कुल मिलाकर आत्मचैतन्य की चार श्रेणियां हुईं।

द्विपुट-सिद्धांत के अनुसार अभिव्यंजना की पहली श्रेणी पूर्ण स्वतंत्र है। धारणा की दूसरी श्रेणी में अनिवार्यतः अभिव्यंजना अंतर्भाव्य है। यह श्रेणी कम आश्रित है। उपयोगिता की तीसरी श्रेणी में अभिव्यंजना और धारणा दोनों आत्मसात् हुई हैं। अतः यह अधिक आश्रित है। नैतिकता की चौथी श्रेणी में अभिव्यंजना, धारणा एवं उपयोगिता तीनों का मेल है। अतः यह सर्वाधिक आश्रित है। इस क्रम में पहली श्रेणी (अभिव्यंजना) पूर्ण स्वतंत्र है किंतु क्रमशः दूसरी में पहली, तीसरी में पहली-दूसरी और चौथी में पहली-दूसरी-तीसरी श्रेणियां अंतर्भुक्त हैं। तीसरी श्रेणी में मानव-जीवन का प्रेय तथा चौथी में श्रेय मूल्य स्थित है। इस प्रकार क्रोचे भौतिकतावाद का नया रूपांतर करने की भी कोशिश करते हैं। इनमें से पहली और तीसरी श्रेणी व्यक्तिगत तथा दूसरी और चौथी श्रेणी सामान्य हैं। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के साथ एक-एक विज्ञान भी लगा है जो क्रमशः **सौंदर्यबोधशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र** और **नीतिशास्त्र** है। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के धर्म क्रमशः कल्पना, तर्कहेतु

या युक्ति, कामना तथा संकल्प हैं। इनमें से क्रमशः सूक्ष्मता से स्थूलता का विकास होता है (दे० 'ऐस्थेटिक', पृ० ६१)। नीचे दी हुई तालिका से उनके द्विपुट तथा आत्मचैतन्य के दर्शन का मेल हो जाता है—



इस तालिका से कुछ क्रोचेवादी तथ्यों का इज़हार होता है—

(१) ज्ञान (सैद्धांतिक आत्मचैतन्यमूलक) क्रिया (व्यावहारिक आत्मचैतन्य-मूलक) से पहले आता है। द्विपुट-सिद्धांत के अनुसार ये अंतर्संबंधित तो हैं किंतु कार्य-कारण-सिद्धांत के अनुसार अंतरावलंबित नहीं। अतः एक विचित्र स्थिति आती है कि पहली श्रेणी वाली अभिव्यंजना न तो कर्म से संबंधित है; न ही तर्क (दूसरी श्रेणी) से। इसके अलावा अभिव्यंजना वैयक्तिक व्यापार है और दूसरे द्विपुट के सार्वभौम व्यापार से भी यह समन्वित नहीं है। यही नहीं, अभिव्यंजना (कला) तार्किक (वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक), आर्थिक और नैतिक संबंधों (दूसरी, तीसरी और चौथी श्रेणी) से जुदा तथा दूर बनी रहती है।

(२) दूसरे द्विपुट के दोनों विभिन्नों में पहला 'ज्ञान' है जिसका धर्म कल्पना तथा चरित्र अभिव्यंजना है, और दूसरा 'बुद्धि'; जिसका धर्म युक्ति तथा चरित्र प्रमा या धारणा है। पहला केवल व्यक्ति-ज्ञान है किंतु दूसरा सार्वभौम का अनुमान और पहले (ज्ञान) तथा स्वयं का रिश्ता भी है। पहला केवल बिंबों की सृष्टि करता है और दूसरा धारणाओं की। इस प्रकार यहां क्रोचे अपना 'ज्ञान का सिद्धांत' निरूपित करते हैं।

(३) सौंदर्यबोधशास्त्र के इतिहास में पहली बार इतनी स्पष्टता के साथ क्रोचे ने आंतरिक 'ऐस्थेटिक' तथ्य और बाह्य कला तथ्य के बीच विभाजन किया है। ऐस्थेटिक तथ्य के अंतर्गत उन्होंने अंत:संस्कार (फीलिंग) की अंतर्तलस्पर्शी परिकल्पना रखी है जिसके विषय में गिलबर्ट और कुह्न ने लिखा है कि "यह रूप को वस्तु तथा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को चरित्र प्रदान करता है; यह ज्ञान तथा कर्म के लिए विशाल पृष्ठभूमि और संभावना है।"[1] इसी प्रकार कला के इस तथाकथित स्वायत्त की घोषणा और रक्षा के संबंध में स्पिनगार्न की भी उक्ति है कि कविता को दृष्टि-दर्शन का वैयक्तिक व्यापार मानकर क्रोचे ने आलोचना को अनेक सेवारों से साफ कर दिया। अतः क्रोचे कला और कलाकृति, ऐस्थेटिक राग और कलात्मक तथ्य के बीच भेद करते हैं। कला उनके लिए आभ्यंतर ज्ञान है जिसे चिंतन या नैतिकता से नहीं मिलना चाहिए क्योंकि इनका क्षेत्र सार्वभौम है। अतः कला एक प्रकार से निरपेक्ष और एकांगी है। यह न सही है न गलत; न शुभ है न अशुभ; न सच है न झूठ। यह मात्र अभिव्यंजना है। अतः रूप बनाम विषयवस्तु का भेद अनावश्यक है। ये भेद वास्तविक नहीं होते। अतः कला के कोई नियम (बुद्धिसंभूत) नहीं होते। उन्होंने घोषणा की है कि वह प्रत्येक कला-सिद्धांत गलत है जो सौंदर्य-व्यापार को व्यावहारिक में संलग्न कर देता है (दे० 'एस्थेटिक', पृ० ५०)।

द्विपुट-सिद्धांत और आत्मचैतन्य के दर्शन की विवेचना के बाद अब हम 'ज्ञान के सिद्धांत' का पर्यालोचन करेंगे।

आत्मचैतन्य-व्यापार या कायिकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक व्यापारों में

१. दे० : 'ए हिस्ट्री आफ़ ऐस्थेटिक्स', पृ० ५४, ५५२।

विभक्त हो जाती है। सैद्धांतिक व्यापार भी व्यक्तिगत तथा सार्वभौम में विभक्त होता है। सैद्धांतिक व्यापार की मूल विधा ज्ञानात्मक है जिसमें ज्ञान और बुद्धि, बिंब और प्रमा शामिल हैं। व्यक्तिगत सैद्धांतिक आत्मचैतन्य-व्यापार के द्वारा व्यक्तिगत ज्ञान होता है जिसे क्रोचे 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान' कहते हैं तथा सार्वभौम सैद्धांतिक आत्मचैतन्य-व्यापार द्वारा सार्वभौम का हेतुक ज्ञान होता है जिसे वे प्रमा या धारणा कहते हैं। व्यक्तिगत व्यापार आंतरिक व्यापार है जिसमें ध्यानयोग प्रधान है तथा सार्वभौम (सैद्धांतिक व्यापार) ज्ञाता-ज्ञेय-संबंध का बुद्धियुक्त अभिज्ञान है। द्विपुट-सिद्धांत के आधार पर **स्वयंप्रकाश्य ज्ञान** पहली श्रेणी का तथा **बौद्धिक ज्ञान** दूसरी श्रेणी का (जिसमें पहली श्रेणी अंतर्भुक्त है) है। पहली श्रेणी **अभिव्यंजना** है और दूसरी **धारणा**। पहली श्रेणी स्वतंत्र है, दूसरी आश्रित; पहली श्रेणी कल्पना-प्राप्य है, दूसरी बुद्धिजीव्य; पहली व्यक्ति-निष्ठ है, दूसरी सार्वभौम; पहली व्यक्तिगत चीज़ों की है, दूसरी उनके संबंधों की; पहली बिंबोत्पादक है, दूसरी प्रत्ययोत्पादक; और पहली श्रेणी में कला स्थित है तथा दूसरी में तर्कशास्त्र।

इसके आधार पर स्वयंप्रकाश्य ज्ञान के स्वरूप और तत्त्वों को समझा जा सकता है। यह प्रमाण-प्रतिपाद्य नहीं है अतः स्वयंप्रकाश्य है ('स्वयंप्रकाश्य की स्वयं अपनी श्रेष्ठ निगाहें हैं; वह बौद्धिक दृष्टियों की अपेक्षा नहीं रखता'—क्रोचे, पृ० २)। यह कल्पना-प्रसूत है। तार्किक ज्ञान से परे है अतः प्रातिभ है। व्यक्ति के अंतः-संस्कारों से प्राप्त है अतः सहज है। वस्तुओं के मूर्त रूप में अंतःप्रकट होता है अतः अभिव्यंजनात्मक है। कार्य-कारण-नियम द्वारा ग्रहीत नहीं होता अतः अद्वितीय या विशेष है। जब यह आत्मा के धुंधले क्षेत्रों में होता है तब अंत.संस्कारों से वेष्टित रहता है किंतु अकस्मात्-अकारण अंत.दीप्त होकर ध्यानयोग पूर्ण आत्मचैतन्य (कांटेम्प्लेटिव स्पिरिट) के क्षेत्र में आकर अभिव्यंजना प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वयंप्रकाश्य ज्ञान ही अभिव्यंजनात्मक ज्ञान हो जाता है। अपने इस प्रतिपादन के लिए वे माइकेल एंजिलो तथा लियोनार्दो की सृजन-प्रक्रिया के ऋणी हैं। माइकेल एंजिलो ने कहा है कि "कोई हाथों से नहीं बल्कि मस्तिष्क से चित्र-रचना करता है।" लियोनार्दो 'लास्ट सपर' नामक महान् चित्र का अंकन करते समय कई दिनों तक बिना एक भी तूलिका छुवाए उसे निहारा करते थे। अपनी इस मनोवृत्ति के संबंध में उन्होंने कहा कि उदात्त प्रतिभासंपन्न लोगों के मस्तिष्क जब सबसे कम बाह्य कर्म करते हैं तब अपने अनुसंधान में सबसे अधिक सक्रिय होते हैं। अतः स्वयंप्रकाश्य ज्ञान देश-काल-बंधन से मुक्त होता है। किसी कहानी या संगीत की रागिनी सुनते समय किसे काल का ज्ञान होता है; किसी वेदना की आह या नीले आकाश का रंग की अनुभूति प्राप्त करते समय किसे देश का ज्ञान होता है? **सच्चा** स्वयंप्रकाश्य ज्ञान देश-काल-मुक्त होता है और **प्रत्येक सच्चा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अभिव्यंजना भी होता है**। ऐसा ज्ञान बौद्धिकता के हरेक विमर्ष से भी मुक्त होता है और हरेक बाह्य संयोग से भी असंपृक्त रहता है।

स्वयंप्रकाश्य व्यापार में स्वयंप्रकाश्यों की संख्या उसी सीमा तक रहती है

जहां तक वह उनकी अभिव्यंजना कर सकता है। अभिव्यंजना केवल पदात्मक (शब्दात्मक) ही नहीं होती; रेखामय, रंगमय, गंधमय, स्वरमय, मुद्रामय भी होती है। अतः अभिव्यंजना के **अनेक** रूप होते हैं। यही नहीं; स्वयंप्रकाश्य व्यक्तिगत भी होते हैं—एक चित्रकार के, एक कवि के, एक संगीतज्ञ के स्वयंप्रकाश्य भिन्न-भिन्न होंगे। और भी; व्यक्तिगत स्वयंप्रकाश्य वैयक्तिक भी होते हैं—भास के, कालिदास के, माघ के, भारवि के अथवा राफेल, लियोनार्दो, टिशियां, पिकासो के स्वयंप्रकाश्य मुख्तलिफ होंगे। किंतु यह भी सच है कि हममें से प्रत्येक में कलाकार, शिल्पी, संगीतज्ञ, चित्रकार, कवि आदि के अंश हैं जिससे सभी प्रकार के स्वयंप्रकाश्यों का भान होता है।

हमारे स्वयंप्रकाश्यों का जगत् एक बहुत छोटी चीज़ है जो ध्यानयोग के क्षेत्र में आसीन होकर—श्रेणियों में केंद्रीभूत होती हुई—विशाल और व्यापक और गहरी हो जाती है (दे० 'ऐस्थेटिक', पृ० ९)। "एक चित्रकार द्वारा देखी गयी चांदनी का प्रभाव; एक नक्शकार द्वारा खींची गयी किसी देश की रूपरेखा; एक कोमल या ओजस्वी संगीत रागिनी; एक उच्छ्वासयुक्त गीत के शब्द या वे अन्य जिन्हें हम रोज़मर्रा की ज़िंदगी में मांगते, अधिकृत करते, विलाप करते हैं—सभी भली भांति स्वयंप्रकाश्य तथ्य हो सकते हैं जिनमें बौद्धिक संबंधों की छाया भी न हो।"[1] इस प्रकार स्वयंप्रकाश्यों में बौद्धिक संबंध या धारणाएं अंतर्भुक्त नहीं रहतीं। यदि वे हो भी जायें तो स्वयंप्रकाश्यों से संचालित उपदान होकर रह पाती हैं और अपनी स्वतंत्रता खो देती हैं। उदाहरणस्वरूप, त्रासदी का दुःखी नायक जब दार्शनिक सूक्तियां कहता है तो उनकी सत्ता दार्शनिक धारणाओं वाली न होकर वक्ता के चरित्र का चित्रण करने वाली होती है। अजंता के बोधिसत्त्व के वस्त्रों पर जो काषाय रंग लगा हुआ है वह किसी वैज्ञानिक का काषाय रंग न होकर बोधिसत्त्व की छवि का तत्त्व ही रहता है। यहां जो सत्ता रंग की है, वहां वही सत्ता दार्शनिक सूक्तियों की है।

क्रोचे स्वयंप्रकाश्य ज्ञान के चरित्र को नितांत व्यक्तिगत मानते हैं। मैंने शरद् के नीले आकाश में हंस की तरह एक गोरा मेघखंड देखकर कहा—'यह हंस!' यह उक्ति बिंबात्मक है, किंतु यदि मैं सामान्य 'पक्षी' कहता तो वह उक्ति स्वयंप्रकाश्य या बिंबसर्जक न होकर धारणामूलक हो जाती। 'यह हंस', 'यह बगुला', 'यह कपोत' जैसे कथन स्वयंप्रकाश्य हैं। स्वयंप्रकाश्य हमें **जगत्** (—the pheonema) प्रदान करता है तथा धारणा **आत्मचैतन्य** (—the noumenon)। इस प्रकार इनमें से पहली में एक श्रेणी तथा दूसरी में दुहरी श्रेणी है। पहली श्रेणी अभिव्यंजना है तथा दूसरी धारणा। पहली (यह हंस) दूसरी के बिना स्थित रह सकती है किंतु दूसरी (पक्षी) पहली के बिना डगमगा जायेगी।

दूसरी श्रेणी में पहली श्रेणी के 'यह हंस, यह बगुला, यह कपोत आदि के

१. 'ऐस्थेटिक', क्रोचे, पृ० २ (द नूनडे प्रेस, न्यूयार्क, १९५८, पेपरबैक संस्करण)।

संबंधों का मूल 'पक्षी' प्राप्त होता है जो व्यक्तिगत (यह हंस) न होकर सार्वभौम (पक्षी) है। इसी उदाहरण को आगे बढ़ाकर हम स्वयंप्रकाश्य के तत्त्वों की मीमांसा भी कर लेते हैं। जब मैं शरद् के नीले आकाश में हंस की शक्ल का एक उज्ज्वल मेघखंड देखकर 'यह हंस !' कह उठता हूं तो उसके लिए प्रमाण प्रतिपादित नहीं करता। अतः यह प्रतीति ही स्वयंप्रकाश्य है। इस प्रतीति को मैंने तर्क का अवलंब न लेकर सादृश्य के आधार पर हंस से जोड़ दिया जिससे यह काल्पनिक हो गयी। तीसरे, यह प्रतीति प्रत्यक्षाश्रित है और हरेक व्यक्ति को हो सकती है अतः प्रातिभ और सहज है। चौथे, मैं उस गोरे मेघखंड के प्रत्येक विस्तार को हंस की अभिव्यंजना में देख या कल्पना कर चुकता हूं तो (बिना बाह्यीकरण के भी) वह बिंब-विधायक है क्योंकि मेरे अंत:संस्कारों में कभी हंस का प्रत्यक्ष बिंब भी पड़ा होगा। अंततः, वस्तुतः यह उजला मेघखंड हंस नहीं है; वह मात्र तदाकार है; वह कार्य-कारण के अनुमित ज्ञान से भिन्न है। अतः विशेष है। यदि मेघखंड उजला न होकर श्यामल होता तो मुझे गोरे हंस की प्रतीति नहीं होती। तब मुझे मेघखंड की संवेदना (सेंसेशन) होती। मैं उसे ध्यानयोग (कांटेम्प्लेशन) के स्तर तक नहीं उठा पाता। अतः यह अभिव्यंजनात्मक होने पर ही पूर्ण तथा सही होती है। सारांश यह कि स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान अंत:दीप्त, काल्पनिक, प्रातिभ, सहज, व्यक्तिगत, बिंब-विधायक, विशेष और अभिव्यंजनात्मक है। इसका बिंब-विधान सदैव मानसिक होता है और इसकी अभिव्यंजना सदैव स्वयंप्रकाश्य होती है। अतः हम एक आप्त सूत्र दे सकते हैं : "मानवीय व्यापार की पहली स्वीकृति अभिव्यंजना है।"

उन्होंने दार्शनिक व्याख्याओं के अलावा अपने निजी मनोवैज्ञानिक ढंग से भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का स्पष्टीकरण किया है। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण चर्चा संवेदना की है। हम जानते हैं कि संवेदना की उत्पत्ति के लिए कोई भौतिक उत्तेजना (स्टिमुलस) किसी विशिष्ट ज्ञानेंद्रिय के सामने उपस्थित होकर उसके माध्यम से स्नायुप्रवाही होकर मस्तिष्क में जाती है। उत्तेजना के प्रति मस्तिष्क की यह प्राथमिक प्रतिक्रिया संवेदना है। हम जूही के फूलों को देखकर केवल दृष्टि-संवेदना तथा मधुर संगीत सुनकर केवल श्रवण-संवेदना प्रकट करते हैं। इस स्तर पर हम केवल रूप, मात्र ध्वनि को ग्रहण करते हैं। ज्यों ही हम उत्तेजना को अर्थ प्रदान करते हैं वैसे ही संवेदना का 'प्रत्यक्षीकरण' में रूपांतर हो जाता है जो उत्तेजना की व्याख्या है। इस स्थिति में हमें जूही के फूल की सफेद कांति या मुरली की ध्वनि का बोध होता है। इस प्रत्यक्षीकरण-प्रक्रिया में जो प्रिय लगती है वही प्रायः सुंदर और सुखद होती है तथा जो अप्रिय वह इसके विपरीत लगती है। क्रोचे संवेदना को **'रूपहीन पदार्थ'** (फॉर्मलेस मैटर) कहते हैं और अपने रूपक को बढ़ाते हुए आत्मचैतन्य-व्यापार को प्रत्यक्षीकरण के समकक्ष ला रखते हैं। ऐसा लगता है कि वे प्रत्यक्षीकरण को स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का पर्याय तो मान लेते हैं किंतु भौतिक (वास्तविक) तथा अभौतिक (अवास्तविक) उत्तेजना के आधार नामंजूर कर देते हैं। शायद वे प्रत्यक्षीकरण, कल्पना और स्मृति को एक करना चाहते हैं। उनके अनुसार यदि स्वयंप्रकाश्य

ज्ञान की अभिव्यंजना नहीं हो सकी है तो वह संवेदना मात्र है। उनके अनुसार स्वयंप्रकाश्य ज्ञान वह संवेदना है जो अपनी यांत्रिक और निष्क्रिय स्थिति को छोड़कर आत्मचैतन्य के व्यापार द्वारा रूपांतरित होकर अभिव्यंजना बन जाता है। इस प्रकार अभिव्यंजना पृथक् या स्वतंत्र व्यापार नहीं; स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का ही विकसित रूपांतर है। यह रूपांतर करती है कल्पना, जो मानसिक बिंबों की निर्मात्री है। अतः सबसे पहले हमारे अंतःसंस्कार या भावनाएं होती हैं जो संवेदना के धुंधले क्षेत्रों में पड़ी रहती हैं। उन्हें आत्मचैतन्य का व्यापार 'अंतःदीप्ति' के द्वारा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान में रूपांतरित करता है। स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को कल्पना मानसिक बिंबों द्वारा अभिव्यंजना में रूपांतरित कर देती है। इस समूचे रूपांतर में माध्यम दो हैं—(१) संवेदना को स्वयंप्रकाश्य बनाने वाली **अंतःदीप्ति** और (२) स्वयंप्रकाश्य को अभिव्यंजना में रूपांतरित करने वाली **कल्पना**।

इस परिकल्पना में क्रोचे की मूल गलती यूं है कि वे स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का तादात्म्य प्रत्यक्षीकरण के भी साथ करने के बजाय अभिव्यंजना के साथ करते हैं। जरा प्रत्यक्षीकरण से विहीन एक आदमी का ख्याल करें। जब वह चिंतन या अनुभव या धारणा से हीन है तब वह सब से पहले क्षणों में सैद्धांतिक जीवन में जागता है। क्या ऐसा इंसान संभव है? ऐसी ही असंभव संभावना 'शुद्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान' की होगी। ऐसा व्यक्ति संसार का अंग होते हुए, संसार का वासी होते हुए भी संसार पर आश्चर्य करेगा। दार्शनिक लहजे में ऐसी दशा तभी संभव है जब शैलमालाएं भौतिक यथार्थ न होकर आधिभौतिक यथार्थ हो जायें और मनुष्य सृष्टि की पहली उषा में आंख खोले। हम यथार्थ का ही मानसिक पुनर्निर्माण करते हैं चाहे कल्पना हो, चाहे वास्तविकता, चाहे फैंटेसी। इसके अलावा क्रोचे स्वयंप्रकाश्य के और अन्वीक्षा के ही दो व्यापार मानते हैं जिसमें से स्वयंप्रकाश्य-व्यापार आदिम और मूल है। ऐसी हालत में अन्य व्यापार कहां होंगे? मूल प्रवृत्तियों की क्या स्थिति होगी? धारणा के सार्वभौम धर्म को त्यागकर हम किस प्रकार पृथक् रूप से विशेष या व्यक्तिगत का बोध करेंगे? हम जब 'शैलशिखर' कहते हैं तो बोध सार्वभौम शैलशिखर का भी होता है और व्यक्तिगत हिमालय का भी। इसलिए केवल स्वयंप्रकाश्य ज्ञान ही सुंदर है, ऐसी बात नहीं है। सार्वभौम ज्ञान भी कम सुंदर नहीं है। फिर नितांत स्वतंत्र स्वयंप्रकाश्य किस प्रकार धारणाओं को जन्म दे सकता है जो संबंधयुक्त और सापेक्ष हैं? द्विपुट-सिद्धांत की वजह से क्रोचे के ये निष्कर्ष अधिकांशतः एकांगी बने रहते हैं। वे एक अति पर हैं—विभिन्न (डिस्टिंक्ट) के समक्ष विपरीत (अपोज़िट) की अंध-अस्वीकृति।

इसी कड़ी में वे स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को प्रत्येक व्यक्ति की उपलब्धि मानते हैं अर्थात् कलाकार और साधारण मनुष्य दोनों ही स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से समर्थ हैं और कला तथा जीवन दोनों में स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की स्थिति है। कला में स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अधिक उदात्त, अधिक व्यापक और अधिक प्रचुर होता है जबकि व्यावहारिक जीवन में वह सामान्य हुआ करता है। इन दोनों के बीच कोई भी फर्क नहीं किया

जा सकता। अतः कलात्मक स्वयंप्रकाश्य ज्ञान और सामान्य स्वयंप्रकाश्य ज्ञान में केवल मात्रापरक अंतर है। ये दोनों प्रकार के स्वयंप्रकाश्य बौद्धिक व्यापार से अलबत्ता अलग हैं किंतु आपस में पर्याय ही हैं।

उनकी '**कला-संबंधी धारणा**' भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से अनुस्यूत है। स्वयंप्रकाश्य के दृष्टांत के समान 'कला' भी वह सब कुछ है जो कलाकार के मानस में माध्यम (बाह्य अभिव्यक्ति) ग्रहण करने के पूर्व घटित होता है (बाद में तो वह कला न होकर 'कलाकृति' या बाह्य सौंदर्य हो जाता है)। कला केवल संवेदना ही नहीं है; व्यक्तिगत होने के नाते आत्माभिव्यंजना भी है। यह भी आत्मचैतन्य का व्यापार और स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान की सारी विरासतों की उत्तराधिकारिणी है। धारणा और व्यावहारिक व्यापार से परे होने के कारण कला में भी आलोचना का अस्तित्व सिद्धांततः नहीं हो सकता। सारांश यह है कि "कला अंतःसंस्कारों की अभिव्यंजना है; अभिव्यंजना की अभिव्यंजना (=कलाकृति) नहीं।" कला की आत्माभिव्यंजना शरीरशास्त्रीय तथ्यों से असंबद्ध है। यही नहीं, आत्माभिव्यंजना में हम रूप की अभिव्यंजना नहीं कर सकते क्योंकि वह तो स्वयं अभिव्यंजना है। अतः सिद्धांततः कला के प्रकार और स्वरूप नहीं हो सकते क्योंकि अभिव्यंजना तो स्वयंप्रकाश्य का रूपांतर है; स्वयंप्रकाश्य वैयक्तिकता है और वैयक्तिकता की कभी भी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। आंतरिक अभिव्यंजना ही **कला** है। बाद में बाह्यीकृत **कलाकृतियां** (चित्र, कविताएं, मूर्तियां आदि) तो 'भौतिक उत्तेजनाएं', 'स्मृति की सहायिकाएं' ही हैं जो कलाकार को उसके स्वयंप्रकाश्य ज्ञान के पुनरुत्पादन में योग्य बनाती हैं। ये 'सुंदर' वस्तुएं 'बाह्य' हैं और वास्तव में कला-सृजन नहीं हैं।

उपर्युक्त आधारों पर उन्होंने विषयवस्तु तथा रूप की समस्या का भी अव-लोकन किया है। क्योंकि वे कलाकृति को बाह्य मानते हैं अतः उनका विषयवस्तु और रूप-संबंध आत्माभिव्यंजना के दायरे में ही है। उनके अनुसार विषयवस्तु या सामग्री वह है जो सौंदर्यमूलक के स्थान पर भावात्मक ढंग से विस्तृत की गयी हो। उसे वे अंतःसंस्कार या प्रभाव कहते हैं। यह निष्क्रिय होता है किंतु यही हमारे स्वयंप्रकाश्यों का आपसी भेद बतलाता है। और रूप वह है जो आत्मचैतन्य के व्यापार के द्वारा अभिव्यंजना में रूपांतरित हो जाये। क्रोचे सामग्री को परिवर्तनीय तथा रूप (=आत्मचैतन्य के व्यापार) को स्थिर मानते हैं। उनके अनुसार अंतः-संस्कार या प्रभाव (इंप्रेशन) ही अभिव्यंजना द्वारा निरूपित होते हैं। जिस प्रकार फिल्टर में डाला हुआ जल पुनः वैसा ही किंतु भिन्न होकर दूसरी ओर प्रकट हो जाता है उसी प्रकार सामग्री या प्रभाव अभिव्यंजना में प्रकट हो जाते हैं (दे० 'ऐस्थेटिक', पृ० १६)। अतः प्रभाव ऐस्थेटिक तथ्य के लिए श्रीगणेश हैं और इनके लिए विषयवस्तु तथा रूप के संबंधों का कोई अर्थ ही नहीं है। इसलिए **ऐस्थेटिक तथ्य रूप है; कुछ नहीं—केवल रूप**।

इससे हम स्वयंसिद्ध निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कला (कलाकृति नहीं) में स्वयंप्रकाश्य ज्ञान और अभिव्यंजना का द्वित्वपूर्ण ऐक्य है। कलात्मक स्वयंप्रकाश्य

एक ऐस्थेटिक या **'सौंदर्यानुभूतिमूलक तथ्य'** है और कलाकृति एक 'बाह्य भौतिक तथ्य', जिसके द्वारा सौंदर्यानुभूति का पुनरुत्पादन होता है। कहने का तात्पर्य यह कि एक सुंदर अभिव्यंजना एक निश्चित पदार्थ (माध्यम) में स्थित कर दी जाती है। अतः यह भौतिक पुनरुत्पादन एक व्यावहारिक तथ्य है—**संकल्प (विल) का तथ्य**। क्रोचे इस तथ्य को कला का कर्म नहीं स्वीकार करते। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि सैद्धांतिक व्यापार की सौंदर्यमूलक तथा तर्कपरक दो श्रेणियों की तरह व्यावहारिक व्यापार (तीसरे द्विपुट के अनुसार) की भी 'उपयोगी' तथा 'नैतिक' नामक दो श्रेणियां, तदनुरूप आर्थिक संकल्प एवं नैतिक संकल्प भी हैं। जिस प्रकार तर्क-श्रेणी में स्वयंप्रकाश्य (ऐस्थेटिक) का अंतस्संधान रहता है उसी प्रकार नैतिक श्रेणी में आर्थिक श्रेणी का अंतस्संधान होता है। आर्थिक और नैतिक संकल्प दोनों ही ज्ञानोत्पादक न होकर कर्मोत्पादक हैं (क्योंकि सैद्धांतिक व्यापार का रूप **ज्ञान** तथा व्यावहारिक का **संकल्प** है) किंतु इन संकल्पों में ज्ञान भी (जो पहली श्रेणी का है—स्वयंप्रकाश्य तथा तर्कपरक) अनुस्यूत रहता है। अतः कार्य में स्वयंप्रकाश्य भी शामिल है। "एक राजनीतिज्ञ समाज की अवस्थाओं का बिना **ज्ञान** प्राप्त किये किस प्रकार कोई अच्छा या बुरा राजनीतिक **संकल्प** करके उसका सुधार कर सकता है।···शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक के नायक हेमलेट में कार्य करने का तो तीव्र **संकल्प** है किंतु पूर्ववर्ती सैद्धांतिक परिस्थिति, **ज्ञान** नहीं है। अतः वह विशिष्ट दशा में विशिष्ट कार्य नहीं कर पाता। यदि वह कार्य को त्यागकर ध्यानयोग में लीन हो पाता तो अवश्यमेव उसमें एक कलाकार या वैज्ञानिक या दार्शनिक का स्थैर्य आ जाता" (दे० : 'ऐस्थेटिक', पृ० ४८-४९)। अतः हमें व्यावहारिक कार्य का पूर्ववर्ती ज्ञान होता है; किंतु व्यावहारिक ज्ञान नहीं अपितु व्यावहारिक का ज्ञान (अर्थात् ज्ञान सर्वदा ही सैद्धांतिक है)।···व्यावहारिक कार्योपरांत व्यावहारिक निर्णय या मूल्यांकन की श्रेणी का अभ्युदय होता है। जब लक्ष्य को त्यागकर उपयोगिता को मात्र 'अहं-वादी वृत्ति' से जोड़ दिया जाता है अर्थात् जब उपयोगिता नैतिकता से बहिर्भूत होती है तब अनैतिक हो जाती है। आर्थिक संकल्पों का **एक लक्ष्य** होता है तथा नैतिक संकल्पों का भी **एक विवेकशील लक्ष्य** होता है। पहला प्रेय और दूसरा श्रेय है। नैतिक चरित्र से वियुक्त केवल आर्थिक चरित्र के उदाहरणस्वरूप क्रोचे पुनः शेक्स-पियर के 'ओथेलो' नाटक के इयागो नामक पात्र को लेते हैं जो नैतिक चेतना से पूर्णतया शून्य है। उसमें अनैतिकता-नैतिकता का द्वंद्व नहीं है क्योंकि नैतिकता विकसित ही नहीं हुई है। इस प्रकार का दूसरा पात्र मेकियावेली का सीज़र बार्जिया भी है। सारांश यह है कि क्रोचे तीन अवस्थाएं मानकर अनजाने ही कार्य-कारण की परंपरा मानने के साथ-साथ विपरीत (नैतिक-अनैतिक) आदि के द्वंद्व की सत्ता में भी उलझ जाते हैं। तीन अवस्थाएं हैं—सिद्धांत की अवस्था, व्यवहार की अवस्था और व्यावहारिक निर्णय या मूल्यांकन की अवस्था।

किंतु इनके द्वारा उन्होंने **'सौंदर्यबोध में निश्चयवाद'** को ढहा दिया—सौंदर्य-बोध (सेंस), सौंदर्यानुभूति (फीलिंग) तथा सौंदर्य-धारणा (कांसेप्ट) द्वारा। इस

कार्य में स्वयंप्रकाश्य की सर्वधारणा अर्थात् कलाकार और जनगण दोनों के लिए एक ही स्थापना ने उनकी सब से बड़ी मदद की। यह उनकी एक महत्तम देन है। उनके अनुसार सौंदर्यबोध या 'ऐस्थेटिक बोध' नामक कोई वस्तु नहीं है। यह कभी नहीं स्वीकार किया जा सकता कि कुछ बोधात्मक प्रभाव ही स्वेच्छा से या अनिवार्यता से सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना के क्षेत्र में प्रवेश कर लेते हैं। वस्तुतः सभी प्रभाव या अंतःसंस्कार सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना के क्षेत्र के प्रवेशाधिकारी हैं, जिसके लिए इच्छा अथवा अनिवार्यता की कोई शर्त नहीं है। केवल श्रवण तथा दर्शन को ही सौंदर्यबोध के उच्च या क्लासिकल माध्यम मानना गलत है। नारी के कपोलों की लाली, गुलाबी अमरूद की मिठास, रेत का भुरभुरापन, पकी रोटी की गंध और झींगुरों की झनकार—सभी प्रभाव हैं। अतः केवल नेत्र और कान ही सौंदर्यबोध के माध्यम नहीं हैं; और न विशिष्ट प्रभाव ही। समस्त चराचर जगत् के समस्त लघु-विराट प्रभाव अभिव्यंज्य हैं। हां, शर्त यही है कि विशिष्ट अभिव्यंजना के लिए विशिष्ट पूर्ववर्ती प्रभाव वांछनीय और समीचीन हैं। जिसने कभी हिमालय नहीं देखा, वह उसकी वैसी अभिव्यंजना नहीं कर सकता जो हिमालय के दर्शन करने वाला कर सकता है (दे० 'ऐस्थेटिक' : पृ० १९)। अपनी सौंदर्यबोध-संबंधी धारणा को वे औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ, सत्-असत् से भी स्वतंत्र रखते हैं। केवल प्रभावों का स्वयंप्रकाश्य, स्वयंप्रकाश्यों की केवल अभिव्यंजना—न अधिक, न कम—यही उनका आदर्श है।

सौंदर्यानुभूति या भावना को 'प्रभाव' का पर्याय माना जाता है। वस्तुतः यह ज्ञानरहित एक विशिष्ट व्यापार या कार्यिकी (ऐक्टिविटी) है जिसमें सुख-दुःख के विपरीत ध्रुवांत हैं, जिनका संबंध नैतिक व्यापार से न होकर व्यक्तिगत लक्ष्यों अर्थात् कामनाओं या इच्छाओं से है। यह सुख तथा दुःख की चेतन अनुभूति है। यदि प्यासे को पानी मिल जाये तो उसकी मूल प्रवृत्ति की परितुष्टि होने के कारण सुखानुभूति होगी। और यदि पानी का अभाव हो तो वह बाधित होकर अतृप्त रह जाने के कारण दुःखाभूति होगी। भाव अपने में एक सरल और प्राथमिक मानसिक प्रक्रिया है जिसका विश्लेषण नहीं हो सकता। वास्तव में वह आत्मजगत् या अंतर्मुखी होने के नाते व्यक्ति को अपनी मानसिक स्थिति का ज्ञान कराती है। यह संवेदना की तरह किसी इंद्रिय-विशेष में न होकर संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है और एक समय में इनमें से एक ही की अनुभूति हो सकती है। क्रोचे भावना संबंधी इन मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं को तकरीबन स्वीकार कर लेते हैं। सौंदर्य-वृत्ति से संलग्न होकर इन भावनाओं का सौंदर्यात्मक सापेक्ष चरित्र माना जा सकता है। क्रोचे के अनुसार इन भावनाओं या अंतःसंस्कारों की **सफल अभिव्यंजना**—जिससे परितुष्टि होकर सुख मिले अर्थात् यह 'व्यावहारिक व्यापार' के अंतर्गत आ जाये—ही तो **'सौंदर्य'** कहलाती हैं। इस प्रकार वे स्वयंप्रकाश्य नामक मूल सैद्धांतिक व्यापार तथा भावना या प्रभाव नामक व्यावहारिक व्यवहार के बीच संबंध कायम करते हैं। जो भावनाएं बाह्य जगत् की वास्तविक चीज़ों से जागृत होती हैं वे अधिक तीव्र तथा जो

कला और कलाकृतियों से उद्भूत होती हैं वे उतनी अधिक तीव्र नहीं होतीं, क्योंकि वे स्वयंप्रकाश्य और अभिव्यंजित होती हैं। अतः वे **'प्रतीयमान भावनाएं'** कहलाती हैं। ज़ाहिर है कि वे सौंदर्यभावनाओं की विवेचना नहीं कर पा रहे हैं और सौंदर्य तथा सौंदर्यबोध को एक मान रहे हैं। वे उन संस्कारों तथा उनके कारणों को भी नहीं बता पाते जिनसे सौंदर्यबोध होता है, या जो यथार्थ भावनाओं और प्रतीयमान भावनाओं में अंतर उत्पन्न कर देते हैं। इसी वजह से सुंदर, उदात्त, भव्य, गंभीर, गुरु, उन्नीत जैसी धनात्मक धारणाओं; कुरूप, दुःखित, भयंकर त्रासक जैसी ऋणात्मक धारणाओं; हास्य, कोमल, करुण, परिहास्य जैसी मिश्रित धारणाओं को एवं **'सौंदर्यात्मक धारणाओं'** को सौंदर्यशास्त्र से निर्वासित करके मनोविज्ञान को सौंप देते हैं।

उनकी **'सौंदर्य-धारणा'** भी---कला-संबंधी धारणा की तरह---कई आयामों को शामिल करती है। क्रोचे 'सौंदर्य' की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि वह **सफल अभिव्यंजना** या अभिव्यंजना से अधिक कुछ भी नहीं है क्योंकि असफल अभिव्यंजना अभिव्यंजना नहीं रह पाती (दे० 'ऐस्थेटिक', पृ० ७८)। इससे दूसरा नतीजा यह निकला कि असफल अभिव्यंजना 'असौंदर्य' या कुरूपता है। उनके अनुसार सौंदर्य में श्रेणियां [अधिक सुंदर, उससे अधिक, कम, उससे कम] नहीं होतीं, किंतु कुरूपता में होती हैं; सौंदर्य एकता है और असौंदर्य अनेकता। सिद्धांत रूप में क्रोचे पहले तो असफल अभिव्यंजना को स्वीकार ही नहीं करते और प्रत्येक अभिव्यंजना को सौंदर्य मान लेते हैं और फिर बाद में असफल अभिव्यंजना को **कला में** स्वीकृत करके असौंदर्य मान लेते हैं। जब वे सौंदर्य और असौंदर्य को मानते हैं तथा जब असौंदर्य की श्रेणियां भी मंजूर करते हैं तब सौंदर्य तथा असौंदर्य—सौंदर्य के बीच की माध्यमिक श्रेणियां भी हो सकती हैं। फिर 'सफलता' और 'एकता' को भी वे स्पष्ट नहीं कर पाते। वे प्रत्येक स्वयंप्रकाश्य को अभिव्यंजना तथा प्रत्येक अभिव्यंजना को सौंदर्य मान बैठते हैं तो क्या एक दार्शनिक का या वैज्ञानिक का ध्यानयोग भी सौंदर्य होगा, यदि वह बौद्धिकता-बहिर्भूत हो? अथवा क्या प्रत्येक अभिव्यंजना सफल ही है? अगर वे विषय और रूप का पार्थक्य रखते, या प्रेषणीयता की परिकल्पना करते, तब निश्चय ही सौंदर्य तथा सौंदर्यबोध को इस तरह एक करने की गलती न करते। वे यह मानकर चलते हैं कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान में अनिवार्यतः पारदर्शक दृष्टिभेदन होता है जिसका परिणाम पारदर्शक अभिव्यंजना होगी। यह धारणा वास्तविक जीवन से कितनी दूर है, यह बताने की ज़रूरत भी नहीं है। ऐसा लगता है कि वे भौतिक या प्रकृत जगत् में असौंदर्य तथा आत्मचैतन्य के जगत में सौंदर्य की प्रतिष्ठा करते हैं जो पूर्णतः असंगत है। उन्होंने पहले जगत में क्रियात्मकता या कायिकी तथा दूसरे में आत्मचेतना (स्पिरिचुअलिटी) प्रतिष्ठित की है अर्थात् 'प्रकृत ढंग की (क्रियात्मक) अभिव्यंजना' और 'ऐस्थेटिक' अभिव्यंजना में क्रमशः वे कार्य और सिद्धांत का भेद करते हैं।

इसी कड़ी में वे सौंदर्यबोधात्मक या ऐस्थेटिक दिग्दर्शनों को तो सहज तथा

कार्यकारण-मुक्त, स्वतःस्फूर्त मानते हैं किंतु कलाकृति में उनके बाह्यीकरण को संकल्प की स्वीकृति-अस्वीकृति पर आश्रित मानते हैं। अतः कलाकृति में बाह्यीकरण के निमित्त संकल्प ही नहीं, एक 'जागरूक संकल्प' का अभिधान होता है, जो 'तकनीक' (=कार्योन्मुखकर्ता पूर्व ज्ञान)-संश्लिष्ट है। इसी तकनीक-संश्लिष्ट जागरूक संकल्प की वजह से चित्रकला के सिद्धांत, वास्तुकला के सिद्धांत, काव्यकला के सिद्धांत आदि अंकुरित और पुष्पित होते हैं। इनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं हुआ करता। अतः क्रोचे कला के वर्गीकरण तथा कला-सिद्धांतों की चर्चा करने वाली तमाम पुस्तकों को जला डालने की रहनुमाई करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि क्रोचे सौंदर्य (=सफल अभिव्यंजना) एवं 'सुंदर' वस्तु (=कलाकृति) के बीच भेद करते हैं। 'सुंदर' वस्तु में हमारी 'स्मृतियों की आत्म-चेतन ऊर्जा' भौतिक तथ्यों (मूर्ति, कविता, संगीत, चित्र आदि) की सहायता से विशिष्ट मनुष्यों अर्थात् प्रतिभासंपन्न कलाकारों द्वारा उत्पन्न स्वयंप्रकाश्यों को पुनरुत्पादित करती या संरक्षित रखती है। अत हम इन्हें **'भौतिक सौंदर्य'** या **'सुंदर वस्तुएं'** कह सकते हैं।

भौतिक सौंदर्य के दो भेद हैं—प्राकृतिक सौंदर्य तथा कृत्रिम सौंदर्य। क्रोचे प्राकृतिक सौंदर्य को लांजाइनस तथा बर्क की तरह भव्य और उदात्त न मानकर हीगेल की तरह साधारण और तुच्छ मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राकृतिक सौंदर्य सहज प्राप्त नहीं होता; उसका अनुसंधान किया जाता है। उसे वे ही खोज सकते हैं जो कला-दृष्टि-संपन्न हैं अर्थात् कल्पना और रुचियों वाले हैं। प्राकृतिक सौंदर्य ऐस्थेटिक सृजन के लिए **उद्दीपन** मात्र है। कल्पना के अभाव में प्रकृति सुंदर नहीं प्रतीत होती और मनोदशाओं के अनुरूप क्लांत-प्रसन्न, विकराल-कोमल प्रतीत होती है।

कृत्रिम सौंदर्य मनुष्य-निर्मित है जैसे मूर्ति, कविता, चित्र, आदि। किंतु उनके पुनरुत्पादन के साधन-माध्यम जैसे माइकेल एंजिलो की 'मोजेज़' मूर्ति का संगमर्मर या डिवाइन कामेडिया की पुस्तक की लिखावट आदि कृत्रिम सौंदर्य नहीं है।

'मिश्रित सौंदर्य' एक तीसरी कोटि है जिसमें उक्त दोनों तरह के सौंदर्यों का मेल-मिलाप है; जैसे, उपवन-कुंज बनाते समय पूर्व-स्थित भग्न तोरण या बाउली या वट-वृक्षों को भी शामिल कर लिया जाये।

तीन तरह के भौतिक सौंदर्यों को स्वीकार करके भी उन्होंने 'मानव-शरीर के सौंदर्य' की ग्रीक तथा क्लासिकल परिकल्पना का प्रबल खंडन किया। इसके लिए वे हीगेल के 'आइडियल' या प्लेटो के 'आइडिया' तक न जाकर भूस्पर्शी दृष्टि वाले ही रहे हैं। वे कहते हैं कि हम मानव-शरीर को ही क्यों सुंदर मानें? यदि मानव ही सुंदर है तो पुरुष या स्त्री या उभयलिंगी में से किसे सुंदर मानें? किस जाति को सुंदर मानें? यदि किसी विशेष जाति को मानते हैं तो उसकी कौन-सी उपजाति सुंदर होगी? फिर किस उम्र वाले मानव-शरीर को सुंदर मानें—वृद्ध को, या प्रौढ़ को, या युवक को, अथवा शिशु को? फिर मानव-शरीर को किस मुद्रा में सुंदर मानें? अतः मानव-शरीर के सौंदर्य की कोई भी कसौटी पेश नहीं की जा सकती।

अगरचे क्रोचे ने कलाओं का कोटिकरण—उपन्यास या कहानी, महाकाव्य या वेणु-गीत—नहीं स्वीकार किया और मात्र लिरिकल भावना को कसौटी माना (न कि बाह्य रूपों को); फिर भी संभवतः हीगेल की परंपरा में, बाद में (दे० 'प्राब्लेमाई', पृ० २०), एक ही 'सौंदर्यात्मक इकाई' की तीव्रता की श्रेणियां बनाईं : जैसे (१) रूप एवं अभिव्यंजना के अपोलाइन क्षण (पहले असफल चेष्टाएं और बाद में उदात्त की ओर प्रयाण), (२) रूप एवं अभिव्यंजना के गीतिप्रवण क्षण (कलाकार के संवेगों की अभिव्यंजना), (३) रूप एवं अभिव्यंजना के महाकाव्यात्मक या प्लास्टिक क्षण (बोधगम्य रूपों में अभिव्यक्ति), और (४) रूप एवं अभिव्यंजना के नाटकीय क्षण (वैयक्तिक क्षणों की विविधता की एकता)। इसके उपरांत भी उनका संवेगों की पूर्ण अभिव्यंजना वाला समीकरण उनकी कमी को दूर नहीं कर सका। वे एक साधारण से साधारण आवेश (इंपल्स) की अभिव्यंजना तक को 'डिवाइन कामेडी' या 'फाउस्ट' के समकक्ष रखने को मजबूर हैं। अतः श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर कलाकृति अंतःसंस्कारों पर भी आश्रित है। एक ही स्वयंप्रकाश्य को उसके अंतस्संस्कारों के समेत जब हम कई संशोधनों के बाद बहुधा अधिक प्रौढ़, अधिक सुंदर और अधिक परिष्कृत रूप में देखते हैं (जैसे प्रसाद का ब्रजभाषा में लिखा गया पहला 'प्रेम-पथिक' और खड़ी बोली में रूपांतरित दूसरा 'प्रेम-पथिक') तो स्वयंप्रकाश्य की व्यक्तिगत विशिष्टता वाली बात तो कायम रहती है, लेकिन पूर्ण तथा सफल अभिव्यंजना वाली बात गलत सिद्ध हो जाती है। यदि हम खजुराहो के किसी एक पत्थर को (चाहे वह मूर्ति-अंकित भी हो) किसी दूसरे भवन में लगा देते हैं तो वह सुंदर बना रहता है; पुनः एक साधारण पत्थर नहीं हो जाता। क्रोचे इसे सिद्धांततः अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि उस स्थिति में वह पुनः आत्मचैतन्य की एक अभिनव अवस्था (मोमेंट) हो जायेगा। हम लोग तो उसे श्रेष्ठ कहते हैं जिसमें सफल अभिव्यंजना प्रेषणीय हो और जिसमें गंभीर दार्शनिक सत्य, सामाजिक प्रेय और उच्च नैतिक आदर्श भी हों। किंतु उनके अनुसार ऐसी दशा में वे कला के स्वरूप में महत्त्वशून्य हो जाते हैं और उनमें कुरूपता या असौंदर्य की शुरुआत हो जाती है क्योंकि यहां से व्यावहारिक कार्यिकियों का अतिक्रमण होने लगता है।

सौंदर्य तथा कलाकृति संबंधी निरूपण के बाद क्रोचे की **'प्रतिभा संबंधी धारणा'** पर विचार करने से प्रकट होता है कि आत्मचैतन्य की चार अवस्थाओं या श्रेणियों—स्वयंप्रकाश्य ज्ञान, धारणा, उपयोगिता और नैतिकता—के अनुरूप चार प्रकार की प्रतिभाएं (भाववाचक संज्ञा) होती हैं—कला में प्रतिभा, विज्ञान में प्रतिभा, अर्थशास्त्र में प्रतिभा (इसे वे विकर्षक मानते हैं जैसे 'ओथेलो' का इयागो) तथा नीतिशास्त्र में प्रतिभा (चरितनायक आदि)। उनके अनुसार 'सृजनात्मक कल्पना' ही प्रतिभा है अर्थात् ऐस्थेटिक अंतर्दर्शन को उत्पादित करने वाला व्यापार ही प्रतिभा कहलाता है। जो इसे धारण करता है वह **'प्रतिभासंपन्न कलाकार'** कहलाता है। प्रतिभासंपन्न कलाकार और साधारणजन के स्वयंप्रकाश्य ज्ञान या सौंदर्यानुभूतियां एक ही होती हैं; बस उनमें गुणात्मक नहीं, मात्रात्मक भेद अवश्य होता है अर्थात्

कलाकार के स्वयंप्रकाश्य विशिष्ट तथा श्रेष्ठतर न होकर अधिक तीव्र और व्यापक होते हैं। क्रोचे कहते हैं कि प्रतिभा को ईश्वरवत् मानने की प्राचीन धारणा के मूल में मात्रात्मक भेद की जगह गुणात्मक भेद की स्वीकृति है। इस प्रकार वे कलाकार (प्रतिभा) और सहृदय (अभिरुचि) को एकसमान धरातल पर आसीन कर देते हैं।

सहृदय को वे कठिनतम अग्निदीक्षा बख्श देते हैं। प्रतिभा का धर्म ऐस्थेटिक अंतर्दर्शन का **उत्पादन** है तो सहृदय का उसका **पुनरुत्पादन**। पुनरुत्पादन की इस विशिष्ट वृत्ति को वे 'अभिरुचि' कहते हैं तथा इससे संपन्न व्यक्ति को **'अभिरुचि-संपन्न सहृदय'**। उनका सहृदय भोक्ता और आलोचक, दोनों है। उनके अनुसार मूल्यांकन का अर्थ है—**बाह्यकृति के द्वारा** अभिव्यंजना का पुनरुत्पादन। अपने में इस पुनरुत्पादन के लिए सहृदय को कलाकार के स्तर तक आना होगा तथा उसके साथ आत्मचैतन्य रूप में एकतान भी होना होगा। कलाकार-सहृदय का ऐसा तादात्मीकरण बिल्कुल असंभव है। क्या दांते या मिल्टन के काव्य का मूल्यांकन या रसास्वादन करने के लिए अथवा करते समय हम स्वयं दांते या मिल्टन हो सकते हैं? कभी नहीं! क्या दांते के और मेरे भिन्न-भिन्न मस्तिष्कों में हूबहू वही स्वयं-रूप स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अवतरित हो सकता है जबकि मेरे-उनके बीच शताब्दियों (काल) तथा देश का अंतर तो है ही, प्रत्युत मनोवैज्ञानिक दशाओं में भी भारी अंतर है? इसके मूल में भी क्रोचे की द्विपुटीकृत दार्शनिक अपूर्णता है—**कल्पना की निरपेक्षता**। एक ओर वे यह स्वीकार करते हैं कि कलाकृति में कलाकार का **अद्वितीय** एवं **व्यक्तिगत** स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का अभिधान होता है जिसकी पुनरावृत्ति कभी भी नहीं हो सकती (अतः साहित्य और कला का इतिहास-लेखन गलत तथा असंभव है), दूसरी ओर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कलाकृति आत्मचैतन्य (स्पिरिट) के जीवन की एक अवस्था तथा स्वयंप्रकाश्य के एक रूप का प्रकाशन है और तीसरी ओर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सहृदय उसका उत्पादन न करके पुनरुत्पादन करता है। ऐसी हालत में अभिरुचि के आधार पर ही एक दूसरे माध्यम के द्वारा एक दूसरे मस्तिष्क का व्यक्तिगत तथा अनावृत स्वयंप्रकाश्य का स्वयंरूप-पुनरुत्पादन तो हो ही नहीं सकता। सिद्धांत रूप में कलाकार तो अपने अंतस्संस्कारों और भावनाओं के द्वारा अपने स्वयंप्रकाश्य का विस्तार अमूर्त आत्माभिव्यंजना में करता है किंतु सहृदय को उसी स्वयंप्रकाश्य का विस्तार कला के भौतिक तथ्य (कृति) के द्वारा करना पड़ता है। कलाकार तो जीवन से समारंभ करके कलाकृति में परिणति देता है, लेकिन सहृदय पहले तो सार्वभौम जीवन को पृथक् करके कलाकृति से समारंभ करता है और, दूसरे, अपने जीवन को भी पूर्णतः अस्तित्वहीन तथा तटस्थ कर लेता है। इस प्रकार क्रोचे प्रेषणीयता या **संप्रेषण** को बिल्कुल भूल गये हैं जो कला का चरम मूल्य है। प्रेषणीयता को वे उसी प्रकार भूले हैं जिस प्रकार सौंदर्य को। कलाकृति का मूल्यांकन हमेशा धारणाओं, आदर्शों और लौकिक आयामों में होता है न कि असंभव स्वयंप्रकाश्य-तादात्म्य से। इसीलिए कहा गया है

कि क्रोचे का कवि भाषा (=प्रेषणीयता) नहीं बोलता; हद से हद वह मौन स्वगतकथन (=स्वयंप्रकाश्य-अभिव्यंजना) ही कहता है।

अंत में हम **'सृजनात्मक प्रक्रिया'** का पर्यालोचन करेंगे।

शुरू में ही दो तथ्यों पर गौर करना होगा।

(क) स्वयंप्रकाश्य या कलात्मक प्रतिभा अन्य मानवीय व्यापारों की तरह ही **सर्वदा चेतन** होती है (फ्रायड के विपरीत स्थापना), यद्यपि उसमें विचारप्रभ चेतना नहीं होती; और

(ख) सृजनात्मक प्रक्रिया कलाकार के लिए **प्रतिभा** रूप में **उत्पादन** तथा सहृदय के लिए **अभिरुचि** रूप में पुनरुत्पादन है। अतः इसके पहले चक्र में केंद्र कलाकार है और दूसरे में सहृदय। पहले चक्र में सृजन-प्रक्रिया के चार सोपान या स्तर हैं तो दूसरे में तीन। अस्तु।

चूंकि 'ऐस्थेटिक अंतस्संस्कार' सांगोपांग अंतर्मुखी हैं अतः उनका सृजन कवि **केवल** कवि के लिए होता है। **अंतस्संस्कार** (इम्प्रेशन) की **पहली** स्थिति में भौतिक वस्तु या मूर्तवस्तु के उपस्थित होने पर वासनारूपस्थ प्रभाव जम जाता है। किसी विशेष अंतःदीप्ति के (उद्दीपन के) कारण यह प्रभाव या भावना ही **अभिव्यंजना** (एक्सप्रेशन) में बदल जाती है। यहां सौंदर्य प्रकट होता है और यह **दूसरी** स्थिति है। **तीसरी** स्थिति से बाह्य अभिव्यक्ति शुरू होती है। इस दशा में आनुषंगिक आनंद या सुख मिलता है—सफल अभिव्यंजना और आत्म-परितुष्टि के कारण। **चौथी** स्थिति में ऐस्थेटिक तथ्य भौतिक तथ्य में अभिव्यक्त तथा रूपांतरित हो जाता है अर्थात् स्वर, लय रंग, अनुभाव आदि के द्वारा वह कला-कृति में स्थित हो जाता है। यह स्थिति अनूदित होने वाले भौतिक सौंदर्य की है। इस पहले वृत्त का केंद्र कवि है जो अंतर्मुखी अभिव्यंजना को अभिव्यक्त कलाकृति में धारण करता है। अतः यहां चरम मूल्य केवल अभिव्यंजना (=सौंदर्य) है। न सत्य, न शिव, न अर्थ, न उपदेश आदि किसी मूल्य को भी कुछ लेना-देना है। यही नहीं, इस वृत्त में कलाकार का व्यक्तित्व, उसका युग और उसका मनोवैज्ञानिक परिवेश आदि सभी बहिष्कृत हैं। इस प्रकार **कला में तुलना** की धारणा को भी क्रोचे ढहा देते हैं। वे सभी कलाकारों को 'एक निर्विकल्प कलाकार का अमूर्त आइडिया मात्र मानते हुए नजर आते हैं। उनके लिए महाकवि होमर और प्रतीकवादी रिम्बो, करुण रस के कवि भवभूति और घोर श्रृंगार के कवि श्रीहर्ष, वीररस के कवि भूषण और श्रृंगार के बिहारी यदि एकसदृश नहीं तो एकसमान ज़रूर हैं। वे लौकिक और ऐस्थेटिक के बीच किसी भी प्रकार का संयोग नहीं देख पाते। वह हंस जो कवि **वास्तव** में देखता है, कलांकित हंस से **भिन्न** ही नहीं, कलांकित हंस ही नहीं है। सूत्ररूप में कहा जा सकता है कि यदि 'क' कलाकार है, 'भा' उसकी भावना या अंतस्संकार है, 'अ' अभिव्यंजना है, तथा 'कृ' कलाकृति है, तो—

'क' की सृजनात्मक प्रक्रिया होगी : भा → अ → कृ - - - - (१)
सुख

दूसरे चक्र में सहृदय की सृजनात्मक प्रक्रिया है जहां वह अभिरुचि के द्वारा कलाकार की मूल भावना 'भा' से अपनी भावना 'भा'' का तादात्म्य करता है। यहां वह अपने अंत:संस्कारों का उद्दीपन स्वतंत्र रूप में न करके 'कृ' के माध्यम से करने को विवश है। अर्थात् यदि उसकी अभिव्यंजना 'अ'' है तो उसकी सृजन-प्रक्रिया होगी—

भा' — कृ → अ'……(२)

स्पष्ट है कि कलाकार की आत्माभिव्यंजना 'अ' तक पहुंचकर पूर्ण हो जाती है किंतु सहृदय की अभिव्यंजना 'अ' होती है और यदि अ=अ' न हुआ तो वह कलाकृति के माध्यम से अपने अंतस्संस्कार भा' की सफल अभिव्यंजना नहीं कर पाया है। कलाकार के लिए कलाकृति 'कृ' अंतिम अवस्था है तो सहृदय के लिए मध्य। अत: यदि—

कृ=अ, न हुआ (और यह असंभव है क्योंकि क्रोचे के अनुसार पूर्ण एवं सफल अभिव्यंजना तो 'अ' ही है) तो अ'=अ, भी नहीं होगा। कृ=अ, कभी नहीं हो सकता क्योंकि 'अ' एक आंतरिक व्यापार है तथा कृ एक बाह्य सक्रियता। अत: यह जरूरी है कि क्रोचे 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान=अभिव्यंजना' का सूत्र त्याग दें और सौंदर्यानुभव की प्रेषणीयता को स्वीकार करें।

क्रोचे के कलाकृति-ग्रहण के सोपान निम्नलिखित हैं—

पहली अवस्था में भौतिक सौंदर्य या कलाकृति 'कृ' की उपस्थिति;

दूसरी अवस्था में भौतिक तथ्यों (रंग, ध्वनि, स्वर, गति आदि) का प्रत्यक्षीकरण—'भा'', (जिसमें सहृदय की अभिव्यंजना 'अ'' को कलाकार की अभिव्यंजना 'अ' के समान पूर्ण होने का विधान भी है); और

तीसरी अवस्था में अ'=अ होने पर आनुषंगिक सुख-प्राप्ति। क्रोचे सिद्धांत रूप में अभिव्यंजना के साथ-साथ आनुषंगिक सुख या आनंद का पुनरुत्पादन भी कल्पित कर लेते हैं। अस्तु।

इस प्रकार हमने क्रोचे के निम्नलिखित सिद्धांतों या धारणाओं का पर्यालोचन किया—आत्मचैतन्य का दर्शन, द्विपुट या विभिन्न का सिद्धांत, ज्ञान का सिद्धांत, कला-संबंधी धारणा, सौंदर्य-संबंधी धारणा एवं सृजनात्मक प्रक्रिया। हमने यह भी देखा कि क्रोचे आद्योपांत अंतर्विरोधों की सृष्टि करते चले गये हैं। जैसे, वे कला में सौंदर्य के अलावा कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं मानते हैं; कला को दर्शन, नीति, जगत् आदि से नितांत असंबद्ध रखते हैं; कला के स्वरूपों को अस्वीकार करते हैं;

कलाकृति के विषय-रूप विभाजन को नहीं मानते; कला-इतिहास या कला-आलोचना को भी असंभव मानते हैं; कला में अनुकरण अस्वीकार करते हैं; ऐस्थेटिक बोध का खंडन करते हैं; मूल्य-निर्णय की आलोचना करते हैं; शुद्ध काव्य को गलत बताते हैं; भोगवाद का खंडन करते हैं; असौंदर्य की आलोचना करते हैं; मानव-शरीर-सौंदर्यादर्श का खंडन करते हैं; कलाओं के वर्गीकरण को गलत बताते हैं; कला-उद्गम की चर्चा का मखौल उड़ाते हैं आदि-आदि। वे सौंदर्य और प्रेषणीयता दोनों को ही अस्वीकार-सा कर देते हैं। किंतु उन्होंने ऐस्थेटिक भावना का अत्यंत निर्भीकता, तटस्थता और गहराई से जो विवेचन किया है वह कलाकृति और कलामीमांसा संबंधी कई फिजूल की बातों को खत्म कर देता है।

× × ×

अभिव्यंजना को चरम दार्शनिक (रूप देकर) मूल्य मानने वाले क्रोचे के दर्शन की तरह कुछ सौंदर्यबोधशास्त्रियों ने अंतर-अनुभूति (Empathy; जर्मन : Einfuhlung) या अंतरानुभूति या आंतरानुभूति को—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से—कला-व्यापार का चरम मूल्य माना। यूं लगता है कि **अंतरानुभूति का मनोविज्ञान** फेकनर तथा हर्न के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की अपूर्णता और एकांगिकता को दूर करने के लिए पूरकता के तौर पर तैयार हुआ।

प्रो० टिचनर ने अंग्रेज़ी में मूल जर्मन शब्द को यूनानी शब्द-खंड (एम-पेथियेन) के अनुरूप गढ़ा, जिसका शाब्दिक अर्थ अंतर्निष्ठ अनुभूति या संवेदना ('फीलिंग इन्टु') है। इस प्रक्रिया का निरीक्षण तो अरस्तू ने भी अपनी 'रिटॉरिक', पुस्तक, ३२ में 'निर्जीव का संजीवन' कहकर किया था। रस्किन ने ('मार्डन पेंटर्स', भाग ३, खंड २, अध्याय ३, विधि ३१) भी 'पेथेटिक फेलॅसी' के अंतर्गत इसकी झलक पाई थी। लेकिन सौंदर्यात्मक आनंद के मूल में इसे प्रतिष्ठित करने की सिल-सिलेवार पेशकदमी थियोडोर लिप्स नामक जर्मन विद्वान् ने अपनी 'ऐस्थेटिक' (१९०३, १९०६) नामक दो भागों वाली किताब में की। उनके बाद योहान वोल्केल्ट, कार्ल ग्रूस, विक्टर बाख और वेरों ली ने भी इस धारा को विपुल किया।

[यहां आरंभ में ही अंतरानुभूति (इम्पैथी) तथा सहानुभूति (सिम्पैथी) के अंतर को जान लेना ठीक होगा। सहानुभूति में अनुभूति का सहभाव (फीलिंग विद) होता है; जबकि अंतरानुभूति में उसका अंतर्भाव (फीलिंग इन)। सहानुभूति में हमारी अनुभूति बहुधा चेतना में उपस्थित रहती है और विषय के समानांतर चलती है। लेकिन अंतरानुभूति में वह बहुधा उपचेतन में उपस्थित रहती है और हमारा व्यक्तित्व विषय में विलीन हो जाता है।]

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि अंतरानुभूति प्रक्षेपण का वह उप-चेतन कृत्य है जिसके द्वारा किसी बहिर्वस्तु में हम अपनी खुद की उत्तेजनाएं, कर्मेंद्रिय-प्रधान आवेश, संवेदनाएं, मनोदशाएं, संवेग, मनोवृत्तियां और विचार आदि आरोपित करते हैं। इस क्रिया में हमें यह प्रत्यक्षीकरण होता है कि ये गुण हमारे अपने न होकर बहिर्वस्तु के ही हैं और ये उस वस्तु के प्राथमिक गुण न होकर तृतीयक गुण हैं। इसी

वजह से हमें शैलमालाएं ऊंचे चढ़ते दिखती हैं, उषा शर्माती हुई लगती है, गुम्बद फूलते हुए अनुभूत होते हैं, मुरली की ध्वनि करुण लगती है, कोकिला का स्वर प्रसन्न लगता है, आदि-आदि ।

थियोडोर लिप्स

थियोडोर लिप्स ने अपने ग्रंथ 'Aesthetische Einfuhlung' के दूसरे अध्याय के नवें पृष्ठ पर अपने सिद्धांत को एक रूपक द्वारा स्पष्ट करने की कोशिश की है। आत्मा एक वाद्य-यंत्र है जिसके कई तारों में से किसी एक में विशिष्ट उत्तेजना (स्टिमुली) के अनुरूप उसी स्वराघात से अनुझंकृति (रेसोनेंस) हो उठती है । यही अनुझंकृति ही सौंदर्यबोधात्मक सुख या मूल्य का तत्त्व है । अपने ग्रंथ के शेषांश में तो लिप्स ने इसी सूत्र का प्रवर्धन तथा निरूपण मात्र किया है और खास तौर से इसी रूपक की वजह से उनका अंतरानुभूति का सिद्धांत **'आत्मचैतन्यात्मक सिद्धांत'** कहा जाता है ।

हमें तो यूं लगता है कि लिप्स अनिर्वचनीय अनुभवों की अभिव्यंजना की छिपी हुई 'चितिशक्ति' को ही **अंतरानुभूति** की संज्ञा देते हैं । कई ऐसे अनुभव हैं और वे ऐसे कथ्यों और विषयों को पेश कर सकते हैं जिन्हें कई कारणों से मनुष्य का चेतन अभिव्यक्त नहीं कर पाता । अत: उसकी संवेगात्मक दशा प्रदत्त वस्तु में लीन और उसके साथ तल्लीन हो जाती है और बदले में वस्तु स्वयं उस संवेगात्मक दशा में ढल जाती है : न कि वस्तु में संवेगात्मक दशा । यह सारा व्यापार हमारे उपचेतन में ढलता है जो अवचेतन और चेतन के बीच है । अत: वे हमारी चेतना में हमारे शरीर में स्पंदन (मूवमेंट) की संवेदना के रूप में नहीं आ पाते, अपितु हमारे प्रत्यक्षीकरण को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि हमारी संवेगात्मक दशाएं हमारी न रहकर वस्तु की विशेषताएं ही हो जाती हैं । इसीलिए रेखाएं कोमल और पत्थर के खंभे मजबूत प्रतीत होने लगते हैं । उन्होंने लिखा है—"संक्षेप में, अंतरानुभूति की प्रक्रिया में खंभे की वर्तुलता या उसकी रचना-विधि को आकृति नहीं प्रदान की जाती, बल्कि वह ऊर्जा ही है जिसके माध्यम से यह आकृति जन्मी और मैंने उसके साथ यह वैयक्तिक गुण संलग्न कर दिया ।"[1] अत: **रूप (फार्म) में हमारे वैयक्तिक गुणों का योग** ही अंतरानुभूति है । लिप्स इस प्रक्रिया में संवेदना का कोई भी आधार न मानकर रहस्यात्मक मानस को ही सारा महत्त्व देते हैं । फलस्वरूप वे स्पष्टीकरण से भी बरी हो जाते हैं ।

अंतरानुभूति का मनोवैज्ञानिक विवेचन कुछ उलझे हुए सूत्र इकट्ठे कर सकता है । इसमें सब से पहले **प्रत्यक्षीकरण के क्रियात्मक समूह (मोटर सेट) द्वारा उपचेतन 'स्पंदन'** होता है । हम इसे स्पष्ट करते हैं : जैसा कि ज़ाहिर है कि हमारे सभी प्रत्यक्षीकरण किसी वस्तु (आब्जेक्ट) के प्रति हमारी क्रियात्मक मनोवृत्तियों (मोटर

१. लिप्स : 'ऐस्थेटिक्स ऑफ इम्पैथी', भाग १ ।

एटीच्यूड्स) पर आश्रित हैं। किंतु क्योंकि बहुधा (हमेशा नहीं) इसका स्पंदन उपचेतन है, अतः हम सचमुच निरीक्षण या अनुभूति नहीं प्राप्त करते बल्कि 'स्पंदन के बोध' की उपलब्धि करते हैं और हम इस प्रकार के स्पंदनों की चेतना से अवगत ही नहीं हो पाते। इसका मूल कारण हमारे 'क्रियात्मक समूहों' की उपचेतनावस्था है। जब हम मौन होकर 'जुही की कली' पढ़ते हैं तब भी (उपचेतन रूप से) हमारे ओठ कांपते रहते हैं; जब हम किसी को गुस्सा होते देखते हैं, तो हंसना बंद कर गंभीर हो जाते हैं। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का एक 'स्नायु-पैटर्न' (नर्वस-पैटर्न) होता है। हर्बर्ट सिडनी लेंगफील्ड के अनुसार ये विशिष्ट स्नायु-पैटर्न जब विशिष्ट ज्ञानेंद्रिय द्वारा सक्रिय हो उठते हैं तब हम भार, लघुता, रूप, गंध, कोमलता, कठोरता, रंग आदि का प्रत्यक्षीकरण प्राप्त करते हैं। ऐसी अवस्था में अनुकूल मांसपेशियों के समूह मुक्त हो जाते हैं और प्रतिकूल के अवरुद्ध। यदि और अधिक उत्तेजना का समावेश हो जाये तो उपचेतन की दशा का लोप और चेतनावस्था में वास्तविक **गति** (मोशन)—**स्पंदन** (मूवमेंट) के आगे की स्थिति—शुरू हो जाती है। जब वास्तविक 'गति' का दृश्यात्मक प्रत्यक्षीकरण होता है तब 'स्पंदन' की गति अधिक तीव्र होती है। सर्कस में एक तार पर चलने वाले नट का उदाहरण देते हुए कहा है कि डोरिक स्तंभों की उठती हुई प्रतीति में हमारी ऊर्जा का खर्च होता है और विपरीत ऊर्जा द्वारा विरोध। अर्थात् वे ऊंचे उठते हुए इसलिए प्रतीत होते हैं कि हम भी उनके साथ खिचकर स्वयं उठते हैं; सीधे खड़े रहते हैं और अपने शरीर की कुदरती निष्क्रियता का विरोध करते हैं। इस व्यापार के बिना हम स्तंभों से अवगत नहीं हो सकते। इस व्यापार में हम वस्तु-रचना से पूर्व अवगत होते हैं। किंतु कई वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी रचना पूर्व-ज्ञात नहीं होती। ऐसी स्थिति में हम उसकी आकृति पर अपनी सरसरी निगाह दौड़ाकर पूर्व-रचना करके उसका पूर्वानुभव कर लेते हैं। नेत्रों की चंचलता का निरीक्षण इस तथ्य को प्रमाणित कर सकता है। ऐसी अनुभूति के उपरांत हम यह नहीं कहते 'कि हम ऊंचाई का अनुभव कर रहे हैं', बल्कि 'यह वस्तु ऊंची है' (—वेरोन् ली)।

इस विवाद से ज्ञात-अज्ञात वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की उस **'उपचेतन स्पंदन-क्रिया'** का बोध हो जाता है जिसे लिप्स वस्तु की 'प्रकृत (इंट्रिंसिक) प्रक्रिया' कहते हैं। किंतु हमें यह विश्लेषण भी एकांगी लगता है। यदि यह मान भी लें कि संवेदनाओं के भावों का वस्तु में प्रक्षेपण होता है, तो वस्तु के (कलाकृति के) अपने भावों का—जो उसे माध्यम, तकनीक, कलाकार के प्रयोजन के रूप में प्राप्य हैं—क्या होता है? उदाहरणार्थ, वाल्मीकि तो सीता के सहज सौंदर्य को पेश करते हैं लेकिन यदि हम ऐंद्रिक मादकता का प्रक्षेपण करें तो स्थिति अजब हो जायेगी और प्रेषणीयता तथा अभिव्यंजना के जटिल प्रश्न खड़े हो जायेंगे। यही नहीं, घूम-फिरकर हम पुनः क्रोचे के पास ही आ जायेंगे और एक 'विशुद्ध' सामाजिक (जो नितांत असंभव है) की परिकल्पना लाज़िमी हो जायेगी। इसके अलावा कुछ मुद्राओं और रूपों के साथ कुछ विशिष्ट संवेग या मनोवृत्तियां संलग्न हो जाया करती हैं और प्रत्येक व्यक्ति के संवेगों में मात्रा-गुण का भी अंतर हो जाया करता है। एक ही घनश्याम नीरधर से

एक नवकांता वियोगिनी और सुहागशयना मिलनगर्विता को पृथक्-पृथक् उपचेतन अनुभूति होगी। अतः परिवेश और कलाकार के प्रयोजनों के बिना प्रेषणीयता और अनुभूति का ग्रहण—सही ढंग से ग्रहण—अंतरानुभूति को एक जबर्दस्त चुनौती है। काव्य में तो यह समस्या अपेक्षाकृत आसान होती है क्योंकि उसमें भावों का वर्णन रहता है लेकिन अन्य कलाओं में बतंगड़ उठ खड़ा होता है। यह कहा जा सकता है कि हमने अंतरभूति और साहचर्य में गड़बड़ कर दिया है। किंतु यह बात नहीं है। सबसे पहले अंतरानुभूति 'सामान्य' न होकर 'विलक्षण' है। अतः साहचर्य से इसका पूरा निराकरण नहीं हो सकता। वस्तुतः हम किसी बाह्य रूप को देखने के बाद उसे एक विशेष संवेगात्मक स्थिति से नहीं जोड़ते; हम स्थिति को चुनते नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण और अभिव्यक्ति द्वैत न होकर इकाई ही रहती हैं। इस वजह से अंतरानुभूति को साहचर्य की एक किस्म नहीं माना जा सकता। वस्तु ही हमारी संवेगात्मक स्थिति में ढल जाती है। इसके लिए भी लैंगफील्ड ने **क्रियात्मक मनोवृत्तियों** की दो कोटियां मानी हैं—पहली ऐस्थेटिक-विहीन; दूसरी ऐस्थेटिक। पहली में वस्तु **की ओर** अभियोजन होता है, दूसरी में वस्तु **में** अभियोजन होता है। पहली कोटि के अंतर्गत यदि कोई बच्चा तितली को उड़ते हुए देखता है तो उसे पकड़ने दौड़ता है, किंतु दूसरी (सौंदर्यात्मक सुख वाली प्रक्रिया) में वही बच्चा तितली की तरह हाथ फैलाकर स्वयं भागते हुए उसकी गति का उपचेतन-चेतन (उभय) अनुभव करता है; पहली कोटि के अंतर्गत यदि भुवनेश्वर की शिशु खिलाती हुई युवती माता की मूर्ति को कोई दर्शक देखता है, तो उसे छूता है, युवती माता और शिशु के उत्कीर्ण वस्त्राभरणों को पकड़ता है, किंतु दूसरी कोटि के अंतर्गत वह (दर्शक) मां की बांहों के तनाव, कुहनियों के मोड़, स्तनों की पीन मांसलता और बच्चे की सरल उल्लास-तृप्ति आदि की अनुभूति में डूबकर ऐस्थेटिक प्रभाव में आविष्ट हो जाता है। अतः जब हमारे अभ्यंतर में इस प्रकार का स्पंदन होता है तभी हमें सौंदर्यबोधात्मक या ऐस्थेटिक सुख या असुख की उपचेतन अनुभूति होती है जिसे अंतरानुभूति की संज्ञा दी जा सकती है।

कार्ल ग्रूस

कार्ल ग्रूस ने लिप्स के 'आत्मचैतन्य के सिद्धांत' के बजाय और विरोध में **'आंतरिक स्वांग या अनुकृति (इनर मिमिक्री) के सिद्धांत'** का प्रतिपादन किया जो मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुआ है। हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं कि 'क्रियात्मक मनोवृत्तियों' (मोटर एटीच्ड्यूस) की दूसरी कोटि में ही अंतरानुभूति होती है। ज्यों ही हम अपनी संवेदनाओं के प्रति सचेत और सचेष्ट हो जाते हैं अर्थात् ज्यों ही हम 'अपनी संवेदनाओं' के भाव में विभोर हो जाते हैं त्यों ही हम वस्तु का आनंद लेना बंद कर देते हैं क्योंकि उपचेतन के स्तर तिरोहित हो जाते हैं और ऐस्थेटिक मनोवृत्ति शारीरिक प्रक्रियाओं द्वारा खंडित हो जाती है। अतः ज्यों ही हम शारीरिक प्रक्रियाओं पर ध्यान गड़ा देते हैं त्यों ही हम वस्तु के

साथ तादात्म्य, और कालांतर में प्रक्षेपण, नहीं कर पाते। इसीलिए लिप्स के रहस्यवाद का खंडन करते हुए ग्रूस ने अंतरानुभूतिमूलक निवेदन के तीन चरण माने हैं: (क) जब शारीरिक अनुभूतियों आदि का प्रत्यक्षीकरण शरीरकेंद्रित के रूप में न होकर वस्तु में ओतप्रोत होने के रूप में होता है; (ख) जब ये संवेदनाएं वस्तुविमुख होने में काफी क्षीण होती हैं किंतु चेतना पर असर डालने में काफी सशक्त, जिससे हम स्वयं का वस्तु में प्रक्षेपण करते हैं; और (ग) यदि ये तिस पर भी सशक्त हों तो उनका अनुभव होगा और तब प्रक्षेपण की स्थिति लुप्त हो जायेगी। इनमें से पहले और दूसरे चरण का महत्त्व है तथा तीसरे का अस्तित्व ही संदिग्ध है (—दे० लैंगफीड : 'दि ऐस्थेटिक एटीच्यूड')।

इस प्रकार अंतरानुभूति द्वारा भी ऐस्थेटिक आनंद की गहरी किंतु अधूरी छानबीन हुई है। नाटकों में इस व्यापार को सफलतापूर्वक लागू किया गया है। हम भी अभिनेताओं में लीन हो जाते हैं जब वे मूल पात्र के कार्य-व्यापारों में सक्रिय ढंग से लीन रहते हैं। यह अंतरानुभूति की आदर्श अवस्था है। लेकिन जब किसी चरित्र का शीलनिरूपण हमारे अनुभवों या समझ की परिधि के परे या बाहर होता है तब इसका प्रभाव असुखात्मक पड़ता है और हम उसमें लीन नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति में वह या तो जीवन के प्रति सच्चा नहीं लगता या फिर लचर ढंग से चित्रित मालूम होता है।

× × ×

'अनुभव' की विशिष्ट व्याख्या करके उसे **सौंदर्यबोधात्मक अनुभव** के मूल्य के रूप में स्थापित करने वाले अमरीकी सामाजिक दार्शनिक और मानवतावादी जॉन डेवी ने सौंदर्य-तत्त्व में प्रजातंत्रवाद की व्यावहारिकता और अनुभववाद की दार्शनिकता का मेल कराया।

डेवी

डेवी कला को अनुभव—'एक विशिष्ट सौंदर्यात्मक अनुभव' (ए सिग्निफिकेंट एक्सपीरियेंस)—मानते हैं। कला अनुभव का स्वतंत्रताविधायक और उत्कर्षमूलक स्वरूप है। वे अनुभवों में शुभ की **मात्रा** की खोज का प्रजातांत्रिक आदर्श पेश करते हैं; न कि प्लेटो और वाल्टर पेटर की तरह शुभ के **गुण** की आभिजात्य दुर्लभता का। इसीलिए वे अनुभवों को जैविक करिश्मा मानने के साथ-साथ उनमें अंतस्थ वैयक्तिक चरित्र का लोप करके उनकी सार्वभौम वृत्ति की स्थापना की कोशिश करते हैं और, जीवन के (सभी क्षेत्रों के) अनुभवों को कला के अनुभव भी बना देते हैं। अपनी प्रजातांत्रिक आस्थाओं की वजह से पुनश्च वे शुभ और सर्वोत्तम जीवन को प्रकृत्या ही कलात्मक मान लेते हैं। निश्चय ही ऐसे अनुभव संतुष्टिपरक होंगे; और निश्चय ही जनकल्याण-कामी डेवी संतुष्टि को कला-रचना की ही एक किस्म मान लेंगे और निश्चय ही वे रिचार्ड्स तथा वाल्टर पेटर की तरह तुष्टि को (वैयक्तिक

या मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा) सामाजिक ज़मीन दे देंगे। अतः वे ऊर्ध्वबाहु होकर पुकारते हैं—"कला अनुभव है।"

सब से पहले हम उनका अनुभव-विवेचन लें।

अनुभवों के सामान्य पैटर्न की रूपरेखा का निर्धारण यही प्रमुख तथ्य पेश करता है कि यह एक जीवित प्राणी एवं जीव्य जगत के किसी पक्ष के बीच अंतर्क्रिया का फल है। डेवी के मुताबिक यह केवल **कर्मता** (डोइंग) तथा **ग्राह्यभोग** (अंडरगोइंग) की ही ज़ंजीर नहीं है बल्कि आपसी **संबंधों** में उनका समावेष्टन है। नदी में कूदना अनिवार्यतः अनुभव हासिल करना नहीं है; प्रत्युत कार्य और उससे संबंधित परिणाम को प्रत्यक्षीकरण से जोड़ना लाज़मी है। यह संबंध ही स्थिति में अर्थवत्ता भरता है, इसकी पकड़ ही सभी प्रकार की बौद्धिकता का लक्ष्य है और यही संबंध अनुभव है। अतः कर्म और ग्राह्यभोग का संबंध ही अनुभवों का मूल है और इसमें जो भी, जितनी भी बाधाएं आती हैं, अनुभव उतना ही सीमित हो जाता है। बाधाएं, कर्म या भुगतना अथवा ग्राह्यभोग में से किसी एक की अधिकता से भी उपस्थित होती हैं। अतः एक तरह से सक्रिय और अक्रिय कर्म का **समतोलन** (साइनाएस्थेसिस) लाज़मी है। कवि को एक चरण लिखने (=कर्म) के उपरांत उसके प्रभाव के ग्राह्य-भोग का भी अनुभव करना होगा, वर्ना वह अपने कार्य के प्रयोजन या कलाकृति के लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा।

अनुभव की इस सामान्य धारा में ही बौद्धिक अनुभव ('चिंतन के अनुभव'), व्यावहारिक अनुभव और सौंदर्यात्मक या ऐस्थेटिक अनुभव होते हैं। लेकिन **एक** अनुभव विशिष्ट हुआ करता है क्योंकि वह समाप्ति (सेशेसन) न होकर पारंगति (कंज़ूमेशन) होता है। यह **एक** अनुभव सामान्य धारा से पृथक् होने के अलावा अभ्यंतर-संश्लिष्ट भी होता है जिसकी वजह से यह पूर्ण तथा आत्मनिर्भर तथा आत्मवैयक्तिक हो जाता है। ऐसे अनुभवों की परिणति संतुष्टि में होती है क्योंकि एक उपन्यास का लिखा जाना, अजंता का दर्शन, अभिनय, चौगान का खेल आदि स्थिर न होकर सतत होते हैं। ऐसा धाराप्रवाह अनुभव तालयुक्त होता है—सीढ़ियों की तरह, नदी-धारा की तरह या विद्युत्प्रवाह के वृत्त की तरह। यह पूर्ण तो हो सकता है किंतु अचल या समाप्त नहीं। इसमें प्रौढ़ता या परिष्कृति होती है, बद्ध-मूलता नहीं। इन्हीं अर्थों में यह **पूर्ण** तथा **संश्लिष्ट** और **एक** (=विशिष्ट) है। यह अपने में पूर्ण है और उससे भी पृथक् है जो घट चुका है या घटने वाला है। यह लघु और विशाल दोनों हो सकता है। एक प्रकार से यह मध्यस्थ है जिसमें आदि तो शामिल है किंतु अंत नहीं। इसीलिए कलाकृति में भिन्न-भिन्न कार्य-व्यापार, नाना घटनाएं, नाना चरित्र घुल-मिलकर एक इकाई तो हो जाते हैं लेकिन अपने क्रम में अपना व्यक्तिवैचित्र्य भी नहीं खोते हैं। यही इनका '**एक**'-पन है; इकाई या **ऐकता** है। वह तूफान, वह घटना, वह चुंबन, वह पूर्णिमा, वह स्वप्न आदि ऐसे अनुभव हैं जिनमें अनुभवों की एकता तथा सातत्य होने के साथ-साथ अनेकानेक परिवर्तनों समेत सकल व्याप्त एक अकेला गुण होता है। यह संभव है कि इनमें कोई प्रमुख अनुभव

आद्यंत हावी रहे और सारे अनुभव की विशेषता का नियमन करे। अतः ये गतिशील परिवर्तनांक हैं, ह्यूम और लॉक-सम्मत स्वतंत्र या पृथक् भाव नहीं।

व्यावहारिक अनुभवों का दायरा सीमित है क्योंकि कार्य में सक्षम होने पर भी चेतन अनुभव से युक्त न होना संभव है। यहां अवरोधों को चतुर कौशल या 'दक्षता' द्वारा दूर किया जाता है; फिर भी अनुभवों के खजाने में कोई वृद्धि न होने की संभावना बनी रहती है। उद्देश्यहीनता और यंत्रवत् कुशलता के उदाहरण क्लासिकल साहित्य के कई पात्रों में ढूंढे जा सकते हैं। हां, इन दो ध्रुवों के बीच अर्थवत्ता का विस्तार भी ढूंढा जा सकता है—जब एक अनुभव पूरा किया जाता है। यह पूर्णता की चेष्टा ही अनुभवों को सौंदर्यबोधात्मक या ऐस्थेटिक गुणों से अभिषिक्त करती है चाहे वे अनैतिक या अवांछनीय भले ही हों। अर्थात्, सौंदर्यात्मक गुण अनुभवों को—संवेगात्मक रूप से—इकाई तथा पूर्णता में गढ़ देते हैं। डेवी का यह महत्तम सूत्र है। इसके अनुसार अनुभव संवेगात्मक होते हैं तथा सौंदर्यात्मक गुण के निवेश बिना किसी प्रकार का भी अनुभव इकाई नहीं हो सकता। अतः किसी भी कार्य में सौंदर्यात्मक गुण का समावेश हो सकता है और प्रत्येक अनुभव सौंदर्यबोधात्मक हो सकता है। इसीलिए प्रजातांत्रिक की कला में नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी अनुभव सौंदर्यात्मक हो सकते हैं, बशर्ते कि उनमें अनुपात, सामंजस्य और लालित्य हो। शायद इसीलिए यूनानियों ने शुभ आचरण और अनुपात-संयोजन-लालित्य-युक्त आचरण को एकधर्मी (kalon-agathon) माना है। डेवी के अनुसार केवल वे अनुभव ही असौंदर्यात्मक हैं जो एक ओर तो शिथिल क्रम वाले होते हैं और उनकी शुरुआत-खात्मे का पता नहीं है तथा दूसरी ओर समाप्त या ठप्प या अवरुद्ध हो जाते हैं।

अनुभवों की इकाई या एकता के जो भावात्मक संदर्भ उसे सौंदर्यबोधात्मक बना देते हैं उनके बारे में डेवी ने एक अच्छा दृष्टांत पेश किया है। उनका कहना है कि हम हर्ष, शोक, आशा, भय, क्रोध, प्रेम आदि संवेगों के बारे में बड़ी सरलता से सोचने के आदी हो गये हैं। हम समझते हैं कि गोया प्रत्येक एक इकाई है और ढले-ढलाये रूप से रंगमंच में आ धमकता है और कम या अधिक समय तक मौजूद रहता है। हम इन संवेगों के विकास या चरित्रानुशीलन पर गौर करना ज़रूरी नहीं मानते। किंतु ये भी नाट्यधर्मी होते हैं और पात्र या नाटक की तरह परिणत होते हैं। इन्हें भी नाटक की तरह एक प्लाट के विकास, एक देश, एक रंगमंच की अपेक्षा होती है। अतः संवेगों को जड़ वस्तुएं बनाने की बजाय संवेगात्मक बनाना होगा। यदि हम प्रेम को एक शब्द या एक पल में ठूंस दें तो उसका विकास, द्वंद्व, उत्कर्ष कैसे होगा ? लज्जा को प्रेम में, भीति को भय में, अनुकंपा को करुणा में कार्य-व्यापार द्वारा विकसित करना ही होगा और इसके लिए मनुष्य को इन्हें चिंतन तथा कार्य से जोड़ना पड़ेगा। ऐसी दशा में ही अनुभव संवेगात्मक होगा; ऐसी दशा में ही अनुभव का सौंदर्यात्मक चरित्र भी होगा (चाहे वह कोरमकोर सौंदर्यबोधात्मक अनुभव न बन सके) क्योंकि उसमें 'इकाई' या 'एकता' होगी।

पूर्णता को मूल बिंदु मानकर डेवी सौंदर्यात्मक तथा बौद्धिक अनुभव में भी कोई तीक्ष्ण भेद नहीं मानते क्योंकि (उनके अनुसार) पूर्ण होने के लिए सौंदर्यात्मक छाप लगनी चाहिए और सौंदर्यात्मक छाप लगने पर अर्थात् पूर्ण होने पर बौद्धिक अनुभव 'एक' विशिष्ट हो जाता है। बौद्धिक अनुभव एक तूफान में मथे हुए सागर की तरह है जिसमें उत्ताल तरंगों की कतारें उठती हैं, टूटती-बिखरती हैं और पुनः सह-योगिनियों की तरह आगे बढ़ जाती हैं। अतः यदि बौद्धिक अनुभव में 'निष्कर्ष' प्राप्त करना है तो वह संभावना और साकार के क्षणों का होगा। उसमें 'निष्कर्ष' एक आंदोलन का उत्कर्ष-विधायक होगा, न कि स्वतंत्र वस्तु। अतः **'एक'** चिंतन-अनुभव की अपनी सौंदर्यात्मक विशेषता है। यह सौंदर्यात्मक अनुभव से कई मायनों में भिन्न है लेकिन केवल पदार्थ या सामग्री में। ललित कलाओं का पदार्थ गुणों से युक्त होता है; बौद्धिक निष्कर्षों वाले अनुभव अपने खुद के प्रकृत गुणों से विहीन प्रतीक या चिह्न होते हैं जो उन वस्तुओं की लक्षणा कराते हैं जो दूसरे अनुभवों के आयाम में गुणात्मक ढंग से अनुभूत हो सकती हैं। यह अंतर बहुत बड़ा है। इसी एक कारण से ही शुद्ध बौद्धिक कला संगीत की तरह लोकप्रिय नहीं हो पाती।' (—डेवी)।

'कर्मता' और (कर्म का) ग्राह्यभोग या **भुगतान** के दो छोरों को वे कला की ललाटलिपि बना लेते हैं। यही नहीं, वे पूर्णता या इकाई का उपयोग भी अपने अनुभव-पैटर्न के 'जेस्टाल्ट' में करते हैं। उनके कला-दर्शन में ये दोनों सिद्धांत परि-व्याप्त हैं क्योंकि वे संवेगों को केंद्रीय भूमिका प्रदान करते हैं तथा मानते हैं कि वस्तु की विषयवस्तु में भी संवेग ही हैं तथा वस्तु सामाजिक या सहृदय में संवेग ही उद्दीप्त करती है। (जाहिर है कि 'संवेग' से उनका मतलब पूर्वाग्रही संवेग से है)।

वे कला-व्यापार के दो चरण मानते हैं जो पृथक् या भिन्न-भिन्न नहीं हैं। पहला है 'सौंदर्यबोधात्मक' अनुभव, जो प्रत्यक्षीकरण तथा रसास्वादन से संबंधित है और दूसरा 'कलात्मक' अनुभव, जो सृजन से संबंधित है। इस प्रकार कला-अनुभव मिलकर 'सौंदर्यबोधात्मक-कलात्मक अनुभव' होता है। यह **पहली** पूर्णता है। जब अनुभव-प्रक्रिया (सृजनात्मक या ग्रहणात्मक) के दौरान में व्यक्ति होता है तब केवल उसके हाथ या नेत्र या कान ही कला-व्यापार में लीन नहीं होते; वे व्यापक बोध और गत्यात्मकता के एक माध्यम मात्र रहते हैं और उनसे संबद्ध मनुष्य का संपूर्ण अज्ञात-ज्ञात चेतन जगत् और सक्रिय व्यापार आंदोलित हो उठता है। इस प्रकार अनुभव (इंद्रियबोधों से विकसित होकर) संवेगात्मक हो जाता है तथा जो एक या दो ज्ञानेंद्रियां कर्मनिरत होती हैं वे केवल अनुभव-इकाई का प्रधान माध्यम ही हैं। यह **दूसरी** पूर्णता है। इस पूर्णता में एक लक्ष्यसिद्धि या प्रयोजन भी निहित होता है अर्थात् प्रत्येक प्रक्रिया एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। उदाहरणार्थ हमारा चलना तो स्वयंचालित है और पांवों द्वारा है किंतु हमारी समग्र चेतना उसे सार्थक करती है जिसमें कर्मता और भुगतान दोनों जुड़े रहते हैं। जब मूर्त्तिकार किसी प्रतिमा को गढ़ता है तो उसके हाथ और नेत्र ही कर्मरत रहते हैं, किंतु बाह्य सृजन के प्रत्येक चरण में उसके अंतर्सृजन का सौंदर्यात्मक बोध भी जागरूक रहता है और क्रमशः

सृजन-प्रक्रिया के अगले लघुतर चरण का और अगले चरण के लिए एक सर्वेंद्रिय उत्तेजना का काम करता है। यदि ऐसा न हो तो कला-सृजन मशीनी तथा रूप भद्दे हो जायेंगे। अतः कला **कर्मता** और **भोग** या भुगतान की बहिर्गामी-अंतःप्रवेशी शक्ति के रिश्तों को भी एकतान करती है और अनुभव को 'एक'-अनुभव में तब्दील कर देती है। इस प्रकार सृजन के असंख्य चरणों में से बाद का चरण पहले की अपेक्षा 'बोधों' को संकलित, सततप्रवाही तथा अन्योन्याश्रित बनाता है। यह क्रम पारंगति तक चला करता है। कलाकार प्रत्येक अगले चरण में एक नये संदर्शन (विज़न) का प्रत्यक्षीकरण तथा पारंगति करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह केवल नकल करने वाला या यंत्रवत् हो जाता है। यह **तीसरी** पूर्णता है जो कि अगले सृजन-चरण (कर्मता) तथा इंद्रियबोधों के लिए उसके परिणाम (भुगतान) को संलग्न करती है।

इसके बाद पहले हम **'कर्मता'** (डोइंग) को लें। बेनेदेत्तो क्रोचे की तरह डेवी भी कलाव्यापार के अलग-अलग चरण मानते हैं जिनमें से पहला सृजन और दूसरा प्रत्यक्षीकरण है (क्रोचे पहला स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तथा दूसरा बाह्य सृजन मानते हैं जो नितांत पृथक् हैं)। क्रोचे की तरह उनकी भी यह धारणा है कि जब कलाकार अपने उन विचारों को लिपिबद्ध या कलाकृति में पेश करता है जो पहले प्रत्यक्ष और सुव्यवस्थित हो चुके हैं, तब वास्तविक सृजन तो पहले ही किया जा चुका होता है। केवल बाह्य कलाकृति उत्पन्न करना सौंदर्यबोधात्मक दृष्टि से फिज़ूल है, जब तक कि अनुभव पूर्ण न किया जाये। हां, बिना बाह्य आकार के अनुभव अपूर्ण रहता है। (यहां वे क्रोचे की भूल नहीं दुहराते)। आंतर अनुभव बाह्य कलाकृति में रूपायित होकर पूर्णतागामी हो उठता है क्योंकि अत्यधिक प्रत्यक्षीकरण के आवेग को सृजन-प्रक्रिया द्वारा कलाकृति में भी बहना पड़ता है। अतः कर्म की पूर्णता तभी होती है जब वह वैयक्तिक अंतर्सृजन से ज्वार बनकर उठे तथा सार्वजनिक कलाकृति में तिरोहित हो जाये। इसी अधूरी पूर्णता को पूरी पूर्णता करने के प्रमाण संगीतकारों, चित्रकारों, कवियों की कृतियों के दुहरे-तिहरे कई बार के पुनर्लेखन हैं (वास्तुकला जैसी विराट् कला में यह असंभव है)।

इस कर्मता या बाह्य सृजन में केवल परिष्कृति ही नहीं होनी चाहिए क्योंकि मशीनें ज़्यादा परिष्कृत कृतियां उत्पन्न कर सकती हैं। परिष्कृति या कौशल तो दोनों ही चाहिए किंतु मात्र कौशल नहीं। कौशल के साथ विषयवस्तु का विशेष ध्यान या विषयवस्तु के प्रति प्रेमलता (लवेबिलिटी) चाहिए जिस पर कौशल का प्रयोग होता है (हम इसका स्पष्टीकरण अनुभव की तीसरी पूर्णता के अंतर्गत कर चुके हैं)। जो सृजन (कर्म) हो रहा है वह या तो आगे बढ़ रहा है, या दिशाविमुख हो रहा है अथवा अवरुद्ध। ये तीन स्थितियां ही संभव हैं। अतएव अनुभव का जितना समीचीन नियंत्रण होगा वे उतने ही सौंदर्यबोधात्मक प्रकृति के हो जायेंगे। अतः वस्तु या विषयवस्तु-निर्माण में कलाकार अनेकानेक प्रत्यक्षीकरणों को इस प्रकार क्रमबद्ध करता है कि निर्माण-कर्म में नियमिति अर्थात् वस्तु या विषय में लालित्य और लावण्य आ जाता है। इसी अवस्था में आगामी चरण के प्रति जिज्ञासु 'संभावना-भाव' की सृष्टि

होती है। यही संभावना-भाव अगली कार्यवाही तथा इंद्रियबोधों पर इसके परिणाम को जोड़ने वाली गांठ है। अतः सृजन में कलाकार 'एक' अनुभव का निर्माण करता है। जो प्रत्यक्षीकरणों के साथ सांगोपांग है। इस सांगोपांगता को सृजन के विकास के निरंतर परिवर्तन के साथ जोड़े रखना भी कर्मता का एक धर्म है।

कर्मता की ऊर्जा तथा भोग या भुगतान की तीक्ष्णता एवं तीव्रता के बीच भी समतोलन लाना पड़ता है क्योंकि प्रत्येक सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण में 'तीव्रराग' (पैशन) के तत्त्व शामिल हुआ करते हैं। रागों में अनुपात होना चाहिए क्योंकि बेहद रागाच्छन्न होने की दशाओं, जैसे भयंकर क्रोध, कामुक प्रेम, हिंस्र वीरता आदि, में हमारे अनुभव लौकिक या 'अ-सौंदर्यबोधात्मक' हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अनुभव पूर्ण नहीं हो पाते। इन्हीं की सहवर्ती संतुष्टि है। जब तक कलाकार को संतुष्टि नहीं हो जाती तब तक वह कृति का परिवर्तन-संशोधन करता रहता है। संतुष्टि का कोई मानदंड तो नहीं है, लेकिन यह तीव्र चेतना और विशेष संवेदना की देन ज़रूर है। सारांश यह है कि ग्राहक प्रत्यक्षीकरणों से ही सौंदर्यबोधात्मकता का विकास होता है और कलात्मक सृजन के अनुभवों में पहले इसका समावेश होता है। अतः सच्चे अर्थों में कलात्मक होने के लिए कलाकृति का सौंदर्याबोधात्मक होना अनिवार्य है।

'ग्राह्यभोग' (अंडरगोइंग) पक्ष को डेवी प्रधानतया सर्जक की अपेक्षा भोक्ता का वह अनुभव मानते हैं जो आशंसात्मक, रसप्रदायक तथा प्रत्यक्षीकरण-गृहीत हो। उनके अनुसार यह सौंदर्यबोधात्मक अनुभव है(यद्यपि सामाजिक या भोक्ता या सहृदय भी दूसरे ढंग से सृजन करता है।) इसकी ग्राह्यता (रिसेप्टिविटी) निष्क्रियता नहीं है बल्कि समोत्तोलनप्रभूत प्रक्रिया है जो प्रेषणीयता के माध्यम से एक लक्ष्यसिद्धि करती है। ग्राहक या भोक्ता को प्रस्तुत कलाकृति मिल जाती है। अतः उसे मूल सृजन की पीड़ा की आरंभिक अवस्था का बोध नहीं होता। किंतु उसे अपने निजी अनुभव की रचना करनी पड़ेगी जो कलाकार के मूल सृजन के समान ही हो। अतः बिना पुनर्सृजन के वस्तु को कलाकृति के रूप में आसीन नहीं किया जा सकता। यहां एक जटिलता है। कलाकार अपनी अभिरुचियों के अनुसार चुनता, सरल करता, संक्षिप्त करता और स्पष्ट करता है। ग्राहक को भी यही करना चाहिए किंतु यहां उसकी अभिरुचियां भी मूल नियामक हो जाती हैं। अतः कलाकार के सृजन और ग्राहक के सृजन (पुनर्सृजन) में तादात्म्य होना चाहिए। चूंकि कलाकार का सृजन पहले होता है इसलिए ग्राहक को समर्पण करना ही पड़ता है यद्यपि दोनों ही—'पूर्ण अनुभूत' से सार या सारांश निकालते हैं अपनी-अपनी (देशकालाश्रित) अभिरुचियों के मुताबिक।

इस प्रकार डेवी संश्लिष्ट (पूर्ण इकाई वाले) 'अनुभव'—'एक' अनुभव—को सौंदर्यबोधात्मक 'गुण' प्रदान करते हैं। इस अनुभव को संवेगात्मक चरण—ऐस्थेटिक एवं 'आर्टिस्टिक'—एकजुट किये रहते हैं।

× × ×

चार्ल्स डार्विन (१८०६-१८८२) तथा उनके विकासवादी आंदोलन के अन्य मनीषियों यथा हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१६०३), ग्रांट एलेन, कार्ल ग्रूस, कोनार्ड लांज आदि ने सौंदर्य का एक बिल्कुल दूसरे दृष्टिकोण से अनुसंधान किया है।

डार्विन

डार्विन के सौंदर्यबोध को प्लेखाकोव ने 'जीवशास्त्रीय भौतिकवाद' कहा है। डार्विन ने सौंदर्य की प्रकृति या सौंदर्य-बोध के विषय में विवेचन न करके सौंदर्योद्गम की छानबीन करते हुए सिद्ध किया है कि पशु-पक्षियों के जीवन में सौंदर्य का बोध एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अनेक प्रमाणों की बुनियाद पर उन्होंने **सौंदर्योद्गम की जीवशास्त्रीय व्याख्या** पेश की है।

उन्होंने (अपने 'दि डिसेन्ट ऑफ मैन एंड सिलेक्शन इन रिलेशन टु सेक्स' नामक ग्रंथ में) कहा है : "सौंदर्यबोध विशेषतया मनुष्य की ही क्षमता घोषित किया जाता है। लेकिन जब हम नर-पक्षियों को जानबूझकर अपने सुहावने रंगों और शिखाचूड़ों को मादा-पक्षियों के सामने प्रदर्शित करते हुए तथा इस प्रकार की सज्जा से वंचित पक्षियों को इस (कार्य) से विहीन पाते हैं तो यह संदेह करना असंभव हो जाता है कि मादाएं अपने नरों के सौंदर्य की प्रशंसा करती हैं।...अगर मादा-पक्षी अपने नर-साथियों के सुंदर रंगों, अलंकारों और कूजनों की प्रशंसा करने में अक्षम होते, तो विहंगों द्वारा विहंगिनियों के सामने अपने सम्मोहन के प्रदर्शन की सारी मेहनत और आकुलता बेकार होती; और यह स्वीकार करना भी नामुमकिन है।"—इस क्रांत-द्रष्टा उद्धरण से प्रकट होता है कि (अ) मादा-पक्षी अपने नर-साथियों के सौंदर्य की प्रशंसा करते हैं अर्थात् नीची श्रृंखला के पशु-पक्षी भी मनुष्य की तरह ही सौंदर्यात्मक आनंद के योग्य होते हैं और कभी-कभी हमारी सौंदर्यात्मक रुचियां इनसे मेल भी खाती हैं; (ब) पशु-पक्षियों के नैसर्गिक यौन रंगों तथा मानव-शरीर के कृत्रिम आभूषणों के बीच समानांतरता (समानता नहीं) है; और (स) मनुष्य एवं पशुओं में सौंदर्यबोध का उद्गम एक-सा है। इस प्रकार डार्विन मनोवैज्ञानिक चित्तसंज्ञाओं से विमुख होकर जननशास्त्रीय आदिमतम संस्कारों की ओर उन्मुख होते हैं। गिलबर्ट और कुह्न तो इसे हम्बोल्ट के सिद्धांत की परोक्ष पुष्टि मानते हैं, जिसमें वह घोषणा करते हैं कि "प्रकृति ने मनुष्य को जो भी चारित्र्य प्रदान किया है वह उसकी प्रशंसा और बहुधा अतिरंजना करता है।" साक्ष्य है कि छोटी आंखें मछली की तरह, भौंहें धनुष की तरह और ग्रीवा हंसग्रीवा की तरह कल्पित करके मनुष्य ने यही किया है।

यह सिद्धांत सौंदर्योद्गम का एक जीवशास्त्रीय तथा जननशास्त्रीय आदिम स्रोत हो सकता है, किंतु शोभा, शोभास्वादन, शोभा-परिवर्तन आदि की व्याख्या यह नहीं कर सकता। इससे अभिरुचियों के उद्गम की व्याख्या कतई नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। यही नहीं, सौंदर्य तथा अभिरुचि के 'ऐतिहासिक' उद्-गम की व्याख्या भी यह नहीं कर सकता। यही नहीं, भिन्न-भिन्न मानव-जाति समूहों

की सौंदर्य-संबंधी भिन्न-भिन्न धारणाओं की व्याख्या भी यह जीवशास्त्रीय भौतिकवाद नहीं कर सकता क्योंकि उनका संबंध 'जटिल भावों और विचार-शृंखलाओं' अर्थात् चित्त-संज्ञा से होता है। इस प्रकार डार्विन **सौंदर्योद्गम** का एक क्रांतिकारी सूत्र तो बता देते हैं, लेकिन सौंदर्यबोध या अभिरुचि के **विकास** पर कुछ खास नहीं कह पाते। इसी बिंदु पर हम जीवशास्त्र से समाजशास्त्र की ओर मुड़ जाते हैं, क्योंकि **सामाजिक** (जैविक नहीं) मनुष्य में सौंदर्योत्तेजना का संबंध अनेकानेक जटिल भावों-विचारों से होता है (यद्यपि सौंदर्य-भावना कमोबेश तौर पर मनुष्यों और पशुओं का जीव-शास्त्रीय स्तर पर ऐक्य स्थापित करती है)। अतः जहां डार्विन के सिद्धांत का अंतिम पड़ाव है वहां से सौंदर्यचिंतन के समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की पहलकदमी है। प्लेखानोव की यह टिप्पणी बेहद युक्तियुक्त है : "मनुष्य का **स्वभाव** उसमें सौंदर्यात्मक अभिरुचियों और धारणाओं का अभिधान **संभव** बनाता है, किंतु **वातावरणपरक दशाएं** ही संभावनाओं से यथार्थ के रूपांतर के लिए उत्तरदायी हैं। ये दशाएं ही व्याख्या करती हैं कि क्यों सामाजिक मनुष्य (या कोई विशेष समाज, या जनगण या वर्ग) अपनी पृथक् सौंदर्यबोधात्मक अभिरुचियां और धारणाएं रखते हैं।"[१]

हर्बर्ट स्पेंसर

हर्बर्ट स्पेंसर ने डार्विन की इन खामियों को दूर करने की कोशिश में अपने 'खेल-सिद्धांत' का विकास किया। उनके अनुसार मनुष्य की सभी शारीरिक-मानसिक शक्तियां जैविक लक्ष्यपूर्ति में निरत हैं; जैसे, व्यक्ति की सुरक्षा या मानव-जाति का नैरंतर्य। अथपि आवश्यकता के इस दायरे से केवल दो शक्तियां मुक्त हैं—कला की, तथा खेल की। परोक्ष रूप से ये अन्य लाभ भी दे सकती हैं (और देती हैं) लेकिन प्रत्यक्ष रूप से ये जीवन का विश्राम तथा विलास हैं। तो स्पेंसर कला को निरुद्देश्यता तथा समाजविमुखता की ओर ले चलते हैं। वे 'खेल' का व्यापक अर्थ शक्ति का उपयोगिताविहीन उपयोग लगाते हैं। इसके बाद भी 'खेल' और शिशुत्वधर्मी खेल को भी कला के क्षेत्र में ढाल नहीं पाते। अतः उनके अनुयायी ग्रांट एलेन ने संशोधन करते हुए कहा कि 'सौंदर्यबोधात्मकतः संदर' वह है जो कम-से-कम अपव्यय द्वारा या यंत्रणा से अधिक-से-अधिक उत्तेजना प्रदान करे। लगता है कि स्पेंसर शिलर से प्रभावित हैं और एलेन गोएथे से।

अन्य विकासवादियों यथा कार्ल ग्रूस एवं कोनार्ड लांज ने भी जीवशास्त्रीय सिद्धांत का शरीरशास्त्रीय सिद्धांत में तथा शरीरशास्त्रीय का कला के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में प्रवर्तन करने की ओर कदम उठाये। बच्चों के खेलों का सादृश्य उपस्थित करके 'आत्मप्रवंचनात्मक कलाबोध' की छानबीन की गयी। खेल की दो कोटियां होती

१. प्लेखानोव : 'आर्ट एंड सोशल लाइफ', भारतीय संस्करण, सन् '५३, पृ० ३१; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

हैं—भ्रम (इल्यूजन) और अभ्रम (नान-इल्यूज़न); और कलात्मक व्यापार भ्रम-खेल की तरह होता है जो अधिक परिष्कृत, विकसित और प्रौढ़ों की आवश्यकताओं के मुताबिक रूपांतरित है। खेल और कला-व्यापार दोनों में ही आत्मप्रवंचना और 'विश्वास दिलाने' (मेक-बिलीव) का ज्ञात और चेतन-भाव होता है। खेलों में चोर-परियों का खेल, टेसू की बारात, गुड्डे-गुड़ियों की शादी, कागज़ की नावों के बेड़े आदि के बारे में पता रहता है कि वे वास्तविक नहीं हैं, लेकिन खिलाड़ी चेतनावस्था में भी उन्हें वास्तविक मान लेते हैं। इसी प्रकार सभी कलात्मक व्यापार चेतन आत्मप्रवंचना तथा विश्वास 'दिलाने वाले भाव' की परिष्कृत श्रेणी पर आश्रित हैं।

सेमुएल एलेक्ज़ेंडर

सौंदर्य के जीवशास्त्रीय (बॉयलाजिकल) संदर्भ में सेमुएल एलेक्ज़ेंडर के अन्य मूल्य-सिद्धांतों में से 'कलासर्जना में अतिजीवनार्ह (सर्वाइवल) मूल्य' की धारणा की चर्चा प्रासंगिक होगी। प्रत्येक जीवशास्त्रीय उत्तेजना (इम्पल्स) की कोई एक प्रेरकता (मोटिवेशन) हुआ करती है। अगर कोई कायिकी (एक्टिविटी) जीवशास्त्रीय अति-जीवनार्ह मूल्य से विहीन है तो उसमें अन्य प्रकार का कोई समाजगत मूल्य होना ही चाहिए। इसके द्वारा ही कला का समाजशास्त्रीय तथा मानवशास्त्रीय पहलू भी मज़बूत होगा। एलेक्ज़ेंडर की स्थापना है कि कलात्मक व्यापार का उद्‌भव निर्माण (बिल्डिंग) या रचना (कांस्ट्रक्शन) की मूलप्रवृत्ति से होता है। इस प्रकार वे अपनी इस स्थापना को मेकडुगॉल के मनोविज्ञान से जोड़ देते हैं। उनका विश्वास है कि कलात्मक व्यापार के लिए जैसी उत्तेजना की जरूरत होती है, वह निम्नस्तरीय पशु-पक्षियों में भी मिलती है और काफी समान तथा समानांतर भी होती है। डार्विन ने सौंदर्यबोध की समानांतरता खोजी है और एलेक्ज़ेंडर ने निर्माण या रचना की मूलप्रवृत्ति की समानता। मधुमक्खियां अपने छत्ते बनाती हैं, बया पक्षी अपने घोंसले बड़ी बारीकी से बुनता है, रीछ अपनी मांदें बनाते हैं। मनुष्य भी इसी तरह कला-निर्माण करता है। वह किसी बोधलब्ध पदार्थ के उल्लास से निर्माण के लिए उत्तेजना प्राप्त करता है। किंतु उसके निर्माण में शुभ परिणति (मूल्य) भी जुड़ जाती है और इस शुभ को वह अतिजीवनार्ह मूल्य बना देता है। उसके निर्माण में पशु-पक्षियों की निर्माण की मूल-प्रवृत्ति के साथ रचना-कौशल का दूसरा चरण भी मिलता है। तदुपरांत उसका शुभ बोध ज्यों-ज्यों अन्य भौतिक साधनों से पूरा होता जाता है त्यों-त्यों वह रचना-कौशल से ध्यानयोग (कांटेम्प्लेशन) की ओर भी बढ़ता है अर्थात् निर्मित या रचित सौंदर्य को केवल ध्यानयोग के लिए प्रयुक्त करता है। इस प्रकार कलात्मक सर्जना की पहली उत्तेजना या आवेश जैविक मूलप्रवृत्ति है; दूसरी सुनियोजित मानवीय कौशल या उपयोगिता या शुभ है तथा तीसरी ध्यानयोग या सौंदर्यास्वादन का उल्लास है। हम यह मानते हैं कि निर्माणात्मक मूलप्रवृत्ति भी एक प्रेरकता है लेकिन अन्य प्रेरकताएं भी हैं जिनकी ओर एलेक्ज़ेंडर उन्मुख नहीं हैं। एलेक्ज़ेंडर कला की सर्जना-प्रक्रिया को

जीवशास्त्र के एकांगी फार्मूले में जकड़ कर कला-प्रेरकताओं की छानबीन नहीं कर पाये।

अर्नेस्ट कैसीरर

इन धाराओं से अलग अर्नेस्ट कैसीरर (१८७४-१९४५ ई०) ने 'प्रतीकात्मक रूप के सिद्धांत' की नींव डाली। उन्होंने 'चिह्नों' (साइन) तथा 'प्रतीकों' के विज्ञान की मीमांसा की बहुविध नींव डाली और 'सौंदर्यात्मक बोधकता' के स्थान पर 'वैज्ञानिक गंभीरता' को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सिद्ध किया कि मानव 'कलात्मक प्रतीकों' में अपनी मनो-ऊर्जा तथा आदतों की अभिव्यक्ति करता है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने कहा कि तत्कालीन कला, विज्ञान, समाजशास्त्र, जीवशास्त्र, शरीरशास्त्र, मनोदेहशास्त्र के ज्ञान का उपयोग भी अनिवार्य है। इस प्रकार कैसीरर ने कला की परिधि दर्शन, धर्म, नीति, मनोविज्ञान के आगे आधुनिक विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों तक विस्तृत कर डाली।

ऐतिहासिक दृष्टि से कला-व्याख्याएं दो तरह से की जाती रही हैं—(१) अनुकरण सिद्धांत, जिसके अनुसार कला यथार्थ के सार्वभौम तत्त्वों (मानव अनुभव समेत) तथा प्रकृति में सौंदर्य का अनुकरण है (इसका प्रभाव लगभग दो हज़ार सालों तक रहा); और (२) रोमांटिक सिद्धांत, जिसके अनुसार कला मूलतः कल्पना है। कैसीरर ने कला को समग्र मानवीय ज्ञान-विज्ञान से जोड़ा और फलस्वरूप उसके सामाजिक तथा प्रषणीय चरित्र को सब से ज़बर्दस्त पाया। इसलिए उन्होंने कला को मूलतः **एक भाषा** घोषित किया। इन स्थापनाओं में उन्हें हर्डर से बहुत ताकत मिली। हर्डर लेसिंग की कोटि के सौंदर्यचिंतक थे जिन्होंने सन् १७६४ ई० में लेसिंग-कृत काव्य (काल) तथा चित्र (देश) के विभाजन के स्थान पर नेत्रों की कला (चित्रकला), कानों की कला (संगीत), स्पर्श की कला (शिल्प) तथा आत्मा की कला (काव्य) का भेद किया। काव्य को उन्होंने कर्म के स्थान पर ऊर्जा माना—आदिम मिथकों से प्रसूत। इस ऊर्जा के हेतु उन्होंने काव्य को जाति, भूगोल-इतिहास, वाक्, प्रतीकात्मक शक्तियों से भी संबंधित किया।

कैसीरर ने (काव्य-)भाषा की पौराणिकाख्यान उपलब्धि से इन्कार कर दिया। उन्होंने **भाषा तथा मिथकीय आख्यान** दोनों की ही एक जड़ स्वीकार की—'प्रतीकीकरण की उत्तेजना या आवेश'। हर्डर के समान उन्होंने भी कला के साथ वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, कलाशास्त्रीय तथा धार्मिक, सामाजिक तत्त्वों का अंतर्बंध किया। अतएव 'सुंदर मूलतः एक प्रतीक है' नामक अपने भरतवाक्य में उन्होंने अपना सिद्धांत सूत्रबद्ध कर दिया।

यदि हम चिह्न और प्रतीक का अंतर करें तो पहला पारदर्शी तथा दूसरा अदर्शी सिद्ध होता है। चिह्न जिस वस्तु का विधान करता है उसी की अभिव्यंजना भी करता है; प्रतीक किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) वस्तु का विधान अपने साहचर्य के कारण करता है। चिह्न इंगित या कोई मुद्रा होता है जो दर्शक को

सूचना देता है अर्थात् किसी चित्र में अंकित बगुले अभिधा के स्तर पर चिह्न हैं किंतु यदि वे किन्हीं बगुलाभगत आदमियों का प्रतिविधान करें तो प्रतीक हैं। गणित के अंक, अक्षर, आदि चिह्न हैं। चिह्न-संकेत (साइन सिग्नल्स) चिह्नों की ही एक विशेष श्रेणी है जो किसी संदेश का वहन करके सूचना देते हैं। सड़कों के चौराहों पर लगी रोशनियां, चिह्न-संकेतादि इसके उदाहरण हैं। इन्हें मिथ्या प्रतीक कहा जा सकता है क्योंकि ये संकेत स्पष्ट करने के बाद स्वयं का लोप कर देते हैं। सारांश यह है कि चिह्न प्रतिविधान की अधिकता से प्रतीक हो जाते हैं तथा प्रतीक प्रतिविधायिनी शक्ति खोकर चिह्नों में गिर जाते हैं। अत: चिह्न, चिह्न-संकेत, प्रतीक, रूपक आदि प्रतीकीकरण की ही श्रेणियां हैं।

क्रमश: प्रतीकार्थ में तीन के बीच सहसंबंध होता है—(क) अभिप्रेय या अप्रस्तुत (रेफेरेंड), (ख) स्नायु-मंडल में सहचयन (मैचिंग इन न्यूरल नेटवर्क); तथा (ग) प्रतीक। किंतु श्रोता या भोक्ता के लिए यह क्रम क्रमश: प्रतीक, स्नायुमंडल में सहचयन एवं अभिप्रेय का हो जाता है। मनुष्य प्रतीक-निर्माण करने वाला प्राणी है। अपनी आवश्यकताओं और प्रयोजनों द्वारा वह ज्ञात-अज्ञात ढंग से प्रतीक गढ़ता रहता है जिससे प्रतीक में 'संचित अर्थों' का अभिधान हो जाता है। इसीलिए एक अभिप्रेय दूसरे का या अभिप्रेयों की एक कतार का प्रति-प्रस्तुतीकरण कर सकता है। स्नायुमंडल इनके बीच सहचयन करके विशिष्ट अभिप्रेय और प्रतीक को संलग्न कर देता है अर्थात् सहचयन 'तादात्म्यीकरण' का प्रेरक है। किंतु यह सब होने के उपरांत भी अभिप्रेय और प्रतीक में **सीधा** संबंध नहीं होता है। यह वक्रपंथी भूलभूलैयां-सा है जिसमें मनुष्य वर्तमान, अतीत और भविष्य में संचित 'दूरोन्मुख बिंबों' की खोज तथा रचना करता है; जैसे आकाश में इंद्रधनुष निकलने का संकेत है कि कहीं दूर वर्षा हो रही है; खंजनों के दिखने से वर्षा के जाने और शरद् के आने की सूचना संचित हुई है। अत: संचित अर्थों और दूरोन्मुख बिंबों के मध्य आगे-पीछे चलने वाले चिह्न ही प्रतीक हैं। फलस्वरूप ये अतीत और भविष्य की ओर भी इशारा करके कालातीत हो जाते हैं, तथा दूरगामी भी। प्रतीक केवल बौद्धिक ही नहीं, भावात्मक भी होते हैं जहां मनुष्य के मनोदैहिक तथा बाह्य जगत् (सहचयन, प्रतीक) के बीच अंतर्विनिमय हुआ करता है और प्रतीक इस विनिमय के वाहन कहे जा सकते हैं जो मनुष्य तथा जगत के बीच मध्यस्थ भी हैं और दोनों (मनुष्य तथा जगत) के बीच आगे-पीछे (भूत-वर्तमान-भविष्य में) चलने वाले हरकारे भी। यही प्रतीकों की द्विध्रुवता है। मध्यस्थ होने की वजह से ये अर्थों का संचय करके व्यापकता की तथा हरकारे होने की वजह से दूरोन्मुख बिंबों का धारण करके गहराई की निष्पत्ति करते हैं। व्यापकता विषयवस्तु (अभिप्रेय) की विविधता तथा प्रचुरता का समावेश करती है और गहराई अर्थों का केंद्रीकरण इस तरह करती है कि एक ही प्रतीक अनेक अर्थों को ध्वनित करे। 'व्याख्यात्मक' (इंटरप्रिटेटिव) संधान ही प्रतीक की द्विध्रुवता को साफ कर पाता है। इन्हीं आधारों पर कैसीरर ने प्रतीक को यथार्थ का एक पहलू नहीं, यथार्थ ही माना है, यद्यपि यह उनकी अतिशयता है।

द्विध्रुवता के आधार पर वे सुंदर (विशेषण : गुण) को मूलतः एक प्रतीक मानते हैं। सुंदर छंट कर आभ्यंतर हो जाता है क्योंकि यह इकहरा तथा दुहरा, दोनों ही है। मनुष्य और जगत के बीच मध्यस्थ भी, और दोनों को मिलाने वाला भी। इस विभक्ति में एक ओर तो ऐंद्रियक से लगाव तथा दूसरी ओर ऐंद्रियक से ऊंची उठान के कारण हमारे चेतनालोक में तनाव कायम होता है। कैसीरर के लिए गोएथे-कृत 'पेंडोरा' इसका एक उत्तम उदाहरण है जो सतह पर तो ऐंद्रियक है, लेकिन अर्थ की पर्तों में वह मनुष्य के आदिम शारीरिक कौशल तथा विज्ञान के आलोक के संबंधों का विवेचन करती हुई यह परिलक्षित करती है कि समाजोन्मुख विज्ञान कितना अपूर्ण तथा मनुष्य कितना सीमित है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कलात्मक प्रतीकों में मानव अपनी मनो-ऊर्जा तथा आदतों की अभिव्यक्ति करता है। इससे कला एक भाषा (शाब्दिक अर्थ में नहीं) हो जाती है और कला की भाषा में सदैव संवेगात्मक तनाव की स्थिति रहती है। जब यह भाषा विज्ञान की भाषा में परिणत होती है तब अपना संवेगात्मक तनाव खो देती है। अतएव उनके 'कला के प्रतीकात्मक रूप' के सिद्धांत का भरतवाक्य है—'सुंदर मूलतः एक प्रतीक है।' कैसीरर ने डार्विनवादियों तथा स्पेंसरवादियों के सौंदर्योद्गम की एकांगिता दूर करके, नैसर्गिक सौंदर्य के ध्यानयोग में, मनुष्य के आनंद का भी समाहार कर लिया।

उनका प्रतीकात्मक रूप वाला सिद्धांत ही व्यापक 'वारबर्ग संस्थान' तथा आंदोलन का प्रतिष्ठान बना। 'स्टडीज़' के तेईस जर्मन खंडों, चौदह अंग्रेजी खंडों; 'लेक्चर्स' के नौ खंडों तथा 'जर्नल ऑफ वारबर्ग इंस्टीच्यूट (१९३७-)' के अंकों में प्रतीकों के अर्थों का मंथन हुआ। वारबर्ग-मनीषी अपने को रिनैसां-अभिप्रायों में 'मानवतावादी' कहते हैं जिन्होंने कलात्मक प्रतीकों को समझने में उपलब्ध सभी मानव ज्ञान—धर्म, समाजशास्त्र, विज्ञान, कला, जीवशास्त्र, नृवंशशास्त्र आदि—का सयौक्तिक इस्तेमाल किया।

ज़ांक मारीश्यें

'वारबर्ग-जर्नल' में पहला लेख नव्य-थॉमिस्ट ज़ांक मारीश्यें ने 'चिह्न तथा प्रतीक' शीर्षक से लिखा जिसमें उन्होंने ऐरिक गिल के साथ मिलकर एक सौंदर्य-सिद्धांत पेश किया जिसमें कांटवादी कैसीरर की तरह आदर्श की ओर प्रयाण तथा विवेक-अविवेक का अजब गड्डमड्ड है। वैसे मारीश्यें ने 'सृजनात्मक स्वयंप्रकाश्य' का एक अपना मत भी पेश किया है लेकिन इस प्रकरण में हम उनकी प्रतीक-धारणाओं का ही हवाला देंगे। संत थामस एक्विनास के अनुयायी होने के नाते वे यह मानते हैं कि सृजन-प्रक्रिया का आधार फ्रायडीय अवचेतन न होकर देवता की शक्ति है जो कलाकार की आत्मा की निशा को अंकुरित तथा आलोकित कर देती है। इस शक्ति-धारण की चिंतना आंतरिक प्रशांति है जिसकी अभिव्यक्ति विश्व की वस्तुओं और विशेषकर प्रतीकों के संसार द्वारा होती है। इस प्रकार कलाकार भी आदि सृष्टिकर्त्ता का एक नन्हा प्रतिरूप है और उसकी सृजन-प्रक्रिया भी इसी तरह होती है क्योंकि

वह भी कल्पना-प्रसूत (स्पेकुलेटिव) कलात्मक एवं काव्यात्मक चिह्नों में तथा उनके द्वारा—जो उसे दैवी सृजनात्मक स्वयंप्रकाश्य ज्ञान प्रदान करता है—यथार्थ के परे को भी प्रकाशित करता है। इस आधार पर वे कलात्मक-काव्यात्मक प्रतीकों के चार विशेषण गिनाते हैं—(१) कल्पना-प्रसूत, क्योंकि वे अपने से परे के यथार्थ का अभिधान करते हैं; (२) व्यावहारिक, क्योंकि उनमें एक व्यवस्था तथा अपील होती है; (३) ऐंद्रजालिक, क्योंकि वे सम्मोहन करते हैं; और (४) प्रतीप, क्योंकि वे कलाकार की आत्मा तथा सामाजिक दशा का उद्घाटन करते हैं (दे० गिलबर्ट और कुह्न: 'हिस्ट्री', पृ० ५६१)।

चित्रकार एर्विन पानोफस्की ने जर्नल में 'पियरो डि कॉसिमो की चित्रावली में मनुष्य का आरंभिक इतिहास' शीर्षक दूसरा लेख लिखा। कुह्न एवं गिलबर्ट ने इस लेख का सारांश प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि पानोफस्की चित्र को चार सतहों में बांटते हैं तथा सब से गहरी चौथी सतह में चित्र के प्रतीकात्मक धर्म का तादात्म्य करते हैं। एक के बाद एक गहराती हुई चार पर्त्तों की विशेषताएं यों हैं—(क) पहली पर्त्त में चित्र चीन्हने-योग्य वस्तुओं एवं घटनाओं को पेश करता है; (ख) दूसरी पर्त्त में विशिष्ट युग में विशिष्ट रीति-परंपरा के संदर्भ में चित्रित शैली का अन्वेषण करते हैं; (ग) तीसरी पर्त्त में प्रारूप (टाइप) या अन्यापदेशिक छवियां (एलिगारिकलफिगर्स) जैसे रति, विष्णु, लज्जा, श्रद्धा, इड़ा आदि अभिप्रेत हैं; तथा (घ) चौथी पर्त्त में प्रकृत (इंट्रिंसिक) एवं दार्शनिक महत्ता है जहां समग्र कालचारित्र्य साक्ष्य देता है। इस चरण पर पहुंचने के लिए या पहुंचे हुए व्यक्ति को निष्णात ज्ञाता, विद्वान, मानवतावादी, सभ्यता एवं संस्कृति का पंडित होना चाहिए ताकि वह कालपुरुष की 'संपूर्ण आदतों' को पहचान सके। वस्तुत: यहां चित्र के माध्यम से कलापुरुष में लीन कालपुरुष की खोज है। लगता है कि चौथी पर्त्त पर पानोफस्की के सामने लियोनार्दो-द-विंची या गोएथे के रिनैसांकर्मी व्यक्तित्व रहे होंगे। पानोफस्की-सम्मत ये चारों पर्त्तें न तो सृजन-प्रक्रिया के रसास्वादन के किसी वैज्ञानिक क्रम पर आधारित हैं; और न ही ये पर्त्तें ऐसी होती हैं। यह एक सृजनात्मक धारणा मात्र है।

मिल्टन नाह्म

मिल्टन नाह्म ने कलाकृति में मानवस्रष्टा देवताओं की रचना की शक्ति को ही प्रेरक माना है। वस्तुत: एक ओर तो वे नृवंशशास्त्रीय आदिम कबीलों की अवस्था वाले मनुष्य के क्रमश: चिंतन के द्वारा विकास का उपयोग करते हैं; दूसरी ओर मिथक के निर्माण वाली जादुई भावना को काव्य-शक्ति से जोड़ते हैं और तीसरी ओर ईसाई तथा हेलेनिक दर्शन का मेल कराते हैं। उनके अनुसार कलाकृति में दो स्तरों पर तनाव की अनुभूति होती है। पहली है पाशविक मूल-प्रवृत्तियां जिन्हें वे जननशास्त्रीय 'ऐपीमीथियन आवेग' कहते हैं; दूसरी है कला-व्यापार-वृत्ति जिसे वे 'प्रोमोथियन आवेग' कहते हैं। पहला स्तर पूर्वदर्शी है तथा दूसरा अग्रदर्शी; पहला पाशविक या आदिम कबीलाई मनुष्य है तथा दूसरा विश्व-

कर्मा धर्मी कलाकार। पहले से दूसरे स्तर तक पहुंचने में विचारवृत्ति का हाथ है जो पहले स्तर को लीन करती जाती है और उसे नये-नये अर्थों से दीप्त कर देती है। पहले स्तर की जातिगत मूलप्रवृत्तियों में काम, हिंसा, नेतृत्व, अधिकारादि हैं जो दूसरे स्तर में उदात्त या सुंदर हो जाते हैं अर्थात् काम श्रृंगार हो जाता है, हिंसा कुरूपता का विनाश हो जाती है, नेतृत्व दैवी पिता महेश्वर में परिणत हो जाता है तथा अधिकार मानवीय श्रेय हो जाते हैं। इस प्रकार उषा और शरद् सविता और शारदा बन जाती हैं। सारांश यह है कि नाह्य कलाकृति तथा कलात्मक प्रतीकों द्वारा मानव की आदिम प्रवृत्तियों की खोज तथा सांस्कृतिक परिवेशों में उनके उदात्तीकरण के परिवर्तित स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं।

गॉट्फ्रीड सेम्पर

प्रतीकार्थों के अलावा सौंदर्यबोधात्मक आदर्शवाद की धारा के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई। गॉट्फ्रीड सेम्पर (१८०३-१८७९) ने सौंदर्यबोधात्मक भौतिकवाद की स्थापना करते हुए सभी लाक्षणिक (फिगरेटिव) कलाओं के मूल में कपड़े बुनने की कला को माना है जिससे कुंभ-कर्म, काष्ठ-कर्म, धातु-कर्म, पट्ट-कर्म जैसी लघु-कलाएं विकसित हुईं। ये लघु कलाएं मिलकर वास्तुकला-जैसी बड़ी कला की निर्मात्री हुईं। शायद मनुष्य ने सब से पहले लज्जा का अनुभव करके अपना तन ढंकने का उपाय किया होगा, फिर अपनी रक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाए होंगे और अंत में अपना तथा अपनी नारियों के नखशिख का अलंकरण किया होगा। अतः कला में मानव का ऐतिहासिक विकास, उपयोगिता तथा सौंदर्यबोध घुलेमिले हैं। संसार के जीवों में तीन वृत्तियां हैं—(१) वातावरण के अनुरूप प्राकृतिक चुनाव अर्थात् **अनुकूलता**; (२) प्रकृति की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के अनुरूप अंग-रचना या मुद्राएं अर्थात् **अनुपात**; तथा (३) संतुलन और छंद अर्थात् **समरूपता**। और भी वृत्तियां हो सकती हैं लेकिन सेम्पर ने सौंदर्य के ये ही तीन मूल्य माने। अगर हम प्राकृतिक सौंदर्य अथवा गुरुत्वाकर्षण, जलवायु एवं भारदोल (क्रमशः=तीनों वृत्तियों) पर आश्रित वास्तुकला के लिए ये तीनों मूल्य स्वीकार भी कर लें तो चित्रकला, संगीत, काव्यादि के क्षेत्र में ये अपूर्ण या एकांगी सिद्ध हो जाएंगे। सेम्पर की महत्ता है **'कला के सामाजिक इतिहास'** के निर्देशन में, जिसका विकास आर्नल्ड हाउसर की प्रखर प्रतिभा द्वारा हुआ। इसी तरह एडुअर्ड हांस्लिक (१८२५-१९०४) ने संगीत की प्रणय, हर्ष, शोक, कांक्षादि जैसी भावनाओं की अभिव्यक्ति की असमर्थता को प्रकट किया। कोनार्ड फीडलर (१८४१-९५) ने चित्रकला में मात्र दृष्टि की आदिम क्षमता का चरम विकास तथा मूल्यांकन किया और विवेक का अभाव दर्शाया। उनका सिद्धांत 'शुद्ध दृश्यात्मकता' का सिद्धांत कहलाता है। वॉल्फ़लिन (१८६४-) ने यूरोपीय चित्रों का अध्ययन करके द्विध्रुवता के आधार पर शैलियों का वर्गीकरण किया जो अव्यावहारिक है। इसी धारा में क्लासिकल-विरोधी भी आ सकते हैं जैसे अलुई राइग्ल (१८५८-१९०५) जिन्होंने फ्रीडरीख श्लेगेल की 'सौंदर्यात्मक ऊर्जा' की धारणा का 'कला-

संकल्प' में रूपांतर करके कई उपेक्षित कलायुगों की मौलिकता की स्थापना की।

× × ×

इस विषयवस्तुवादी धारा से हटकर सौंदर्यबोधात्मक रूपवाद की धारा भी मिलती है। इसकी दो शाखाएं हैं; पहली जर्मन शाखा, जिसकी प्रस्थापना हर्बार्ट ने, व्यवस्था ज़िमरमान ने; तथा संगीत में समावेश हांस्लिक ने किया। दूसरी शाखा ब्रिटिश शाखा है जिसमें तीन नाम प्रसिद्ध हैं—क्लाइव बेल, रोजर फ्राइ तथा वाइलेंस्की।

हर्बार्ट

जर्मन शाखा को हम हर्बार्ट (१७७४-१८४१) के संप्रदाय का विस्तार मान सकते हैं लेकिन ब्रिटिश-शाखा सह-रूपवादियों का समुदाय है। जर्मन-शाखा में जर्मन-आदर्शवाद का विरोध परिलक्षित होता है जिसके बीज लाइबनित्ज़ तथा कांट के आधिभौतिक विरोध में मिलते हैं। अपने विरोध में इन्होंने विषय-वस्तु, भाव-संदर्भ और ऐंद्रियक संवेदना को बिल्कुल निकाल फेंकने की कोशिश की। लेकिन इनका आदर्श-वाद-विरोध सतही बनकर ही रह गया। हर्बार्ट ने 'सौंदर्य का अर्थ सौंदर्य माना है'। इसका मतलब यह हुआ कि कलावस्तु में ही सौंदर्य की स्थिति है और यह स्थिति अनुभव की विषयवस्तु में न होकर उनके आपसी संबंधों में है। विषयवस्तु तो 'आसान तत्त्व' है और उन आसान तत्त्वों के संबंध 'रूप' हैं। किंतु ये संबंध क्या हैं? इनकी संख्या कितनी है? इनके आपसी परिवर्तन किस तरह होते हैं? क्यों कोई खास संबंध ही सौंदर्यविधायक होते हैं? क्या ये संबंध सभी कलाओं पर लागू हो सकते हैं? इन सभी बातों को हर्बार्ट स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने केवल इतना ही बताया कि विषयवस्तु सौंदर्यबहिर्भूत है क्योंकि उसका रिश्ता व्यावहारिक जगत् और सौंदर्येतर क्षेत्र में है; 'रूप' ही सौंदर्य-संभूत है क्योंकि यह विषयवस्तु के जिन संबंधों का लेखा-जोखा करता है वे निर्णय बन जाते हैं। वस्तुतः ये संबंध ही सुंदर-असुंदर या अभिरुचि के आधार हैं। हम विषयवस्तु के प्रति अपनी प्रतिक्रिया नहीं ज़ाहिर करते; वह तो इनके रूपात्मक डिज़ाइन में बंधने वाले संबंधों के प्रति होती है; और यही मूल्यांकन-वाहक होती है। अलबत्ता राबर्ट ज़िमरमॉन (१८२४-१८९८) ने इन संबंधों की कुछ छानबीन की—अनुपात की दिशा में। जैसे: छोटी वस्तु के पार्श्व में बड़ी वस्तु सुखद तथा बड़ी वस्तु के पार्श्व में छोटी असुखद होती है। यह अनुपात बिंबों (विशेषतः दृश्यात्मक) का है; एकांगी और गलत भी है। इसको केवल कुछ प्रसंगों में ही लागू किया जा सकता है।...हांस्लिक (१८२५-१९०४) ने भी विषयवस्तु के संदेशों की प्रेषणीयता, मनोदशा के संवेदन आदि में सौंदर्य निर्दिष्ट करने के बजाय कलाकृति के रूप में ही उसे प्रतिष्ठित किया। उन्होंने संगीतकला के आधार पर दलील दी कि संगीत खुद में प्रेम, घृणा, प्रतीक्षा, आकांक्षा, वीरादि भावों को व्यक्त नहीं करता। वह तो स्थायी संवेगों का एक गत्यात्मक पैटर्न है जिसमें 'ध्वनि के गत्यात्मक रूप' हैं।

इस प्रकार जर्मन रूपवादियों के संप्रदाय ने दो दिशाएं दीं—सौंदर्य बहिर्गत

अर्थात् कलाकृति-संभूत है; तथा सौंदर्यबोधशास्त्र का संबंध रूप से है; विषयवस्तु सौंदर्येतर व्यावहारिक जगत् के भाव-संवेगादि से संबद्ध है।

ब्रिटिश रूपवादी सह-कर्मियों ने इन उपलब्धियों को 'सौंदर्यबोधमूलक रूपवाद' में ढाला। क्लाइव बेल ने 'कलात्मक पुनर्प्रस्तुतीकरण', रोजर फ्राइ ने व्यावहारिक संवेगात्मकता तथा वाइलेंस्की ने रोमांटिक संवेगात्मकता का पुरजोर खंडन किया। तथापि कला के बजाय कलाकृति को सौंदर्यबोधात्मक विश्लेषण (एस्थेटिक विश्लेषण) का मूल प्रयोजन मानने में तीनों एकमत हैं। तीनों की प्रस्थापनाओं की सब से बड़ी सीमा भी एक है कि ये मूलतः—और बहुधा केवल—चित्रकला के माध्यम पर ही लागू होने के कारण संकुचित हैं।

क्लाइव बेल

क्लाइव बेल के सौंदर्यात्मक विश्लेषण की पहली समस्या है: सभी कलाओं का सामान्य अनिवार्य गुण या चारित्र्य **क्या** है? कलावस्तु में वह **क्या** है जो प्रेक्षक में 'विलक्षण' (यूनीक़) सौंदर्यात्मक संवेग जागृत करता है?

उत्तर है: यह उनका 'विशिष्ट रूप' (सिग्निफिकेंट फार्म) ही अनिवार्य तथा प्रचिह्नित लक्षण है जो विशिष्ट सौंदर्यबोधात्मक संवेग उद्दीप्त करता है।

इस प्रकार विशिष्ट रूप तथा विशिष्ट संवेग की नई धारणाएं उपस्थित हो जाती हैं।

स्थानिक कलाओं के अंतर्गत विशिष्ट रूप की रचना में रेखाओं, रंगों, भार तथा आयतन आदि के कतिपय मेल होते हैं। "रेखाओं और रंगों के खास ढंग से मिलने पर कतिपय रूप और रूपों के संबंध हमारे सौंदर्यात्मक संवेग उत्तेजित कर देते हैं। रेखाओं तथा रंगों के इन रिश्तों तथा मेल को, सौंदर्यात्मक ढंग से प्रभावक रूपों को मैं 'विशिष्ट रूप' कहता हूं। यह 'विशिष्ट रूप' ही एक ऐसा गुण है जो सभी दृश्यात्मक कलाओं में समान है।"[1]

हम इसे यूं समझ सकते हैं। बेल कलात्मक संवेग को एक न मानकर विषयवस्तु तथा रूप के आधार पर अलग-अलग मानने के अलावा विषयवस्तु-संभूत संवेगों को असौंदर्यबोधात्मक भी मानते हैं। उनके अनुसार केवल रूप-संभूत संवेग ही विशिष्ट तथा सौंदर्यात्मक हैं। इसी आधार पर उन्होंने क्रमशः विवरणात्मक कला (डेस्क्रिप्टिव आर्ट) तथा विशिष्टतया रूपात्मक (सिग्निफिकेंटली फार्मल आर्ट) कला नामक भी दो भेद किये हैं जिनमें से पहले में रूप संवेगों का **साधन** (संवेगों का विमर्शदाता या सूचनावाहक) होता है, तथा दूसरे में संवेगों का **स्वयंसाध्य**। तो रूप दोनों में ही होता है, लेकिन दूसरे का रूप ही 'विशिष्ट रूप' कहलाता है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए 'संवेग' के प्रयोजन बताना जरूरी है।

दो प्रकार की दुनिया है—मनुष्य के कार्यव्यापारों की; तथा कलाकृतियों के

१. क्लाइव बेल: 'आर्ट' (१९६१), पृ० २३ (ग्रे ऐरो बुक्स, लंदन)।

आनंद की। सारी कलाकृति एक रूप है जो अन्य लौकिक वस्तुओं से पृथक् है। कला की दुनिया में पहुंचने (आशंसा करने) पर हमें जीवन से कुछ भी नहीं लेना चाहिए। यहां पहुंचने पर हम जीवन-प्रवाह से उठ जाते हैं। बेल जीवन को विषयवस्तु से तथा कला को सौंदर्यतत्त्व से जोड़ देते हैं, और इस प्रतिकर्म में उसे केवल रूप में ही जकड़ देते हैं। उनके अनुसार मनोवेग (भय, प्रेम, करुणा, ईर्ष्या आदि) तथा घटनाएं आदि मनुष्य के कार्यव्यापारों की दुनिया है। कला में इसका जो भी ग्रहण होता है वह पुनर्प्रस्तुतीकरण (रिप्रेज़ेंटेशन) है। कलाकृति के रूप में जो भी रंग-रेखा-आयतन-भार आदि के मेल होते हैं उनके प्रभाव ही 'विशिष्ट संवेग' हैं (जो मनोवैज्ञानिक संवेगों से भिन्न तथा अपरिभाषित भी हैं) और वे ही 'विशिष्ट रूप' उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए जब राजा रवि वर्मा राम द्वारा सिंधु-शर-संधान का, अमृता शेरगिल पहाड़ की युवतियों का, आल्मेलकर वृक्षों का, या बेंद्रे समुद्र-तट का अंकन करते हैं तो हममें दो प्रकार के संवेग जाग सकते हैं। पहली कोटि होगी राम, पहाड़ की युवतियों, वृक्षों, सिंधु-तट के **माध्यम** से जागृत **पुनर्प्रस्तुत संवेगों** की; दूसरी कोटि होगी इन आकृतियों के रंग-रेखाओं में ही स्वयं-साध्य **प्रस्तुत संवेगों** की। स्वयं क्लाइव बेल का एक उदाहरण लें: जब एक चित्रकार फांसी का अंकन करता है तो आकृति के माध्यम से भय तथा करुणा के भाव (पहली कोटि) जागृत हो सकते हैं अथवा आकृति खुद साध्यरूप में भाव जागृत कर सकती है (दूसरी कोटि)। इस प्रकार पहली कोटि के संवेगों को क्लाइव बेल 'जीवन के संवेग' मानते हैं जो असौंदर्यात्मक तथा विषयवस्तु-संभूत तथा पुनर्प्रस्तुत्य हैं। दूसरी कोटि के संवेग सौंदर्यात्मक हैं तथा रूप-संभूत और विशिष्ट हैं। इस प्रकार रूप-संभूत संवेग अपरिभाषेय हैं, और बेल के अनुसार केवल ये ही सौंदर्यबोधात्मक या एस्थेटिक हैं। ये तोल्सतोय प्रणीत सार्वभौम संवेग (जिसे बेल 'जीवन के संवेग' कहेंगे) और डेवी प्रणीत विलक्षण संवेग से भिन्न हैं। ये संवेग विषयवस्तु से नहीं, रेखाओं-रंगों के मेल से उत्पन्न विशिष्ट रूप के सूक्ष्म भावन हैं।

इसी स्थल पर बेल 'शोभन', 'विशिष्ट' तथा 'सौंदर्यबोधात्मक' के बीच भी अंतर करते हैं। वे विशिष्ट को सौंदर्यात्मक से संलग्न कर देते हैं; तथा शोभन को पुनर्प्रस्तुत्य से। शोभन यौनमूलक आकर्षण, सुखद, रुचिर आदि से जुड़कर असौंदर्यात्मक संवेग उत्पन्न करता है जैसे कांगड़ा-फलकों की शोभाशाली नारियां। ये नारियां अपने रूप की वजह से नहीं, पुनर्प्रस्तुतीकरण (जो कला के बाहर का क्षेत्र है) के कारण 'शोभाशाली' हैं। जब ('शोभाशाली रूप' के स्थान पर) 'विशिष्ट रूप' का ध्यानयोग किया जाता है तब रंग और रेखाओं के संयोग से उत्पन्न 'शुद्ध' आशंसा शुरू होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्लाइव बेल आद्योपांत मानवीय रागों-मनोवेगों को सौंदर्यबोधशास्त्रीय ध्यानयोग से पृथक् करके विषयवस्तु से जोड़ देते हैं तथा मात्र रूप के प्रभावों को सौंदर्यतत्त्व मान बैठते हैं। किंतु पुनर्प्रस्तुतीकरण बनाम विशिष्ट रूप की इस समस्या को इस तरह चीरकर बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी रूपवादी 'विशिष्ट-संवेग' की परिभाषा नहीं दे सका है। जब बेल पुनर्प्रस्तुतीकरण

को हानिकारक या हानिविहीन मान लेते हैं तो उत्कर्ष-विधायक मानने में एतराज क्यों है ? यह निश्चित है कि पुनर्प्रस्तुतीकरण के प्रकार ही विशिष्ट रूप को निर्धारित करते हैं, जैसे विशिष्ट मनोदशाओं के अनुरूप बारहमासे के चित्र; विलाप करते हुए पुरूरवा, क्रोधी दुर्वासा, प्रणयमुग्धा वासवदत्ता, वियोगिनी नागमती, आदि। अतः चित्रकला में भी पुनर्प्रस्तुतीकरण अनिवार्य है। विशिष्ट रूप के लिए इसे निर्वैयक्तिक होना चाहिए, न कि जीवन-प्रवाह से असंबद्ध। सौंदर्यात्मक संवेग विषयवस्तु के पुनर्-प्रस्तुतीकरण से मिलकर 'अशुद्ध' नहीं, बल्कि 'पूर्ण' हो जाते हैं। क्रोचे के स्वयंप्रकाश्य-ज्ञान की तरह ही वे अपने 'विशिष्ट संवेग' को अनिर्वचनीय और मात्र कलावस्तु-संभूत बना देते हैं। उनकी सब से बड़ी सीमा तो यह है कि वे अकेले चित्रकला के माध्यम से ही रूपवाद की दार्शनिक मीमांसा करने की कोशिश करते हैं। अपनी असफलता का सबूत देने के लिए वे साहित्य को 'अशुद्ध' कला मानते हैं क्योंकि उसमें तथ्य और विचार की प्रधानता रहती है। अतः वे बौद्धिक विषयवस्तु से बोझिल हो जाते हैं। काव्य शुद्ध हो सकता है यदि वह केवल संगीत में ढल जाये; लय मात्र, छंद मात्र बन जाये। ऐसी स्थिति में वह काव्य कहां रहेगा ?

कलासृजन तथा कला-आशंसा के प्रसंग में भी पुनर्प्रस्तुतीकरण का उनका घोर विरोध ही दृष्टिगोचर होता है।

कलासृजन की शुरुआत पुनर्प्रस्तुतीकरण से ही होती है। चित्रकार, नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि के यथार्थ को खास ढंग से देखता है। यदि वह उन्हें रंग-रेखाओं में घुला देता है (जैसा कि कांडिस्की, चागल, पिकासो, मोहोली-नागी आदि ने किया) तो पुनर्प्रस्तुतीकरण हानिविहीन होगा और 'विशुद्ध रूप' से जुड़ जायेगा। उसका संदर्शन उपयोगिता, रुचि, सुख, आदि से परे होगा। उसकी प्रेरणा पूर्ण होगी और वह समर्थ कलाकार कहलायेगा। किंतु उसकी कमज़ोरी, रूप-रचना की असमर्थता तथा भटकाव उसे विशिष्ट रूप से गिराकर पुनर्प्रस्तुतीकरण-प्रधान धरातल पर ले आते हैं। यहां वह जीवन के संवेगों का उद्बोधन करता है और सौंदर्यात्मक संवेगों को जागृत करने में अक्षम सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि कलाकार के सौंदर्यात्मक संवेग या तो अपूर्ण हैं या शिथिल। अतः कलासृजन की दो डोरियां हैं—पहली विशिष्ट रूप की, जो सौंदर्यात्मक तथा शुद्ध है; दूसरी पुनर्प्रस्तुतीकरण की, जो जीवन के कार्यव्यापारों की तथा अशुद्ध है।

इसी तरह प्रेक्षक होते हैं। अगर वे 'वास्तविक' प्रेक्षक हैं तो "चित्रों पर विमर्श करते समय रूपों की आकृतियों तथा रंगों के संबंधों और मात्राओं पर बात-चीत करेंगे। अक्सर वे एक अकेली रेखा के गुण के आधार पर बता सकते हैं कि आलेखक अच्छा चित्रकार है कि घटिया।"[१] इसके विपरीत असफल प्रेक्षक रूप के पीछे जीवन के संवेग खोजते हैं और एक नये सौंदर्यात्मक लोक में ऊर्ध्वगमन करने के बजाय मानवीय रुचियों के लोक में वापस लौट आते हैं। इस प्रकार उनमें वही

१. क्लाइव बेल : 'आर्ट' (१९६१), पृ० ४० (ग्रे ऐरो पेपरबैक)।

पुरानी सामग्री उलट-पुलट जाती है। इस प्रकार वे जीवन के बाहर न जाकर जीवन के अंदर ही रहते हैं। सारांश यह है कि कला-आशंसा तथा कलात्मक रूप, दोनों ही निर्विकल्प हैं; विषयवस्तु का संबंध सौंदर्यतत्त्व से नहीं है तथा विशिष्ट रूप का ध्यानयोग ही सौंदर्यानंद है।

रोजर फ्राइ

रोजर फ्राइ (१८६६-१९३४) की स्थापनाएं क्लाइव बेल से मेल खाती हुई और अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित हैं। विशेष रूप से 'संबंधों' की खोज में उन पर हर्बार्ट का भी स्पष्ट प्रभाव है। लगता है कि वे 'विशिष्ट रूप' की अपेक्षा 'एस्थेटिक संवेग' पर बल देते हैं जो कलाकृति (मूलतः चित्रकला) के रूप से प्रस्तुत होता है (न कि विषयवस्तु से)। रूपवादियों की तरह ही उन्होंने भी 'शुद्ध' कला का संबंध रूप से तथा 'अशुद्ध' कला का पुर्नप्रस्तुत्य और मनोवैज्ञानिक मूल्यों से किया। उन्होंने कहा, "सभी मामलों में कलाकृति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया एक **संबंध** के प्रति प्रतिक्रिया होती है, न कि संवेदनाओं, विषयों या व्यक्तियों या घटनाओं के प्रति। अगर मैं सही हूं तो यही एस्थेटिक (सौंदर्यात्मक) अनुभवों, एस्थेटिक प्रतिक्रियाओं, या मस्तिष्क की एस्थेटिक दशा का भेदक तत्त्व है।"[१] यहां हर्बार्ट की स्पष्ट छाया है जो फ्राइ के सिद्धांत की नींव है—सौंदर्यानुभव में जो एस्थेटिक संवेग व्याप्त है वह 'रूप' संबंधी है।

इस दृष्टिकोण की स्थापना मूलतः चित्रकला के लिए ही हुई है और मूलतः चित्रकला—खास तौर पर एब्स्ट्रेक्ट कला—पर आश्रित है। स्यूरे, सेज़ां, पिकासो, मातीश जैसे चित्रकारों की कृतियों का अध्ययन करते वक्त उन्होंने नये संबंध खोजे। स्यूरे (१८५९-९१) तथा सेज़ां (१८३९-१९०६) को यह यकीन हो चुका था कि पुनर्प्रस्तुतीकरण अपनी सभी क्षमताएं खो चुका है। रिनैसां-कालीन कलाकारों ने मानवीय आकृतियों के अद्‌भुत अंकन द्वारा 'स्थान' (स्पेस) की सभी क्षमताएं खोज ली थीं; प्रभावादी चित्रकला ने प्रकाश-छाया की सभी खूबियां खोज ली थीं और डिलाक्रोएं तथा सेज़ां ने रंगों पर कमाल हासिल कर लिया था। अतः एब्स्ट्रेक्ट कलाकारों ने अनुभव किया कि चित्रकला को पुनर्प्रस्तुति के सभी तत्त्वों से अलग कर लिया जाय क्योंकि चित्रकला मूलतः रूपात्मक संबंधों का ही प्रत्यक्षीकरण है और साहचर्यात्मक मूल्य इसमें रुकावट डालते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी रूप-रचना में रंगों और रूपों (आकृतियों) का ऐसा विलास किया जिससे वह किसी भी चीज़ या तथ्य से संबद्ध ही न हो पाए। इस आंदोलन को तूल दिया कवि गिलॉमे अपोलिनेअर ने। सन् १९१३ में उन्होंने 'एस्थेटिक मेडिटेशन' नामक घोषणापत्र में कहा कि चित्रकला में ज्यामिति की प्रधानता होनी चाहिए क्योंकि यह 'स्थान' (स्पेस) का विज्ञान है और कला स्थान का ही चित्रण करती है। नये कलाकार उन सभी सुखद तकनीकों का बहिष्कार करते हैं जो अतीत के महान् कलाकार इस्तेमाल

१. रोजर फ्राइ : 'ट्रांसफार्मेशन', पृ० ३।

करते रहे हैं। नये कलाकार प्रकृति को देखते हैं, उसका अनुकरण नहीं करते। इसलिए वे पुनर्प्रस्तुति को नहीं लाना चाहते। इसीलिए वे 'शुद्ध' चित्र बनाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में फ्राइ ने एक ओर रूपात्मक डिज़ाइन तथा दूसरी ओर साहचर्यात्मक एवं संवेगात्मक मूल्यों के बीच सही रिश्तेदारी के आधार ढूंढ़े जिसका परिणाम 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' कला निकला। अब हम इन आधारों का विश्लेषण करेंगे।

उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य को द्वि-ध्रुवांतीय माना। पहला ध्रुवांत है—'मूलप्रवृत्त्यात्मक', जहां हम वास्तविक ज़िंदगी जीते हैं; और दूसरा ध्रुवांत है—'काल्पनिक' जहां हम वास्तविक जीवन की कल्पना में पुनर्सृष्टि करते हैं। हमारे वास्तविक जीवन के संवेग काल्पनिक जीवन के संवेगों से साधारणतः कमज़ोर हुआ करते हैं। वास्तविक जीवन में संवेदना होते ही तुरंत प्रतिबोधात्मक (रेस्पांसिव) कार्य की ज़रूरत आ पड़ती है जिसके फलस्वरूप हम संवेग की पूरी अनुभूति नहीं कर पाते। इनकी प्रेरकता हमारे इतनी नज़दीक होती है कि हम उन्हें स्पष्टतया नहीं अनुभूत कर पाते। फिर, ये संवेग किसी-न-किसी सोद्देश्य अथवा उपयोगी कार्य की ओर अग्रसर होते हैं। अतः हम इनका बोध परिणामी कार्य के आधार पर ही करते हैं। किसी शेर को देखते ही हम भाग जाते हैं, या किसी प्यारे शिशु को देखते ही उसे गोद लेना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि मूलप्रवृत्ति के धरातल पर हम अनुभवों में बहुत अधिक सक्रिय होने के कारण उनमें अतिशय या प्रबल रूप से भुक्तभोगी होते हैं और उत्तरदायित्व के साथ उनका चुनाव करते हैं, उनका अभियोजन करते हैं और उत्तरजीवन (सर्वाइवल) की मांग पूरी करते हैं। लेकिन जब हम काल्पनिक ढंग से उनका प्रतिबोधन करते हैं तो उन क्षणों में उनका संदर्शन (विज़न) अधिक दीर्घ, अधिक पूर्ण होता है क्योंकि वह कर्मशील जीवन से नहीं जुड़ा होता। ऐसी दशा में हमारे संवेग अधिक अर्थवंत हो उठते हैं क्योंकि तब हम **असंबद्ध** तथा **ध्यानलीन** होकर उन्हें **अधिक** तथा **स्पष्ट** समझते हैं। इस दशा में हम उत्तरदायित्व (शेर को देखकर भागने अथवा शिशु को देखकर उसे गोद में उठा लेने के चयन) का बोध त्याग कर अपने समग्र वातावरण के प्रति सहिष्णु हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमारे काल्पनिक जीवन की मांग (मूलप्रवृत्त्यात्मक जीवन का व्यवस्थापन या उत्तरजीवन की मांग न होकर) हमारे अनुभवों की समृद्धि होती है। इस प्रकार काल्पनिक ध्रुवांत की उत्पत्ति है—शुद्ध सौंदर्यानुभूति; तथा मूलप्रवृत्त्यात्मक ध्रुवांत की उत्पत्ति है अशुद्ध सौंदर्यानुभव।

इस प्रकार यदि मनुष्य किसी वस्तु को उपयोग के लिए अथवा वास्तविक जीवन की संगति के लिए न रच कर कला की वस्तु के रूप में, अथवा काल्पनिक जीवन की संगति के लिए रचता है तो पहली शर्त यह है कि वह उसे प्रतिबोधात्मक कार्य से विच्छिन्न कर ले और ध्यानयोग की असंबद्ध तीव्रता से जोड़ दे। यह काम आसान नहीं है, क्योंकि रोज़ की ज़िंदगी के साहचर्य से कटकर हम जीवन से ही कट जाएंगे। रूप या रूपात्मक संबंध भी तो बाह्य जगत् की चीज़ों, मनुष्यों, विचारों के ही तो प्रतिरूप होते हैं और हमारे ध्यानयोग में भी रूपों के अनुसार साहचर्य जगाते

हैं। अतः रूप के ध्यानयोग में रोज की साहचर्यात्मक वस्तुओं के संवेग भी सटे चलते हैं। फ्राइ ने शायद इसीलिए 'रूपात्मक मूल्य' तथा 'मनोवैज्ञानिक (साहचर्यात्मक) मूल्य' नामक दो पृथक् कोटियां मानीं। उन्होंने रूपात्मक मूल्यों को प्राथमिक तथा अनिवार्य मानकर मनोवैज्ञानिक मूल्य भी स्वीकारे। इस प्रकार वे क्लाइव बेल से कुछ अधिक यथार्थवादी हुए। इस प्रकार उन्होंने पहले हमारी मूलप्रवृत्त्यात्मक ज़िंदगी के किसी भी पहलू या प्राकृतिक दुनिया के परिवेश के प्रति कलाकार की असंबद्ध मनोदृष्टि की प्रेषणीयता को स्वीकार लिया अर्थात् पुनर्प्रस्तुतीकरण का अंगीकार किया। फिर, बाद में हमारी मूलप्रवृत्त्यात्मक ज़िंदगी के अनुभवों को रूपात्मक तत्त्वों, जैसे रेखा, रंग, ताल, घनत्व, स्थान, प्रकाश और छाया में ढालकर उनकी प्रेषणीयता मंजूर की। इस चरण में उन्होंने पुनर्प्रस्तुतीकरण को अस्वीकृत करके सुव्यवस्थित (आर्डर्ड) तथा विविध (वेराइड) पूर्ण को ग्रहण किया। पुनश्च, उन्होंने विश्व को ही एक रचनात्मक (कंपोज़ीशन), स्थानिक (स्पेटियल) ढांचे के रूप में प्रेषणीय बनाना चाहा अर्थात् सारे जगत् का ही एक 'विशिष्ट रूप' में संदर्शन किया। यह उनके सौंदर्यात्मक रूपवाद के दर्शन की अंतिम परिणति है। ज़ाहिर है कि यह भी एकांगी है। अस्तु।

'शुद्ध' कलाकृति के लिए उनकी पहली मांग सुव्यवस्था है, जो संवेदनाओं को स्पष्ट तथा पारदर्शी बनाती है। दूसरी शर्त है **विविधता**, जो उन्हें पूर्णतः उत्तेजित करती है। सुव्यवस्था तथा विविधता ही सप्रयोजन मिलकर 'असंपृक्त ध्यानयोग' की विधात्री हैं। ये दोनों ही **शोभा-बोध** कराती हैं। शोभा या सुषमा शब्द के दो अर्थ होते हैं; पहला ऐंद्रियक वशीकरण जगाता है; दूसरा भद्दा होकर भी एस्थेटिक होता है। पहला वास्तविक जगत् का, और दूसरा काल्पनिक जगत् का है। दूसरे में यथार्थ की रूपात्मक खूबियां—रंग, रेखा, ताल, आयतन, स्थान, प्रकाश-छाया, एकता-विविधता—होती हैं। पहले में पुनर्प्रस्तुतीकरण होता है जो असंपृक्त भी हो सकता है।

अतएव रूपात्मक डिज़ाइन के संवेगात्मक तत्त्वों या मूल्यों के विवेचन में फ्राइ ने अपने सिद्धांत छितरा दिए हैं। इस विवेचन में उन्होंने माइकेल एंजिलो-कृत 'टोंडो' तथा 'जेरेमिया' को चुना।

पहला मूल्य है ताल, जो हमारी मांसपेशियों की हलचल से जुड़ा है। **रेखाओं का ताल** मुद्राओं का आलेखन है। मुद्राएं कलाकार की अनुभूति द्वारा परिवर्धित होती हैं।

दूसरा मूल्य है **घनत्व** (मास), जो गुरुत्वाकर्षण शक्ति के साथ अभियोजन करता है। हम अनुभव करते हैं कि वस्तु में प्रतिरोध की शक्ति है, या वह अपनी गति का संप्रेषण दूसरी वस्तुओं को करता है।

तीसरा मूल्य है **स्थान** (स्पेस), जो छोटे-बड़े, ऊंचे-नीचे, व्यापक-गहरे आदि की तुलना में सहायता करता है।

चौथा मूल्य है **प्रकाश और छाया** (लाइट एंड शेड), जो वस्तु के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं की तीव्रता को तय करता है।

पांचवां मूल्य है रंग (कलर) जो सीधा संवेगात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है, जैसे बुझे रंग, खिले रंग, उदास रंग, आदि।

छठा मूल्य है **फलक का आंख से कोणात्मक झुकाव**, जो या तो हम पर झुकता है, या हमसे परे झुकता है।

इन मूल्यों में प्रधानता दूसरे तथा तीसरे की है। पांचवें और छठे मूल्य आभ्यंतर अनुभूति (इम्पैथी) से सटे हुए लगते हैं। अंत में तो उन्होंने रंगों और रेखाओं के सज्जात्मक गुणों को भी अस्वीकृत कर दिया; और केवल 'स्थानिक संरचना' या ढांचे (स्पेस-स्ट्रक्चर) को ही सर्वोपरि मूल्य माना।

इस रूपात्मक मूल्यमीमांसा का साहचर्यात्मक मूल्यों से संबंध बताने के लिए उन्होंने अपनी 'विज़न एंड डिज़ाइन' (१९२०) नामक पुस्तक (पृ० सं० २३९-२४२) में इटली के रिनैसां-चित्रकार राफेल (१४८`-१५२०) के 'ट्रांसफिगरेशन' (१५२०) नामक गौरव-चित्र का विवेचन किया। इस चित्र के दो भाग हैं: ऊपर ईसा का रूपांतर अंकित है, नीचे उनकी अनुपस्थिति में उनके शिष्यगण एक पागल लड़के का उपचार कर रहे हैं। इसे देखकर जर्मन कवि गोएथे ने कहा था कि दोनों भाग एक पूर्ण बनाते हैं। नीचे हैं ज़रूरतमंद और पीड़ित : ऊपर हैं शक्तिमान और कृपा-निधान। फ्राइ चित्र की रूपात्मक एकता संबंधी गोएथे की उक्ति से सहमत हैं। उनके मुताबिक चित्र का विवेचन विषयवस्तु तथा रूप की दृष्टि से अलग-अलग हो सकता है। विषयवस्तु की दृष्टि से एक ओर तो हम गोस्पेल की दो पृथक् कहानियों का पुनर्प्रस्तुतीकरण पाते हैं और दूसरी ओर उत्पीड़न, मनुष्य का ईश्वर पर आश्रय, ईश्वर की पूर्णता, आदि के मनोवैज्ञानिक और साहचर्यात्मक अनुभव पाते हैं। परंतु, अगर ईसाई धर्म से पूर्णतः अपरिचित दर्शक इसे देखे तो वह एक पूर्ण में अनेक जटिल 'घनों' का संयोजन पायेगा जो रेखाओं के अनेक दिशोन्मुखी सुकोमल संतुलन से नियोजित है। वह यह भी पायेगा कि दोनों भागों में सहसंबंध हैं। जिस तीव्र संवेगात्मक उत्तेजना का वह अनुभव करेगा वह पूर्व-विवेचित संवेगों से भिन्न होगी। इस प्रकार सारा चित्र 'एक पूर्ण रूप' हो जायेगा—एक स्थानिक ढांचा, जिसमें रेखाओं की कोमलता तथा घनों की शक्ति साधन मात्र ही होगी। यह प्रतिक्रिया ही शुद्ध एस्थेटिक प्रतिबोध (रेस्पांस) होगी; यह आश्रय, पीड़ा, दया आदि सभी संवेगों से भी निर्लिप्त होगी। रोफ़र फ्राइ इसे ही अपने एस्थेटिक संवेग का चरमबिंदु मानते हैं।

फिर भी, रेखाओं की मुद्राएं तथा घनों की आभ्यंतरानुभूत संवेदनाएं हमें तल्लीन करेंगी ही। मनुष्यों की आकृतियों का पुनर्प्रस्तुतीकरण और मुद्राओं द्वारा हमारे वास्तविक जीवन के संवेगों का अनुबंध हमें प्रभावित करेगा ही। भले ही हम यह न जान पायें कि इसमें गोस्पेल की कथाएं और ईसा के चित्र हैं। भले ही प्रधानता रूप की हो। लगता है कि फ्राइ जबरदस्ती ही रूप और विषयवस्तु के विरोध को कायम रखने पर तुल गये हैं। यदि उनमें एकता नहीं हो सकती, सहयोग नहीं हो सकता, तो सहअस्तित्व तो हो सकता है।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने इस संपूर्ण दर्शन की जड़ पर ही चोट की, और सही की। उन्होंने कहा, "कुछ महान् चित्र होते हैं जिनके प्रति 'संपूर्ण प्रतिबोध' में पुनर्प्रस्तुतीकरण का योगदान नगण्य होता है और उपेक्षित किया जा सकता है। किंतु बराबरी में यह भी तय है कि अन्य महान् चित्र हैं जिनमें संपूर्ण प्रतिबोध में पुनर्प्रस्तुतीकरण द्वारा योगदान रूप तथा रंग के योगदान से उन्नीस नहीं है। जो लोग उपर्युक्त रूपरेखा वाले मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अथवा मस्तिष्क-प्रक्रिया की किसी भी आधुनिक व्याख्या को स्वीकार करते हैं, उन्हें ऐसा कोई भी कारण नज़र नहीं आता कि क्यों एक अनुभव में रूपात्मक एवं पुनर्प्रस्तुत्य तत्त्व आपस में टकरायें। अपितु उन्हें इस बात के अधिक कारण मिलते हैं कि क्यों उनमें सहयोग ही अधिक हो। इस पर तो बहस की ज़रूरत भी नहीं है। अतः 'विलक्षण एस्थेटिक संवेग' और 'शुद्ध कला-मूल्यों का मनोविज्ञान', जिन पर ये विपरीत मत आधारित हैं, केवल एक कपोलकल्पना का अंश हैं।"[1]

अतः इन दोनों मूल्यों की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं—किसी चित्र में वे परस्पर टकरायें; किसी में एक के मुकाबले में दूसरे की प्रमुखता हो; और किसी में सहयोग भी। यदि सहयोग होता है—और निश्चय ही होता है—अर्थात् यदि चित्र-कला में पुनर्प्रस्तुतीकरण भी स्वीकृत हो जाता है—और निश्चय ही होता है—तो 'विशिष्ट रूप' तथा 'विशुद्ध एस्थेटिक (या सौंदर्यबोधात्मक) संवेग' की धारणाएं ध्वस्त हो जाती हैं।

इसके जवाब में फ्राइ ने अपनी 'ट्रांसफार्मेशन' नामक पुस्तक (पृ० सं० १८-३१) में चार विभिन्न चित्रों का विश्लेषण किया—ब्रूगेल्स (१५२५-६९)-कृत 'शूली ले जाते हुए ईसा'; दामिएर (१८०८-७९)-कृत 'गेअर संत लाज़ारे'; पूसिन (१५९३-१६६५)-कृत 'आर्किलीज़ द्वारा लाइकोमिडन की पुत्रियों के बीच यूलिसिस की खोज' और रेम्ब्रां (१६०६-६९)-कृत 'पिलेट के सामने ईसा'। हम ब्रूगेल्स तथा रेंब्रां के चित्रों का ही निरूपण देंगे क्योंकि अन्य दो चित्र मध्य की स्थिति के हैं। फ्राइ के अनुसार ब्रूगेल्स के चित्र में नाटकीय साहित्य के इतिवृत्त तथा मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का संचयन है जहां शूली का दृश्य त्रास और करुणा के नाटकीय रोमांच उभारता है। रूपात्मक तथा स्थानिक रचना की दृष्टि से यह चित्र नगण्य है। इसे केवल एक दृष्टांत कहा जा सकता है। रेंब्रां में एक ओर तो उदात्त मनोवैज्ञानिक कल्पना है तथा दूसरी ओर विशिष्ट रूपात्मक रचना। किंतु रेंब्रां में शनैः-शनैः एक मनोवैज्ञानिक से रूपात्मक अभिव्यंजना की ओर प्रयाण है क्योंकि केवल उन्हीं में इन दोनों के बीच कशमकश दिखाई पड़ती है। रेंब्रां के चित्र में प्रत्येक स्थल का जो सूक्ष्म और विस्तृत अंकन हुआ है वह मनोवैज्ञानिक देन है। तो फ्राइ रूपात्मक तथा मनोवैज्ञानिक या पुनर्प्रस्तुत तत्त्वों के सहयोग के प्रामाणिक तथ्य से भी मुकर गये। रेंब्रां को उन्होंने विरल प्रतिभा और उनके चित्र को अपवाद मानकर काम चलता

1. 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म', अध्याय २।

करना चाहा। हम तो यह भी मानते हैं कि चलो, चारों ही चित्रों में रूपात्मक संवेग जागृत होते हैं। लेकिन ये चारों चित्र भी स्वयं लेखक द्वारा चुने गये हैं। अत: चारों ही अपवाद हैं; चारों में ही वैयक्तिक अभिरुचियां काम करती हैं और चारों की जो व्याख्या की गयी है वह मनोवैज्ञानिक है। वास्तव में मनोवैज्ञानिक मूल्य भी कलात्मक वैशिष्ट्य से अभिषिक्त होते हैं और तदेकात्म संवेगात्मक अभिव्यंजनाएं तथा पुनर्प्रस्तुतीकरण वे बिना रूपात्मक मूल्यों से संपूर्ण नहीं हो सकते। अतएव दोनों ही अंत:श्रेणियों की द्वंद्वात्मक एकता 'सौंदर्यात्मक संवेग' की संज्ञा पाती है।

सारांश यह है कि बेल और फ्राइ की कलाशंसा-संबंधी धारणाओं में कोई फर्क नहीं है। फ्राइ ने अलबत्ता 'विशिष्ट रूप के सिद्धांत' को चित्रकला के अलावा लगे हाथ सभी कलाओं पर लागू करने की कोशिश की है।

आर० एच० वाइलेंस्की

सन् १९२७ में आर० एच० वाइलेंस्की ने रूपवादी परंपरा में दो काम किये—रोमांटिक कला की भावुकता का विरोध, तथा स्थानिक कलाओं के लिए वास्तुकला की सर्वोपरि महिमा की स्वीकृति।

रोमांटिक कलाकार संवेगांशों की रूपात्मक महत्ता की परवाह नहीं करता; वह केवल उनके वैयक्तिक प्रभाव को ही महत्त्व देता है। उसके लिए यूनानी, रोमी आदर्शों के अनुसार कोई रचना 'सुंदर' नहीं होती है। जो रचना उसके संवेग उद्दीप्त करे, उसे वही 'सुंदर' लगती है। वह कलासृष्टि को संवेगात्मक अवस्था में करने का पक्षपाती है और रूप को संवेग पर आश्रित बना देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपने को कला से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इसके विपरीत क्लासिकल वास्तुकलात्मक कला (=रूपवादी) केवल संवेग को ही कला-सृजन का बीज नहीं मानती। किसी विचार का प्रत्यक्षीकरण संवेगात्मक से अधिक **बौद्धिक प्रक्रिया** से सधता-सजता है और तब रूपात्मक सौष्ठव प्राप्त करता है। तब हम 'वास्तुकलात्मक चित्रबंध' हासिल करते हैं। अत: सभी स्थानिक कलाओं—चित्रकला, शिल्पकला और वास्तुकला—में प्रत्यक्षीकरण की रूपात्मक कल्पना होती है क्योंकि इनका प्रयोजन रूपात्मक आदर्श होता है।

स्थानिक कलाओं के रूपात्मक आदर्श की वजह से आधुनिक कला वास्तुकलात्मक या क्लासिकल विचार की ओर मुड़ रही है। वास्तव में वास्तुकला सभी कलाओं की जननी है। अतएव सभी कलाकारों को वास्तुकार का उदाहरण लेना चाहिए। इसी वजह से वह और क्लासिकल कलाकार, दोनों कला को कलाकार से महान् (रोमांटिक आदर्श के विरोध में) मानते हैं। वे अपनी कलाओं में निश्चित, संगठित और संपूर्ण ढांचे बनाते हैं। अत: वास्तुकार के विलक्षण कार्य शिल्पकार तथा चित्रकार के भी हैं अर्थात् तीनों स्थानिक कलाओं की सृजन-प्रक्रिया तकरीबन एक-सी है। तीनों ही आद्योपांत रूपात्मक संबंधों से जुड़ी रहती हैं।

चित्रकला में वास्तु के आदर्शों की प्राणप्रतिष्ठा यूं भी जरूरी हो जाती है

कि 'अनुपात', 'संतुलन', 'रेखा', 'रंग', 'घनत्व' आदि के रूपात्मक अनुभव प्रायः मनुष्य के दिमाग में अनिश्चित, असंगठित और अपूर्ण-से हैं। यह कार्य सर्वोपरि और सब से पहले वास्तुकला में ही हुआ; तथा होता है। वास्तुकला में कोई अलग टुकड़ा स्थित नहीं हो सकता। वास्तुकार तो अनुपात, संतुलन, रेखा, घनत्व आदि का अनुभव करता है, समन्वय करता है तथा सृजन करता है। अतः कला में रूपात्मक मूल्य प्रधान हैं। शायद भूल से वाइलेंस्की संवेगों को केवल रोमांटिक कला की ही थाती मानने को मजबूर हैं। यह स्वयं स्पष्ट है।

डेविट एच० पार्कर

डेविट एच० पार्कर (१८८५-१९४९) ने कला की प्रकृति और कला के विश्लेषण द्वारा 'स्वेच्छावादी {(वालंटरिस्टिक)—[मारिस वाइत्ज़ द्वारा दिया गया शब्द]} सौंदर्यबोधशास्त्र' की प्रस्थापना की। कला की प्रकृति के विश्लेषण में उन्होंने सिद्ध किया कि वह सामाजिक है और कला-दर्शन का यह दुर्भाग्य ही है कि वह हाथीदांत की मीनारों में रहने वालों के दृष्टिकोण से भी उलझ गया। वस्तुतः उसमें अगर एक ओर जीवन से भयभीत होकर पीछे हटने की अभिव्यंजना है तो दूसरी ओर जीवन के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति भी है। सौंदर्य केवल कला का ही सौभाग्य नहीं है अपितु हमारे सामान्य अनुभवों में परिव्याप्त विशिष्टता भी है। इसी तरह कला के विश्लेषण के अंतर्गत उन्होंने बेल और फ्राइ वाले हाथीदांत की मीनारों में आवास के विरुद्ध जिहाद बोलकर 'रूप' की जो व्याख्या की है वह सौंदर्यशास्त्र में एक क्लासिक हो गयी है। उनके द्वारा निरूपित 'रूप' **सूक्ष्म** है जिसका संबंध कलाकृति के आभ्यंतर तत्त्वों के संगठन से है। यह रूप : रंग तथा रेखा शामिल नहीं करता। बेल तथा फ्राइ का 'रूप' **स्थूल** है जिसका संबंध बाह्य संगठन से है। पार्कर के अनुसार कला संवेगों का संप्रेषण तथा आह्वान करती है। रूपवादी इसे नामंजूर करते हैं और विशुद्ध संवेग की ही चर्चा करते हैं—जीवन से बिलकुल असंपृक्त समाज से नितांत असंबद्ध संवेग की।

कला की सामाजिक प्रकृति को निर्दिष्ट करते हुए पार्कर ने संवेगों की चर्चा की है।

उन्होंने कामनाओं (डिज़ायर) की काल्पनिक तुष्टि को (सैटिस्फैक्शन) कला का महत्तम मूल्य माना है जिसका विवेचन बाद में होगा।

कला से जो तुष्टि मिलती है वह एक व्यक्ति की अद्वितीय परिस्थितियों और स्थितियों पर आधारित न होकर सार्वजनीन इंद्रिय-पैटर्नों तथा अर्थों पर आश्रित होती है। जो स्वप्न मैं देखता हूं, उसे आप नहीं देख सकते। लेकिन जो रंग मैं देखता हूं, जो रागिनियां मैं सुनता हूं, जो अक्षर मैं पढ़ता हूं उन्हें आप भी अनुभव कर सकते हैं। हम दोनों इनके एक-से अर्थ भी पा सकते हैं यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति के कलात्मक अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं; फिर भी अर्थ का मूल तत्त्व तो एक-सा ही होगा।

कला एकांत में जीवित नहीं रह सकती। नितांत वैयक्तिकता में कला ही

लुप्त हो जाएगी। हम वयक्तिक रूप से कला का आनंद लेने के उपरांत समाज में गोष्ठियों और मित्रों के बीच चर्चाएं करना चाहते हैं। कला के मूल्य की प्रेषणीयता ही सब से महत्त्व की है।

कला विषयक हमारे मानदंड भी सामाजिक हैं। प्रत्येक कलाकृति के सम्मुख हम 'क्या है'-भाव की अपेक्षा 'कैसी होनी चाहिए'-भाव से प्रस्तुत होते हैं। हमारा प्रवेश अकूता नहीं, गंभीर तथा विवेचनात्मक होता है चाहे उसके स्तर ऊंचे-निचले हों। हमारी यह दिशादृष्टि सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण द्वारा सजग-अजग रूप से बनती है। इनके निर्माण में हमारे तैयक्तिक अनुभव और तुलना तो रहते ही हैं; परंपरा तथा शिक्षा भी रहती है।

कला केवल प्रेक्षक के लिए ही नहीं, कलाकार के लिए भी सामाजिक है। पार्कर के अनुसार पपीहे की पुकार या शिशु की किलकारी की तरह कला आत्माभि-व्यंजना नहीं है; प्रत्युत कलाकार एक समूह के लिए कुछ रच रहा है—उसे खुश करने के लिए नहीं—इस बात पर ज़ोर देने के लिए कि, समूह भी उसे समझे, सहानु-भूति दे और उससे सुख हासिल करे, जो उसे सुख दे रहा है।

कला की सामाजिकता का पांचवां प्रमाण देते हुए वे कल्पना को किसी भौतिक स्मारक में बांधने की प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हैं। हम जानते हैं कि कैलास में रहने वाले शंकर किसी तरह भी इल्युरा-गुफा में नहीं रह सकते, हिमालय किसी प्रकार भी निकोलाई रोरिख के भूमि-चित्र में नहीं समा सकता। अत: एक सौंदर्यात्मक वस्तु में एक ऐंद्रियक रूप और तत्संबद्ध अर्थ होता है जिसका विलास केवल कल्पना द्वारा ही हो पाता है।

इस प्रकार उन्होंने अपने स्वेच्छावाद को स्वस्थ सामाजिक धरातल भी दिये। उनके अनुसार कलाकृति में मूल्य होता है अर्थात् यह 'तुष्टि' का स्रोत है। कला प्रकृति की कोई प्रदत्त चीज़ नहीं है; यह मानवनिर्मित है—सुख और आनंद और उपयोगिता के लिए। अत: मूल्य को तुष्टि के रूप में स्वीकार कर लेन पर कामनाओं की तुष्टि से कला तथा जीवन, दोनों को ही संबद्ध करना होगा। कामना सभी अनु-भवों की प्रेरक और अंतर्मुखी प्रयाण है; व्यावहारिक जीवन में यह लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है; काल्पनिक जीवन में स्वेच्छा की ओर। सब से बुनियादी बात यह है कि मनुष्य को जीवन में संचालित करने वाली कामना ही कला में पुन प्रकट हो उठती है। यह कामना **एक ही** है, यद्यपि उसकी तुष्टि के ढंग अलग-अलग हैं। ज़ाहिर है कि पार्कर ने यहां 'विशिष्ट संवेग' को भी चुनौती दी है।

सारांश यह है कि कामना की तृप्ति या प्राप्ति **दो** प्रकार से होती है—यथार्थ मार्ग द्वारा, तथा काल्पनिक मार्ग द्वारा। **यथार्थ मार्ग** में भौतिक या सामाजिक वाता-वरण के साथ अंतर्प्रक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप हमारे कर्म या क्रियाएं लक्ष्य की ओर उन्मुख होती हैं। इस मार्ग में कामनाओं की यथार्थ संतुष्टि होती है। यहां व्यावहारिक मूल्य हैं। **काल्पनिक मार्ग** में वातावरण से संबंध नहीं रह जाता। हम कर्ममार्गी न होकर पूर्णत: अंतर्गामी हो जाते हैं, और दिवास्वप्नों तथा निशा-

स्वप्नों के माध्यम में ही हमारी क्रियाशीलता सिमट जाती है। इस पूर्णतः आंतरिक मार्ग में कल्पना कामनाओं की तुष्टि करती है। यहां व्यावहारिक मूल्य कल्पना के धरातल पर स्थित हो जाते हैं। अतः कामनाओं की काल्पनिक तुष्टि ही कला का एक अहम मूल्य है।

कल्पना में 'विचार' या 'अर्थ' उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि 'ऐंद्रियक रूप'। काल्पनिक मार्ग में जो दिवा-स्वप्नों का माध्यम है उसमें भी तुष्टि है। कला तथा दिवा-स्वप्न, दोनों में ही वैसी ही सृजनात्मकता, वैसी ही तात्कालिक तल्लीनता व्याप्त है। लेकिन यह भी तय है कि केवल स्वप्निलता ही कला नहीं है। कल्पना में आंतरिक स्वप्न बहिर्मुखी हो जाता है अर्थात् किसी ऐंद्रियक रूप में प्रस्तुत हो जाता है। उदाहरण के लिए शब्द, ध्वनि या वर्ण जैसे माध्यम हैं। 'कलाकृति का जन्म तभी होता है जब काल्पनिक संदर्शन का ऐंद्रियक रूपों से कांतसंयोग हो।' इस संयोग में ऐंद्रियक पैटर्नों तथा अर्थों, दोनों का मेल है। इस संयोग से उत्पन्न तुष्टि में अधिकार-भावना जरूरी है क्योंकि वह व्यावहारिक मूल्य से सन्निद्ध है। ताजमहल का सौंदर्य उसमें ठीक से रहने में नहीं, अपितु उसके संदर्शन में है; उस कल्पना में कि, कोई इसमें किस तरह ठीक से रह सकता है।

इस प्रकार पार्कर ने कला को (१) **कल्पना के रूप** में स्पष्ट किया। इस पर फ्रायड के कामना-तुष्टि सिद्धांत से भिन्नता है और खेल-सिद्धांत का आंशिक आग्रह। कला के त्रिमुखी चरित्र में से (कल्पना के बाद) उसके (२) **भाषा वाले** तथा (३) **डिज़ाइन वाले** दो चरित्र बाकी रहते हैं।

वे मानते हैं कि आंतरिक (जाग्रत) स्वप्न के बाह्य ऐंद्रियक रूप में प्रस्तुत होते ही (२) **कला भाषा हो जाती है**। भाषा भी तीन प्रकार की होती है : व्यावहारिक भाषा किसी **जरूरत** का संप्रेषण करती है ताकि कुछ कार्य हो सके; वैज्ञानिक भाषा **ज्ञान** का संप्रेषण करती है ताकि प्रकृति को समझा तथा नियंत्रित किया जा सके; और कलात्मक भाषा ऐंद्रियक-काल्पनिक रूपों में **कामना** का संप्रेषण करती है ताकि पाठक और प्रेक्षक अपने काल्पनिक अनुभव में लीन हो जाए। हम भाषा-विभाजन की इन सीमाओं से असहमत हैं—कलात्मक भाषा ज्ञान और आवश्यकताओं का भी वहन कर सकती है, ऐंद्रियक-काल्पनिक बिंबों के द्वारा। इसके अलावा यह भाषावार विभाजन प्रधानतया फैंटेसी को ध्यान में रखकर किया गया है। हम इस तथ्य के प्रति पूर्णतः जागरूक हैं कि 'भाषा' का अर्थ यहां अभिधात्मक न होकर कला-पैटर्न है।

कला का अंतिम चरित्र (३) **डिज़ाइन** (आकल्पन) **वाला** है। इसके द्वारा कलाकृति के रूप की समस्याओं को रखा गया है। जिस प्रकार कोई भी रचना वाक्य-विचार (सिंटैक्स) के बगैर नहीं हो सकती; उसी प्रकार कला की भाषा का वाक्य-विचार उसका 'रूप' या 'डिज़ाइन' है। कलाकृति को किस ढंग से संगठित किया जाये, किस ढंग से उसके भिन्न अंग-उपांग संग्रथित किये जायें—रूप में इन्हीं समस्याओं पर विचार होता है।

उनके अनुसार रूप के छह सिद्धांत हैं—सुव्यवस्थित एकता (आर्गेनिक यूनिटी) का सिद्धांत, वस्तु (थीम) का सिद्धांत, वस्तुपरक विविधता (थीमेटिक वेरियेशंस) का सिद्धांत, संतुलन (बैलेंस) का सिद्धांत, विकास (इवोल्यूशन) का सिद्धांत और अंततः परंपरानुक्रम (हायरार्की) का सिद्धांत। हम क्रमश. इनका स्पष्टीकरण करेंगे।

सुव्यवस्थित एकता का सिद्धांत एक तरह से जेस्टाल्ट-पैटर्न है जिसमें कलाकृति का प्रत्येक तत्त्व उसके मूल्य के लिए जरूरी है, उस तत्त्व में अन्य कोई भी अनावश्यक तत्त्व नहीं है, उस तत्त्व को पूर्ण करने के लिए अवांतर तत्त्व की आवश्यकता नहीं है, उस तत्त्व के मूल्य को अव्यवस्थित बनाने के लिए कुछ भी नहीं है तथा सभी अपेक्षित उस तत्त्व में मौजूद हैं। एक ओर तो कलाकार की कल्पना तथा दूसरी ओर दर्शक की भी कल्पना कलाकृति में एकत्र होती हैं। क्योंकि दर्शक भी कृति में अपना (दिवा-) स्वप्न देखता है। आशंसा के क्षणों में हमारे सभी अनुभव कलाकृति में उसी प्रकार बिंदुकेंद्रित हो जाते हैं जिस तरह कांच के त्रिघन एक त्रिपार्श्व (प्रिज़्म) में किरणें एकत्र और सतरंगी हो जाती हैं। अतः प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन संपूर्ण का वर्धक होने के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए क्योंकि उसका प्रत्येक तत्त्व संपूर्ण के लिए अनिवार्य है। लेकिन आशंसा तभी समग्र और व्यापक होगी जब हम तत्त्वों का सांस्कृतिक-सामाजिक ज्ञान भी रखते हों। अजंता के अवलोकितेश्वर के संपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक ज्ञान बिना हम तत्त्वों को उतनी गहराई से नहीं पहचान पाएंगे। इसके अलावा अनेक तत्त्व आंशिक रूप में अपूर्ण भी होते हैं। इसीलिए चित्र असफल होते हैं, या नई शैलियों का विकास होता है। हमारे मत से इन दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

दूसरा सिद्धांत है **वस्तु** (थीम) का। संपूर्ण चित्र में कभी कोई तत्त्व 'आधिकारिक चरित्र' धारण कर लेता है; जैसे कोई खास रंग, कोई खास आकृति, कोई रेखा, कोई अर्थ, आदि। लियोनार्दो-द-विंची के 'रात्रि के आखिरी भोज' में ईसा मसीह का रूबेंस की 'वीनस' में दर्पण के चमकते सफेद रंग का, रेंब्रा के 'रात का पहरा' में लालटेन का, वर्मियर की 'युवती' में कलश का, माइकेल एंजिलो के 'आदम' में भुजा की रेखाओं का ऐसा ही आधिकारिक चरित्र हो जाता है। इसकी वजह से सारे मूल्य उसी स्थल पर केंद्रीभूत हो जाया करते हैं। किंतु यदि यह खूबी कई तत्त्वों में व्याप्त हो जाती है अर्थात् किसी खास तत्त्व में 'पूर्ण' का मूल्य जमा नहीं होता, तब हम विविधता पाते हैं जो एकरसता दूर करती है।

वस्तुगत विविधता तीसरा सिद्धांत है—जिसमें विस्तार और सूक्ष्मता का समावेश होता है (आवृत्ति नहीं)। यहां अधिकतम एकत्व और न्यूनतम भेद होता है। किसी चित्र में हम कई खंभे, कई वृक्ष बनाते हैं। उन्हें एक-सा नहीं होना चाहिए; यद्यपि वृक्ष या खंभे कई बार आते हैं। इसके उदाहरण छंद, संगीत या ज्यामिति हैं।

संतुलन चौथा सिद्धांत है जिसमें विपरीत (अपोजिट) या तुल्ययोग्य (कंट्रास्टिंग)

तत्त्वों का संतुलन होता है जैसे नीला-सुनहला, काला-सफेद, ठंडे रंग-तप्तरंग, दूरी का अंधकार-निकटता का प्रकाश, निकट की एक आकृति-दूर की कई आकृतियां, आदि संतुलन बनाती हैं। संतुलन में विपरीत तथा तुल्ययोग्य, दोनों वर्तमान रहते हैं। इसके द्वारा असमानों का अभियोजन होता है।

विकास-सिद्धांत ऐस्थेटिक रूप का पांचवां तत्त्व है जो कलाकृति में ही विकास-प्रक्रिया को स्थित मानना है जिसमें पहले के अंश बाद के अंशों का निर्धारण करते हैं और सभी मिलकर एक अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। नाटक या कथा का विकास इस दृष्टांत को स्पष्ट कर सकता है। चित्रों में रेखाओं का आदि-मध्य-अंत मिल जाता है; आकृतियों में हम सहज ही एक आकृति से अन्य आकृतियों या आकृति-समूह में पहुंच जाते हैं। कांगड़ा कलम का 'कालिय मंथन' चित्र या राजपूत-कलम का 'गोवर्धन धारण' चित्र ऐसा ही है जहां क्रमशः कालिय सर्प और गोवर्धन पर्वत से क्रमशः हम अन्य तत्त्वों का प्रेक्षण करते हैं। पार्कर ने विकास-क्रम को नाटकीय कला तथा अनाटकीय कला में भिन्न-भिन्न माना है। पहली कोटि में चरमोत्कर्ष तथा नियताप्ति द्वारा एवं दूसरी में तत्त्वों के उद्घाटन द्वारा विकास होता है। हम कह सकते हैं कि यद्यपि ताल या रिद्म में कुछ विकास होता है लेकिन प्रत्येक विकास तालयुक्त हो, यह संभव नहीं है। बर्गसां ने भी कहा है कि विकास का मूलचरित्र अर्थ की वृद्धि और संचय है जो तालयुक्त नहीं भी हो सकता है।

परंपरानुक्रम का सिद्धांत आखिरी है। यह एक प्रकार से शैली या कला-स्कूल का विधाता है जिसमें तत्त्वों का संगठन एक खास कलम के आधार पर हुआ करता है।

इस तरह हम देखते हैं कि पार्कर ने 'रूप' को स्थूल की जड़बद्धता से आज़ाद करके सूक्ष्म के पुनर्प्रस्तुतीकरण से स्पंदित करने की शानदार कोशिश की है। उन्होंने विषयवस्तु के काल्पनिक तथा भाषिकी-मूल्यों का भी अंगीकार किया है। फिर भी उन्होंने जिन आधारों पर इन छह सिद्धांतों का विभाजन किया है वे स्वीकार्य नहीं हो सकते—रेखा और रंग उन्होंने नहीं शामिल किये। इसी प्रकार रूप में संतुलन जैसी स्थित और विकास जैसे चंचल तत्त्व, सुव्यवस्थित एकता और परंपरानुक्रम जैसी असमान श्रेणियां सिद्ध करते हैं कि वे द्वंद्व को ध्यान में रखते हुए भी उसमें समन्वय नहीं ला सके। बहुधा चित्रकला में अधिकरण (दूसरा सिद्धांत) प्रधान हो जाया करता है: चित्रकार के अंकन के कारण या दर्शक की अभिरुचि के कारण; जैसे, बड़ी आकृति, केंद्रीय स्थिति, अर्थगौरव, अनावश्यक दीप्ति, अंकन की पच्चीकारी आदि। यदि यही एक उदाहरण लें, तो अन्य तत्त्व बिखर-से जाते हैं; कई तत्त्वों के अंतर भी पृथक् नहीं हो पाए—ताल और संतुलन, या वस्तु और वस्तुगत विविधता कोई सारपूर्ण अलग बुनियादें नहीं पेश कर पातीं।

पार्कर की इन स्थापनाओं के स्पष्टीकरण में मोरिस वाइत्ज (१९१६—) ने कहा है: "यथार्थ जीवन-अनुभवों में हम एकता, विविधता, संतुलन, विकास और परंपरानुक्रम की कामना करते हैं, लेकिन अगर हम उन्हें पाएं भी तो यदाकदा पाते हैं। तथापि कलात्मक कार्यव्यापार में—चाहे कलाकार के रूप में अथवा प्रेक्षक के

रूप में—हम अपने प्रक्षेपित अनुभवों पर काबू पा लेते हैं। इस वजह से हम अपनी 'रूप'-विषयक कामना को तुष्ट करने की स्थिति में होते हैं—कलाकृति रचकर या उसका निरीक्षण करके। इसलिए कलात्मक रूप की जड़ें मनुष्य के मूलप्रवृत्त्यात्मक (इंस्टिक्चुअल) जीवन में हैं। तो यह बात—जैसा कि वेल और फ्राइ के लिए है—मूलप्रवृत्त्यात्मकता के विरोध में काल्पनिक, विषयवस्तु के विरोध में रूप आदि जैसी नहीं है बल्कि मूलप्रवृत्त्यात्मक सत्ता ही यथार्थ जीवन स्थितियों तथा कल्पना, दोनों में ही समाहित होती है।"[१]

उपर्युक्त संदर्भ में स्वयं पार्कर का कथन भी ध्यानयोग्य है : "कला के हेतु का मूलस्थ आवेश तो कल्पना में इच्छाओं की तुष्टि की मांग है। डिज़ाइन सौंदर्य की एक आवश्यक—न कि पर्याप्त—शर्त है।...और भी, डिज़ाइन कोई स्वतंत्र चीज नहीं है जो कि काल्पनिक अभिव्यंजना पर ऊपर से थोपी जाये; अपितु, जब वह अपने में ही साध्य होती है तब, वह अभिव्यंजना का एक पूर्णतः स्वाभाविक तथा अवश्यंभावी विकास है।"[२]

निष्कर्ष यह है कि पार्कर ने कला के त्रिमुखी चरित्र का विन्यास किया है—(१) कला कल्पना के रूप में, (२) कला भाषा के रूप में, तथा (३) कला 'रूप' या डिज़ाइन के स्वरूप में। किंतु उन्होंने मूलप्रवृत्ति तथा कल्पना का जो फर्क मिटाया तथा मूलप्रवृत्ति को ही जो कल्पना (कला रूप) एवं वास्तविक जीवन (पुनर्प्रस्तुतीकरण व कामना) का स्रोत माना उससे एक क्रांतिकारी मूल्य-व्यवस्था भी उद्भूत हुई।

उन्होंने केवल संगीतात्मक मूल्यों को ही ऐसा माना है जो पुनर्प्रस्तुतीकरण के प्रसंग से अलग हैं। जिस प्रकार संगीत की ध्वनियां विशुद्ध बिंब होती हैं, उसी प्रकार चित्रकला में रेखा और रंग विशुद्ध रूपात्मक बिंब हैं। इसलिए उन्होने इन्हें रेखा और रंगों के रूपात्मक मूल्य कहा। शेष सभी मूल्यों को उन्होंने पुनर्प्रस्तुत्य (रेप्रेज़ेंटेशनल) मूल्य माना। इनके अंतर्गत कल्पना को भी शामिल करने में संभवतः उन्हें हीगेल से प्रेरणा मिली होगी (दे० त्रिपुट-चक्र)।

पुनर्प्रस्तुत्य मूल्य की **पहली कोटि** है प्रकृति के मूल्य, जैसे 'स्थान', 'प्रकाश', 'गति', 'भार' (वेट) और 'बुनावट' (टैक्सचर)। यह उनकी नयी स्थापना है जो पदार्थ में भी कल्पना और प्रतिबोध की संगति कराती है। इस पक्ष को रूपवादी छोड़ देते रहे हैं। उनके अनुसार प्रकृति के मूल्यों की उपेक्षा करके सफल अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। **दूसरी कोटि** है जीवन तथा मस्तिष्क के मूल्य, आत्मिक मूल्य। इनके अंतर्गत मानवीय अनुभवों के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, नाटकीय, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक वृत्त शामिल हैं। इस प्रकार उन्होंने लगभग सभी रूपात्मक मूल्यों को पुनर्प्रस्तुत्य मूल्यों की दोनों कोटियों में गूंथ दिया।

१. मारिस वाइत्ज़ : 'फिलॉसफ़ी ऑफ दि आर्ट्स', हार्वर्ड यू० प्रे० १९५०, पृ० २२।
२. 'दि अनलिसिस ऑफ आर्ट', पृ० ३०।

इसके लिए उन्होंने मूलप्रवृत्त्यात्मक उद्गम को आधार भी बना लिया। अपने विकास के सिद्धांत के अनुसार उन्होने कहा कि एक चित्रकार रेखाओं तथा रंगों के संगीतात्मक मूल्य से शुरुआत करके अंततः आत्मिक मूल्यों तक पहुंच सकता है; लेकिन इसका उलटा नहीं हो सकता क्योंकि रूप या डिज़ाइन के अन्य पांच सिद्धांत उसे मना कर देंगे। अतः श्रेष्ठ और महत्तम कलाकृति में संगीतात्मक मूल्य, जीवन के मूल्य, मस्तिष्क के मूल्य और आत्मिक मूल्य शामिल होते हैं। इन मूल्यों की संवृद्धि भी संगीतात्मक से आत्मिक मूल्यों के क्रम तक होती है और कृति की महत्ता भी इसी क्रम से बढ़ती है। उदाहरणार्थ, केवल धार्मिक विचारों का सर्वोदात्त पुंज भी श्रेष्ठ चित्र नहीं बना सकता और न ही मात्र रेखा-रंग उत्तम चित्र बना सकते हैं। चित्र में जितने ज़्यादा मूल्य होंगे, वह उतना ही अधिक सार्थक होगा। पिकासो के औसत एब्सट्रैक्ट चित्र की अपेक्षा रूबेंस या बोटिचेली का एक औसत चित्र अधिक सार्थक होगा—मूल्यसंवर्धन की दृष्टि से।

इस तरह पार्कर ने पुनश्च रूप में सवेगों की अभिव्यंजना की व्याप्ति की समस्या उठाई।

सी० जे० डुकासी

सी० जे० डुकासी ने पार्कर की कड़ी आलोचना की। पार्कर ने प्रेषणीयता की व्याप्ति की समस्या उठाई और डुकासी ने उसकी सीमाएं ढूंढ़ीं।

उन्होंने पार्कर के विरुद्ध कामनाओं की तृप्ति दो ढंगों से न मानकर एक ही ढंग से मानी। उनके अनुसार काम्य की प्राप्ति या तो प्रत्यक्षतः की जाती है या प्राप्ति होने की कल्पना की जाती है। यदि हम दोनों के बीच भेद करें तो पहले के अंतर्गत कल्पना में कामना की तुष्टि होती है और दूसरे के अंतर्गत कामना की तुष्टि काल्पनिक ढंग से होती है। दूसरी तुष्टि वाकई तुष्टि नहीं है। वास्तव में तुष्टि कल्पना में ही होती है।

इसलिए डुकासी रूप तथा विषयवस्तु के भेद को अधिक व्यापक मानते हैं। इसीलिए कला को भी पूर्णतः संवेगात्मक भाषा मानते हैं (आई० ए० रिचर्ड्स की भांति)। कला को केवल संवेगात्मक भाषा मानने के कारण वे रूप में भी संवेगों को प्रधानता देते हैं और रूप तथा विषयवस्तु दोनों की प्रेषणीयता घोषित करते हैं—एक ही ढंग से। उनके अनुसार रूप सरलतः एक व्यवस्था (आर्डर) या तरतीब (अरेंजमेंट) है; विषयवस्तु या पदार्थ व्यवस्थिति का परिणाम है जिसमें लोगों या घटनाओं के पुनर्प्रस्तुतीकरण के नाटकीय तत्त्व होते हैं। उनके मुताबिक रूप तथा विषयवस्तु, **दोनों** के स्पष्ट संवेगात्मक चरित्र होते हैं; दोनों ही प्रेषणीयता में भाग लेते हैं। वे यह भी मानते हैं कि साहित्य से अधिक तो चित्रकला में पुनर्प्रस्तुतीकरण की क्षमताएं हैं क्योंकि उसमें वृत्तांत के साथ-साथ अंकन भी होता है। अतः वे 'विशिष्ट रूप' की धारणा को पूरी तरह से बरबाद कर डालते हैं। उनका कहना है कि अनुभूति की भाषा में कभी भी आवृत्ति नहीं हो सकती। 'कोई भी कला दूसरी

कला की बिलकुल वैसी अभिव्यंजना नहीं कर सकती। यहां तक कि एक ही कला की दो कृतियां बिलकुल वस्तु की वैसी अभिव्यक्ति नहीं कर सकतीं।' अपने इस कथन में डुकासी रूप के तत्त्वों का ही प्रकाशन कर रहे हैं। यह संवेगात्मक अति है। यहां कलाकार तथा दर्शक, दोनों के काल्पनिक लोकों की उपेक्षा की गयी है।

× × ×

कुछ सौंदर्यशास्त्रियों ने रूप और पुनर्प्रस्तुतीकरण के कलात्मक अंतर्विलयन के संबंध में भी सोचा है।

राइस कार्पेन्टर

राइस कार्पेन्टर के अनुसार रूप और पुनर्प्रस्तुतीकरण, दोनों ही अनिवार्य हैं। जब तक कि रूप को ऊटपटांग ढंग से अदला-बदला नहीं जायेगा तब तक उसमें पुनर्प्रस्तुतीकरण रहेगा; क्योंकि रूप किसी को प्रस्तुत करेगा ही। यह ज़रूरी नहीं है कि यह प्रवेश केवल नकल हो या परिणाम हो। यह बहुधा **नवीन** ही होता है क्योंकि इसमें कलाकार के संवेग और माध्यम की रूपात्मक विशेषताओं का अंतर्विलयन होता है। इस प्रकार 'विशिष्ट ऐस्थेटिक संवेग' में रूपात्मक तथा पुनर्प्रस्तुत्य तत्त्वों का मेल है और यह मेल नवीन है। इस नवीनता के उत्पन्न होने का कारण है कलाकार द्वारा अपने साधारण व व्यावहारिक प्रत्यक्षीकरण को ध्यानयोग की दशा में एक रूप देने की चेष्टा। अतः इसमें दोनों मूल्यों के संवेगों का अंतस्संधान है। इस एक नये तत्त्व (रूपात्मक) के सम्मिलन के कारण ही सौंदर्यानुभव अधिक तीव्र और विशेष होता है, प्रकृत् वस्तुओं की अपेक्षा। उनके अनुसार विशुद्ध रूपों से प्रसूत तथाकथित गति, नाटकीय द्वंद्व, तनाव-विश्रांति, संतुलन आदि के बोध धुंधले हैं; और रोज़ की ज़िंदगी की पहचानी वस्तुओं से संबद्ध हुए बिना स्पष्ट नहीं हो सकते।

राइस का यह प्रयास भी अस्पष्ट है। उन्होंने न तो रूप की विकृति, और न रूप की विशिष्टता की सीमा का निर्देश दिया।

वाल्टर एबेल

इसी प्रकार (सन् '३६ में) वाल्टर एबेल ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि रूप न केवल पुनर्प्रस्तुतीकरण के साथ समलय होता है, बल्कि पुनर्प्रस्तुतीकरण से अपनी जीवंतता का वैशिष्ट्य भी हासिल करता है। अपने विवेचन में उन्होंने जार्ज सांतायन के मूल्य-वर्गीकरण का उपयोग किया है।

× × ×

यहां हमने मूलतः क्लासिकी तथा परिनिष्ठित धाराओं को लिया है ताकि कला के सौंदर्येतिहास की धारा से अवगत होने के उपरांत हम अगले अध्यायों में आधुनिक एवं नयी संदर्भधर्मा इकाइयों का आयत्तीकरण कर सकें।

३

भारतीय शिल्पकला के त्रिपार्श्व में काल तथा कला के दर्शनसूत्र

पंजाब के रोपड़ शहर का एक प्रागैतिहासिक टीला: चारों ओर हड़प्पा कालीन (ई० पू० २३०० से ई० पू० १७५०) सभ्यता के खंडहर हैं और दूर-दूर तक गेहूं (गोधूम) के खेत फैले हुए हैं। फागुन के अंतिम दिन! मोहेनजोदड़ो की खुदाई में तो कुछ घड़ों में गेहूं के दाने भी निकले थे। गेहूं तथा उसकी आकृति के वृत्त में ही वह आदिम कृषि-संस्कृति तथा भाषा-अभिव्यक्ति फैली होगी। परवर्ती आर्यों के शब्द-कोशशास्त्र (लेक्सिकॉन) में तो गौ और गेहूंबाली के वर्ण, आकृति और महत्त्व को लेकर गोधूम, गो, गोधूलि, गोपुर, गोत्र आदि अनेक शब्दों का एक सांस्कृतिक पैटर्न ही झिलमिला उठा। किंतु सिंधुघाटी के लोग 'घुमंतू' नहीं थे। उनकी एक अर्द्ध-व्यवस्थित कृषि-सभ्यता थी जो मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, रोपड़, लोथल (गुजरात), सुरकोडा (भुज), कालीबंगा (राजस्थान) जैसे नगर-केंद्रों से भी संचालित होती थी। लगभग पांच हज़ार वर्ष पहले की सिंधुघाटी-सभ्यता का संपर्क सुमेर, दक्षिण तुर्कमेनिया, दक्षिण भारत और भूमध्यसागरीय क्षेत्रों से भी था।

रोपड़ के उस हड़प्पीय टीले पर खड़े-खड़े मैंने प्रत्यक्षत: मनुष्य और प्रकृति की कालमैत्री के सत्य का अनुभव किया। मानवीय सभ्यता का आधार मूलत: आर्थिक है। कार्ल मार्क्स के इस सामाजिक नियम को मैंने अब स्वयंसिद्ध पाया क्योंकि सब से पहली शहरी सभ्यताएं नील नदी, दज़ला और फरात नदियों, सिंधु-गंगा नदी आदि के कछारों में ही आविर्भूत हुई थीं। गेहूं अर्थात् अन्न अर्थात् अर्थ की बुनियादी (बेसिक) समस्या ने ही सभ्यताओं के सामाजिक-सांस्कृतिक सुपरिगठन (सुपरस्ट्रक्चर) को सहवर्ती ढंग से उभारा। जोन राबिन्सन ने आर्थिक जीवन का संश्लेष भौगोलिक अवस्था से भी किया है।[1] माना जाता है कि बाद में एक बड़ी

१. देखिए 'फ्रीडम एंड नेसेसिटी', जार्ज एलन एंड अनविन, बंबई, १९७०, पृ० ९-१५।

भयानक बाढ़ में मोहेनजोदड़ो विलुप्त हो गया और सरस्वती नदी (वर्तमान घग्घर नदी) के सूख जाने पर हड़प्पा मिट गया। पहले गंगा का काफी पानी सरस्वती में जाता था। किंतु गंगाधारा के मुड़ जाने पर सरस्वती सूख गयी (भूगर्भशास्त्रियों ने ही इस तथ्य का अन्वेषण किया है)। इस तरह मोर्टिमर व्हीलर (१८९०-१९७६) की यह स्थापना अब अप्रमाणनीय हो जाती है कि आर्यों ने सिंधुघाटी-सभ्यता का विध्वंस कर दिया था। एक भाषिकी-रहस्य भी इसे खोल देता है।—उन्होंने 'इंद्र' (वर्षा बाढ़) को 'पुरेंद्र' (नगरों का विध्वंस) के रूप में पढ़कर मिथीतिहास के दीपित इशारे को मानों भुला दिया।

इससे पूर्व अर्थात् ईसा से चार हज़ार वर्ष पहले अर्थात् मोहेनजोदड़ो से भी ढाई हज़ार वर्ष पूर्व के अवशेष भरतपुर के नोह तथा भीलवाड़ा की कोटेश्वरी नदी (वर्तमान खेथारी नदी) के महासती, बागड़ा, और मावला के टीलों पर भी मिले हैं। उस पाषाण-युग में मनुष्य गोलाकार मकानों में रहने लगा था, पत्थरों के बर्तन इस्तेमाल करता था, उसे रेखांकन तथा ज्यामिति का थोड़ा ज्ञान हो चला था और अपने मृतकों को (उनके सिर पूर्व की ओर रखकर) दफनाता था। उस युग के तीरों तथा कुल्हाड़ों तथा भालों की उम्र रेडियो-कार्बन पद्धति से तय की गयी है। वैसे ही तीर-भाले अफ्रीका, यूरोप, साइबेरिया, चीन, इंदोनीसिया, फिलीपीन आदि में भी मिले हैं। क्या इन प्रागैतिहासिक बस्तियों का रिश्ता हड़प्पा-मोहेन-जोदड़ो से नहीं जोड़ा जा सकता? इससे तो एक नया सांस्कृतिक इतिहास उद्घाटित होगा। तक्षशिला में सरायखोला नामक एक प्रागैतिहासिक स्थान पर जो दो कब्रि-स्तान मिले हैं वे सिंधुघाटी की सभ्यता तथा काबुल-घाटी की सभ्यता (गांधार क्षेत्र) को बहुत पहले से जोड़ देते हैं क्योंकि इन दोनों का समय एक ही है। इस तरह नरकंकालों और बर्तनों ने मिलकर हड़प्पा-पूर्व एवं हड़प्पोत्तर कालों का सूत्रबंध किया है। यह पहले संभव नहीं था।

अब कालीबंगा, सुरकोडा, थिअर तथा लोथल की नयी खोजों के बाद हड़प्पा-संस्कृति के काल को तीन अवधियों में बांटा गया है। पहली और दूसरी अवधि का चरित्र हड़प्पीय है। तीसरी अवधि में मृत्तिका-शिल्प की संस्कृति प्रमुख हो जाती है और उसकी तुलना राजस्थान की अहार संस्कृति से की जाती है। अब मृत्तिका-शिल्प में लाल और काले और सफेद रंग के बर्तनों की कलासिद्धि जुड़ जाती है। हड़प्पा-संस्कृति की तीसरी प्रौढ़ अवधि और दक्षिण तुर्कमेनिया के बीच के संबंधों को सोवियत पुरातत्त्वविदों ने ढूंढ़ लिया है जो (हड़प्पा-युग के बाद) शकों और कुषाणों के युग तक विकसित होते गये।

सिंधुघाटी के लोगों का नृकुल (एथनोग्राफी) अभी तक विवादपूर्ण है। इसी तरह उनकी भाषा के विषय में मतभेद हैं। सोवियेत भाषाशास्त्री सिंधुघाटी-सभ्यता के लोगों की भाषा को द्रविड़-परिवार की मानते हैं। भाषा को पढ़ लेने पर आर्य-पूर्व इस सभ्यता के समाज और धर्म पर नया प्रकाश पड़ेगा। एस० आर० राव के अनुसार हड़प्पा के लोगों की भाषा भारोपीय कुल की थी। उनके अनुसार हड़प्पा,

मोहेनजोदड़ो, लोथल के पतन के पश्चात् सिंधुघाटी की तीन सौ संकेताक्षरों वाली जटिल लिपि सरलीकृत और रेखाक हो गई। उनके अनुसार यह पूर्वाग्रह मानकर आगे बढ़ना गलत होगा कि हड़प्पा के लोग कोई द्रविड़ अथवा आर्य भाषा बोलते थे। उनकी संस्कृति की तीसरी अवधि में उस भाषा के बीस मूलाक्षर रह गये थे। उनके अनुसार 'परवर्ती हड़प्पा-लिपि' पढ़ने के सूत्र की खोज बारह मुहरों की एक श्रेणी से हुई। इससे 'पा' और 'पाल', 'पालक' और 'पालमहा' शब्द बनते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ये मुहरें शासकों की रही होंगी। इसके अलावा लिपिकारों की अपनी अलग मुद्राएं भी उन्होंने पढ़ीं जिन पर 'लेहहा', 'लेहहाक' (लेख और लेखक) खुदा है। मुद्राओं से यह भी पता चलता है कि सिंधुघाटी के लोगों को जड़ी-बूटियों (सासा, लेह या लासा, पलाला, बिच्छूबूटी) तथा 'हाला' जैसे मादक पेय की भी जानकारी थी। अतः 'परवर्ती हड़प्पा-लिपि' में उन्होंने केवल उन्हीं बीस मूलाक्षरों को भाषासूत्र माना और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि तीन सौ मुहरें आंशिक रूप से वर्णमाला पर आधारित हैं और आंशिक रूप से आक्षरिक हैं। अतः राव के अनुसार ये मूल संकेताक्षर ही उस भाषा की कुंजी हैं। उनके अनुसार भी हड़प्पा ध्वनिविज्ञान भारोपीय अथवा इंडो-आर्यन भाषा से संबद्ध है।[1] इन मतों के समानांतर फिनलैंड के अस्को परपोला ने अपने साठ पृष्ठ के एक प्रबंध में बताया है कि गणितज्ञ पेंटी आल्टो और कंप्यूटर-विशेषज्ञ सेपो कोस्कनीमी के सहयोग से वे (कंप्यूटर की गणना से) तीन सौ संकेताक्षरों का पता लगाने में सफल हुए हैं। लिपि मूलतः द्रविड़ थी। किंतु कोई भी प्रत्ययों तथा उपसर्गों को शब्दों और संकेतों से जोड़ नहीं सका है। इस तरह सिंधुलिपि आज भी सब से बड़ी चुनौती बनी हुई है। हड़प्पा-युग के बाद वहां के लोग भूमि के रास्तों से कच्छ के रन को पार करके सुरकोटा (भुज) और थिअर (पूना) तक पहुंचे थे। अतः भारत में ऐतिहासिक जीवन का समारंभ आर्यों के आगमन से पूर्व हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो की शहरी सभ्यता से हो चुका था, ईसा से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व !

अत हम हड़प्पा-सभ्यता के आर्थिक मूलाधार और प्रागितिहास की नींव पर भारतीय **काल** तथा **कला** के दर्शनसूत्रों को ढूंढ़ सकते हैं। यह एक संपूर्ण सश्लेषण की प्रक्रिया है जिसमें पुरातत्त्ववेत्ता, भाषाशास्त्री, नृतत्त्ववेत्ता, भारतवेत्ता आदि का सहकार अपेक्षित है। फिलहाल हमारा अन्वेषण विशेष रूप से शिल्पकला के 'त्रिपार्श्व' (प्रिज़्म) के माध्यम से होगा।

(क)

मोहेनजोदड़ो-हड़प्पा की उत्तराधिकारी पीढ़ी ने अपने मृत्तिका-शिल्प को सिंधुलिपि से उद्भूत **संकेतों** द्वारा अंकित किया। अतः हड़प्पा-पश्चात् और आर्य-

१. कर्नाटक हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी की स्वर्ण-जयंती (१९७०) के उपलक्ष्य में धारवाड़ में पठित प्रपत्र और १ अगस्त, १९७१ को बंबई में घोषणा।

पूर्व के बीच का अंधियारा युग सचमुच अंधकारपूर्ण नहीं है। आर्यों को एक अधिक विकसित संस्कृति से मुकाबला करना पड़ा।

भारतीय मूर्तिकला का प्रारंभ मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा के नगरों में ही हुआ। जैसा हम निर्दिष्ट कर चुके हैं, इस प्रागैतिहासिक सभ्यता का स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय था और यह नदी के कछारों अथवा दोआबों वाली थी। इसका आरंभिक रूप चित्रात्मक ठप्पों में मिलता है जो विनिमय और व्यापार, पूजा और जादू, आभूषण और भाषा—इन छहों कामों के लिए इस्तेमाल हुए होंगे। आर्यों ने इस असुर (असीरियाई-जैसी या दस्यु) सभ्यता के सारे अभिप्राय (मोटिफ़) ग्रहण कर लिये जो भारत में ईस्वी सन् तक प्रचलित रहे। बाघ, गैंडे, महिष, ककुद वाले बैल, व्याघ्र, हाथी, कुरंग आदि की आकृतियों ने चरवाहे घुमंतू आर्यों को मंत्रमुग्ध कर लिया। बाद में उन्होंने अपने बाजूबंदों तथा गलहारों में ऐसी मुद्राओं को छेद कर आभूषण के तौर पर धारण किया।

मोहेनजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की बनी कुछ मूर्तियों तथा कुछ खुदी हुई मुद्राओं ने वैदिक काल के पश्चात् उपनिषदों के युग में अपना असर डाला। मूर्तियों और मुद्राओं में से एक सीधे खड़े **नग्नदेव** की है जिसकी शिश्नमुद्रा एक इंद्रिय-विजेता मनुष्य की धारणा का पहला संकेत करती है। एन० रामचंद्रन तो इसकी परंपरा को श्रवणबेलगोल के जैन तीर्थंकरों तथा बाहुबली जैसे तपस्वियों से जोड़ते हैं। एक दूसरी मुद्रा में रुद्र **महादेव** (पशुपति) का चित्रण है जो नाना जीव-जंतुओं से घिरे हुए हैं और उत्थित शिश्न (ऊर्ध्व-रेतस) के प्रदर्शन द्वारा उर्वरता-शक्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। पद्मासनबद्ध भूमिस्पर्श मुद्रा वाली **ध्यानदेव** की मूर्ति शिव एवं बुद्ध—दोनों का प्रेरणाकेंद्र बनी जिसका प्रतिफलन ई० पू० ८०० से १२०० तक बौद्ध सिद्धों तथा शैव नाथों के संगम में, तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में शिव और बुद्ध की मैत्री में हुआ। मोहेनजोदड़ो ने ही हमें **एशियाई वीनस** भी प्रदान की। वह एक तन्वंगी युवती है जो अपनी क्षीण कटि पर हाथ धरे सिंधुपार गये हुए अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में ध्यानमुग्ध है। उसकी झूलती हुई दूसरी भुजा टूट गई है।

हड़प्पा-केंद्र की मूर्तियां अपेक्षाकृत ज़्यादा सजीव और अभिनव हैं। हड़प्पा के दो **नर-धड़ों** ने तो भारतीय कला के आधुनिक दिग्दर्शन को आंदोलित किया है। एक खड़े हुए मनुष्य का ओजयुक्त गतिशील धड़ है तो दूसरा एक चुस्त नर्तक का गतिशील शरीर। हड़प्पा में ही एक नग्न रमणी की मिट्टी की प्रतिमा मिली है जिसके गर्भ से एक पौधा उग रहा है। वनदेवी इरा का यह आदिम रूप है और इसे परवर्ती (ई० पू० प्रथम शती) शालभंजिकाओं से भी संबद्ध किया गया है। इसी कड़ी में आर्यों ने सोमलता को चंद्रमा से संबद्ध किया होगा। वृक्षों को देवों से संबद्ध करना निश्चित रूप से आर्य-पूर्व विशेषता है। इस तरह हमें मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति में जिस **मनुष्य का बिंब** मिलता है वह संतुलित, संयमी और स्वस्थ है; वह प्रकृति के साथ कांतमैत्री में आबद्ध और सेक्स कुंठाओं से विमुक्त है।

यही बात पशु-जगत के संदर्भ में मिलती है। सिंधु-संसार की पशु-आकृतियों

के अंकन से उस समाज की मनोवृत्ति, अभिरुचि तथा यथार्थता के प्रति जागरूकता परिलक्षित होती है। विभिन्न सभ्यताओं में मानव-आकृति तथा पशु-आकृतियों के बीच वरीयता की होड़ लगी रही है। आदिम कला में शिकारी-मनुष्य तथा किसान आदमी ने पशु-संसार के प्रति दो विभिन्न अभिवृत्तियां प्रकट की हैं। कृषि-संस्कृति में पशु पालतू हो जाता है तथा भारवाहन भी। शिकारी मनुष्य के लिए वह आखेट और वध्य होता है। सिंधु-समाज में हम गुफावासी तथा शिकारी मनुष्य का आदिम विस्मय तथा घातक भय नहीं पाते। हड़प्पियों के पशु-वर्ग में ककुद वाला बैल, कुत्ता, बकरा जैसे पालतू पशु; और सिंह, हाथी, गैंडा, महिष जैसे वन्य पशु; तथा हरिण, बंदर, मगर, सर्प आदि शामिल हैं। लगता है कि तब तक हाथी और भैंस भी गार्हस्थिक पशु बना लिये गये थे। हड़प्पा के समूचे पशु-अंकन में कहीं भी न तो आखेट दृश्य है, और न ही युद्ध दृश्य। ठप्पों में जो पशु हैं वे स्वच्छंद नैसर्गिकता से पूर्ण यथार्थ हैं; न कि प्रतीक। ज़िमर उन अंकनों को प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया की श्रेष्ठ परंपराओं से तुलनीय मानते हैं। वस्तुतः उनमें 'अतिरिक्त अतिरंजित नैसर्गिकता—' है! उनकी परंपरा का ही वहन मौर्ययुग के पशु-शिल्प में हुआ है।

इस तरह अपने संस्कृति-चक्र और सौंदर्यबोध-दर्शन में घुमंतू आर्यों को एक श्रेष्ठ विरासत मिली। उन्होंने लौह-प्राविधिकी इन असुरों से सीखी (उन्होंने असीरियाइयों तथा सिंधुओं को एक समझा)। पर्वत की कंदरा (दृढ़ दुर्ग) में रहने वाले लौहासुर को मारने वाला मिथक कौमोद बनाने की लौह-टेकनालाजी को सूचित करता है। बड़े-बड़े पुरों में रहने वाले मोहेनजोदड़ो-हड़प्पा-रोपड़-लोथल आदि के व्यापारीगण युद्धप्रिय और फुर्तीले नहीं रह सके। उनके बीच कृषि-संबंध थे और एक व्यापारी-वर्ग उभर चुका था। अतः वे आदिम साम्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत गोत्रों और कुलों में एकताबद्ध सामूहिक आर्यों से हार गये होंगे। और, इस तरह भारत में एक अंतर्राष्ट्रीय सभ्यता के सूत्र छिन्न-भिन्न हो गये। आर्यों को श्रेष्ठता और वीरता, पवित्रता और लौकिकता का गर्व था। वे भारोपीय कुल के थे। बाद में उन्होंने ही मध्य एशिया, ईरान और भारत में आगामी नयी सभ्यताओं की नींवें रखीं। ईरानी तथा भारतीय आर्यों की अवेस्ता तथा वैदिक भाषा का मूल शब्द-भंडार और व्याकरण लगभग एक जैसा है। भारतीय आर्यों तथा ईरानियों की अर्थ-व्यवस्था में अभ्रमणशील तथा अर्द्धभ्रमणशील पेशों, जैसे पशुपालन और कृषि की प्रधानता थी; उनके विनिमय और वैभव का आधार पशु (गौ) थे। उनका समाजगठन परिवारों, कुलों और गोत्रों में बंटा था और आरंभिक श्रमविभाजन (वर्ण) भी हो रहा था। पुरातात्त्विक खोजों से यह सिद्ध होता है कि ईसा-पूर्व की दूसरी सहस्राब्धि के मध्य अथवा उत्तरार्द्ध में मध्य एशिया से चरवाहे आर्य-कबीलों का निष्क्रमण शुरू हुआ तथा ई० पू० १ ०० से ई० पू० १००० बीच तक वे भारत आ चुके थे। तब तक हड़प्पा-सभ्यता के समृद्ध शहरी केंद्रों की अवनति होने लगी थी। वे अपने साथ कुछ हस्तशिल्प और आरंभिक धातुविद्या भी लाये थे। पुरातात्त्विक आंकड़ों और भाषावैज्ञानिक सामग्री से प्रकट होता है कि आंचलिक संस्कृतियों ने भारतीय आर्यों की

संस्कृति को प्रभावित किया। इस तरह प्राचीन भारतीय सभ्यता की विरासत में आर्य-पूर्व तथा आर्य-तत्त्वों का सामंजस्य अनिवार्य है।

ऋग्वेद के देव-मंडल और पशु-मंडल भी इस सूत्र को जोड़ सकते हैं। गोत्र-नामों (टोटेम) के अंतर्गत मत्स्य, गोतम, अजस्, शुनाक, कौशिक, माण्डूक्य आदि में से अनेक हड़प्पा के परिचित थे। किंतु यहां तक आकर वे दैवी तथा दिव्य हो गये। उदाहरणतः, अजस् पूषण का वाहन बना; भालू रुद्र का। अश्व की यज्ञबलि (अश्वमेध) की धारणा ने मनुष्य तथा प्रकृति की एक नयी मैत्री का संदर्शन दिया। अश्व और विश्वदेव (ऋग्वेद १, १६४) पर्याय हो गये। अतः अश्वमेध और सृष्टि के अंग-अंग के रहस्यों की ज्ञान-शक्ति का समीकरण कायम हुआ। यज्ञ के माध्यम से वे एक ओर प्राकृतिक शक्तियों को देवशक्तियां मानकर भौतिक खुशहाली के लिए प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर पूजित तथा पवित्र पशुओं के सहकार से अपनी समाज-व्यवस्था को संगठित करते हैं। अतएव उनकी यथार्थता का देवमंडल एवं पशुमंडल में प्रति-विन्यास हुआ है।

अब आगे का दिग्दर्शन करने के पहले हम भारतीय कला के त्रिपार्श्व में काल एवं कला के कुछ दर्शन-सूत्रों को संलक्षित करना चाहेंगे।

मोहेनजोदड़ो से लेकर खजुराहो तक भारतीय शिल्प का विकास ठप्पों से लेकर एक 'संश्लिष्ट शिल्पकला' (टोटल स्कल्पचर) का विकास है। भारतीय सृजनात्मक प्रतिभा ने लगभग एक ही कालखंड में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के रूप में 'संश्लिष्ट नाट्य' (टोटल थियेटर) का भी उन्मेष किया। यह समय शुंगों (ई० पू० १८८-३०) तथा उन मध्य एशियाई कुषाणों (ई० पू० ५०-३००) का था जो एक विदेशी परिवेश के घुमंतू कबीलाई समाज से भारतीय कृषि-समाज में दाखिल हुए। एक बार पुनः दो संस्कृतियों के अंतरावलंबन के फलस्वरूप एक सांस्कृतिक क्रांति घटी। हम इस कालखंड को जान-बूझकर केंद्रीय भूमिका के रूप में उपस्थित कर रहे हैं क्योंकि इसी के अंतराल में से 'त्रिमूर्ति' की धारणा वाला **अवतारवाद** अभ्युदित हुआ; वात्स्यायन का **कामसूत्र** रचा गया; 'मनुस्मृति' परिपूर्ण हुई; 'गृह्यसूत्र' संविधानित हुए; 'नाट्यशास्त्र' संगृहीत हुआ; चतुर्वर्ग एवं वर्णाश्रम के नियमों को रूढ़ प्रतिष्ठा मिली; और 'काव्य' (रामायण) तथा 'इतिहास' (महाभारत) अपने अंतिम रूप में परिष्कृत हुए। ऐसा लगता है कि भारतीय चिंतन अपनी पूर्ववर्ती शताब्दियों की सभी बौद्धिक परंपराओं तथा उपलब्धियों को वर्गीकृत तथा संग्रथित करने में विभोर है। इस सांस्कृतिक रिनैसां ने वह सब कुछ प्राप्त किया जो पहले यूनानी दुनिया ने, अथवा बाद में इटैली के रिनैसां ने पाया ('ग्रीक और आर्य' शीर्षक पहले अध्याय में हम पहली उपलब्धियों का बृहद् अनुशीलन कर चुके हैं)।

अतः **'हिंदुई (हिंदू नहीं) शिल्प'** में बहुत कुछ क्रांतदर्शी है जिसकी भूमिका बताना पूर्वापेक्षित है। पहले कमियों पर भी गौर कर लिया जाये। एक ओर तो भारतीय शिल्प एवं वास्तुशास्त्र ईस्वी सन् के पश्चात् यथेष्ट रूप से परिपाटीबद्ध भी होता चला गया जिससे मुद्राओं एवं आकृतियों की अमौलिक आवृत्तियों की भरमार

हो गयी। दूसरे, हिंदुई शिल्पकारों को बहुधा शूद्र जाति में रख दिया गया और उनकी बस्तियां पवित्र एवं सवर्ण नगरों के प्राकारों के बाहर कर दी गयीं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से यह भी पता लगता है कि शिल्पियों की 'श्रेणियां' (गिल्ड) होती थीं जो या तो शहरपनाह के बाहर झोंपड़ियों में रहती थीं अथवा इनके खेड़े (क्षेत्र) या माजरे या गांव हुआ करते थे। यह भी पता चलता है कि आश्रयदाता सामंत या सम्राट दंडस्वरूप इनके अनूठे कुशल हाथ कटवा देते थे किंतु सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने ऐसा क्रूर विधान समाप्त कर दिया। एक तीसरी बात यह है कि इन 'श्रेणियों' के अनूठे शिल्पियों के व्यक्तिगत नाम हमें मालूम नहीं हैं जिससे कि हम पश्चिम की कला के इतिहास की तरह अथवा एक कालिदास, एक श्रीहर्ष, एक आर्यभट्ट, एक शंकराचार्य की तरह उनके व्यक्तित्व और शिल्पत्व का अध्ययन नहीं कर सकते। चौथे, सभी भारतीय शिल्पों के न तो अखिल भारतीय एलबम या सूचीपत्र हैं; और न ही उनके क्रमांक तथा शीर्षक अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर निर्धारित हुए हैं। अतः उनके महंगे फोटोचित्रों के बगैर हम सार्थक मीमांसा तथा आशंसा तक से वंचित रह जाते हैं। बहुधा देशाभिधान (गांधार, मथुरा, अमरावती), अथवा कालाभिधान (शुंग, गुप्त, भारशिव, नाग) के आधार पर मूर्तिकला की मीमांसा करने की हमारी विवशता जड़ जाती है जबकि आंदोलन या कलाधारा वाली प्रणाली अस्फुट रह जाती है। इन कमियों पर ध्यान दिये बिना यह दर्शनबंध अपना अभिलषित प्रयोजन ढूंढ़ता रहेगा।

(ख)

मोहेनजोदड़ो-हड़प्पा के उत्तराधिकारियों के मिट्टी के बर्तनों के संकेत-चित्रों, तथा आर्यों के देवमंडल एवं पशुमंडल की पवित्रादिम धारणाओं के साथ-साथ हम पुनः पुरातात्त्विक इतिहास में अनुप्रवेश करते हैं।

मौर्यों (ई० पू० ३२५–ई० पू० १८८) को वैदिक संस्कृति की अपेक्षा हड़प्पा-परंपरा के संपर्क में अधिक आना पड़ा। मौर्यों के शाही साम्राज्य का अंतर्राष्ट्रीय विस्तार हुआ और अनेक क्षेत्रों में उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सिंधुघाटी सभ्यता के जीवंत नमूनों के संपर्क में आना पड़ा। हड़प्पा-संस्कृति का संपर्क तथा संश्लेष ईरान (आर्यान), आयोनिया (यूनान), असीरिया, बेबीलोन आदि तक था ही। अतः मौर्यों को नरधड़ के शिल्प, मृत्तिका की मूर्तियों, बर्तनों आदि की एक साक्षात् आर्यपूर्व विरासत भी मिली।

मौर्यों को पूर्ववर्ती सोलह महाजनपदों में एकसाथ विकसित **राजतंत्र** और जातीय **गणतंत्र** के अनुभवों की विरासत भी मिली थी। चंद्रगुप्त मौर्य को यूनानी (ग्रीक) संस्कृति के संपर्क में भी आना पड़ा जिसका सर्वाधिक प्रभाव नाट्य और वास्तु-कला पर पड़ा। इस भांति असुरों (असीरियाइयों) की उच्चकोटि की प्रासाद-कला (लोहे तथा लकड़ी का उपयोग करने वाली), ग्रीकों की सुंदर नक्श वाली शिल्पलेखा, तथा बेबीलोनियनों की जादुई अभिप्रायों को मिलाने वाली कलादृष्टि को घुलाने का काम

मौर्यकाल में हुआ। वास्तु (भवन) तथा उसके अंतर्गत शिल्प (मूर्तियां) का निवेश इस काल में समन्वित हुआ। सम्राट अशोक ने बुद्ध के धर्मचक्र (चाणक्य-सम्मत-'चक्रवर्तित्व' के स्थान पर) की विजय को अंगीकार किया। अशोक (ई० पू० २७७–२३६) ने पर्वतों, शिलाओं, बड़े-बड़े स्तंभों पर अपनी धर्मलिपि खुदवायी। पर्वतों तथा शिलाओं पर धर्मलिपियां खुदवाने की इस परंपरा का परवर्ती उत्थान दो प्रकार से हुआ : एक तो अजंता, हाथीगुंफा, कान्हेरी आदि में विराट् पर्वत खोदकर चैत्य बनाये गये; दूसरे, महाबलीपुरम में पूरे-के-पूरे पर्वत-टीबों पर ऐतिहासिक-पौराणिक घटनाओं के बड़े-बड़े कथादृश्य खोदे गये। अत: धर्मलिपि से कथाचित्रलिपि की संरचना हुई और उसके माध्यम पर्वत हुए। विश्व की कला में यह एक बेजोड़ मिसाल है।

अशोक ने स्तंभों पर मृग, हाथी, सिंह, अश्व और वृषभ की पालिशदार भव्य मूर्तियां प्रतिष्ठित कीं। उनका धार्मिक प्रयोजन स्पष्ट है : तथागत शाक्यसिंह (सिंह वंश के) क्षत्रिय थे, वृषभ राशि के थे, हाथी रूप में गर्भ में आये थे, और उन्होंने कंठक अश्व को छोड़कर वैराग्य लिया था। इसके अलावा मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। हमें यह याद ही है कि अश्व को छोड़कर बाकी पशु मोहेनजोदड़ो-संस्कृति के भी अंग थे। इस तरह अशोक ने मोहेनजोदड़ो-संस्कृति की पशु-छवियों को ही बौद्ध प्रतीकों में रूपायित कर दिया। उनके सौंदर्यतात्त्विक मूल्य बहुत ऊंचे हैं। हड़प्पा-युग में वे **अतिरंजित स्वाभाविकता** से पूर्ण थे तो अशोक-काल में उनमें एक **भव्य अलगाव** परिलक्षित होता है। "अशोक के पशुओं का प्रकृत्‌वाद हड़प्पा के पशुओं के अतिरंजित प्रकृत्‌वाद से भिन्न है। हड़प्पा के पशुओं में परिदर्शित अभिव्यंजकता अब अंतर्मुखी हो जाती है—पशुशिल्प के क्षेत्र में भी। यही बिंदु है जहां से पश्चिम एशिया, मिस्र और यूनान की प्राचीन तथा क्लासिकी सभ्यता के पशुओं तथा अशोक और उनके बाद भारत में अंकित होने वाले पशुओं के बीच अंतर आता है।"[1] एक बात और भी प्रकट होती है कि अशोक के समय में पत्थर पर वज्रलेप करने वाली रासायनिक प्राविधिकी तथा लोहे के औज़ारों का भी अद्वितीय अन्वेषण हुआ जिससे शिल्पकला में सफाई आयी। यह भी प्रकट होता है कि अशोक के समय में शिल्पिकों की वर्गीय तब्दीली हुई। वे लोकजन की अपेक्षा राजकर्मचारी और संस्कारित व्यक्ति हो गये क्योंकि इतनी नक्काशी तथा ऐसी परिष्कृति लोककला में प्राय: नहीं मिलती। अशोक के समय में बौद्ध वास्तु का प्रयोजन सप्तभौमगृह हो गया। सभी सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तु एवं मूर्तिकलाओं की कांतमैत्री इस समय हुई। इस प्रसंग में हमें मंदिर-वास्तु की चर्चा कर लेनी चाहिए। बौद्धों के सप्तभौमगृह के असमान ब्राह्मणों के मंदिर-वास्तु का प्रयोजन **पर्वत** रहा है : सुमेरु, मंदर,

१. 'एनीमल्स इन अरली इंडियन आर्ट' शीर्षक लेख, कल्याण कुमार गांगुली, पृ० ३४। 'इंडियन ऐस्थेटिक्स एंड आर्ट एक्टिविटी' में संकलित। इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला, १९६८।

कैलास अथवा त्रिकूट। इस भांति हम अब मंदिर-वास्तु और बौद्ध-वास्तु—इन दो समानांतर धुरियों का आविर्भाव पाते हैं।

मोहेनजोदड़ो-हड़प्पा की तरह मौर्यकाल में ही मृण्मूर्तियां (टेराकोटा) सर्वाधिक पकाई गईं। शिल्प के एक नये माध्यम के समग्र उपयोग की संभावनाएं भी यहीं से शुरू हुईं। यही नहीं; पत्थर के अकार्बनिक गुणों की जांच करके देश के चुनार स्थल (ज़िला मिर्ज़ापुर, उत्तर प्रदेश) के पाषाण चुने गये। फलतः चुनार के पत्थरों की मूर्तियां तथा लाठें देश भर में फैली हैं। अंततः मौर्यकाल में हमें एक नया सौंदर्यतात्त्विक सिद्धांत भी प्राप्त हुआ जो भारतीय कलादर्शन में सर्वप्रथम उभरा—अतिरंजित अस्वाभाविकता अर्थात् किमाकार या विद्रूपता (ग्रोटस्क) के अभिप्राय (मोटिफ़)। पंखों वाले सिंह, नर-अश्व, नर-सिंह, गज-मकर, सिंह-नारी, गरुड़-सिंह आदि के विलक्षण अभिप्राय एक ओर अवतारवाद (नर-सिंह, नर-वराह आदि) में पर्यवसित होने को उभर आये, दूसरी ओर प्रकृति और मानवेतर प्राणियों के मानवीयकरण (पर्सनिफिकेशन) की दृष्टि जन्मी और तीसरी ओर वैदिक दिव्यबोध अतिप्राकृत सौंदर्यबोध में चमत्कृत हुआ। ये अभिप्राय कुषाणों तक ने ग्रहण किये। किमाकार (ग्रोटस्क) का ऐस्थेटिक सिद्धांत असीरियाई-ईरानी कला से भी प्रभावित लगता है। साहित्यशास्त्र में इसका रूपान्वयन बीभत्स के अंतर्गत प्रेतों, भूतों आदि की परिकल्पना में हुआ। यह सिद्धांत व्यवस्था के सौंदर्य के नियमबद्ध संतुलन को भंग करता है, आकृति की प्राकृतिकता को विकृत करता है, निषेधात्मक अतिरंजना द्वारा यथार्थता का बंकिम प्रत्यक्षीकरण कराता है, मनुष्य की क्षुद्रताओं तथा देवताओं की विचित्रताओं को उजागर करने के लिए अन्य प्राणियों को प्रतीक रूप में चुनता है, जादुई एवं मिथकीय प्रयोजनों को पूरा करता है, तथा फांतासी के तंत्र द्वारा अभिनव और कुतूहलपूर्ण और संभावित छवियों वाले सौंदर्यबोध का अन्वेषण भी करता है। मौर्यों ने चमत्कार और किमाकार का यह सौंदर्यबोधपरक सामंजस्य कराया। उनकी संपूर्ण सौंदर्यतात्त्विक संस्कृति मूलरूपेण चार पशुओं (गज, सिंह, अश्व, वृषभ) के इर्दगिर्द घूमती हुई मालूम पड़ती है। ये **प्राकृतिक उदात्त** के शीर्षक हैं, धार्मिक उपासना के प्रतीक हैं, तथा किमाकार हेतुक अभिप्राय भी हैं।

धर्म को केंद्र बनाकर शिल्पकला का दूसरा आंदोलनकारी परिवर्तन **शुंग काल** (ई० पू० १८८-३० ई०) में हुआ। अब ब्राह्मण-धर्म केंद्र में आया। शुंग ब्राह्मण थे।

मंदिर के वास्तुशास्त्र का नियमन शुंग सम्राटों के काल में हुआ। ब्राह्मण-धर्म में कैलास, त्रिकूट, मेरु को देवनिवास माना जाता है। इसलिए वास्तुकों ने **शिखर-शैली** ग्रहण की। क्योंकि पर्वतों में सिद्ध, यक्ष, गंधर्व आदि अर्द्ध-देवयोनियां (पहाड़ी प्रजातियां) भी क्रीड़ा-विलास करती हुई मानी गयी हैं। इसलिए मंदिर के बाह्य खंडों में प्रेमक्रीड़ा-रत **मिथुन** मूर्तियां (विशेषतः गंधर्व मिथुन मूर्तियां) खोदी जाने लगीं। इस काल की इस शुरुआत का उत्कर्ष उत्तर-मध्यकाल में एक ओर खजुराहो तथा भुवनेश्वर के 'मंदिर-निवेश' में होता है, तो दूसरी ओर सिद्धों की सहज सुंदरी के संग 'महामुद्रा साधना' के तंत्र में कालिदास ने 'मेघदूत' में

सुरति-गोपन सिद्ध-मिथुनों का, (उनसे पूर्व) वाल्मीकि ने सुंदरकांड में रमण करती हुई देवयोनियों का वर्णन किया है। इस तरह शुंगों ने हमें कामसूत्रीय अभिप्रायों के अधिग्रहण की मधुर ललित दिशा दी: 'मिथुन' का अभिप्राय अपनी आदिम स्वच्छंदता और स्वास्थ्य के साथ काम एवं रति का, नर और नारी का, पुरुष और प्रकृति का जो ऐक्य कराता है वह एक ओर मानवीय अपूर्णता की क्षतिपूर्ति करता है, दूसरे लौकिक इच्छाओं के भोग के द्वारा भी मोक्ष को स्वीकार करता है, तीसरे मनुष्य की जीवनशक्ति की एक नयी चिति-मूलक (साइकिक) परिकल्पना करता है और अंततः इसे संपूर्ण सृष्टि की मांगलिक शक्ति मानता है। इस तरह मिथुन-अभिप्राय और अर्द्धनारीश्वर की धारणा दो व्याख्याएं हैं—कामशक्ति की। शुंगों के बाद मिथुन का अभिप्राय पशु-मिथुन (सिंह, हाथी, हिरण आदि) तथा नाग-मिथुन तक में प्रसारित हुआ। फलस्वरूप, 'काम' सौंदर्य और उल्लास का हेतु हुआ। मनुष्य के भावों का शुद्ध और स्वच्छंद अनुरंजन कराने में मिथुन का अभिप्राय सर्वोच्च महत्त्व वाला हो गया। इस तरह भाव की सात्त्विक विमुक्ति की कल्पना, काम के सौंदर्यवर्धक एवं उल्लासपूर्ण होने की धारणा—इन दोनों ने मिलकर इस काल में 'रस' की पहली अनिवार्यता का अनुभव कराया। अतएव रस का लौकिक भोग और रति के स्थायी भाव का सौंदर्य-तत्त्व, यहां से प्रतिफलित होने शुरू होते हैं।

शुंग काल में ही यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों की भी एक धारा निकल चली। कई मृण्मूर्तियों में नृत्य करती हुई यक्षिणियों की मुद्राएं हैं तो कई में वे अपना कटिबंध या मेखला संवार रही हैं। भरहुत की वेष्ठनी तथा तोरण में खड़े यक्षों, नागराजों तथा यक्षिणियों की नमस्कार करती हुई प्रतिमाएं हैं। बहुधा यक्षिणियां दोहद करती हुई दिखाई गयी हैं। वे शालभंजिका, पुष्पभंजिका कहलाती हैं।

शुंगों के समय में नयी-नयी मुद्राओं का भी अन्वेषण हुआ अर्थात् नृत्य और नाट्य, आचरण और अनुष्ठान के विधानों में वृद्धि हुई: नृत्यमुद्राएं, दोहद-मुद्राएं और अनुष्ठान-मुद्राएं! समानांतर ही स्मृतियों और सूत्रों को भी परिपाटीबद्ध करने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। मुद्राओं के ही सहवर्तन में—सांची तथा भरहुत के स्तूपों में विशेषतः—पुनः पशु-पक्षी-जगत् अंकित होता है। तोरणों पर तो हाथियों का अपना अलमस्त समाज है। हाथी आरंभिक आर्यों के लिए विस्मय था। कालांतर में वह—हड़प्पा के शहरों से होता हुआ—बुद्ध के अवतारत्व से जुड़ा (श्वेत हाथी के रूप में वे गर्भ में आये थे) और विवेक तथा उदात्तता का सूचक हुआ। शुंगों के समय में वह सम्राटों तथा श्रेष्ठियों के ऐश्वर्य तथा शक्ति का सूचक होकर आया। आर्यों ने भी इसे इंद्रवाहन ऐरावत बनाया। गुप्तों के काल में वह गणेश (गज-नर) भी हुआ तथा अष्टदिक्पाल भी। वह ऐश्वर्यदेवी लक्ष्मी का सेवक भी बना। सर्वांततः वह भी एक अभिप्राय (मोटिफ़) हो गया। अजंता और इलौरा के भित्ति-चित्रों में, महाबलीपुरम के अर्जुन संबंधी शिला-फलक तथा सहदेव-रथ में हाथियों का अंकन हुआ। सांची में तो वह प्रतीक और अलंकरण—दोनों रूपों में प्रतिष्ठित

हुआ। सांची और भरहुत में तो हाथी के साथ सिंह, महिष, मृग, नाग, हंस आदि भी उत्कीर्ण हैं। मानो समस्त प्रकृति बुद्ध के दर्शनों के लिए श्रद्धा एवं करुण भाव से उमड़ आई है। यद्यपि बुद्ध की छवि का अंकन नहीं हुआ है (यह हीनयान युग था) तथापि चरण, पादुका, धर्मचक्र, त्रिरत्न, छत्र और आसन के प्रतीकों से उन्हें प्रति-विन्यस्त किया गया है। सांची-भरहुत में शिल्पकला का एक नया सिद्धांत विकसित हुआ : जातकों से कथादृश्य आलेखित करना अर्थात् शिल्पकला और काव्यकला की मैत्री करना ! शिल्पकला के माध्यम से कथादर्शन की इस अनूठी विधि में एक ही फलक पर बुद्ध दो-तीन बार तक अंकित होते हैं क्योंकि फिल्म के चित्रों की तरह दृश्यपटल और कथागति बदल जाती है। कथाचित्र में चलचित्र की-सी गत्यात्मक आवृत्ति करने का यह सिद्धांत बाद में राजपूत कलम तथा कांगड़ा कलम तक में सर्वाधिक गृहीत हुआ।[1] यही नहीं, काव्य और शिल्प की तरह ईसा पश्चात् नवीं शती से काव्य और नाटक के संयोजन की सैद्धांतिक प्रतिपत्तियां भी भट्टनायक एवं अभि-नवगुप्त द्वारा की गईं। वस्तुतः विभिन्न माध्यमों के संक्रमण की यह पद्धति आधारी माध्यम को नाटकीय गति और यथार्थता की चमत्कृति देती है। इस पद्धति में दृष्टि-क्रम (पर्सपैक्टिव) तो भंग होता है लेकिन एक चक्राकार दृष्टिपथ बन जाता है। इस दृष्टिकोण से भारतीय चित्रों या शिल्पों में महल के द्वार से लेकर अंदर तक के शयन-कक्ष का, विभाव से लेकर स्थायी भाव तक का अंकन या अनुरंजन हो सकता है क्योंकि नीचे से ऊपर तक पर्तों के ढंग पर उन्हें अनुक्रमांकित कर दिया जाता है। भरहुत और सांची ने भारतीय कला में इस परिमंडलाकार अंकन का अद्वितीय सिद्धांत दिया है जो एक फलक को विभिन्न माध्यमों वाली रंगमंचीय गतियां देता है। देश-अक्ष में ही काल-अक्ष की अन्विति की यह चेष्टा स्वयं में महान् है—काल-चक्र की तरह उसमें ही एक-केंद्रीय दिक्चक्र को भी घुमा देने की चेष्टा ! हो सकता है कि यह कैलास-शिखर और सप्तभौम-गृह का रूपांतरित नमूना हो क्योंकि अजंता की आरंभिक (बौद्ध) चित्रकला में भी यही यथार्थता-दर्शन परिलक्षित होता है। सप्तभौम-गृह शैली में भी भवन के कई खंड समेट कर एक के ऊपर दूसरे रख दिये गये हैं।

शुंगों की कला में लोकजीवन का भी मार्मिक अंकन हुआ है। इससे ज़्यादा लोकजीवन का उद्धार बस बाद में संत और भक्त कवियों के काव्य में ही हो सका है। मनोरंजन और इहलौकिकता का यह हाशिया बाद के सामंतीय कालों में क्षीणतर होता गया। कला के इतिहास में 'गाथा सप्तशती' एवं 'आर्यासप्तशती' में भी भोगकेंद्र में ऐसा शैलीवादी अंकन हुआ है। लोक कारीगरों द्वारा स्वतंत्रता और स्वचेतना की दशा में यह कला उन्मीलित हुई है। अतः उनमें तीन आयामों वाले

1. जैसे एक ही फलक में पहले कृष्ण कंस के द्वार पर दिखाये जाएंगे, दूसरे में अखाड़े में मल्ल को हराते हुए दिखाये जाएंगे, और तीसरे में वे कंस का वध करते हुए दिखाये जाएंगे। इस तरह एक ही फलक पर तीन कृष्ण अंकित होंगे।

शिल्पकौशल का विकास नहीं हुआ। अभी भी वह ढाई आयामों वाला रह गया है जिससे मूर्तियां पृथक् गढ़ी जा कर बाहर नहीं आ सकीं बल्कि द्वार, तोरण, स्तंभ आदि में आधे आयाम (आधी चौड़ाई ही उभरी) के साथ धंसी रहीं। अतः वे चपटे डौल वाली मालूम होती हैं। इसके अलावा इन मूर्तियों में ठीक-ठीक शरीर-यांत्रिक (एनाटामिकल) अनुपात भी नहीं है। इससे आकृतियों से बंधी युगीन यथार्थ-दृष्टि के अलावा कौशल के विकास के स्तर का अनुमान हो सकता है। फिर भी इन मूर्तियों में आकृतियों का यथार्थ और जीवंत और सहज स्पर्श है जो हमें निर्भीक तथा स्वस्थ सौंदर्यबोध से अभिभूत कर लेता है। यक्षिणियों की मूर्तियां निर्वसन (नेकेड) हैं; नग्न (न्यूड) नहीं। उनकी कमर बेहद पतली, कुच कलशों की तरह बिल्कुल गोल, और नितंब तथा जंघाएं बेहद पृथुल हैं। उनका ठिगनापन भी एक विलक्षणता है। नृत्य-मुद्राओं, सुरति-मुद्राओं, दोहद-मुद्राओं और निर्वसन यक्षिणियों को देखकर हम कह सकते हैं कि उस काल में बेहूदा यौन वर्जनाएं नहीं थीं, नारी का शरीर अपवित्र नहीं था, तथा जीवन इहलोक से जुड़ा हुआ था।

इसलिए हम शुंगकालीन कला को मुख्यतः **लोक कला** कह सकते हैं। ब्राह्मण शुंग-सम्राटों के समय में सामंतवाद-पूर्व की अवस्था होने के कारण ही संस्कृति का ऐसा स्वरूप हो सका। उन्होंने बौद्ध वास्तुकों तथा शिल्पियों को आश्रय तो नहीं दिया, लेकिन परतंत्र भी नहीं किया। लोकशैली के संस्पर्श का खुरदुरापन व चपटापन; लोकचित्र में उभरी हुई अंगों के अनुपात की तदानुभूति (इम्पैंथी); लोकढंग के अलंकरण एवं सज्जादि-आदि इस काल की कला का लोकतात्त्विक कमाल उद्घाटित करते हैं।

(ग)

फिर **कुषाणों का काल** (ई० पू० ५०-३००) आता है।

इस बौद्धकला को 'महायान धर्म' से गर्भित किया गया और अब वह **राजकला** में ढल गयी।

उत्तर-पश्चिमी भारत में ग्रीकों, शकों और कुषाणों के शासन ने पश्चिमी भूगोलद्वार को खोल दिया जिससे ईरान, बैक्टीरिया, बेबीलोन आदि से भी विचारों का अनुप्रवेश हुआ। बौद्ध धर्म का 'पश्चिमीकरण' (वेस्टर्नाइजेशन) हो गया। पश्चिमीकृत हुए बौद्धों ने 'महायान' की स्थापना कर डाली। भारतीय अवतारों तथा पश्चिमी एशिया के क्षत्रपों के मिलाप से मानो 'बोधिसत्वों' की नयी धारणा उभरी। विहारों और संघारामों में अब आर्थिक गतिविधियों की हलचल फैलने लगी।

कुषाणों के खानाबदोश मध्य एशियाई कबीले थे। काबुल नदी की घाटी से सिंधु नदी के मैदानों तक के क्षेत्र में कुषाणों ने जिस महान् सभ्यता की नींव डाली वह गांधार-संस्कृति है और अफगानिस्तान में तो उसका अस्तित्व ई० प० सातवीं शती तक रहा। अफगानिस्तानी पुरातत्त्व के महानिदेशक डाक्टर मस्तबंदी कहते हैं कि तीस साल पहले फ्रांसीसी पुरातत्त्वविदों ने ग्रीक-गांधार कला का काल ई० पू०

३००-६०० माना था लेकिन अब इसका निर्धारण ई० पू० दूसरी शती का उत्तरार्ध होगा। डॉ० मस्तबंदी ने एक बुद्ध-उपासिका की जूती के डिज़ाइन (आकल्पन) का हवाला देते हुए बताया कि वह कुश्-युग की शहज़ादियों की जूतियों की तरह है। इसी कड़ी में उन्होंने नारी-केश-सज्जाओं का विश्लेषण करते हुए बताया कि उनमें यूनानी, भारतीय और अफगानी संस्कृतियों का मेल है। इस तरह अक्षु नदी से गंगा नदी तक, बलख से मथुरा तक कुषाणों ने अपना फैलाव किया। रेशम मार्ग का दक्षिणापथ बलख होता हुआ तक्षशिला व मथुरा तक आता था और ऊपर से सिकंदरिया तथा पीकिंग तक को जोड़ता था। इस तरह इतना विशाल भूखंड व्यापारियों, कलाकारों तथा भिक्षुओं के नानाविध आदान-प्रदान के लिए खुल गया। कुषाणों ने जिस तरह भारत में भारत-ग्रीक अर्थात् **गांधार-शैली** का उन्नयन किया, उसी तरह ईरान में आर्यान-ग्रीक अर्थात् **इश्कान-शैली** का उत्थान कराया। फ्रांसीसी विद्वान श्लुमबर्गर ने इश्कानी शैली का आकलन किया है। सुर्ख कोटल में प्राप्त शिल्पों को इस शैली के श्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। गांधार और इश्कान शैलियों में यथेष्ट सादृश्य है। इस तरह कुषाणों ने भारत के मथुरा और अफ़गानिस्तान के बगलान के शिल्पों के बीच एक सातत्य स्थापित किया। कुषाणों ने शकों की मध्य-एशियाई संस्कृति को भी ग्रहण किया जो ईसा पूर्व दूसरी शती में पामीर होते हुए बैक्ट्रिया से भारत आये थे। अस्त्र-शस्त्रों, मुकुटों (सीथियन शैली के), वस्त्रों आदि में मध्य एशियाई परंपरा की बहुरंगी छायाएं हैं। ऐसा लगता है कि कुषाण-राज्य के आरंभिक काल में सांस्कृतिक विनिमय मध्य एशिया से भारत की ओर हुआ किंतु परवर्ती काल में बौद्ध कुषाणों का एशिया पर गहरा प्रभाव पड़ा जो कुषाण बैक्ट्रिया में संलक्षित है। सोवियेत पुरातत्त्व विदुषी जी० ए० पुगाचेंकोवा के अनुसार दक्षिण उज़बेकिस्तान की खोजों से यह प्रकट होता है कि कुषाण-कला की एक बैक्ट्रियन शैली थी जो भारत की गांधार शैली से स्वतंत्र रूप में उभरी थी। बैक्ट्रियन शैली धर्म-निरपेक्ष थी। गांधार शैली तथा कुषाण कला के सर्वांगीण उत्थान में उसकी भूमिका रही। इस तरह कुषाणों ने भारतीय तथा ग्रीक तथा बैक्ट्रियाई परंपराओं की त्रिवेणी का संगम स्थापित किया। सोवियत संघ के दलवारज़िन टिब्बे और कारा-टिब्बे (टेपे) में प्राप्त शिल्पों से यह लक्षित होता है कि बुद्ध तथा बोधिसत्वों का निर्माण तो गांधार-रीति से होता था किंतु साधारण जनों एवं भिक्षुओं के इहलौकिक चरित्रों को बैक्ट्रिया की स्थानीय कला-परंपरा के आधार पर गढ़ा जाता था। ईसा की पहली शती तक तो तुखारिस्तान की कला पर गांधार शैली छा गई; ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपियों के कई स्थानीय संस्करण भी विकसित हो गये।

कुषाणों ने 'रेशम मार्ग' (सिल्क रोड) का भी इस्तेमाल किया। इस मार्ग से व्यापारियों और सैनिकों की तरह धर्मोपदेशक और कलाकार भी आये-गये। ब्राह्मण धर्म का प्रभाव भूमध्यसागर की ओर, बौद्ध मत का प्रभाव मध्य एशिया और चीन की ओर, तथा जरथुस्त्र धर्म का प्रभाव ईरान-अफगानिस्तान की ओर फैला। भारत के कपास के वस्त्र और गणित, चीन का कुतुबनुमा और औषधि आदि

अरबों के माध्यम से यूरोप में फैले जो 'रिनैसां'-काल में विज्ञान के आधार बने। इसीलिए कुषाण कालीन सिक्कों में जरथुस्त्र बौद्ध और शैव, तीनों धर्मों के देवमंडल विभिन्न भाषाओं तथा लिपियों के साथ ढाले गये। वस्तुतः ईसा की प्रथम शती में चार महान् राज्यों की स्थापना हो गयी थी : उत्तर भारत में कुषाण-साम्राज्य, शाही रोम, चीन में हान् वंश, तथा बैक्ट्रिया से पर्शिया तक पार्थियन साम्राज्य। इनके बीच व्यापार, संस्कृति और धर्म के परस्पर आदान-प्रदान हुए। अतः एक ओर तो अफगानिस्तान में बामियां तथा दूसरी ओर चीन में तुंग-ह्वांग जैसे कलाकेंद्र उभरे। दोनों, वस्तुतः, सार्थवाहों के पड़ाव भी थे। तो इस तरह कुषाणों ने बौद्ध लोककला को महायान से अभिषेकित राजकला में परिवर्तित कर डाला और कलाशैलियों का वैश्वकीकरण (यूनिवर्सलाइज़ेशन) भी कर दिया। हमें इस प्रसंग में इटेलियन 'रिनैसां' (पंद्रहवीं शती) के क्वाट्रोसेंटो-चित्रकार याद आते हैं जो बुद्धिजीवी न होकर अपढ़ अथवा थोड़े पढ़े-लिखे कारीगर थे। उनके सम्मुख मानव-छवियों के कोई सर्वजन-सुलभ प्रारूप (माडल) नहीं थे जिनसे वे कुछ सीख सकते। इसलिए उन्हें मानव-आकृति की अपनी संरचना करनी पड़ी जिसकी नींव पर ही बोटिच्चेली ने लंबी, छरहरी, आजानु बाहुओं वाली नारी-आकृति का परिष्कार किया। बहुत कुछ यही बात शुंग काल के कलाकारों पर लागू होती है जिन्होंने यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमाओं के माध्यम से सहज मानव-आकृति को गढ़ा। उनका आशंसक एक **सामाजिक सहृदय** ही रहा होगा। अतः उन्होंने मानव-जीवन को प्रकृति-जीवन से जोड़ा तथा लोक-जीवन की सरलता और सहज निर्धनता को भी तोरणों पर चित्रलिखित कर दिया।

उनकी इस महत्तम आंचलिक और किसान दृष्टि की बुनियाद को कुषाणों और गुप्तों ने बदल दिया। उन्होंने मानवीय आकृति का विराटीकरण (बोधिसत्व) तथा आध्यात्मिकीकरण (विष्णु) भी कर दिया।

भारतीय शिल्पधारा में हम एक और क्रांतदर्शी सत्य पाते हैं। जब तक **समभंग** (खड़ी) मुद्रा रहती है, तब तक स्वस्थ, निर्भीक और सुंदर मनस् भी मिलता है; या जब तक पद्मासन मुद्रा रहती है तब तक करुणा और विवेक और उद्धार की प्रमुखता रहती है, लेकिन ज्यों ही कमर में लोच आता है अर्थात् **त्रिभंग** मुद्रा बनती है त्यों ही कोमलता, भावुकता, शृंगारिकता और कामुकता का समावेश होने लगता है। यह भेद तांडव करते हुए नटराज तथा रास रचाते हुए नटनागर की मूर्तियों में देखा जा सकता है।

तो कुषाणों ने शुंगों की लोककला को एक तो **राजकला** में रूपांतरित किया, दूसरे, उसे **अलौकिक** भी बना दिया। मथुरा-बुद्ध इस सारे व्यापार के प्रतिनिधि हैं। मथुरा पुष्कलवती तथा तक्षशिला को पाटलीपुत्र एवं भरुकच्छ से मिलाता था अर्थात् मथुरा 'रेशम मार्ग' तथा 'मसाला मार्ग', दोनों प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय थल एवं जल मार्गों से जुड़ा था। अतः मथुरा की बुद्ध-मूर्तियां अकेले भारत में ही दूर-दूर कोनों तक नहीं गईं, बल्कि शांसी प्रांत के तुंग्-लुंग्-शान् तक पहुंचीं। लगता यही है कि मथुरा की बुद्ध-मूर्ति शुंगकालीन मनुष्यमूर्ति के ऊपर विकसित हुई हैं। कुषाणों के महान् सम्राट

कनिष्क ने महायानी बौद्धमत चलाकर बौद्ध-अवतारवाद का भी ग्रहण कराया जिससे अलौकिक देवताओं, बोधिसत्वों, पद्मपाणि, वज्रपाणि आदि की मूर्तियां बनीं। काश्मीर में श्रीनगर से चालीस किलोमीटर दूर रैथान में आजकल उस स्थान की खोज भी संभव हो रही है जहां बौद्ध दार्शनिकों की महासंगति (ई० पू० १२८) बुलाई गई थी और उस परिषद की कार्यवाही छह हज़ार लाल ताम्रपत्रों में लिखी जाकर गाड़ दी गई थी। इसके पहले भरतपुर ज़िले के अघापुर से एक स्कंदकार्तिकेय की प्रतिमा भी मिली (१९७०) है जो भारत में मिलने वाली ऐसी पहली प्रतिमा है। इस तरह मनुष्य पर अतिमानव रूप अलौकिक ईश्वर का यह आरोपण—कुषाणो की मनुष्य-विषयक सौंदर्यदृष्टि का परिचायक है। उनका यह महानियोजन ही मानो 'वास्तुपुरुष', 'चित्रपुरुष', 'काव्यपुरुष' आदि की कलाशास्त्रीय धारणाओं की भविष्य-वाणी करता है। यह तथ्य रेखांकित किया जाना चाहिए।

कनिष्क ने मथुरा को तो मानो भीम मूर्तियां गढ़ने वाली अंतर्भारतीय-अंतर्राष्ट्रीय मंडी बना दिया। अतः संभवतः प्रतिमाशास्त्र एवं प्रतिमालक्षणों का परिपूर्ण अनुशीलन पहले-पहल मथुरा में ही मुमकिन हो सका। फलतः कनिष्क के समय की मूर्तियों में शुंगकालीन ढाई आयामों वाला चपटापन अथवा लंबूपन दूर होता है और पूरे तीन आयामों वाला शिल्प भी विकसित होता है अर्थात् स्तंभों और शिलाग्रों के फ्रेम से निकलकर मूर्तियां बाहर आ खड़ी होती हैं। इस भांति भरहुत-सांची की लोककला अब शहरी, राजकीय और अलौकिक, तीनों विशेषताओं से युक्त होती है। मथुरा में दो प्रकार की बौद्ध-प्रतिमाएं हैं—(क) ऊंची व खड़ी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां जिन पर चुन्नटदार चीवर दायें कंधे को उघारे रखता है तथा (ख) पद्मासन में स्थित प्रतिमाएं जिनके दोनों कंधे चीवर से ढंके हैं। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से ये दो शास्त्रीय भेदों की उद्भावक हैं।

अब गांधार शैली का जिक्र होना बाकी है। बहुधा काले पत्थरों की इन मूर्तियों की शैली ग्रीक तथा विषयवस्तु भारतीय (बौद्ध) है। अशोक के पश्चात् कनिष्क के समय में यह दूसरा महत्तम अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव है जिसने अब मानवीय आकृति को पूर्णतः शरीरयांत्रिक (एनाटामिकल) बनाने का गणितीय प्रयास भी किया और खुरदुरे लाल पत्थरों को काटने वाले औज़ारों में संगमरमर तराशने वाली दक्षता का समाहार किया। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि गांधार-क्षेत्र (काबुल और सिंधु के बीच का भूखंड) में ग्रीक और भारतीय और बैक्ट्रियन कलाकारों का मिला-जुला योगदान रहा है। यदि हाथ और चरण की अंगुलियों की रचना भारतीय भावुकता से परिपूर्ण है तो अंग-सौष्ठव ग्रीक यथार्थ के अनुकरणवादी कलासिद्धांत का समन्वय करता है। गांधार-शैली ने मथुरा-बुद्ध के दोनों प्रकारों का हैलेनीकरण कर दिया। पहली बार तीन आयामों का समग्र विकास तो हुआ ही, दृष्टिपथ (पर्सपैक्टिव) का भी संधान हुआ। फलतः पादपीठिकाओं में अंकित जातक कथाओं के चित्र परि-मंडलित दृष्टिचक्र के स्थान पर नैसर्गिक दृष्टिकोण के सिद्धांत का अंगीकार करते हैं। गांधार-बुद्ध के केश या तो ऋजु हैं और कंधों तक लटके हैं, अथवा जूड़े में बंधे घुंघराले

या कुंडलित हैं। गांधार बुद्ध के कान पर्याप्त लंबे तथा नयन आकर्ण हैं। गांधार-मूर्तियों में स्वर्ण-प्राविधिकी का भी अगला विकास मिलता है। उनमें मौर्यों के वज्रलेप के स्थान पर स्वर्णलेप का भी शोधसंस्कार हुआ है। मथुरा के कमल-अभिप्राय का यहां भी प्रचुर समावेश किया गया है। गांधार शिल्पी प्राकृतिकता, यथार्थता एवं शैलीवत्ता की सौंदर्यतात्त्विक वृत्ति से संचालित हुए हैं। ग्रीक जीवनदर्शन की दूरागत छाया के अनुरूप गांधार-बुद्ध की रचना में एक परिपूर्ण मानव-आकृति में ही ईश्वर का बिंब प्रक्षेपित हुआ है; मानो परिपूर्ण मानवों के परिपूर्ण गुणों को संचित करके बहिर्मुखी गांधार शिल्पी ने बुद्ध का विन्यास किया है। अंततोगत्वा यह भी सच है कि गांधार-बुद्ध का माडल मथुरा-बुद्ध ही थे।

इस काल में मथुरा-वृत्त की तीसरी दिशा अमरावती मिलती है। हमें ऐसा लगता है कि अमरावती में भरहुत-शैली, मथुरा-शैली और गांधार-शैली का त्रिमेल हुआ है। बोधगया और सांची के शिल्पी भी वहां रचनालीन थे। अमरावती में भी जातक कथाओं को अंकित करने वाली सांची-भरहुत की परंपरा विद्यमान है और उन शिल्पों में सप्तभौम-गृह शैली की दृष्टिरेखा वाली अन्विति है। मथुरा तथा गांधार के प्रभामंडल-युक्त बुद्ध यहां भी प्रकट हुए हैं। एक और अनूठा अलंकरण-अभिप्राय ध्यातव्य है। गांधार-शैली में पुष्पमाला वहन करने वाले शिशुदल हैं; मथुरा तथा सारनाथ में यह कार्य मनुष्य करते हैं; और अमरावती में यही कार्य मनुष्य, शिशु तथा हंस करते हैं। वस्तुतः अमरावती का शिल्प पशु-पक्षी एवं शिशुओं के उत्सवों से भरपूर है। यही नहीं, अमरावती में संगमरमर का भी व्यवहार हुआ है (क्या ग्रीक शिल्पी वहां पहुंचे थे?)। अमरावती-कला का मूल स्वभाव बुद्ध-पूजा से युक्त श्रद्धा-भक्ति वाला है। कुषाणों की अलौकिक राजकला यहां आकर भक्तिविभोर भावकला हो गई है।

और, अमरावती की एक महत्तम सौंदर्यदृष्टि भी है—अशोक के किमाकार, कनिष्क के भीमाकार के पश्चात् आंध्रों के हास्याकार तत्त्व की अन्वीक्षा। यहां हास्य की ऐस्थेटिक्स को किमाकार या विद्रूपता (ग्रोटस्क) से संलग्न किया गया है। एक अनूठा प्रयोग!

अमरावती कृष्णा नदी की घाटी की बहुमूल्य देन है। यह आंध्र-सातवाहनों की पूर्वीय राजधानी थी। चैत्य का शिल्पसंसार—भरहुत और सांची की तरह—उस समय के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन को आलोकित कर देता है। अलंकरणों (कर्णफूल, कंगन, कंठहार, अंगद, करधनियां, नूपुर आदि), भवनों (महल, मंदिर, झोंपड़ी), वाद्यों (ढोल, वंशी, शंख) के अध्ययन मोहक हैं। अमरावती के पुष्पमाल्य-वाहक पल्लव-शैली के नमूने हैं। उनका प्रभाव दक्षिण एशिया के जावा द्वीप तक पड़ा है।

कुषाण-सातवाहनों ने भारतीय शिल्पकला में जातक कथाओं तथा महायानी अवतारों के सन्निवेश के अलावा इतिहास के यथार्थ का भी ग्रहण किया। कार्ली की गुफाओं में निर्माता आंध्र-सम्राटों तथा रानियों की मूर्तियां भी बनाई गईं। यह

क्रांतदर्शी समकालीनता के बोध का प्रथम उन्मीलन है। इसके पहले कनिष्क पैजामा पहने हुए अपनी मध्य एशियाई प्रतिमा गढ़वा चुके थे। और, इससे पहले खड़े हुए गांधार-बुद्ध के चरणों में यूनानी सैंडल पहनाये जा चुके थे।

इस तरह कुषाणों ने भारतीय मूर्तिकला में भी एक अंतर्राष्ट्रीय जैसे सांस्कृतिक रिनैसां के कमल की सभी पंखुड़ियां खोलीं। इस काल में ही हम भरहुत की लोक-कला को राजकला में भी रूपांतरित होते हुए पाते हैं; सांची की धार्मिक कला को अलौकिक कला तथा भक्तिभावपूर्ण कला में विकसित होते हुए पाते हैं; तथा मथुरा की नगर कला को गांधार कला में परिवर्तित होते हुए पाते हैं। शैलियों, रीतियों और वृत्तियों की दृष्टि से इतनी विविधता तथा मौलिकता बाद में प्रायः नहीं मिलती। यथार्थ और आदर्श, लौकिकता और अलौकिकता, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता, मिथक और इतिहास, वैयक्तिकता और ऐतिहासिकता—इन सबका सामंजस्य पाने के जबरदस्त प्रयास इसी कालखंड में हुए।

कला-अभिप्रायों में संवृद्धि करने की दृष्टि से सहवर्ती **भारशिव और वाकाटक काल** (१८५-३२० ई०) भी महत्त्व के हैं। शुंगों ने ढेर सारे अभिप्राय दिये जो अलंकरण, पूजा, भावना, यथार्थवादी आलोचना के प्रतिमानक भी बने। शैव भारशिवों ने खजूर का अभिप्राय दिया और नदी-देवियों की मूर्तियों का भी प्रतीकात्मक विधान किया। नदी-देवियों की प्रतिमाएं द्वारों पर बनीं। यह परंपरा सारे मध्यकाल में जीवित रही। वाकाटकों ने हिमालय का अभिप्राय दिया क्योंकि शिव-मंदिरों में हिमालय-पुत्री पार्वती भी प्रतिष्ठित हैं। इस काल में शिवलिंग की चतुर्मुखी मूर्तियां भी बनीं। वाकाटकों के समय से ही हम गुप्त काल में प्रवेश करते हैं।

साकेत-प्रयाग में **गुप्त-सम्राटों** (३२०-६२० ई०) का अभ्युदय हुआ। यह काल 'स्वर्णयुग' भी कहा जाता है। कुषाणोत्तर इस युग में महत्तम देन वास्तुकला और मूर्तिकला में काव्यकला का संयोजन, तथा काव्यकला में नाट्यकला और चित्रकला का संयोजन रहा है। गुप्तों के क्लासिकी सौंदर्यदर्शन की रथनाभि, यही दोहरा संयोजन और संतुलन है। शिल्पकला के प्रसंग में हम कह सकते हैं कि वीणा और वाणी और छेनी, तीनों ने पत्थर के माध्यम को चुना!

धर्मचक्र प्रवर्तक होने के बजाय परम भागवत समुद्रगुप्त चक्रवर्ती थे। अतः उनके समय में आयुध-देवताओं की मूर्तियां गढ़ी जाने लगीं। शौर्य और शृंगार और धर्म का यह नया त्रिरत्न कलादर्शन में एकसाथ गंभीरता, आध्यात्मिकता, रमणीयता, भावप्रवणता तथा अलंकारप्रियता का समवाय संश्लेषण करता है। **विष्णु-प्रतिमाओं** के चारों ओर जो नन्ही-नन्ही मूर्तियां मिलती हैं वे आयुध देव-देवियां हैं। इस नयी कुलीन एवं क्लासिकी सामाजिक यथार्थता (जिसमें शास्त्र की रक्षा शस्त्र तथा उसकी रंजना कला करती हो) को समझे बिना हम गुप्तकालीन सांस्कृतिक पैटर्न की मुग्ध रहस्यात्मकता में भटक सकते हैं। भाव-केंद्र के ओज और प्रसाद और माधुर्य गुण इस युग की मूर्तियों में एकसाथ समासीन हैं। उस युग में ये तीनों सामंतीय क्रांति-गुण भी थे।

पद्मासनासीन बुद्ध की सारनाथ वाली प्रतिमा और उदयगिरि की वपुष्मान वाराह की अवतारी प्रतिमा—ये इस काल की दो सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यात्मक मूर्तियां हैं। चंद्रगुप्त ने शकों से भारतभूमि का उद्धार किया था, तथा अपनी भौजाई ध्रुवदेवी का नपुंसक पति (रामगुप्त) एवं शक सरदार से भी उद्धार किया था। उन्होंने इन दो महान् क्रांतिकारी घटनाओं को वाराह-मूर्ति के निर्माण द्वारा संपादित कराया। महावाराह के दांतों के बीच भींगी, सहमी, लजाई, सुंदर धरित्री सुरक्षाश्रित हो गयी है। ध्रुवदेवी और धरित्री के बीच **रूपक** संबंध स्थापित हैं तथा धरित्री **अन्यापदेश** (एलीगरी) हो गयी है। भारतीय कला में शायद पहली बार जानबूझकर एक मिथक का राजनीतिककरण हुआ है (एक दूसरा दृष्टांत विशाख-कृत 'मुद्राराक्षस' नाटक में मिलता है)। अतः यह युग सामाजिक चेतना को सार्वजनिक युद्ध तथा व्यक्तिगोपित रति के संदर्भ में देखने का कलात्मक आयोजन करता हुआ प्रतीत होता है। मिथक के ऐसे क्रांतिकारी प्रतीकात्मक उपयोग की व्यावहारिक ज़रूरत हमें मिथकशास्त्री अर्नेस्ट कैसीरर या मेलिनोवस्की की याद दिला देती है। गुप्तों की सामाजिक चेतना विप्लवकारी सामाजिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल के बीच से विकसित हुई थी। नारी का उद्धार करने वाले गुप्त-सम्राटों ने नारी और कविता को अंत.पुर-विलासिनी भी बना दिया। यह उस युग का एक अंतर्विरोध है। कालिदास के नाटकों में मालविका के बाद कोई मानवी प्रणयिनी नहीं बन सकी। उसका स्थान देवियों और अप्सराओं और अप्सरा-पुत्रियों ने ले लिया। यहां तक कि, नारी संस्कृत भी नहीं बोल सकती थी। गुप्तों ने नारी को जिस सामाजिक स्थिति में रखा वह आद्यंत आश्रित, रमणीया, भोग्या, भींगी, सहमी, लजाई, तन्वंगी, नन्ही, कोमल, भावुक, अबला आदि ही रही। परवर्ती संपूर्ण सामंतकाल में नारी को आदर्शरूप में यही भूमिका प्रदान की गई। आश्चर्य है!

गुप्तकाल की लगभग सभी मूर्तियां चुनार के पत्थर की बनी हैं और बौद्ध तथा ब्राह्मण लक्षणों वाली हैं। गुप्तों के समय में चिपटापन बिल्कुल दूर हो गया लेकिन अन्य ज्यामितिक स्वरूप मुंद-से गये और केवल गोलाई वाला बेलनाकार ही सर्वोपरि हो गया। कोणों, रेखाओं और त्रिकोणों की जगह जब गोलाई ले लेती है तब भाव और भावुकता प्रधान होती जाती हैं तथा सभी अन्य बोध कोमलता के धरातल से देखे जाते हैं। गुप्त-शैली में यह नूतन ऐस्थेटिक सिद्धांत अभिषेकित हुआ। इस युग में रस की शिल्पगत व्यंजना का पहला परिपाक हुआ। मूर्त शिल्प को अमूर्त काव्यभावों की ओर ले जाने वाला यह एक आदर्शोन्मुख कलाबोध है जिसकी तुलना केवल रीति-अलंकार से रस-व्यंजना में रूपांतरण से ही की जा सकती है। गुप्तों के समय में बौद्ध-धर्म क्षीण हो रहा था। धर्मनेता तथागत के समानांतर 'भगवान' विष्णु तथा शिव का समन्वय होता है। अतः हरिहर या शंकरनारायण की मूर्तियां गढ़ी गयीं। इस काल में सौंदर्यगुणों की आद्योपरांत खोज जारी रही। काव्य में ओज-प्रसाद-माधुर्य; शिल्प में सत्त्व (ब्रह्मा), रजस् (विष्णु) और तमस् (महेश); तथा समाजदर्शन में सृष्टि-स्थिति-संहार (त्रिमूर्ति) का अभिधान हुआ। सारांश में,

भारतीय मूर्तिकला में गुण एवं अलंकार एवं भाव को अंतर-अनूदित करने के महत्तम सौंदर्यबोधात्मक प्रयत्न हुए।

गुप्त युग की क्लासिकी परिधि मुख्यत: 'परमभागवत' की धुरीण धारणा को घेरे रही। अत: शिल्प में पशु-पक्षियों की भूमिका उपेक्षित हो गयी। एक कारण यह भी है कि मानव और मानवीय अवतारों की मूर्तियां ढाई आयामों को पूरी तरह लांघकर गणितीय तीन आयामों वाली हो गयीं और पृथक् होकर बाहर आ खड़ी हुईं। किंतु पांचवीं और छठी शती के अजंता के चित्रात्मक इतिवृत्तों में अवश्य पशुओं और पक्षियों की मानव के साथ कांतमैत्री स्थापित हो गयी। उनके स्वरूपों, उनकी आदतों, उनकी मनोदशाओं, उनकी चालों और उड़ानों, उनके स्वभावों आदि का गहरा पर्यवेक्षण हुआ। कालिदास और भास की कृतियों में भी ऐसा ही सूक्ष्म निरीक्षण हुआ है। इसलिए विभिन्न कलाओं में पृथक-पृथक स्थिति है। पौधों और वृक्षों को देवताओं से भी जोड़ा गया : तुलसी और आमलक को विष्णु से, बिल्व को शिव से, कमल को लक्ष्मी से संबद्ध किया गया। वरुण, बिल्व तथा मंदार को त्रिमूर्ति से संबद्ध किया गया। त्रिपत्रीय (बिल्व) वृंत शिव के त्रिशूल से मिलते हैं। अत: उनके फल-फूल-पत्ते पूजा के चढ़ावे हो गये। 'कल्पवल्ली' के रूप में लताओं ने अलंकरण-अभिप्राय का धर्म स्वीकार किया। किंतु मूल रूप से यही ज़्यादा सच है कि गुप्तों की कला-संस्कृति में पशु-पक्षी अधिकतर मनोरंजनकारी हो गये। केंद्र में कुलीन मनुष्य की प्रतिष्ठा हो गयीं।

इस तथाकथित 'स्वर्ण काल' के उपरांत हम एक लंबे और विलंबित **मध्यकाल** (६००-१३०० ई० प०) को पाते हैं।

(घ)

सुविधा के लिए **मध्यकाल** (६००-१३०० ई० प०) के दो खंड किये जाते हैं—पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल।

वस्तुत: **पूर्व मध्यकाल** (६००-९०० ई०) में कन्नौज के हर्षवर्धन (६३०-६४७ ई०) एक द्वितीय समुद्रगुप्त की तरह तेजस्वी हैं। वे स्वयं भी नाटककार थे तथा कादंबरी के रचयिता बाणभट्ट उनके राजकवि थे।

इस समय-खंड में और भी कुछ घटा। मध्य एशिया के स्टेपीज़ से आने वाले हूण सरदार मिहिरगुल (५०२ ई० प०) ने गांधार के संघारामों तथा स्तूपों को धूल में मिला दिया। इस पृष्ठभूमि में हर्ष के राज्य का अभ्युदय हुआ। गुप्तों के समय में शिव और विष्णु की जो **द्विमूर्ति** बनी थी, हर्ष ने उसका वर्धन करके सूर्य और विष्णु और बुद्ध की **त्रिमूर्ति** में संशोधित कर दिया। अंत में वे महायानी बौद्ध हो गये। इसी कालखंड में शंकर (वेदांती), कुमारिल (नैयायिक) तथा सरहपाद (तांत्रिक) जैसे प्रकांड दार्शनिक हुए और इसी काल में भामह, दंडी, वामन, आनंदवर्धन जैसे काव्य-शास्त्री भी हुए। यह कालखंड महान् सृजनात्मक प्रतिभाओं तथा ढलते हुए स्वर्ण-काल के सहअस्तित्व का था। अत: धर्म लोक के बजाय लोकोत्तर दिशाओं में

उन्मुख हुआ, काव्य प्राकृतों से छूटकर व्याकरण और अलंकार के नियमों में बंधा; चिंतन तर्क (प्रमा) के बजाय ब्रह्मज्ञान (प्रज्ञा) को परम सत्य मान बैठा, और जन-जीवन में तांत्रिक साधनाओं का अतिचार उभरने लगा। अब जातक कला एवं जीवन के वैसे प्रेरणा-स्रोत नहीं रहे। उनकी जगह पुराणों, आगमों तथा तंत्रों ने ले ली। फलतः पौराणिक एवं तांत्रिक मिथकों के अनुरूप मध्यकालीन मूर्तियां गढ़ी गईं। कान्हेरी गुफाओं में ग्यारह शिरों वाले अवलोकितेश्वर की मूर्ति तथा तेईस फुट ऊंची खड़े हुए बुद्ध की मूर्तियां तक बनीं। अतिरिक्त भुजाओं तथा शिरों की वजह से इस काल की मूर्तियों में संतुलन भग्न हो गया; चमत्मकार और अलौकिकता के तत्त्वों का प्रभुत्व छा गया। कला में रीति और अलंकरण की तूती बोलने लगी। अतएव शिल्प में गुप्तकालीन 'रूप' तो बरकरार रहा लेकिन 'विषयवस्तु' बदलती-बिगड़ती चली गयी।

इसके साथ-साथ कुछ ऐसा घटा कि पर्वतों पर पुराणों की कथाओं को उत्कीर्ण किया जाने लगा। अतः ढाई आयामों वाली शुंगकालीन शैली की ओर मानो प्रत्यावर्तन हुआ क्योंकि प्रतिमाओं को शिलाओं पर खुदना था। वे पृथक् नहीं हो सकीं। इसमें अशोक की परंपरा का भी वहन हुआ। अशोक ने पर्वतखंडों पर धर्म-लिपियां खुदवाई थीं तो इस काल में पर्वतखंडों पर पौराणिक कथाओं के विशाल दृश्य उकेरे गये। इल्युरा के ब्राह्मण-बौद्ध-जैन मंदिर; हाथीगुंफा (एलिफेंटा) का शिव-मंदिर; तथा मामल्लपुरम के रथ-मंदिर इस विराट् शिल्प-महोत्सव के प्रमाण हैं। हाथीगुंफा में अंकित शिव-पार्वती विवाह और त्रिमूर्ति; इल्युरा में अंकित रावण द्वारा कैलासोत्तोलन, नृसिंहावतार, भैरव, शिव-पार्वती विवाह आदि; तथा मामल्ल-पुरम् (या महाबलिपुरम्) में शेषशायी विष्णु, दुर्गा-महिषासुर संग्राम, भगीरथ-तपस्या आदि के दृश्य अपनी विराटता, विशालता और विलक्षणता से हमें चकित कर देते हैं। मामल्लपुरम् या महाबलिपुरम् के स्मारक पल्लव युग की देन हैं। यह गुफाओं, मंदिरों तथा शिलाओं पर उभरा एक शिल्प-पत्तन है जिसमें तीन पल्लव सम्राटों के शासनकालों के अनुरूप तीन विभिन्न शैलियां विकसित हुईं : महेंद्रवर्मन (६००-६३० ई० प०), महामल्ल नरसिंहवर्मन प्रथम (६३०-८६०) तथा राजसिंह नरसिंहवर्मन द्वितीय (६९०-७१५ ई० प०)। इनमें से महामल्ल शैली के मंडप और गुफाएं सर्वोत्तम हैं। राजसिंह की रानी रंगपताका ने कांचीवरम में कैलासनाथ मंदिर का निर्माण कराया था। मामल्लपुरम-समूह में पांच रथ तथा पांच गुफा-मंदिर प्रमुख हैं। धर्मराज-रथ पिरेमिड की आकृति का, भीम-रथ शिखर या शाल आकृति का, अर्जुन-रथ शैवमंदिर की आकृति का, द्रौपदी-रथ झोंपड़ी की शक्ल का, नकुल-सहदेव-रथ अलंकृत आकृति का है और सभी रथों पर शैव एवं ब्राह्मण कथाचित्र खुदे हैं। इसी तरह चट्टानों को काटकर बनाये गये चित्रालेख विलक्षण और विस्मय-कारी हैं। दो विशाल गोल पत्थरों (९६ फुट × ८३ फुट) पर ये उकेरे गये हैं। जिनके बीच की दरार से समुद्रतल से निकलते हुए नाग अंकित हैं। अतएव महा-बलिपुरम्, इल्युरा और हाथीगुंफा के शिल्प, शैली, भाव आदि सभी कुछ चमत्कार-

पूर्ण हैं, अद्भुत हैं और अतिमानवीय परिश्रम का फल हैं। सामूहिक श्रम, सांप्रदायिक साधनाएं तथा शिल्पियों को रोज़गार—इन तीनों लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ऐसा अतिमानवीय आयोजन हुआ।

आनंद, आश्चर्य और **अलंकार** इस युग की सामाजिक चेतना ही बन गए लगते हैं जो काव्यशास्त्र के रस-चिंतन में भी गृहीत हुए हैं। फलतः एकादशमुखी अवलोकितेश्वर, अष्टभुजा दुर्गा के अलावा दक्षिण में दशभुज नटराज की प्रतिमाएं भी बनने लगीं। अतएव इस कालखंड में काव्य तथा शिल्पशास्त्र की आत्मा (रस) मानो एक हो गयी। जब एक भव्य परंपरा के अनुकरण में केवल 'रूप' ही ग्रहण किया जाता है तब विकल्पतः अद्भुत और लोकोत्तर रुचिबोध ही बच रहता है; तथा सहज एवं लौकिक रसास्वाद क्षीण होता जाता है। तो, गुप्तकाल तथा गुप्त-काल के रूप एवं रूढ़ि को ग्रहण करने का परिणाम इस युग को मिला। इस काल-खंड के सौंदर्यबोध को हम 'रूपपरक उदात्त' (सब्लाइम ऑफ दि फार्म) कहेंगे।

उत्तर मध्यकाल (६००-१३०० ई०) में दोबारा प्रत्यावर्तन होता है। पूर्व मध्यकाल में जिस तरह शुंगयुगीन शैली की ओर प्रत्यावर्तन-सा हुआ था, अब इस काल में वह पूर्व मध्यकाल के नेतिकरण (निगेशन) वाला प्रत्यावर्तन हो गया। इस काल में 'विराट्' के बजाय **लघु**, 'उदात्त' के बजाय **शोभन**, 'कार्य' के बजाय **काम** आदि की आराधना हुई। यह समय चंदेल, परमार, राठौड़ (राष्ट्रकूट) राजवंशों का है। सोरोकिन के शब्दों में 'सेंसेट'-संस्कृति का प्रसार हो चला।

इस काल में पांच-छह शिल्प क्षेत्रों की प्रमुखता है—(१) बंगाल-मगध के पाल सम्राटों के क्षेत्रों में बनीं (प्रधानतः) तांत्रिक मूर्तियां; (२) दक्षिण में चोल तथा होयशल सम्राटों द्वारा बनवाये गये मंदिर (वेल्यूर का चेन्नाकेशव मंदिर, चिदंबरम्, मदुरै); (३) धारा नगरी के परमारों द्वारा मालवा में बनवाये गये मंदिर; (४) चंदेलों द्वारा खजुराहो में बनवाये गये मंदिर; (५) गुजरात के सोलंकियों तथा अजमेर के चौहानों द्वारा बनवाये गये मंदिर; तथा (६) कांगड़ा, चंबा (लक्ष्मीनारायण मंदिर), भरमौर, नग्गर, बैजनाथ, मसरूर के मंदिर। मंदिरों के ये मंडल क्षत्रिय 'राजा' तथा राजपूत 'राज' की धारणा के अनुरूप हैं। बहुधा इनमें गुप्तों के कलात्मक रूप की ढली हुई वृत्तियों का प्रसार हुआ है। वास्तु की दृष्टि से इन मंदिरों में देश-प्रस्थानवादी कला-शैलियों की इतनी विविधता है कि शिल्प की दृष्टि से इनकी तुलना केवल कुषाण काल से ही हो सकती है। शिल्प की कला-शैलियों की इतनी प्रचुर विविधता की एक अन्य तुलना भी हो सकती है: परवर्ती काल (ई० प० १५००-१८००) में राजपूत कलम की चित्रशैलियों से! राजपूत राज को आधार मानने के कारण बीकानेर से गुजरात तक, जोधपुर से ग्वालियर तक, आम्बेर से उदयपुर तक तथा (पहाड़ी भी) जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल, बसोहली, चंबा आदि तक भी राजपूत-कला के क्षेत्र में आ जाते हैं। आनंद कुमार-स्वामी की इस स्थापना से देशाभिधान की उलझन दूर हो गई। जयसिंह नीरज इसके अपभ्रंश-शैली के नवीन संस्करण होने की पुष्टि करते हैं तथा रामगोपाल

विजयवर्गीय इसे अजंता-काल के चित्रों से जोड़ते हैं ।[1] पंद्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शती के आरंभ में कुशवाहों, राठौड़ों, हाड़ाओं तथा सिसोदिया के राजपूत वंशों ने राजस्थान में अपने राज कायम कर लिये और इनकी राजधानियां ही राजस्थानी कला की चार पीठ बनीं । अतः जयपुर, जोधपुर, बूंदी और उदयपुर कला-शैलियों के वैसे ही केंद्र बने जैसे काव्यशैलियों में गौड़ी, मागधी, वैदर्भी या अवंतिका आदि की स्वीकृति हुई । कला की विषयवस्तुएं भी विभिन्न धर्मों के अनुसार ढलीं । कुशवाहे शाक्त थे; फिर शैव बने । राठौड़ों में जोधपुर के राठौड़ नाथ थे तथा किशनगढ़ के वल्लभ प्रतिपादित पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे । कोटा-बूंदी के हाड़ा वल्लभीय थे । सिसोदिया शैव थे । अतः जिस तरह इल्युरा में ब्राह्मण-जैन-बौद्ध इतिवृत्तों का संगम हुआ, उसी तरह राजपूत चित्रकला में जैन-शैव-वैष्णव विषयवस्तुओं को अंकित किया गया । अंततः वल्लभ संप्रदाय की सगुणोपासना वाली जीवन-दृष्टि प्रधान हो गयी । चार प्रधान कलापीठों से अनेक छोटी-छोटी उपशैलियां भी उभरीं—(१) **बूंदी** और कोटा; (२) मेवाड़ (**उदयपुर** और नाथद्वारा की उपशैली समेत), बांसवाड़ा, प्रतापगढ़; (३) मारवाड़ (**जोधपुर** तथा नागौर उपशैली समेत), बीकानेर, जैसलमेर किशनगढ़; और (४) **जयपुर**, करौली, अलवर, भरतपुर । इनमें भी मेवाड़, किशनगढ़ और बूंदी (की) सर्वोत्तम शैलियां हैं । क्षत्रिय **राजा** और राजपूत **राज** की अवस्थाओं के अनुरूप ही इन शिल्प, वास्तु और चित्रकलाओं का संयोजन हुआ ।

व्यापक रूप में इन शैलियों में आभिजात्य तथा अलंकरण इतना ठूंस-ठूंसकर भरा गया है कि मूर्तियों का ज्योतिदर्शन ही ढंक-सा गया है । अब ये मंदिर देवताओं तथा देवयोनियों के आवास-क्रीड़ा के स्थल नहीं लगते, अपितु क्षत्रिय राजाओं के महलों की राजसभा तथा अंतःपुर की जगरमगर और चकाचौंध लगते हैं । इनमें—विशेष रूप से उत्तर भारत के मंदिरों में—जालियों, झरोखों, बेलबूटों, झालरों, गोमूत्रिकाओं आदि के द्वारा—शान-शौकत का राजसी अनुकरण हुआ है । यह एक विरोधाभास है कि अनेक मौलिक वास्तु शैलियों वाले ये मंदिर (शिल्प की दृष्टि से) केवल ऐश्वर्य और दंभ और बासीपन को ही दुहराते हैं । इनमें से कंदरियानाथ महादेव का मंदिर (खजुराहो), सास-बहू का मंदिर (ग्वालियर), ओसिया का सूर्य-मंदिर (जोधपुर), सूर्य-मंदिर (कोणार्क), राजराजेश्वर मंदिर (तांजौर), चेन्ना-केशव मंदिर (वेल्यूर) आदि में किसी-किसी स्थूल में शिल्पकला की श्रेष्ठता भी गोचरीभूत होती है । इष्टार्थक भावनाओं के बजाय नियमबद्ध बुद्धि के अनुशासन में कम-से-कम इन शिल्पों का रूपविधान हुआ है; यद्यपि शिल्पियों ने मूर्तियों की मुद्राओं की तलाश में नृत्य, नाट्य, संगीत, काम, आदि कई अन्य शास्त्रों का अवगाहन भी किया : विशेषतः कामशास्त्र और काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और संगीतशास्त्र का । भामह और भट्ट लोल्लट से लेकर राजशेखर और अभिनवगुप्त तक काव्यशास्त्र की धुरी में भी अन्य शास्त्रों को संदर्भित करने के सौंदर्यतात्त्विक दर्शन किये गये हैं ।

१. दे० 'अणिमा' का 'राजस्थान : साहित्य-संस्कृति-कला विशेषांक', मई १९७१, पृ० १०१, १३३ ।

इस अवधि में यही प्रवृत्ति सृजन और सौकर्म की दीपशिखा ज्योतित रखती है, अन्यथा शिल्प के अंतर्गत तो इन मूर्तियों के प्रमाण, मान, लक्षण, आयुध आदि सभी शिल्पशास्त्र की रूढ़ियों एवं राजपूत सामंतों और ठाकुरों की भोगवादी ठसक में जकड़े हैं। इन मूर्तियों में अंगों में इतनी लचक, लोच, बंकिमता तथा बल है कि कई मुद्राओं में शरीर-रचनातत्त्व (एनाटमी) का अतिक्रमण तथा फांतासी का अतिरंजन हो गया है। फलत: कुछ मूर्तियों के गठन तथा ढलन भावों की संवेदनशील गहराई को कांटे से बाहर खींच लाते हैं। यहां अलंकरण एवं अंगमुद्राएं, दोनों ही अतिशय हैं। भारतीय काव्यशैलीशास्त्र में भी—भामह और दंडी जैसे वैयाकरणों के बाद—चटोर शृंगारिकों की शोभायात्रा नजर आती है। उनकी प्राथमिक मान्यता ही यही है कि *प्राय: सभी* **अलंकार अतिशयोक्ति-गर्भ** होते हैं जिससे उक्ति में **चमत्कार** आता है तथा अनिर्वच-नीय **शोभा** अर्थात् भावसौंदर्य का उन्मेष होता है। ऐसा लगता है कि इस काल में जिस तरह व्याकरण का शोभारंजन 'अलंकार' में हुआ, उसी तरह शिल्प में मानव-अंग की अतिरंजना 'मुद्रा' में हुई।

इस तरह पूर्ववर्ती मध्यकाल (६००-९०० ई०) के 'चमत्कार'-बोध को उत्तर मध्यकाल (९००-१३०० ई०) की 'अतिरंजना' अपने इंद्रजाल में बांध लेती है। चमत्कार घटना और चरित्र से सश्लिष्ट था तो अतिरंजना स्वरूप और संरचना में आबद्ध हो गई। इसीलिए 'पुरुष'-केंद्रीय सांगरूपकों के श्रीसूक्त अब 'रमणी'-केंद्रित हो गये (वामन और खजुराहो, अभिनवगुप्त और शाक्त)।

अथच यही अतिरंजना (अतिशयोक्ति, अतिशयता, अलंकरण, शृंगार, शोभा आदि) इन मूर्तियों की 'रमणीयता' का हेतु भी हैं। कुंतक ने तो सौंदर्याधायक शब्दों का एक शब्दगुच्छ ही रच डाला। इनकी ज्ञानगोचरता लौकिक है किंतु ये मानो नृत्य, संगीत, काव्य, काम की मुद्राओं, रागों की रागिनियों, वाद्यों, सुरों, तालों आदि के सम्मूर्तवान (आइकॉनिक) मानवीयकरण हैं। यह इस क्षयिष्णु काल की महत्तम और अंतिम उपलब्धि है। ऐसा लगता है कि शिल्पी पुन: शुंगकालीन शिल्पियों की तरह मानव-मिथुन तथा मानव-कलाकर्मी के माडल गढ़ रहे हैं। वे असंख्य प्रयोग कर रहे हैं, नाना क्षेत्रों में घुसकर निजता तलाश रहे हैं किंतु अब उन्हें पद्मासन या सिंहासन जैसी कोई ढलन नहीं मिलती। सारे समाज का शरीर ही त्रिभंग हो चुका है; कभी वे (शुंगकालीन ब्राह्मण-परंपरा के अनुसार—) कामशास्त्रीय आसनों को अंकित करते हैं तो कभी काव्यशास्त्रीय विभेदों के अनुसार नायक-नायिकाओं को गढ़ते हैं; कहीं नृत्य के अंगों को आलेखित करते हैं तो कहीं रसानुवर्ती अनुभावों-संचारियों का भाव-लोक व्यंजित करते हैं। वे एक झटके में ब्रेसब्री से सब कुछ कर डालते हैं। इस सृजन में—इस मानवीय सृजन में—ही वे अकस्मात् शिल्पशास्त्र की परिपाटियों को भी कहीं-कहीं तोड़ देते हैं। संभवत: इन मंदिरों का मानवीय संसार देवसंसार से अधिक मौलिक, अनूठा, निर्भीक तथा मनोरंजक है। यदि इन शिल्पियों को लोक-जीवन को उतारने की वैसी आज़ादी मिली होती जो भरहुत-सांची-अमरावती के लोककर्मियों को मिली थी, तो इनका निगूढ़ मानवीय संसार इटली के मानवता-

वादी रिनेसां की तरह ही हो गया होता (क्योंकि कालखंड के अलावा सामाजिकार्थिक रूपायनों में एक जैसी तब्दीलियां हो रही थीं) और तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनुशीलन का एक महान् चित्रात्मक इतिहास भी बन गया होता। किंतु एक खड़ा विभाजन हुआ : देवमूर्तियों के अंकन में कठोर रूढ़ियां हैं किंतु मानवीय जगत् में उदारता की तलाश है।

एक बात और। काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, संगीत-शास्त्र, वास्तुशास्त्र आदि का मेल कराने वाले यह शिल्पसंसार हमारे सम्मुख—**'संश्लिष्ट वास्तुशिल्पशास्त्र'** (टोटल आर्कि-स्कल्पचर) की एक बड़ी चुनौती और संभावना का दिग्दर्शन करता है।

इसके बाद शिल्पकला का लगभग ह्रास हो जाता है। मुसलमान शाहंशाहों की हुकूमतों में शिल्पकला तकरीबन खत्म हो जाती है। इस ह्रासक्रम में महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ (१५वीं शती), मानसिंह के गोविंद देव के मंदिर (वृंदावन, १६वीं शती) के अलावा दर्शनसूत्र के लिए हम कुछ विशेष कथनीय नहीं पाते।

हमने जैनशिल्प, धातुप्रतिमाओं तथा दक्षिण की कांस्यमूर्तियों की चर्चा नहीं की है। हम तो प्रधान रूप से वास्तु तथा शिल्प के युग्म से ही संलग्न रहे हैं। जहां तक धातुमूर्तियों का संबंध है, उनकी एक पट्टी तो दक्षिण में वैष्णव-शैव मूर्तियों की है; दूसरी पट्टी काश्मीर से कांगड़ा तक की है; तीसरी पट्टी चंबा-भरमौर से शुरू होकर (नालंदा और कुरकीहार से होती हुई, पाल राज्य को शामिल करके) उत्तर में नेपाल-तिब्बत तक जाती है। इस तरह काश्मीर से तिब्बत तक फैली इस सर्पाकार पट्टी को हम 'कांस्यमूर्तियों की पट्टी' कह सकते सकते हैं। चंबा में गौरीशंकर, तारा, गणेश, हरिराय आदि की चार-चार फुट की जो पीतल या कांस्यप्रतिमाएं हैं वे (दक्षिण की धातुमूर्तियों की तरह) ढाली नहीं गईं, बल्कि गढ़ी गई हैं। अस्तु।

आनंद कुमारस्वामी भारतीय मूर्तिकला की दो देनें मानते हैं—शांत समाधिस्थ **बुद्ध** और गति-तालयुक्त **नटराज** ! हम लोकजीवन के एक और प्रतीक को शामिल करने की इजाज़त चाहेंगे : शालभंजिका **यक्षिणी** ! ये भारतीय-हिंदुई-शिल्पकला का त्रिकोण बनाती हैं।

ललित कलाओं के अंतर्संबंध विचित्र और नये हुआ करते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शती में अगर शिल्प और वास्तुकला की मैत्री की मशाल बुझती है, तो ठीक इसी समय चित्र और काव्यकला की दीपशिखा जगमगा उठती है। शिल्पकला का अवसान तथा चित्रकला का उत्थान मानो अनुक्रमांकित हो गया है। चट्टानों का स्थान जैन-आयागपट्ट तथा राजपूत चित्रकला के फलक (कागज़) ले लेते हैं। शिल्प की विराटता और विशालता चित्रफलकों की लघुरूपता (मिनिएचर) में सूक्ष्म, ललित और रसमय हो जाती है। राजपूत कलम की लगभग दस शैलियों की चर्चा हम कर चुके हैं। इनमें भी युगबोध वही उत्तर मध्यकाल वाला ही है। रामगोपाल विजयवर्गीय के शब्दों में 'किशनगढ़ की चित्रपरंपरा विशुद्ध शृंगार-प्रधान होने के कारण अधिक सरस बनी तथा उसमें राजस्थानी धार्मिक भावनाएं पूर्णरूप से विकसित

हुई। जयदेव की अष्टपदी, सूरदास के पद इस शैली में चित्रित हुए तथा प्रेम के सिंहासन पर बैठी मायाविनी राधारानी, जिनके चरण-स्पर्श के लोभी मुण्ठित-मुकुट केशव चित्रों के नायक थे।...राधा के अधर-पल्लवों पर विजित स्मित-चंद्रिका में मन का सब कुछ डूब गया। किशनगढ़ के चित्र आध्यात्मिक मार्ग के प्रकाश-नक्षत्र थे। बूंदी-चित्रों में प्रेमलीला के रास-विलास चित्रित किये गये। जयपुर में कृष्ण-राधा की युगल छवि देखी। जोधपुर में वीर भावों को प्रेम की सुधा-माधुरी में डुबो दिया तथा उदयपुर में कृष्णचरित्र के सभी अंगों को रूपबद्ध करने में रस लिया। इस प्रकार अनेकानेक व्यंजना-विलास की रूपलहरी राजस्थान के कलाकोष में रत्नों की तरह भर गयी।[१]

इस तरह शिल्पकला की भांति चित्रकला सार्वजनिक मंदिरों में नहीं, बल्कि राजपूत राजाओं के निजी रंगमहलों में, कामिनी की तरह, रम गयी। क्या यह एक गज़ब का विरोधाभास नहीं है कि लगभग सोलह सौ वर्षों तक साथ-साथ रहने वाली शिल्पकला तथा वास्तुकला अब वियुक्त हो जाती हैं तथा उनके स्थान पर, मुगल-शासन के स्थिर होते ही, चित्रकला और वास्तुकला का पृथक्-पृथक् अभ्युत्थान होता है; लेकिन शिल्पकला वहीं, बहुत दूर, पीछे छूट जाती है—मोहेनजोदड़ो के सार्वजनिक स्नानागारों में। सार्वजनिक मंदिरों और विहारों-गुफाओं में।

× × ×

युगलरूप में आर्य और ग्रीकों की सौंदर्यबोधक संस्कृति के दिग्दर्शन के उपरांत अब हम अगले दो अध्यायों में आसानी से आधुनिक मार्क्सवाद, और मिथक रचनाशास्त्र तथा आधुनिक भाषादर्शन के संदर्भों को ले सकेंगे।

१. 'राजस्थानी चित्र-परंपरा' शीर्षक लेख, वही, पृ० १३३-३४।

४

मार्क्सवाद में सौंदर्यतत्त्व के प्रतिमान और आयाम

(क) समस्याओं का क्लासिकी सप्तयाम

प्रतिमानित मार्क्सवाद के अंतर्गत पहले-पहल तो हम निम्नलिखित **सौंदर्यबोधात्मक समस्याओं** पर विचार करेंगे :—

(१) भाव (आइडिया), (२) सौंदर्यबोध (सेंस ऑफ ब्यूटी), (३) वस्तु और रूप, (४) यथार्थता, (५) राजनीति, (६) नैतिकता, और (७) हमारे युग का नायक।

(१) मार्क्सवाद के अनुसार (अ) भाव समाज के आर्थिक ढांचे (='आधार') एवं वर्गीय हितों के प्रतिबिंब हैं। यह **आर्थिक भित्ति** या 'मूलाधार' है।

(ब) भाव वातावरण में अभिव्यंजना प्राप्त करते हैं। यह **वातावरणात्मक भित्ति** है।

(स) भाव वस्तुओं के 'दर्पण-बिंब' हैं। यह **ज्ञान-मीमांसात्मक भित्ति** (ऐपिस्टेमोलाजिकल बेस) है।

हमें 'निर्विकल्प भावों' की हीगेलियन भव्यता तथा आर्थिक तत्त्वों की मार्क्सीय सत्यता के दर्म्यान चुनाव करना ही होगा।

(अ) भाव सुपरिगठन के स्तंभ होते हैं। क्यों ये सुपरिगठन में पल्लवित होते हैं जो स्वयं पदार्थ पर आश्रित है। अतएव भाव भी वास्तविक होते हैं। क्योंकि आधार की रचना वर्गीय संबंधों से होती है और भाव सामाजिक वातावरण के दावेदार होते हैं; इसलिए ये वर्गीय हितों के अप्रत्यक्ष और उदात्तीकृत रूप होते हैं।

अतः भाव वास्तविक और वर्गीय हितों की अभिव्यक्ति होते हैं। जिस प्रकार श्रम सभ्यता में भौतिक उत्पादन करता है, उसी प्रकार भाव संस्कृति में बौद्धिक

उत्पादन। संस्कृति का क्षेत्र कला के अलावा दर्शन, धर्म, विज्ञान, राजनीति, कानून, नैतिकता इत्यादि भी होता है जिसके फलस्वरूप सौंदर्यबोधशास्त्र में केवल सुंदर भाव ही नहीं, बल्कि नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक विचार आदि भी ग्रहीत होते हैं। कला केवल कला के लिए नहीं हो सकती, क्योंकि भावों के क्षेत्र व्यापक हैं।

लेकिन भौतिक ज़िंदगी में उत्पादन का ढंग ही साधारणतया मनुष्यों की बौद्धिक ज़िंदगी को निर्धारित करता है। अर्थात् प्रत्येक ऐतिहासिक समय में भावों में परिवर्तन, विकास और वृद्धि होती है। गुप्त-कालीन अजंता के भित्ति-चित्रों में तथा राजा संसारचंद्र कालीन कांगड़ा कलम के चित्रों में, जातक-कथाओं में वर्णित बुद्ध-चरित्र में और अश्वघोष के बुद्ध-चरित्र में, भरहुत-कालीन अर्द्धनग्न अनेक लड़ियों से कटि-अलंकृता यक्षिणियों और गुप्त-कालीन गोल उभरे अंगों वाली, आवरणावगुंठिता यक्षिणियों में जो बौद्धिक स्तर तथा कुशलता की सापेक्ष परिष्कृति मिलती है, वह भौतिक उत्पादन के औजारों की तरक्की (टेक्नालाजी) तथा सामाजिक संबंधों के परिवर्तन के कारण ही हो सकी है। भौतिक ज़िंदगी में उत्पादन के ढंग का विकास भावों को भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता में परिणत करता जाता है। यहां हम पुनः एक पूर्वोक्त सूक्त दोहराते हैं: 'नवोदित भौतिक संबंध जनता की चेतना में पहले नहीं प्रविष्ट होते, लेकिन नवोदित विचारधारात्मक संबंध पहले ही जन-चेतना में घर करने लगते हैं।

अतः भौतिक संबंधों और बौद्धिक संबंधों में आपसी संबंध भी हैं। मनुष्यों की भौतिक सक्रियता तथा भौतिक आदान-प्रदान अर्थात् वास्तविक ज़िंदगी के साथ ही भावों, विचारों और चेतना की सृष्टि अंतर्ग्रथित रहती है। जैसे विद्यापति के युग की राधा की भावनाओं को हम 'कनुप्रिया' की राधा के साथ नहीं जोड़ सकते।'

(ब) मनुष्य—वास्तविक और सक्रिय मनुष्य—ही अपने भावों, धारणाओं और विचारों इत्यादि के उत्पादक हैं। अर्थात् मनुष्य के आपसी संबंध वातावरण की सृष्टि करते हैं। कला और साहित्य में यह वातावरण समाज से, कलाकृतियों से, पुस्तक-भंडारों से एवं कलाकारों के जीवनी से प्राप्त होता है। समाज का वातावरण वर्गीय अभिरुचियों से ओत-प्रोत होने के कारण तथा कलाकार का किसी वर्ग का सदस्य होने के कारण तथा कलाकृतियों का किसी विशेष ऐतिहासिक युग में प्रणयन होने के कारण भावों की दिशा भी इनसे संचालित होती है और वे इन्हीं आदान-प्रदानों के अभ्यस्त हो जाते हैं। लेकिन मनुष्यों की जीवन-क्रिया भी निश्चित मनुष्यों की होती है। ये निश्चित मनुष्य हैं जो दूसरे लोगों की कल्पना के मुताबिक नहीं होते हैं; न ही अपने मनोनुकूल होते हैं। बल्कि ये निश्चित हैं अर्थात् जिस प्रकार ये भौतिक उत्पादक हैं, प्रभावोत्पादक हैं या सीमाओं के अंदर सक्रिय हैं, वह कमोबेश उत्पादन-शक्तियों से निश्चित होता है। इसलिए ही कालिदास या भारवि के युग में कोई भी केवट या किरात् को नायक बनाकर चतुर्धीरत्व का उल्लंघन करने की कल्पना ही नहीं कर सकता था। लेकिन आज माइकेल मधुसूदन दत्त मेघनाद के, प्रेमचंद होरी महतो के, नागार्जुन वरुण-बेटी मधुरी के या जगदीशचंद्र ज्ञानो के नायकत्व के स्थान पर केवल ब्राह्मण-क्षत्रिय नायक-नायिकाओं की ही प्रतिष्ठा का विचार तक नहीं कर सकते। अतः

भावों, विचारधाराओं तथा अभिव्यंजनओं की सीमा भी सामाजिक वातावरण से सीमित होती है और उनकी प्रकृति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वर्गीय प्रवृत्त्यात्मकतामय होती है।

कार्ल मार्क्स ने इसका कारण एक सूत्र में बताया है : "मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती। इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना निर्धारित करता है।"[1] यहां दो बातें जाहिर हैं—जैविक पदार्थ से ही मानस का विकास होता है, और साधारण अस्तित्व के बजाय सामाजिक अस्तित्व ही चेतना का विकास कर सकता है। सामाजिक अस्तित्व मनुष्यों को पशुओं के अस्तित्व वाली वन्य अवस्था से ऊंचे ले आता है; उन्हें सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कामों का कर्त्ता बना देता है; उन्हें लाभदायक बौद्धिक उत्पादनों के लिए भी सक्रिय बना देता है तथा उनकी सामाजिक चेतना पर भौतिक संबंधों के नियंत्रण लागू कर देता है। इन चार कारणों से भाव वातावरण में विशिष्ट अभिव्यंजना प्राप्त करते हैं। ज़रा महाभारत में वर्णित धर्म-युद्ध के वातावरण की अभिव्यंजना की 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित संयोगिता-अपहरण से उत्पन्न युद्ध के वातावरण अथवा भारतेंदु काव्य में उपनिवेशवादी आधुनिक अंग्रेज फौजों के बर्मा-युद्ध के वातावरण की अभिव्यंजना से तुलना करें। यह अंतर साफ नज़र आ जायेगा। स्थायी भाव में तो मौलिक परिवर्तन लगभग नहीं हुआ है, किंतु सामाजिक विकास-क्रम के साथ इंद्रिय-बोधों में परिष्कार हो गया है।

(स) भावों की ज्ञान-मीमांसात्मक भित्ति ही उन्हें चेतना की भित्ति प्रदान करती है। और चेतना के लिए चेतन अस्तित्व की भित्ति अनिवार्य है। यदि अस्तित्व —चेतनायुक्त अस्तित्व—ही न हुआ, तो भावों की सृष्टि किस प्रकार होगी ? अतः मनुष्यों का अस्तित्व ही उनकी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया है। जीवन चेतना के द्वारा निर्मित नहीं होता (जीवन के अभाव में चेतना कहां से आयेगी ?), बल्कि चेतना ही जीवन के द्वारा नियमित होती है। मनुष्य के इंद्रिय-बोध का निर्माण एक-दो मनुष्यों का नहीं, निरपेक्ष चेतना का नहीं, अमूर्त दैवी बरदान का नहीं, **'अब तक के समूचे विश्व-इतिहास का काम है'** (—मार्क्स)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि (क) **भावों की सृष्टि और आरंभ उस वस्तु पर आश्रित है जो स्वयं भाव** नहीं है; और (ख) सामाजिक विकास के साथ-साथ इंद्रिय-बोध भी परिष्कृत होता रहता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के मात्रा से गुण में परिवर्तन के नियम के अनुसार भौतिक जगत् में विकास के फलस्वरूप जटिलताओं में वृद्धि होती है जिससे पदार्थ के नये गुणों का अभ्युदय होता है। मानव-अस्तित्व में ये नये गुण **जीवन तथा मस्तिष्क हैं**। इसीलिए हम वास्तविक और सक्रिय मनुष्यों, तथा जटिलतर होती हुई भौतिक ज़िंदगी से अपनी छानबीन आरंभ करते हैं और उनकी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया की बुनियाद पर विचारधारात्मक संचयनों को प्रतिध्वनित करते हैं। अतः भाव उत्तरोत्तर स्थायी भावों, विचारों तथा विचारधाराओं में विकसित होते जाते हैं; और आर्थिक तत्त्व

१. दे० 'ए कान्ट्रीब्यूशन टु दि क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी'।

भी जटिल से जटिलतर होते जाते हैं। इसलिए कला और साहित्य, जिनका गहरा संबंध मनुष्य के इंद्रिय-बोध से है एवं जिनका माध्यम रूपमय है, सामाजिक परिस्थितियों के सीधे 'प्रतिबिंब' नहीं, 'रूप-परिवर्तन' हैं।

दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिंब धुंधले हो सकते हैं; उनकी गहराई में अंतर आ सकता है; उनकी छवियों में परिवर्तन हो सकता है। चक्षु-पटल (रेटिना) पर पड़ने वाले छायालेख उलटे हो सकते हैं। अतः "यदि सब विचारधाराओं में मनुष्य तथा उनकी परिस्थितियां कैमरे के पर्दे के छायालेखनों की तरह उल्टी ही लगती हैं, तो वे घटनाएं भी उनकी ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया से उसी प्रकार उदित होती हैं जिस प्रकार चक्षु-पटल पर उनकी शारीरिक जीवन-प्रक्रिया से उल्टी प्रतिमाएं बनती हैं।...अतः मनुष्य के मस्तिष्क में बने हुए छायाभास (फैंटम) भी आवश्यक रूप से उसकी भौतिक जीवन-प्रक्रिया के ही औदात्यपूर्ण तत्त्व हैं।"[1] यहां तक कि परी-कथाओं, पशु-कथाओं और पौराणिक कथाओं में भी ये छायाभास-विचार दर्पण-बिंब या चक्षु-पटल-बिंबों की तरह परिवर्तित रूप में मौजूद हैं। अतएव भावों के लगभग सभी कल्पनामय आधार भी अदृश्य रूप में ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया पर ही टिके हैं।

अतः वास्तविक अनुभवों एवं इंद्रियबोधों की परिवृत्ति के कारण मनुष्य साहित्य में क्रमशः चिंतन के निष्कर्ष और जीवन के चित्र देते हैं। यह सत्य है कि आदि-काव्य से लेकर आज के 'मुक्ति-प्रसंग' तक मनुष्य के इंद्रिय-बोधों में लगभग जैविक परिवर्तन नहीं हुआ है, लेकिन सामाजिक विकास के साथ उनका परिष्कार जरूर हुआ है। यह परिष्कार अचानक नहीं, इतिहास के क्रम में हुआ है। संगीत के स्वरों का सुनना, चित्रकला के रंगों पर मुग्ध होना, भावों पर झूमना, पाषाण-प्रतिमाओं की कोमलता का स्पर्श करना आदि सामाजिक विकास-क्रम में ही क्रमशः संभव हो सका है। इसलिए कला और साहित्य **सापेक्षतया स्वाधीन** हैं, लेकिन **समाज-निरपेक्ष** नहीं। इसके अलावा मनुष्य का इंद्रिय-बोध उसके सामाजिक विकास के पहले भी अपरिष्कृत रूप में विद्यमान था जो परिष्कृत होता चला आ रहा है और जिसे उत्तरोत्तर नये अनुभव नया चिंतन प्रदान करते जा रहे हैं। अतः सौंदर्यबोधशास्त्रीय भावों की (इमेजों में) अधिकांशतः तो इंद्रिय-बोधों की परिष्कृत छवियां हैं, तथा कुछ चिंतनों से आप्त 'इकाई'-विचार (कोर आइडियाज़) भी हैं। इसके अलावा पुनः यह स्पष्ट हो जाता है कि कला और साहित्य सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिंब नहीं, रूप-परिवर्तन हैं। इसका परिणाम यही होता है कि मार्क्सवादी कला में **भाव** तथा **विचार** समानधर्मा होकर आते हैं। उनकी परिणति विचारधारा तथा चिंतन के निष्कर्षों (=बौद्धिकता) में भी होती है। अस्तु सौंदर्यबोधशास्त्रीय भावों की बिंब-लड़ियां रूप-परिवर्तित, चिंतन से स्थिर एवं विचारधाराओं के दर्शन से स्थायी होती हैं जिससे इनमें बौद्धिकता तथा विवरण का भी समावेश गुणात्मक ढंग से होता जाता है। यह अधिभाषा (मैटा-लैंग्वेज) का लोक है।

१. मार्क्स व एंगेल्स : 'दि जर्मन आइडिओलॉजी', पृ० १३-१६।

(२) सौंदर्य-बोध तथा सौंदर्य-सृजन की मनोवैज्ञानिक विधियों के विषय में मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र तकरीबन शिथिलबंध है। तीन कारणों में चेतना को भी गिनाकर वह इनके परिपार्श्व एवं परिणामों को ही उद्‌घाटित करता है। अस्तु।

जैसा कि हम पहले दो-तीन बार कह चुके हैं कि भौतिक संगठन में परिवर्तन अथवा विकास होने पर जटिलताओं की वृद्धि होती है जिससे पदार्थ में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं और नये गुणों का उद्‌भव होता है। इसी प्रकार आदिम अवस्था से आधुनिक अवस्थाओं के विकास तक मनुष्य, कलाकार या सहृदय (संस्कृत परिभाषा-सम्मत) तीनों की चेतना तथा संवेदना में भी परिष्कार होता है। जो कलाकार अथवा सहृदय जितना भी श्रेष्ठ होगा, उसका सौंदर्य-बोध उतना ही जटिल तथा वैयक्तिक संवेदनाओं में गुंथता जाएगा। इन जटिलताओं के मनोवैज्ञानिक स्रोतों की छानबीन होनी चाहिए।

हां, यह स्पष्ट है कि इंद्रियजन्य सौंदर्य-बोध वैयक्तिक क्षमताओं पर भी आश्रित है। जो कलाकार अमरावती के गोपुरों पर उत्कीर्ण हंस-मालाओं के रूप पर मुग्ध नहीं हो सकता, या कालिदास की उपमाओं के सौंदर्य की रस-धारा में नहीं डूब सकता, वह कलाकार की इतिहासरथी संवेदना से शून्य-सा है। अतः कला-वस्तु के प्रति इंद्रियबोध की तीव्रता व्यक्ति की **अपनी** क्षमता पर निर्भर करती है। लेकिन इस वैयक्तिक क्षमता का विकास होता पाया जाता है यदि हम सामाजिक मनुष्यों की ओर दृष्टिपात करें। वैयक्तिक एकांतिकता को अलविदा देकर आने वाले सामाजिक मनुष्य—परिवार, वर्ग, जातिगत संस्कार, सौंदर्यात्मक परंपराओं में पले मनुष्य—असामाजिक मनुष्यों से भिन्न हो जाते हैं। अतः सामाजिक मनुष्यों में सौंदर्य-बोध होता है और वे अपने संस्कारों को विकसित करके उन्हें ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि पांच इंद्रियों का निर्माण तथा परिष्कार व्यक्तियों ने नहीं, आज तक के विश्व-इतिहास ने किया है, अतः सामाजिक मनुष्यों के सौंदर्य-बोधों का भी स्तर बदलता जाता है।

सामाजिक मनुष्य—कलाकार तथा सहृदय दोनों—मानवीय ऐंद्रिकताओं की समृद्धि भी करते हैं। वे केवल पांचों इंद्रियों को ही नहीं, 'बौद्धिक बोधों' तथा 'व्यावहारिक बोधों' को भी क्रमशः विकसित करके अपनी बर्बर और वन्य प्रवृत्तियों को भी **मानवीय बोधों** में परिवर्तित कर देते हैं चाहे वह रति हो, या उत्साह, या घृणा, या भय। वे पंच इंद्रियों + बौद्धिक बोधों + व्यावहारिक बोधों के योग से केवल मानवीय बोधों का ही संचयन नहीं करते, बल्कि उनमें ही **मानवता**—मानव जीवन की संपूर्णता—का अधिवास भी करा देते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के परिवेश में सौंदर्य-बोधों की समृद्धि होती जाती है। इसका परिणाम यही होता है कि केवल सामाजिक ज़िदगी तथा उपयोग की वस्तुएं, जैसे अलंकार, शृंगार-प्रसाधन, वस्त्र, दैनंदिन जीवन के उपयोग की वस्तुएं ही नहीं, प्रकृति भी मानवीय बोधों को ग्रहण करके मानवीकृत (ह्यूमेनाइज) हो जाती है। अतः सौंदर्य-बोध, वस्तुओं तथा प्रकृति दोनों को मानवीय बना देते हैं। इसका परिणाम यह है कि वन कांतारों की शोभा, निर्झरों का जल-तरंग-संगीत, कोकिल की रसीली ध्वनि, कुंजर का झूमना आदि आज भी हमारे

'आंचलिक' काव्य में मानव और प्रकृति की कांत-मैत्री स्थापित किये हैं।

× × ×

एंगेल्स ने सौंदर्य-सृजन की सब से पहली समाजशास्त्रीय शर्त उस युग से मानी जब वनमानुषों के चौपायेपन का विकास होकर उनसे मनुष्यों का आविर्भाव हुआ और—**'जब हाथ स्वतंत्र हो गया'**। हाथ केवल परिश्रम का **उपकरण** ही नहीं, श्रम का **परिणाम** भी हुआ। मानवीय हाथों ने ही उत्कर्ष की भव्य ऊंचाइयां प्राप्त कीं और सुंदरतम सौंदर्य-सृजन किये; हाथों ने ही धनुष-बाण तथा स्पुतनिकों और अपोलो-यानों का निर्माण किया; हाथों ने ही गोम्मटेश्वर की भीमकाय प्रतिमा गढ़ी, हाथों ने ही तानसेन का मृगमुग्ध कर लेने वाला सितारवादन किया; हाथों ने ही कांगड़ा के चित्र बनाये, और हाथों ने ही 'राम की शक्ति-पूजा' लिखी। अतः हाथों में सौंदर्य-सृजन की बाह्य प्रक्रिया, कौशल समेत, प्रतीक बनी।

लेकिन हाथ ऐतिहासिक विकास भी हैं। हाथों का शिल्पी मनुष्य ही सौंदर्य-सृजन करता है। यह सौंदर्य-सृजन मन, बुद्धि तथा हाथों के द्वारा होता है। इसके लिए उसे जीवन और अवकाश चाहिए अर्थात् उसे जीवन की स्थूल व्यावहारिकताओं से छूट मिलनी चाहिए; नहीं तो उसकी इंद्रियां जीविका जुटाते-जुटाते ही कुंठित हो जाएंगी। अतः सौंदर्य-सृजन के लिए समाज में आर्थिक खुशहाली होना प्रमुख शर्त है। दूसरी शर्त सौंदर्य-सर्जक का सौंदर्य-ग्राही होना है। घोर दरिद्रता में पिसती हुई जनता न तो भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' को समझ सकती है, न अमृता शेरगिल के चित्रों को। घोर भुखमरी में ग्रस्त जन के बीच कलाकार (परिष्कृत रुचियों वाले) भी आत्मनिर्वासित हो जायेंगे। इसी प्रकार एक सुनार सोने के आभूषणों की पच्चीकारी या नख-शिख अलंकृता राधा की अलौकिक छवि की परवाह न करके उनके बाज़ार-मूल्य को ही जांचेगा।

जब सामाजिक खुशहाली और सौंदर्य-ग्राही परंपरा के बीच संवेदनशील मनुष्यों में से कलाकार होंगे, तभी महान् सौंदर्य-सृजन संभव होगा। लेकिन इसके लिए एकाग्रता की ज़रूरत है। एकाग्रता सर्जनात्मक श्रम-संभाजन के द्वारा ही मुमकिन है। भौतिक ज़िंदगी में ऐसा नहीं होता कि बिना सौंदर्य-बोध को विकसित किये ही कोई फौजी सिपहसालार या कोई महाजन दिनभर धंधा करे और रात को कवि बन जाये। यह उदाहरण मार्क्स ने पेश करते हुए कलाकार के लिए भी श्रम-विभाजन की आवश्यकता प्रदर्शित की है। श्रम-विभाजन के कारण ही सौंदर्य-सृजन भिन्न-भिन्न मनुष्यों के बीच हस्तांतरित किया जाता है; नहीं तो सभी एकसाथ महानाविक, सिपहसालार, महाजन आदि न हो जायें ? अतः कलाकृतियों के रूप में सौंदर्य-सृजन हस्तांतरित किया जाता है। सौंदर्य-सृजन वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक चेतना का ही अंश है।

सामाजिकता और 'वस्तुगतकरण' (आब्जेक्टिवाइजेशन)—अर्थात् वस्तुओं की समृद्धि और सभी वस्तुओं के बोधों का विस्तार—के कारण जिस प्रकार सौंदर्य-बोध में **मानवीय बोध** तथा **इंद्रियों की मानवता** की स्थापना होती है, उसी प्रकार सौंदर्य-

सृजन में भी वस्तुगत सामाजिक जीवन से ऐंद्रियता विकसित होती है—जैसे रूप-सौंदर्य के प्रशंसक लोचन, संगीतप्रेमी कर्ण-कुहर, या सुख प्रदान करने वाली इंद्रियां। "इसलिए सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार से मानवीय अस्तित्व के वस्तुगतकरण का हेतु मनुष्यों की इंद्रियों को मानवीय बनाना तथा मानव एवं प्राकृतिक जीवन की विस्तृत समृद्धि के अनुरूप मानवीय इंद्रियों की सृष्टि करना है।"[1] अतएव सौंदर्य-सृजन के सामाजिक तथा वस्तुगत परिवेश में सृजन तथा मानवताकरण, दोनों ही शामिल हो जाते हैं। मानवीय सृजन मनुष्यों के अलावा प्रकृति के अन्य पशु, पक्षियों, फूलों, वस्तुओं को भी ग्रहण करता है, शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्त होता है और सार्वभौम होता है। इसके कारण यह चयन—सौंदर्य-चयन—इंद्रिय-बोधों की ऐंद्रियक रागात्मकता से अनुरंजित होता है।

(३) अक्सर वस्तु को विषय-वस्तु का अंग मान लिया जाता है जबकि वस्तु का तात्पर्य कला के विशिष्ट तत्त्व (स्पेसिफ़िक्स) हैं। हीगेल ने सौंदर्यबोधशास्त्र को वास्तविकता (सब्सेंशियेलिटी) की अंतःश्रेणी (=केटेगरी) में रखकर उसे कांट की असंगतियों से बचा लिया, लेकिन अन्य समस्याएं पेश कर दीं। (यहां से हम स्पष्टता के लिए कांटेंट के लिए **तत्त्व** का तथा 'आबजेक्ट' के लिए **वस्तु** का प्रयोग करेंगे)।

"हीगेल ने किसी वस्तु के तत्त्वों को आत्मात्मक द्रव्य में समझा जो, अपूर्णतया लेकिन निश्चित तौर पर, वस्तु के रूप में प्रकट होता है। कहा जाये कि वह रूप के माध्यम से **'झिलमिलाता'** रहता है। भौतिकवादियों ने सौंदर्यबोधशास्त्र—विशेषकर सुंदरता—की अपनी परिभाषा में तत्त्वों की हीगेलियन व्याख्या को अस्वीकार कर दिया और उसे या तो वस्तु के उपयोगिता जैसे गुण में स्वीकार किया, या फिर उसकी साधारण विशेषताओं जैसे व्यवस्था, अनुपात, ताल, संतुलन आदि में वर्गीकृत किया…यह तय है कि स्वभावतः सुंदरता और उपयोगिता गलबांही डाले रहती हैं और अंतर्संबंधित हैं, लेकिन उपयोगिता सुंदर का विशिष्ट तत्त्व नहीं है।"[2]

तत्त्व तो प्रत्येक वस्तु के होते हैं। अत कलात्मक सौंदर्य के भी तत्त्व होंगे। कलात्मक सौंदर्य का सृजन भी होता है, तथा आशंसा भी। अतः विषय-वस्तु तथा रूप, दोनों ही एक द्वंद्व-इकाई हैं। इन सभी तत्त्वों में कलात्मक तत्त्वों की **कोई विशेषता** भी है; तथा इन सबके अंतराल को गूंथता हुआ कोई **मूल तत्त्व** भी है।

कलात्मक तत्त्वों की विशेषता वस्तु के प्रति मानवजीवन का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है। अपने जीवन की पूर्णता, व्यवस्था, अंग-माधुर्य, दृष्टि, भाव-लोक आदि के अनुरूप मनुष्य प्रकृति तथा जगत् का मानवताकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन) करता है। अतः जीवन की पूर्णता और समृद्धि इनकी विशेषता है।

लेकिन कलात्मक सौंदर्य अन्य तत्त्वों से इस बात में भिन्न है कि उसका संबंध

१. मार्क्स: 'इकॉनामिक एंड फिलॉसफिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ १८४४', पृ० १०८।

२ अलेक्ज़ेंडर बुरोव: 'टू मेजर प्रॉब्लेम्स ऑफ़ मार्क्सिस्ट ऐस्थेटिक्स', सोवियत लिट्रेचर, नं० ३, १९५७।

मानवीय रागों से होता है। अतः इन तत्त्वों में से मूल तत्त्व उसका 'रागात्मक तत्त्व' है।

अस्तु जीवन की पूर्णता तथा रागात्मक तत्त्व ही कलात्मक सौंदर्य के 'विशिष्ट तत्त्व' एवं 'तत्त्वाधार' हैं।

कलात्मक सौंदर्य भिन्न-भिन्न कलाओं में जो प्रक्षेपण करते हैं, वह मानव की सृजनात्मक शक्तियों की पूर्णता को ही प्रकट करते हैं जो विश्व-गढ़ने के साथ-साथ विकसित होती है।

क्रम, या व्यवस्था-तत्त्व कविता में भाव, अनुभाव, संचारी, स्थायीभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति करता है; शिल्प में आलंबन (रिपोज़), लावण्य (ग्रेस) तथा रमणीयता (फेसिनेशन) से पूर्ण होता है; चित्रकला में रेखा, रंग, संयोजन से सुंदर चित्र रचता है। **अनुपात-तत्त्व** कविता में हृदय-पक्ष तथा बुद्धि-पक्ष का संतुलन लाता है, चित्रकला में तीन आयामों के द्वारा स्वाभाविक अवलोकन देता है; शिल्प में अंग-रचना की आदर्श जीवंतता या भावोत्कर्ष (यूनानी अपोलो, या सातवाहन-कालीन नटराज) उभारता है; कथा-साहित्य में रस, वस्तु एवं नायक के संतुलन से समाज का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। **ताल-तत्त्व** कविता में भावों के उतार-चढ़ाव को ताल-तुक, दोनों से अभिव्यंजित करता है; चित्रकला में रंग-भरावों, झीने-ओढ़ाने द्वारा विद्युत्तरंगें फैलाता है (वान गोग, रेनोएं या अमृता शेरगिल, निकोलास रोरिख के चित्र); शिल्प में विशिष्ट अंग-मुद्राओं द्वारा समानुभूति (इम्पैथी) उत्पन्न करता है; कथा-साहित्य में घटनाओं और पात्रों के चरित्र के उतार-चढ़ाव द्वारा मथित भाव-सरिता को प्रवाहित करता है। **विषय-वस्तु** का तत्त्व चित्रकला में रूबेंस के देवी-देवताओं के आलेखन से लेकर, डिलाक्रोएक्स के राजनीतिक चित्रों, रेंब्रां के छवि-चित्रों, गागिन के ताहिती के लोक-चित्रों तथा पिकासो के आदिम-चित्रों तक का समावेश कर सकता है। शिल्प में यह एक 'विशिष्ट' मुद्रा पर अपना कौशल न्यौछावर कर देता है; कविता में या तो स्वयं कवि की पहली वाणी, या कवि तथा श्रोता की दो वाणियों, अथवा कवि, श्रोता और समाज की तीनों वाणियों को मुखर करता है (दे० इलियट)।

कला और साहित्य में विषय-वस्तु अंतर्बाह्य का संगम है। मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र कला, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, धर्म, नैतिकता आदि को एक ही सामाजिक चेतना के भिन्न रूप मानता है। अतः कला की विषय-वस्तु ये सभी चेतनाएं हो सकती हैं। पहले भी काव्यों में दार्शनिक चिंतन, धर्म-संस्थापन, नैतिक आदर्श, सौंदर्य-भाव, विधि-पालन, कामोद्दीपन, समाज-चित्रण आदि के विचार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहे हैं। लेकिन इनका एक रहस्य रहा है—ये बौद्धिक या अकलात्मक अभिव्यक्ति न होकर सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना रहे हैं। अर्थात् इन चेतनाओं ने सामाजिक मनुष्य के संसार की विशिष्ट प्रतीकात्मक छवि आंकी है जिसमें संबंधों की समृद्धि तथा असंख्य भावों का जगत झिलमिलाता है।

कला और साहित्य में बुनियादी विषय-वस्तुएं लगभग वही होती हैं, चाहे जो भी संस्कृति हो। जन्म और मृत्यु, प्रेम और घृणा, ईर्ष्या और सहानुभूति,

वैयक्तिक संघर्ष, वर्गीय अनुभव, विजय और पराजय, आदि सामाजिक अनुभवों तथा मनोवैज्ञानिक स्थिरताओं से गुंथे रहे हैं। सामाजिक अनुभवों का गुणक ही वस्तुओं को प्रत्येक ऐतिहासिक काल के अनुसार बदलता तथा परिवर्तित करता है।

अतः विषयवस्तु कला अथवा कलाकृति का सब से प्रधान तत्त्व है। कला के तत्त्वों में विशिष्टता—रागात्मकता की—हुआ करती है। कला में तत्त्व, शनैः-शनैः और साथ-साथ, रूप में भी परिवर्तित होते जाते हैं। क्रम, अनुपात, संतुलन आदि रूप-संस्थापक हैं। यदि इमेजरी तथा भाव साहित्य में कविता से लेकर उपन्यास तथा नाटकों के रूपों का विकास करते हैं, तो ध्वनि तथा ताल महाकाव्य की ओजस्विता, रंगों की जीवंतता और मूर्तियों की मनोहरता की उद्भावना करते हैं। स्वरूप भी युगों के अनुरूप बदलते तथा विकसित होते हैं—कविता का नाटक में विकास आदिम युग से कृषि-युग के प्रवर्तन के कारण हुआ; काव्य और नाटक का उपन्यासों में विकास औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न मध्यवर्ग की स्थापना से हुआ तथा कविता में मुक्तछंद की कविता की प्रतिष्ठा प्रजातंत्र-युग की देन है। यह सृजन भी ऐतिहासिक परिवर्तन तथा विकास की अनुकृति हुआ करता है। रूप की विवेचना हम बाद में करेंगे।

(४) मार्क्सीय सौंदर्यबोधशास्त्र में हीगेल के आत्मगत आदर्शवाद से नितांत भिन्न **'मानवीय यथार्थ'** का प्रादुर्भाव है। वस्तु के प्रति एक अहम रवैया ही मानवीय यथार्थ है जिसमें **मानवीय क्रिया** तथा **मानवीय सहनशीलता**, दोनों ही शामिल हैं।

वस्तु के प्रति खास रवैये के कारण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद 'वस्तुगत यथार्थ' का प्रतिपादन करता है। आत्मगत यथार्थ के विपरीत तादृश् वस्तुगत यथार्थ की प्रतिष्ठा में हीगेल, लॉक, बर्कले की असंगतियों का परित्याग तथा हीगेल के द्वंद्वात्मक पूर्ण का अंगीकार और जार्ज मूर तथा मीनांग के कुछ दृष्टिकोणों की भी स्वीकृति है।

हीगेलियनों के आत्मगत यथार्थ में ब्रह्मांड विचारों का ब्रह्मांड है; और जो कुछ भी अस्तित्वमान है, वह विचारों का ही एक पक्ष है। जो कुछ भी अस्तित्व रखता है उसे मस्तिष्क या विचार होना चाहिए; या कम-से-कम उसकी प्रकृति वही होनी चाहिए जो मस्तिष्क या विचारों की है। अतः अस्तित्व रखने के लिए वस्तु नहीं, विचार होना अनिवार्य है। यह स्थापना तो इंद्रिय-बोध, मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण और बहिरंग सामान्य अनुभवों के विपरीत होकर विचारों के द्वारा ही ब्रह्मांड-रचना की अतार्किक रचना है जो आज के युग में नामंजूर होगी।

कुछ यथार्थवादी सिद्ध करते हैं कि 'संवेदनात्मक अनुभवों' को जो कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह किसी भी प्रकार से ज्ञाता के मस्तिष्क पर आश्रित नहीं है। जिसका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है वह एक भौतिक वस्तु है—यद्यपि यह प्रत्यक्षीकरण आंशिक या भ्रामक हो सकता है।

यह दृष्टिकोण भी एकांगी है। हम जिसका प्रत्यक्षीकरण करते हैं वह भौतिक वस्तु न होकर 'इंद्रिय-गुणक' (सेंस डेटम) हैं। ये इंद्रिय-गुणक कुछ गुणों के लिए द्रष्टा के मस्तिष्क, ज्ञानेंद्रियों तथा स्नायुओं पर निर्भर करते हैं। ये संवेदनाओं को तत्क्षण

पता लग जाते हैं—। जैसे कमल के फूल और हंस का इंद्रिय-गुणक (श्वेत) रंग होगा; वीणा के संगीत और बांसुरी का इंद्रिय-गुणक ध्वनि होगी; रजनीगंधा और कस्तूरी का इंद्रिय-गुणक गंध होगी, रेत और इस्पात का इंद्रिय-गुणक स्पर्श होगा। अतः रंग, शब्द, गंध, स्पर्श आदि की संवेदना तत्क्षण होती है और कालांतर में ये भौतिक वस्तुओं के पहचान-चिह्न हो जाते हैं। अतः प्रत्यक्षीकरण स्वयं में वस्तु नहीं है—उसी प्रकार जिस प्रकार रंग, शब्द, गंध आदि स्वयं में इंद्रिय-गुणक तो हैं लेकिन संवेदना (सेंसेशन) नहीं। अतः ये इंद्रिय-गुणों के सरल विचार हैं जो मस्तिष्क में सरल भावों के रूप में मौजूद रहने के बजाय मस्तिष्क के लिए बहिरंग हैं और इसकी (मस्तिष्क की) सीधी समझ (एप्रिहेंशन) के लक्ष्य हैं। बर्ट्रेंड रसेल ने इनको स्पष्ट करके लॉक तथा बर्कले की धारणाओं से इस अंतर का उल्लेख किया।

इंद्रिय-गुणक और भौतिक वस्तुएं सारूप नहीं हैं। यदि हमारे सामने अवलोकितेश्वर की एक मूर्ति रखी जाये तो उसका जो भाग जिस कोण से दिखाई दे रहा है वह पूर्ण सतह का द्योतक नहीं है। यह भौतिक वस्तु (पाषाण-प्रतिमा) केवल कुछ स्थान ही नहीं घेरती अपितु काल में भी व्याप्त है। अतीत मे इसे किसी शिल्पी ने रचा होगा, इसकी कला-सौंदर्य की विलक्षणताएं होंगी, शुंग-काल के इतिहास की कई घटनाओं के बीच यह स्थिर रही होगी, तथा भविष्य में भी रहेगी। अतः हम इसका एक लघु क्षण देखते हैं। इसके अलावा इस मूर्ति की सतह केवल भूरे रंग की ही नहीं, कठोर और ठंडी या भुरभुरी तथा गर्म भी हो सकती है। अतः दर्शन, स्पर्श आदि स्थूल इंद्रिय-बोध इससे जुड़े हैं। लेकिन देखना, सुनना, सूंघना, छूना, आस्वादन के इंद्रिय-गुणकों के अलावा अनुभूति, चिंतन, ध्यान, इच्छा, क्रिया, प्रेम, प्रशंसा आदि भी हैं जो वैयक्तिक होते हुए भी सबमें समान होते हैं। यहीं से 'यथार्थता की वस्तुगत प्रकृति' तथा 'यथार्थता की कलात्मक प्रकृति' के अंतर का भेद खुलने लगता है; अर्थात् यथार्थ में 'मानवीय यथार्थ' का समावेश हो जाता है।

उपर्युक्त निरूपण में भी एक भ्रांति है। इसके अनुसार हमारी सीधी समझ की वस्तुएं अवलोकितेश्वर की प्रतिभा या अजंता के चित्र या धूमिल की कविता-लिपि न होकर इंद्रिय-गुणक हैं अर्थात् वे वर्ण, स्पर्श, स्वर हैं। यह कैसे होगा ? हम किसी के प्रत्यक्षीकरण में मानवीय संबंध कायम करते हैं, और इंद्रिय-गुणक एक ओर तो उन संबंधों द्वारा परिवर्तित एवं विकसित होते हैं तो दूसरी ओर ऐंद्रियकता को तीव्र करते हुए वस्तुओं का अभिव्यक्त (कला में) प्रत्यक्षीकरण अभिसंधानित (कंडीशन) करते हैं। चाहे पांच इंद्रियों से अनुभव किया जाये, चाहे मस्तिष्क का उपयोग किया जाये, चाहे प्रत्यक्षीकरण किया जाये, या चाहे चिंतन किया जाये, इंद्रिय-बोधों तथा मस्तिष्क-चिंतनों दोनों में ही हमारी चेतना सक्रिय है और हमेशा उस वस्तु के संपर्क में है जो 'हम से' (अवरसेल्फ़) कुछ अन्य है। किसी ज्ञात वस्तु के बिना जानने की क्रिया, या किसी निर्णय हेतु वस्तु के बिना निष्कर्ष की क्रिया कैसे हो सकती है ? जी० ई० मूर तथा आस्ट्रियन दार्शनिक मीनांग (Meinong : १८५३-१९१६) की भी स्थापनाएं यथार्थता के वस्तुगत मत से मेल खा सकती हैं।

(५) मार्क्सीय सौंदर्यबोधशास्त्र में राजनीति-दर्शन तथा कला का विलक्षण संबंध है।

ब्लुंशली के अनुसार **राजनीति** में राज्य के संचालन के ढंग, क्रियात्मक दृष्टि से उसके व्यवहार आदि का प्रतिपादन होता है; तथा **राजनीति-विज्ञान** का संबंध राज्य के आधारभूत तत्त्वों, उसकी आवश्यक प्रकृति, उसके वास्तविक **स्वरूपों तथा विकास** से है। यह परिभाषा काफी मान्य है। गेटेल ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र को तीन भागों में बांटा है—(१) ऐतिहासिक (विविध शासन-प्रणालियों का अध्ययन), (२) सैद्धांतिक (राजनीति-दर्शन), और (३) व्यावहारिक। 'राजनीति' से क्रियात्मक राजनीति का भाव लक्षित होता है। राज्यों के विभिन्न दलों के नेता एवं कार्यकर्त्ता 'राजनीतिज्ञ' कहलाते हैं, पर राजनीतिशास्त्र के अध्येता राजनीतिज्ञ न कहलाकर 'राजनीतिशास्त्र-विशारद' कहलाते हैं। अतः हमें राजनीतिशास्त्र और राजनीति के अंतर को ध्यान में रखना होगा।

कला और साहित्य में 'सौंदर्य' के आधारभूत तत्त्वों का निर्धारण, उनका सुंदर के प्रति विकासशील दृष्टिकोण, उनका यथार्थ से संबंध एवं सामाजिक जीवन में उनकी भूमिका आदि का प्रतिपादन होता है।

राज्य के आधारभूत तत्त्वों में से भूमि, जनता, संगठित समाज और सार्वभौम सत्ता ज़रूरी हैं। कला का प्राणस्रोत जनसमुदाय और उसकी चेतना (जिसमें राजनीतिक चेतना भी शामिल है), और स्वरूप-स्रोत सामाजिक संबंध हैं। भूमि पर बसा जनसमुदाय यदि राज्य के स्वरूप और विकास को गढ़ता है तो साथ ही साथ सांस्कृतिक पैटर्न भी बुनता जाता है जिसके अनुसार ही सुंदर के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित तथा विकसित होता है। राजनीतिशास्त्र समाज-संबंधों और राज्य-धर्म की विवेचना करता है; कला में भी सामाजिक संबंधों तथा यथार्थ के प्रति कलात्मक विचारों की विवेचना होती है। अब कला और राजनीतिशास्त्र के संबंध में हम तीन सूत्रों को स्पष्ट कर सकते हैं—

(क) एक ही सामाजिक चेतना के दर्शन, नैतिकता, कला, राजनीति आदि वाले भिन्न-भिन्न स्वरूप अंतर्संबंधित हैं और इनमें बहुत बातें समरूप हैं। **ये एक ही सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप हैं**। अतः कला और राजनीतिशास्त्र में कई बातों में समरूपता है। अंतर्ग्रथित होने के कारण दोनों का समसामयिक विकास भी होता है। कला प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से राजनीति को ग्रहण करती है।

(ख) कला और राजनीति एक ही 'सांस्कृतिक पूर्ण' के भाग हैं। अतः कला को 'पूर्ण' अंकित करने के लिए कलात्मक ढंग से राजनीति, दर्शन, धर्म, नैतिकता आदि का धारण करना चाहिए। लेकिन कला और राजनीति का संबंध द्वंद्वात्मक है। ये दोनों 'विपरीतों की एकता' हैं। अतः कलाकृतियों में कलात्मक गुणों और राजनीतिक विचारों की संगति होनी चाहिए। हमें कला में राजनीतिज्ञों की 'पोस्टर और नारों वाली' धारा का अवश्य विरोध करना है; हमें कला में कलात्मक रूपों की रक्षा के लिए भी कटिबद्ध रहना है; और हमें कला में प्रगतिशील विचारों की

रक्षा के लिए भी दृढ़प्रतिज्ञ होना है क्योंकि इन दोनों के मध्य द्वंद्व चलता रहता है।

(ग) सामाजिक संबंधों के बदलने के साथ राज्य के स्वरूप बदलते रहे हैं और उनकी प्रकृति में विकास होता रहा है। इसी प्रकार कला के विचार और स्वरूप भी बदलते तथा विकसित होते रहे हैं। सामाजिक संबंधों के वर्गीय होने के नाते सभी संस्कृतियां तथा आधुनिक साहित्य एवं कला किसी न किसी वर्ग या राजनीतिक विचारधारा से संबंध रखती हैं। समाज में जब तक वर्ग रहेंगे तब तक वर्ग-भेदों से ऊपर उठी हुई कला हो ही नहीं सकती। कोई भी ऐसी कला और साहित्य नहीं है जो राजनीति (-शास्त्र) से जुदा हो, या उससे पूर्णतया असंपृक्त होकर उसके समानांतर चल रहा हो। आधुनिक युग में जब वर्ग और उनके राजनीतिक दल, दोनों ही मौजूद हैं तब साहित्य और कला भी राजनीतिशास्त्र से संलग्न होंगी। यहां भी हमें 'राजनीति' और 'राजनीतिज्ञ', तथा 'राजनीतिशास्त्र' और 'राजनीतिशास्त्र-विशारद' के बीच अंतर कायम रखना ही होगा। कला और साहित्य कुछ राजनीतिज्ञों की राजनीति को ग्रहण नहीं करते बल्कि दो विरोधी वर्गों के राजनीतिक दर्शन से ओतप्रोत रहते हैं। ये अलगावयुक्त कुछ राजनीतिज्ञ व्यक्तियों की चालों का शतरंज नहीं हैं। माओ-त्से-तुंग ने यह स्पष्ट करते हुए येनान में कहा था : "जब हम कहते हैं कि कला और साहित्य राजनीति के अधीन हैं, तब हमारा प्रयोजन वर्ग-राजनीति और जन-राजनीति से है, न कि कुछ राजनीतिज्ञों की तथाकथित राजनीति से। चाहे क्रांतिकारी राजनीति हो, या प्रतिक्रांतिकारी, दोनों ही दो विरोधी वर्गों के बीच के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं, न कि अकेले व्यक्तियों के व्यवहारों का।"[१]

आधुनिक युग में दो बातें साफ हुईं—**एक** : इतिहास में पहली बार सड़क का साधारण मनुष्य राजनीति में आया और पहली बार साहित्य तथा कला में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई। अत: राजनीतिक चेतना सही अर्थों में **वर्ग-राजनीति** और **जन-राजनीति** तक फैली। **दो** : वर्ग-संघर्ष की तीव्रता ने मेहनतकशों और किसानों (और कम्युनिस्ट देशों में फौजियों) को अगली पंक्ति में निर्णायक बना दिया है। अत: इस युग के राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक कार्रवाई का मकसद **वर्ग-संघर्ष** द्वारा श्रमिक-वर्ग की **शक्ति** की स्थापना है। अर्थात् क्रियात्मक राजनीति संघर्ष द्वारा शक्ति पर कब्जा करना चाहती है, तथा राजनीतिशास्त्र इस ऐतिहासिक क्रांति के लिए दर्शन पेश करता है। मार्क्सवाद के अनुसार क्रियात्मक राजनीति का नेतृत्व तो एक सर्वहारा-पार्टी करेगी तथा दर्शन की पृष्ठभूमि मार्क्सवाद होगा। इसलिए (विशेषकर कुछ कम्युनिस्ट देशों में) जनता का मतलब कम्युनिस्ट पार्टी अथवा संपूर्ण तथाकथित वर्ग-विहीन जनता का नेतृत्व करने वाली संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियां हैं। साम्यवादी देशों में वर्गों की स्थिति जटिल होती जा रही है, लेकिन अन्य यूरोपीय देशों में 'यूरोकम्युनिज़्म' उभर रहा है। अत: विभिन्न देशों में हम इस सिद्धांत को

१. माओ-त्से-तुंग : 'प्रॉब्लम्स ऑफ आर्ट एंड लिट्रेचर' (भारतीय संस्करण, १९५२), पृ० २९।

ज्यों-का-त्यों लागू नहीं कर सकते। पार्टी के फौरी कार्यक्रम कभी भी जीवन का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते; पार्टी-कार्यक्रम कभी भी साहित्य और कला में यथार्थ-वाद का स्थान नहीं ले सकते। इस तथ्य को सोवियत तथा चीनी लेखक (एहरेनबर्ग, माओ-तुन) भी मानते हैं। मार्क्सवादी राजनीति-दर्शन के अनुसार कला और साहित्य को जनता की किस्मत से जुड़ा होना चाहिए; उन्हें ऐतिहासिक भौतिकवाद के नज़रिये से जीवन के ऐतिहासिक विकास का दर्शन करना चाहिए; उन्हें नये समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध होना चाहिए और उन्हें प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं से कभी मेल नहीं करना चाहिए। ये चार तत्त्व ही **साहित्य में पार्टी-चेतना** के आधार माने जा सकते हैं।[1]

मार्क्सवादी सौंदर्य-दर्शन भी साहित्य और कला के ये उद्देश्य मानता है। यह कला को विशाल जनता के लिए मानता है; यह कला द्वारा नये समाज के निर्माण का संदेश देता है और प्रतिक्रियावादी विचारों का रहस्योद्घाटन करके प्रगतिशील विचारों को मनुष्यता की निधि बनाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कला के उद्देश्यों और राजनीतिक-सामाजिक कार्रवाइयों के उद्देश्यों के बीच संबंध और पर्याप्त सम-रूपता (कामननेस) है।

अंतर कला के **साधनों** और राजनीतिक कार्रवाइयों के **साधनों** में है। राज-नीतिक कार्रवाई में पार्टी-कार्यक्रम, संघर्ष के लिए अपनायी गयी गुट की चालें, शक्तिप्रधान संवर्ष शामिल हैं; पर कला के साधनों में जनता के इंद्रिय-बोधों को जागृत करना, वर्गीय समाज की ऐतिहासिक ज़िंदगी को स्पष्ट करके सच्ची विचार-धारा का ज्ञान करना और विशाल जन-समूह से अभिन्न रिश्ते जोड़ना अभीष्ट है। राजनीतिक कार्यों में **कर्म** (एक्शन) होता है, कला में विचार-इमेजों द्वारा कर्म की विचारधर्मा पृष्ठभूमि पेश की जाती है; राजनीतिक कार्यों में प्रचार होता है, कला में रागों से पूर्ण भावों की प्रतिष्ठा होती है; राजनीतिक कार्य सामाजिक उद्देश्य हासिल करने पर लुप्त हो जाते हैं, कला रोज़मर्रा घटने वाली वारदातों के घोल में से स्वच्छ तथा पारदर्शक भावना-कण जमा लेती है; राजनीतिक कार्रवाइयों में क्षण-क्षण में नीतियां बदल सकती हैं, कला में समसामयिकता आत्मा होकर भी चयन-प्रेरित होती है और स्थायी मूल्यों को खोज लेती है; राजनीतिक कार्रवाई राज्यसत्ता का परिवर्तन करती है, कला जनता के सारे भाव-जगत को बदलती है। अतः श्रेष्ठ कला और साहित्य पार्टी-नीति तथा पार्टी-कार्यक्रम के बजाय मार्क्सवादी चेतना और मार्क्सीय विचारधारा को ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण कर्म के माध्यम के अतिरिक्त विचार-इमेजों के माध्यम से होता है जो रागों से दीप्त होने पर ही सार्थक और सौंदर्य-बोधात्मक हो सकती हैं।

उपर्युक्त तीनों सूत्रों के आधार पर हम प्राप्त निष्कर्षों को दुहरा सकते हैं कि कला और राजनीति में सड़क पर के बेसब्र और चौकस जन का प्रवेश आधुनिक ऐति-

१. दे० सोबोलेव की रिपोर्ट : 'सोवियेत लिट्रेचर', नं० ४, १९५९, पृ० १३१।

हासिक युग की महत्तम घटना है जिसके फलस्वरूप सामान्य मनुष्य की सामाजिक चेतना काफी समझदार हो चुकी है। सन् १९७१ का बदलाव इसकी उपलब्धि है। हम वर्गों में बंटे हुए समाज में वर्ग-विहीनता से ऊपर उठे हुए साहित्य और कला की सत्ता नहीं पा सकते। हम राजनीतिशास्त्र के तत्त्वों से हीन कला भी नहीं पा सकते क्योंकि यहां राजनीतिशास्त्र का अर्थ कुछ अकेले राजनीतिज्ञों की चालें नहीं हैं, बल्कि **वर्ग-राजनीति** और **जन-राजनीति** है। कला और राजनीति में विपरीतों की ऐकता होने की वजह से हमें कलात्मक सौंदर्य से हीन 'पोस्टर और नारों वाली' राजनीति नहीं ग्रहण करना है, बल्कि 'रागों की चमक' से युक्त भाव-इमेजों का अंकन करना है। इस अंतिम बात के अभाव से ही कला और साहित्य में या तो 'शिलरवाद' आ जाता है, या फिर 'अतिमानववाद' अथवा 'फार्मूलावाद'! एक बात और ध्यान देने योग्य है। जिन देशों में मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार नया समाज गढ़ा जा रहा है, वहां तो खेद-पूर्वक मार्क्सवादी लेखकों के खिलाफ गैरमेहरबानी प्रदर्शित की जा सकती है, या केवल पार्टी के कार्यक्रमों की तरफदारी की जा सकती है। लेकिन पूंजीवादी देशों में, या जनवाद की ओर बढ़ते हुए सांस्कृतिक आंदोलनों में हमें इस रूढ़िवाद को छोड़ना ही पड़ेगा चाहे इसे संशोधनवाद की संज्ञा दी जाये। यह द्वंद्वात्मक क्रिया के अनुसार भी होगा। जो साहित्य गैर-मार्क्सवादी होकर भी जन-जीवन और भविष्य में दृढ़ आस्था रखता है; जिसमें आशा और उल्लास है, और जिसमें जनता का भाईचारा, तथा शोषण से लड़ने वाली जनता का पक्ष लिया गया है, वह साहित्य भी मान्य होगा। अतः हम कला और राजनीति को पृथक् नहीं कर सकते।

तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राजा के धर्म, वर्ण (-वर्ग)-व्यवस्था, राज्य के स्वरूप, न्याय-संहिता आदि का पर्याप्त विवेचन हुआ है जो सामंतीय समाज की राज्य व्यवस्था, प्राकृत् जनों के संबंध, भूमि की अवस्था, दासता के परिणामों आदि पर अप्रत्यक्ष प्रकाश डालते हैं। 'कामायनी' तक में प्रजापति मनु द्वारा सारस्वत नगर का शासन, वर्गीय व्यवस्था की स्थापना, वर्ग-संघर्ष, जन-चेतना की नृपवाद के विरुद्ध क्रांति आदि राजनीतिशास्त्र के कलात्मक प्रक्षेपण ही हैं। द्विवेदी-युगीन अधिकांश कविताओं में पौराणिक कथाओं के प्रतीकों के माध्यम से विदेशी शासन, शोषण और गुलामी के विरुद्ध आवाज उठायी गयी है। 'रामचरित चिंतामणि' के राम और लक्ष्मण तो 'शिलरवादी' अतियों के शिकार हैं और रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की राष्ट्रीय धारा की कविताओं की प्रधान प्रवृत्त्यात्मकता राजनीति ही है जो देश-प्रेम की पृष्ठभूमि पर स्थित है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' राजनीतिशास्त्र के चिंतन की एक श्रेष्ठ प्रशस्ति है जिसमें युधिष्ठिर युग की चिंता को तथा भीष्म पितामह (समाज और राज्य धर्म के प्रतिनिधि के रूप में) राज्य, समाज, युद्ध आदि की समस्याओं को पेश करते हैं। उन्नीसवीं शती का महान् यथार्थवादी हिंदी-साहित्य राजनीतिशास्त्र की प्रवृत्त्यात्मकता से प्रचुर है। अतः विशुद्ध कला की धारणा और राजनीति-विहीन कला और साहित्य की मांग वैसी ही होगी जिस प्रकार कोई अबोध बच्चा ठेठ दिन

में भी अपनी दोनों आंखों पर हथेलियां रखकर अपनी मां से कहे : 'देखो मां, सूरज नहीं है ! अंधेरा हो गया !' आज तो हिंदी का एक भी ऐसा जागरूक साहित्यकार नहीं है जो राजनीतिक विचारधारा, वर्गीय आस्था अथवा प्रतिबद्धता से निरपेक्षतया शुद्ध हो।

इस निरूपण के बाद भी एक प्रश्न उठता है : क्या हम कला और साहित्य को प्रचार में बदल दें ? क्या हम कला और साहित्य को राजनीति के अधीन कर दें ? उत्तर जटिल है। राजनीति में प्रचार बिल्कुल दो-टूक होता है। उसके उद्देश्य विशाल जन-समुदाय में विशेष बात को घर करना, विशेष आंदोलन के लिए उसे संगठित करना, विशेष कार्यक्रम को समझाना तथा अधिकाधिक संख्या को शिक्षित करके अपना समर्थक बनाना इत्यादि हैं। मार्क्सवाद भी कला और साहित्य को शत-सहस्र लोगों के लिए और उनकी निधि मानता है। यह कला तथा साहित्य द्वारा जनता के स्तर को उठाना चाहता है। मार्क्सवाद स्वीकार करता है कि सभी संस्कृतियां और आधुनिक कला किसी वर्ग या राजनीतिक चिंतन से संबद्ध हैं। अत: कला और साहित्य को भी कुछ प्रतिक्रियावादी, युग-प्रतिकूल, पुराने या जन-जीवन से दूर जाकर निराशा उत्पन्न करने वाले विचारों से बचना ही नहीं, उनके विरुद्ध भी खड़े होना होगा। आज की बदली वर्ग-स्थिति में क्या हम कला में सामंतीय विचारधारा का समर्थन करें ? क्या हम पूंजीवादी समाज की क्षयिष्णु 'श्री-आभा की सार्वभौमता' का अभिषेक करें ? या बूर्ज्वा अथवा उदार बूर्ज्वा विचारधारा के पक्षधर हों ? कलाकारों की वर्गीय स्थिति और राजनीतिक विचारधारा के अनुसार कुछ कलाकृतियां ऐसी भी होंगी। लेकिन विशाल जनसमूह आज प्रेमचंद, नागार्जुन, केदार, यशपाल, राहुल, मुक्तिबोध आदि को शीघ्र अपने कलाकार मान लेता है। अत: प्रचार और साहित्य-मर्यादा, दोनों ही कुछ समान चीज़ प्राप्त करना चाहती हैं। अब दोनों ही विशाल जनसमूह को अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसलिए यदि प्रचार जनता का राजनीतिक स्तर उठा सकता है तो सांस्कृतिक स्तर भी उठा सकता है। प्रचार जनता को अधिक शीघ्रता और सरलता से प्रभावित कर सकता है जिससे उसमें एक अतिसामान्यता आ जाती है। साहित्य और कला एक सौंदर्यात्मक रूप के माध्यम से जनता के पास पहुंचते हैं, इसलिए उनके भाव तथा लक्ष्य अन्य प्रकार से प्रकट होते हैं। प्रचार सीधे क्रियात्मक जीवन की शिराओं में बहता है, साहित्य अप्रत्यक्ष ढंग से सृजनात्मक कृतियों में प्रतिष्ठित होकर इंद्रियों को तीव्र करता है। प्रचार राजनीतिक कर्म का लक्ष्य रखता है, कला और साहित्य सौंदर्यात्मक सृजन को ध्येय मानते हैं। प्रचार में सीधे जनता आती है, कला और साहित्य में जनता कलात्मक विचारों तथा कलाकारों के दृष्टिकोण के दर्पण में प्रतिबिंबित होकर आती है। अत: दोनों के लक्ष्य विशाल जनसमुदाय का समर्थन, शिक्षण, वरण और उत्थान होकर भी साधन भिन्न-भिन्न हैं। अतएव कला का प्रचार और राजनीति का प्रचार भिन्न सतहों पर होता है। यदि प्रचार केवल मात्र राजनीतिक न होकर सर्वांगीण हो, तो वह कलात्मक व्यापकता के अधिक नज़दीक होगा। अत: जीवन की पूर्णता को ग्रहण करने वाली कला और जीवन की पूर्णता को ग्रहण करने

वाला राजनीतिशास्त्र यदि मिल सकते हैं तो विचारधारा की एकता के बिंदु पर। इस एकता के बिंदु पर यदि प्रचार के तथा कला और साहित्य के प्रसार के साधन सुरक्षित रहें तो दीर्घ अवधि में प्रचार और साधारणीकरण के लक्ष्य समान-धर्मा (समान नहीं) हो सकते। प्रचार बहिरंग जगत् में होता है और साधारणीकरण अंतरंग जगत् में; लेकिन दोनों ही जनसमुदाय-सम्मत, जन-सुलभ भावों और विचारों को फैलाना चाहते हैं।

(६) नीतिशास्त्र का सिद्धांत-निरूपण कई प्रकार से हुआ है। बेंथम ने स्थूल-उपयोगितावाद का, हर्बर्ट स्पेंसर, लेसली स्टीफेन तथा अलेक्ज़ेंडर ने विकासात्मक सुखवाद का, सिज़विक ने बुद्धिमूलक उपयोगितावाद का, राशडैल ने आदर्श उपयोगितावाद का, म्यूरहेड ने सहजज्ञानवाद का, मार्टिन्यू ने मनोवैज्ञानिक सहजज्ञानवाद का, कांट ने विशुद्धतावाद का, नीत्शे ने अतिमानवीय प्रभुत्ववाद का, मार्क्स ने ऐतिहासिक उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया। इनकी विवेचनाओं से हमारा संबंध नहीं है। अस्तु।

नीतिशास्त्र का परम मूल्य परम शुभ है और सौंदर्यशास्त्र का परम मूल्य सौंदर्य। हमने यह भी बताया है कि पवित्रता, शुभ, औचित्य, फर्ज़ और उत्तरदायित्व—ये सब मूल्य नैतिक मूल्यों के ही परिणाम हैं जिनके एक छोर पर 'शिव' तथा दूसरे पर 'कल्याण' है। नैतिक मूल्यों का खास सिद्धांत है कि हमें मनुष्य की **अच्छाइयों** की तारीफ करना **चाहिए** क्योंकि नैतिकता खुद ही मनुष्य तथा समाज के प्रति एक स्वेच्छापूर्ण बाध्यता है।

'चाहिए!'—नीतिशास्त्र की पहली शर्त है। अच्छाइयां सार्वभौम होती हैं राष्ट्रीय भी; और परिवर्तमान भी, विकासशील भी। अतः मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में शाश्वत नीति की धारणा नहीं हुआ करती। मानवीय व्यवहार और संबंधों के क्षेत्र में नीतिशास्त्र शुभ-अशुभ, सत्-असत्, नैतिक-अनैतिक के आदर्श को बताता है। मानवीय संबंधों में एक ओर प्रभुवर्ग होता है जो नैतिकता में अपना प्रभुत्व लादता है और दूसरी ओर आनुष्ठानिक धर्म होता है जो कट्टरता भरता है। ये दोनों मिलकर नैतिकता को क्रूर भी बना देते हैं जिन्हें मार्क्स 'रूढ़ियों और परंपराओं के प्रेत' कहते हैं।

कला और साहित्य में जो नैतिकता आती है वह राग-प्रदीप्त विचार की इमेजों के द्वारा सत् को सुंदर में तथा असत् को असुंदर में परिवर्तित कर देती है। लेकिन सुंदर अनिवार्यतः सत्य नहीं होता और असुंदर अनिवार्यतः असत् नहीं होता। होमर-कृत देवी-देवताओं का सुंदर वर्णन प्लेटो को नैतिक औचित्य से हीन लगा। कटि पर कई लड़ियों वाली करधनियों से सुशोभित भरहुत की नग्न यक्षिणियां सुंदर होकर भी गुप्त काल की वैष्णव कला को अमान्य हुईं।

कला और साहित्य में मुग्ध करने और 'कांता संमति' देने की भी क्षमता है; सीधे ढंग से अभिव्यंजना करने पर हम रसात्मक अभावों के शिकार होंगे। लेकिन नतिकता में स्वेच्छापूर्ण बाध्यता है। उसमें उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ कर्त्तव्य-पालन

की धारणाओं का समावेश होता है। अतः नैतिक बुद्धि को शुद्ध सौंदर्य-बुद्धि में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, यद्यपि दोनों का संबंध वस्तुगत यथार्थ से है। यही संबंध दोनों का गठबंधन करता है।

तो क्या कला को नैतिकता के अधीन होना चाहिए ? वह नैतिकता किस प्रकार की है ? किस प्रकार की कला का सृजन शुभ है ? स्वस्थ नैतिकता के लिए किस सीमा तक सौंदर्य-बुद्धि पर संयम रखा जाए ? नैतिक और कलात्मक निर्णयों में क्या संबंध है ? इन्हें हम स्पष्ट करेंगे।

नैतिक निर्णय हमें बताते हैं कि किस प्रकार का सौंदर्य आज मूल्यवान और सामाजिक शुभ से पूर्ण है। सौंदर्यात्मक निर्णय बताते हैं कि यह कृति कितनी सुंदर है। अतः नैतिकता ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक परिवेश में सौंदर्य का पुनर्मूल्यांकन करती है। वाल्मीकि एवं प्लेटो के युग के काफी बाद तक कवि और नैतिकतावादी पुरोहित के बीच झगड़ा होता रहा है। प्लेटो ने होमर के महाकाव्यों में देवी-देवताओं के भावों, कार्यों और वर्णनों में अनैतिक सौंदर्योपभोग देखा। वाल्मीकि ने सीता के पयोधरों को चंचु-आहत करने वाले जयंत काग का वर्णन किया; तो संत तुलसी ने उनके चरण छूकर उड़ने वाले उस सुरपुत्र को अनैतिक माना। यह सूक्ष्म बिंदु एक बहुत बड़े तथ्य को आलोकित करता है—'जीवन की भौतिक स्थितियां बदल जाने पर नैतिक धारणाएं भी बदल जाती हैं क्योंकि वे भी सामाजिक विकास की उपज हैं (जिसे वे प्रभावित भी करती हैं) और अमूर्त्त मनुष्यों के बजाय वास्तविक मनुष्यों की इच्छाओं, आशाओं और जरूरतों को **चेतना के माध्यम से** 'प्रतिबिंबित करती है।' यह पहली स्थापना मानी जा सकती है।

द्वंद्वमान के अनुसार सब से चिरंतन गुण स्वयं परिवर्तन ही है। नीति और नैतिकता की भित्तियां मानव-व्यवहार एवं संबंध हैं; मानवीय व्यवहारों की भित्तियां जीवन की भौतिक स्थितियां हैं; जीवन की भौतिक स्थितियां समाज तथा सामाजिक वर्गों पर आश्रित हैं। सामाजिक वर्ग ही ऐतिहासिक समाजों की दशा के गढ़ने वाले हैं। अतः सभी ऐतिहासिक समाजों में नैतिक सिद्धांत परिवर्तित और विकसित होने के साथ-साथ एक अथवा दूसरे सामाजिक वर्ग की आवश्यकताओं और हितों के प्रतिबिंब भी होते हैं। परिस्थितियां बदलती हैं, तो जीवन की भौतिक अवस्थाएं बदल जाती हैं जिससे नीतिशास्त्र भी बदल जाता है। अतः नीतिशास्त्र के अनुसार परिस्थितियां नहीं बदलतीं बल्कि परिस्थितियों (=वस्तुगत यथार्थ) के अनुसार नैतिकता बदलती है। यह दूसरी स्थापना मानी जा सकती।

सामाजिक वर्गों के अस्तित्व की वजह से मनुष्य जाति बंटी है। प्रेम, या मनुष्य जाति का प्रेम; शुभ, या मनुष्य जाति का शुभ; सौंदर्य, या निर्विकल्प सौंदर्य—ये तब तक संभव नहीं हैं जब तक कि वर्ग-विभेद कायम रहेगा। वर्ग-विभेद के मिटने पर ही अनुमानतया हम मानव-जाति का प्रेम, मानव जाति का शुभ और मानव सृजनों का सौंदर्य प्राप्त कर सकेंगे। ये महान धारणाएं भी तो **वस्तुगत अनुभवों** पर आधारित हैं यद्यपि इनके क्षेत्र ज्ञान और इच्छा के लोक हो जाते हैं। मूलतः हम किसी विचार

से शुरुआत नहीं कर सकते; हमें वस्तुगत अनुभवों से शुरू करना पड़ता है। इसलिए सौंदर्यानुभूति और नैतिक निर्णय, दोनों का संबंध वस्तुओं से पहले है। कला नैतिकता के अधीन न होकर उसका सापेक्षिक अंगीकार करती है।

हर ऐतिहासिक काल में वस्तुगत अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं; और एक ही ऐतिहासिक काल में विभिन्न सामाजिक वर्गों के वस्तुगत अनुभवों में भी भेद होता है। अतः नैतिक निर्णय हमें बताते हैं कि विशिष्ट काल में किस प्रकार का सौंदर्य मूल्यवान तथा सामाजिक कल्याण को फैलाने वाला है। इसका प्रयोजन यह हुआ कि यथार्थ के लंबे चित्रपट्ट में से कलाकार कुछ चुनता है जो उसके नैतिक निर्णयों पर आधारित है तथा जिन्हें समाज परोक्ष रूप में नियंत्रित करता है। अतः वह नैतिकता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति से अनुप्रेरित होकर ही कला में नैतिकता का प्रवेश कराता है (ध्यान रहे कि यह प्रवेश चेतना के माध्यम से होता है)। इस चयन में मानवीय नीतिशास्त्र और कलात्मक मानदंड समाज के जीवन, कलाकार की वर्गीय परिस्थितियों तथा समाज के वर्गीय संबंधों के बीच से उभरते हैं। शूद्रक ने अपने नायक चारुदत्त और वारांगना वसंतसेना का प्रेम तो अंकित किया लेकिन नायक उच्चवंशीय ही रखा; भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' में सम्राट् उदयन के बहुपत्नीत्व और दक्षिण नायकत्व को गौरवान्वित करके सामंतीय संबंधों की असंगतियों पर ही प्रकाश डाला; दण्डी ने 'दशकुमारचरित' में दसों राजकुमारों के माध्यम से तत्कालीन समाज का अति यथार्थवादी खाका खींचा। अतः कलाकार के नैतिक निर्णय आत्मगत न होकर **वस्तुगत यथार्थ का प्रतिबिंब** हो जाते हैं; अर्थात् **वस्तुगत यथार्थ मनुष्यों के गत्यात्मक (अचल नहीं) सामाजिक संबंधों में परिवर्तित हो जाता है।** अतएव जब कलाकार या कलाकृति, नैतिक निर्णय या कलात्मक मानदंड इन गत्यात्मक सामाजिक संबंधों से टूट जाते हैं, तब वे अनुपयुक्त, असामाजिक, अमानवीय और सड़े-गले हो जाते हैं। कभी-कभी तत्कालीन नैतिक निर्णय और कलात्मक मानदंड उल्टे प्रतिबिंब झलकाते हुए लगते हैं। यहां नैतिकता की **द्वैतता** होगी—अर्थात् कुत्सित समाज को उधेड़कर प्रस्तुत करने वाली कलाकृतियां अनैतिक घोषित कर दी जाती हैं क्योंकि ऐसा घोषित करने वाले वर्ग की वास्तविकताओं पर यह सीधा हमला होता है, या वे कृतियां उस वर्ग के झूठे आदर्शों का भंडाफोड़ कर देती हैं। फ्लाबेअर (१८२१-१८८०) के 'मादाम बोवारी' उपन्यास में मध्यमवर्गीय जीवन के दुर्गुणों का पर्दाफाश किया गया है। बोवारी का पति ग्रामीण, मूढ़ और भद्दा है जिससे वह अपने असह्य नीरस जीवन से ऊबकर कई व्यक्तियों द्वारा फुसलाई जाती है और पथभ्रष्ट होती है। एक भावुक और दुर्बल नारी को व्यभिचारी जीवन में घसीटकर अंततः आत्महत्या कराने की जिम्मेदार परिस्थितियां हैं। उस समय बूर्ज्वा वर्ग ने इस कृति को घोर अनैतिक मानकर बहिष्कृत किया। जोला ने 'नाना' उपन्यास में नाना के शारीरिक सौंदर्य का इंद्रजालिक वर्णन करने के साथ-साथ कामुकता के कारण मनुष्यों का पतन भी दिखलाया। फलस्वरूप फ्रांसीसी उच्च समाज में यह कृति भद्दी मानी गई।

इधर हिंदी के नये उपन्यासों में जगदीशचंद्र ने **धरती धन न अपना** (१९७२) में पंजाब के एक गांव के कृषि-संबंधों और सामाजिक संबंधों की अस्मिता सिद्ध करते हुए चमार हरिजनों का वह नंगा यथार्थ उभरा है जहां वे भूदास और बंधुआ मजूर हैं, जहां उच्च जाति और उच्च वर्ग वाले उनके प्रति तीव्र घृणा तथा पाशविक अत्याचार करते हैं, जहां उनका आपसी प्रेम (काली और ज्ञानो) भी रोमांस के विरुद्ध है, जहां वेगार करने वाली चमारिनें अपना शरीर भी बेचती हैं और जहां काली में विकसित श्रमिक चेतना बनाम पैटी-बूर्ज्वा समझ का द्वंद्व त्रासदी को गहराती है। जगदंबाप्रसाद दीक्षित ने **मुरदाघर** (१९७४) में हमारे इस राजतंत्र के भ्रष्ट, उत्पीड़क और जनविरोधी चरित्र को उद्‌घाटित करके एकबारगी उच्चवर्गीय सौंदर्यबोध को आद्यंत नामंजूर कर दिया है। सारा मौजूदा समाज ही एक मुरदाघर है। इसमें गरीबी, गंदगी और विद्रूपता के बीच एक सहज जन है जो ज़िंदा है और खूबसूरत है। इसमें बंबई की फुटपाथों वाली वेश्याओं को देखने का तरीका ही बदल गया है (मैना, बशीरन)। इसमें अश्लीलता और असौंदर्य के सौंदर्यबोध को समझा गया है (जव्बार, पोपट, मैना)। अमृतलाल नागर ने **नाच्यौ बहुत गोपाल** (१९७८) में मेहतरों (भंगियों) की ज़िंदगी का सामाजिक यथार्थ उनके क्रीत तथा पशुदास होने के ऐतिहासिक धुंधलके से जोड़कर सब से ज़्यादा पीड़ित और पददलित वर्ग को उनका बाकी इतिहास दिया है।

बूर्ज्वा-नैतिकता में द्वैतता है। वह दो मानदंड रखती है। एक ओर तो इसमें दूसरों को महान् नैतिक आदर्शों का पालन करने को बाध्य किया जाता है; और दूसरी ओर प्रभुवर्ग धन के नंगे लोभ में हत्या, चोरी, पतन सभी करते हैं। इस समाज में कला और यथार्थ के बीच बड़ी खाई है। एक ओर पवित्र विवाह के आध्यात्मिक सूत्र की दुहाई दी जाती है, तो दूसरी ओर एक युवती दहेज के अभाव में आजन्म कुंआरी रह जाती है ! एक ओर नारी को पावन माना जाता है, दूसरी ओर हजारों माताएं-बहिनें वेश्याएं बना डाली जाती हैं ! एक ओर पुरुषों के पुनर्विवाह को स्वीकार किया जाता है, दूसरी ओर बाल-विधवाओं को आजीवन तपाकर राख कर दिया जाता है ! अतः इस समाज की नैतिकता में वही सृजन शुभ होगा, जो स्वस्थ और क्रांतिकारी नैतिकता का गंगाधर हो। हमारे देश में कुछ वर्षों पूर्व 'कामसूत्र' को जलाने की मांग बुलंद की गई थी। एक ओर ये पारखी और समाज के कठमुल्ले 'कुमारसंभव', 'नैषधीयचरितम्', 'नायिका-भेद' आदि के अंशों को स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर कांगड़ा कलम के नारी-अंकनों अथवा खजुराहो एवं भुवनेश्वर के मंदिरों पर खुदे हुए मिथुनोन्मत्त प्रेमी-युगलों को भ्रष्ट बताते हैं ! इटैली में भी कुछ सालों पहले उन्हीं कैथोलिकों ने रिनैसां-कला के कंठहार बोटिचेली के तैल-चित्रों के हटाये जाने की मांग की थी (क्योंकि वे उनके युवक-युवतियों को 'भ्रष्ट' करते हैं) जो खुद विलास-ऐश्वर्य और पतन का जीवन बिताने के आदी थे !

नैतिकता के इस निषेध का निषेध करने वाली कला का सृजन ही शुभ होगा। मानव जाति का प्रेम अथवा मानव जाति का शुभ इस काल में साध्य नहीं हो सकता।

हम उस सभी से प्रेम नहीं कर सकते जो **अशुभ और कुत्सित** है। **हमें शुभ और शालीन** से प्रेम करना होगा, तथा कतिपय अशुभ और कुत्सित से घृणा। हमें इन असत्यों का उन्मूलन करना होगा। हम अपने वर्गीय शत्रुओं से, या मानवता के हत्यारों से प्रेम नहीं कर सकते। हम शोषण, अत्याचार और पतन से प्रेम नहीं कर सकते। अतः जो ऐसा मानवीय समाज बनाने में सहायक हो जिसमें वर्ग न हों; ऐसे अमानवीय तत्त्व न हों तथा शोषण, दरिद्रता और ह्रास न हो; वही नैतिकता तथा कला शुभ है। **शोषण, दीनता और ह्रास का उन्मूलन करने वाली और वर्गों की समाप्ति को आगे बढ़ाने वाली नैतिकता और कला ही आज सर्वोच्च है।** अतः स्वस्थ नैतिकता के लिए निर्विकल्प प्रेम, सौंदर्य या शुभ की ज़रूरत न होकर सापेक्षिक चयन का संयम अपेक्षित है। सौंदर्य-बुद्धि को शुभ-अशुभ, सुंदर-असुंदर, मानवता-प्रेमी और मानवता-शत्रु आदि के बीच के अंतर को समझना ही होगा। मैक्सिम गोर्की ने समाजवादी यथार्थ की नैतिकता पर प्रकाश डालते हुए अपनी घोषणा में सर्वहारा मानवतावाद तथा नैतिकता को इकाई मानते हुए लिखा है—"सर्वहारा मानवतावाद हरएक कामगर से उसके ऐतिहासिक मिशन और शक्ति प्राप्त करने के उसके अधिकार की चेतना की अपेक्षा रखता है···उसमें मिथ्या दर्शन के प्रति, समाज के पर जीवियों के प्रति, फासिस्टों के प्रति, हत्यारों के प्रति, श्रमिक वर्ग के गद्दारों के प्रति, उन सबके प्रति जो यातना पैदा करते हैं और उन सबके प्रति जो लाखों लोगों की यातना पर ज़िंदा रहते हैं···घृणा होनी चाहिए।"[१] अतः मार्क्सवादी दर्शन और सौंदर्य-दर्शन में सार्वभौम प्रेम तथा करुणा की अवास्तविक धारणा के बजाय मानव-प्रेम और समाज को गंदा करने वालों के प्रति नफरत का प्रतिपादन है। मानव-प्रेम और समाज को गंदा करने वाले तत्त्वों के उन्मूलन के बाद ही एक मानवतावादी नैतिकता की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। निकोलाइ ओस्त्रोव्सकी के 'अग्निदीक्षा' उपन्यास का नायक कोर्चगीन मार्क्सवादी नैतिकता का निचोड़ प्रस्तुत करता है—"मनुष्य की सब से प्यारी पूंजी उसका जीवन है, और यह उसे केवल एक बार प्राप्त होता है। उसे इस तरह रहना चाहिए कि सालों तक उद्देश्यहीन रहने से उत्पन्न यंत्रणाप्रदायिनी ग्लानि का अनुभव न करना पड़े। वह ऐसा जीवन बिताये कि मरते समय भी कह सके कि 'मेरा सारा जीवन, सारी शक्ति, सारे संसार के श्रेष्ठतम आदर्शों के लिए—**मानवता की मुक्ति के लिए लड़ने में बीता** (मेरा रेखांकन) है।'

कर्त्तव्य और भावना को इकाई बनाने वाले संधि-स्थलों के कलात्मक मानदंड और नैतिक मूल्यांकन एक ही आधार को प्रकट करते हैं यदि कला से 'रैफेलवादी सौंदर्य-अलंकृति' तथा नैतिकता से सार्वभौम आदर्शों की भ्रांति को जुदा कर लिया जाए। होवार्ड फास्ट इस इकाई के बाबत कहते हैं: "सामाजिक संबंधों में नीतिशास्त्र मानवीय व्यवहार के मूल्यांकन का साधन है; कलात्मक मानदंड एक कलाकृति के मूल्यांकन के साधन हैं। जहां कहीं भी ये मानदंड टैकनीक की सतही बाहरी शोभा की अपेक्षा अधिक गहराई से लागू किये जाते हैं, वहां ये भी उन मानवीय व्यवहारों

१. मैक्सिम गोर्की: 'कल्चर एंड दि पीपुल'।

के मूल्यांकन के साधन हो जाते हैं जो स्वयं कलाकृति में ही प्रतिबिंबित होते हैं।'[1] मार्क्सीय द्वंद्वमान के अनुसार शिवम् और सुंदरम् के मिलन का चरम बिंदु यही है।

स्वस्थ नैतिकता का एक प्रमुख क्षेत्र सेक्स-भावनाओं का है। यह क्षेत्र अत्यंत जटिल है; क्योंकि यौन-भावनाओं की खुली छूट अनुचित तथा दोषयुक्त अश्लीलता से पूर्ण हो जाती है, तथा उन पर कठोर संयम नैसर्गिक जीवन-व्यापार को कुंठाओं से ग्रस्त कर देता है। एंगेल्स कला और काव्य में घोर कौमार्य्य के पक्ष में नहीं थे। मार्क्स के मित्र फ्राइलग्रीथ के पत्रगीतों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा था—"उनसे प्रतीत होता है कि मानो लोगों के यौन इंद्रियां ही नहीं हैं।" इस घोर कौमार्य्य को वे मिथ्या दर्शन के पूर्वाग्रहों का आखिरी अवशेष तथा प्रवंचनापूर्ण नैतिक विनयशीलता मानते थे और समाजवादी कला को इस झूठ और प्रवंचना से दूर रखना चाहते थे। जर्मन सर्वहारा कवि जार्ज वीर्थ की समाजवादी कविताओं की प्रशंसा करते हुए उन्होंने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया कि **उनकी कला में श्रेष्ठता का कारण··· नैसर्गिक मांसल ऐंद्रियकता तथा अंग-माधुरी के उल्लासों की अभिव्यंजना है।** अतः यदि नैसर्गिक तथा उल्लासपूर्ण यौन चित्रण हो, तो वह कला में स्वस्थ यौन भावना की प्रतिष्ठा करता है। विकारों से ग्रस्त और कुप्रभावयुक्त यौन चित्रणों से ही कला अरुचिकर तथा दूषित होती है। कालिदास और जयदेव, आलम और राहुल अंग-माधुरी के मधुपर्वों को मनाते समय या शृंगार के संभोग-पक्ष का चित्रण करते समय **स्वयं विकृतियों के शिकार नहीं थे।** अतः उनकी कला से **समाज पर कुप्रभाव** नहीं पड़ता। यूरोपीय कलाकारों में रूबेंस तथा टिशियन ने अर्द्धनग्न मांसल यूनानी देवताओं तथा नग्न यूनानी देवियों का जो मांसल और ऐंद्रियक छवि-लोक बनाया है, उसमें अनुचित और अपरिमार्जित अभिव्यंजना शायद कम ही मिले। यदि कलाकार यौन विकृतियों से हीन होगा तो वह इन चीज़ों के विषय में **आसानी** तथा **आज़ादी** के साथ बातचीत कर सकेगा जिन्हें लोग खुद रात या दिन में करते हैं; क्योंकि (एंगेल्स के शब्दों में) ये तो **नैसर्गिक, अवश्यंभावी तथा सुखद चीज़ें हैं।** वामधर्मी कला में ऐसी ही नैसर्गिकता, सहज अभिव्यक्ति और स्वतंत्र उल्लास की जरूरत है जिसमें न तो असंयमित भोग हो; न कुंठा।

(७) कला और साहित्य में प्रत्येक युग, खासकर आधुनिक युग में, एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या उठती है—**अपने युग के नायक की।**

प्रत्येक युग के अपने नायक होते हैं जो ऐतिहासिक परिवेश में सामाजिक संबंधों के अनुसार प्रतिष्ठित और पदच्युत होते हैं—चाहे वे आदिम युग के इंद्र, मरुत, पूषण, मित्रावरुण हों; चाहे राम हों; चाहे पार्थ और पार्थसार्थी हों; चाहे अग्निमित्र और हर्षवर्धन हों; चाहे बीसलदेव, पृथ्वीराज, छत्रसाल और शिवाजी हों; चाहे (रीतिकालीन) नायक-नायिका हों; चाहे मेघनाद हों; चाहे 'प्रियप्रवासी' कृष्ण और साकेत प्रवासी राम हों; चाहे सत्याग्रही देशभक्त हों; चाहे श्रीकांत, शेखर हों और

१. होवार्ड फास्ट : 'लिट्रेचर एंड रियलिटी', पृ० ६२।

चाहे होरी महतो, मोहन मांझी, बटेसरनाथ, कालीदास, आदि हों। यह क्रम खुद ज़ाहिर करता है कि नायकों की प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा भी ऐतिहासिक विकास के अनुसार सामाजिक संबंधों के अनुकूल होती है और ये नायक (नायिकाएं भी) अपने-अपने युग की सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक समस्याओं, वर्गीय विरोधों आदि के प्रतिबिंब होते हैं। इसके अलावा ये अपने मानस पिता कलाकारों की वैयक्तिक अभिरुचियों तथा आदर्शों से भी अनुरंजित होते हैं। इनके निर्माण, अभिषेक और अपदस्थापन में विशेष पूरे ऐतिहासिक युग के सांस्कृतिक पैटर्न के दार्शनिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, कानूनी विचारों आदि का भी हाथ होता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि इन नायक-नायिकाओं में ऐतिहासिक युग तथा सामाजिक चेतना का सीधा प्रतिबिंब हो; अक्सर पौराणिक देवी-देवताओं, चरितों और प्रतीकों के माध्यम से भी ये अप्रत्यक्ष प्रतिबिंब प्रस्तुत होते हैं। अतएव इन तीन धाराओं में बंधकर ही प्रत्येक युग में अपने विशिष्ट नायक तथा नायकत्व की प्रतिष्ठा हुआ करती है।

आदिम युग में प्राकृतिक शक्तियों से संघर्ष करता हुआ मनुष्य प्रकृति की अलौकिकता, सर्वचेतना और सर्वशक्ति से अभिभूत था। जादू, रीति-रिवाजों और जीवन-रक्षा की स्थितियों के बीच उसने प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की स्थापना की। फलतः मनुष्य की आदिम वाणी में सोम, वरुण, अग्नि, सूर्य, उषा, मरुत, पूषण, पर्जन्य, रुद्र, इंद्र आदि प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक-देवता हुए। ये देवता मनुष्यों के समाज में घुल-मिल गए हैं; कभी वे युद्ध करते-कराते हैं, तो कभी सुलह; कभी वरदान देते हैं, तो कभी विध्वंस करते हैं। वैदिक कविताओं और होमर-पूर्व तथा होमर-कालीन यूनानी काव्यों में मानव-जगत् और दैवी जगत् की ऐसी ही मैत्री है। कृषि-संस्कृति और अधिक सुव्यवस्था होने पर हम 'चरितनायकों' की उद्भावना पाते हैं जिनसे एक देशव्यापी भावना तथा राष्ट्रीय विस्तार की शुरुआत होती है। इन नायकों का कार्य-क्षेत्र गृह नहीं, समरांगण अथवा वन है। चितेरे देव-मंडलों के लोप के बाद ये नायक मानवीय आकारों वाले अवतार बनते हैं, या फिर आदर्श राष्ट्र-नेता। इनके चरितनायकत्व को सिद्ध करने के लिए एक ओर इन्हें शुद्ध गुणों का पुंज बनाया जाता है, और ठीक इनके विरोध में समानांतर दुर्गुणों का पुंज कोई खलनायक प्रतिष्ठित होता है—राम और रावण, युधिष्ठिर और दुर्योधन, भीम और जयद्रथ ऐसे ही नायक-खलनायक-युग्म हैं। रोम में वर्जिल ने ऐनियास के नेतृत्व में संपूर्ण रोमन-समाज की व्याप्ति का प्रदर्शन किया और अपनी वाणी में ऑगस्टस सीज़र के रोम को गौरवशाली बनाया। समाज में पितृ-सत्ताक व्यवस्था और कृषि-संस्कृति की दीर्घ अवधि के फलस्वरूप पुनः नायकत्व में मोड़ आया। पहली बार नये प्रकार के उच्चकुल वंशीय ब्राह्मण, चक्रवर्ती सम्राट् और आश्रयदाता सामंत प्रकट हुए। इसके अलावा नारी-सदाचार संबंधी मूल्यों में पौराणिक रूढ़ता कायम हुई। इसके साथ ही साथ पूर्व के वीरता-प्रधान नायक पदच्युत हुए। कवि भी राजदरबारों में पहुंचे और नये आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्तियां लिखने लगे। अब काव्य में अधिकाधिक मांसल नारी-सौंदर्य और प्रेम उभरकर आया; श्रोताओं के बजाय पाठकों के

बीच कला की अगवानी लेने के कारण शैलियों में मनोहर कुशलता दिखाई दी और स्वयं चक्रवर्ती सम्राट्, महासामंत आदि नायक हुए। कालिदास के अग्निमित्र शुंग सम्राट् हैं; और उनके रघु की दिग्विजय में मानो सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय झलक उठी है। यहां तक कि शिव-उमा का रति-वर्णन तत्कालीन सामंतीय नायकों की श्रृंगार-रुचि का ही परिचायक है। नायकों का चतुर्धीरत्व कायम हुआ, लेकिन उसका पालन लचकीले ढंग से होता रहा। श्रृंगार और वीर रसों से युक्त ये नायक कई शतियों तक आच्छादित रहे। इस बीच में नायकत्व की धारणा में थोड़े-बहुत परिवर्तन होते रहे: जैसे वाल्मीकि के राम और रावण की अपेक्षा तुलसी के गार्हस्थिक राम और अपेक्षाकृत उदार रावण में अंतर है (यद्यपि मूलाधार वही हैं)। भारत में यह अवस्था काफी देर तक रही। लेकिन यूरोप में औद्योगिकीकरण का नतीजा यह हुआ कि मध्यवर्ग का अभ्युदय और बौद्धिक (न कि सामाजिक) शक्ति के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हुई। अतः अब पुराने क्षत्रिय शूरवीरों, साहसी सामंतों, मौत से खेलने वाले अश्वारोहियों तथा रोमांटिक राजकुमारों के स्थान पर पड़ोसियों के रोज़ के चेहरे, उनकी रोज़ की ज़िंदगी और समस्याएं आईं जिनकी अभिव्यंजना मध्यवर्गीय नायकों की प्रतिष्ठा द्वारा हुई। ऐसी अवस्था में उपन्यासों का विकास हुआ; नायक संबंधी धारणाओं में भी परिवर्तन हुआ; और कलाकार (कहीं-कहीं) स्वयं भी नायकों की पंक्ति में जा बैठा। अंग्रेज़ी में रिचर्डसन, जेन आस्टिन, फील्डिंग आदि ने मध्यमवर्गीय नायकों की प्रतिष्ठा की; प्रतिनायकों में भी गुणों का समावेश स्वाभाविक माना गया जिसके फलस्वरूप मिल्टन ने अपने महाकाव्य में शैतान को आदम की अपेक्षा अधिक सजीवता से अंकित किया; कलाकार स्वयं भी नायक बन बैठा जैसा कि गोएटे के 'विल्हेम मीस्टर' उपन्यास से सिद्ध होता है। इसके साथ ही सामंतीय आदर्शों के ह्रास और व्यक्तिवाद की सुदृढ़ क्रांति ने विद्रोही और आत्ममुग्ध नायकों की भी सृष्टि की: शैले अपने 'प्रोमेथिउस अनबाउंड' में एक उन्मुक्त मानवता के आदर्श का प्रतिपादन करते हैं, तो कीट्स अपने स्वप्निल रोमांसों की कलामुग्धता को 'एंडिमियन' में प्रतिफलित करते हैं। हमारी कला और साहित्य में ऐसी परिणतियां बाद में हुईं। छायावादी कवियों में प्रसाद तथा निराला ने अपने आदर्शों और शोभनगामी रोमांसों की अलकाएं रचीं। पहली बार 'स्वप्न' के नायक, 'ग्रंथि' के नायक और 'प्रेमपथिक' के नायक बिल्कुल नये प्रकार के आयामों को स्पष्ट करते हैं। इसके कुछ ही पूर्व बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को नायक बनाकर नायकत्व-धारणा में में आमूल परिवर्तन किया तो हिंदी में हरिऔध ने योगेश्वर श्रीकृष्ण को जननेता बनाकर एक राष्ट्रीय दृष्टि की स्थापना की। आज के युग तक आते-आते वर्गीय संबंध काफी बदल चुके हैं और अब हम अपने युग के नायक की प्रतिष्ठा करने के लिए इतिहास-संचालित हैं। प्रेमचंद होरी महतो के रूप में कृषकों को नायक का पद दे चुके हैं, नागार्जुन मोहन मांझी तथा मधुरी के रूप में, और जगदीशचंद्र कालीदास द्वारा उसी परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। आज का नायक इसी ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ही प्रतिष्ठित होगा और वह कृषक एवं मज़दूर-वर्ग या विशाल

जन-समुदाय के बीच से ही उभरेगा।

वियतनाम, क्यूबा, अंगोला, चीन आदि समाजवादी देशों में हमारे युग का नायक प्रतिष्ठित **हो चुका है**, जबकि अन्य देशों में वह अपने आविर्भाव तथा शक्ति की सूचना **दे रहा** है। अतः इस भेद को ध्यान में रखना लाज़िमी है। समाजवादी देशों में जीवन के सभी क्षेत्रों में **श्रम** की सत्ता तथा जीवन-स्वरूप में **सामूहिक** की महत्ता है। वहां कला और साहित्य के **नये नायक** जन-मुक्ति-सेना के फौजी और स्वयं-सेवक, गांवों और फैक्ट्रियों के श्रमवीर, युवक लीग और लाल प्रहरी दल के सदस्य, नये प्रकार के बच्चे और नारियां आदि हैं। अब वे शोषित अंकित नहीं किये जाते (जैसा कि पिछले साहित्य में होता था), बल्कि अपने नये देश के निर्माता, नये समाज के शिल्पी और अपने जीवन के मालिक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जनता के आपसी रिश्तों तथा जनता एवं साहित्य के बीच के संबंधों के आमूल परिवर्तनों की वजह से यह हुआ। ये नायक गोर्की द्वारा 'नये नायक' तथा सोवियेत कला में 'निश्चित नायक', चीन में 'लाल तथा माहिर' के नाम से पुकारे गये क्योंकि इनके आदर्श आशा और विश्वासपूर्ण हैं और ये समाजवादी समाज की रचना में जुटे हैं। गोर्की ने तो अपनी कला-कृतियों और सिद्धांत द्वारा इस 'नये मनुष्य' की प्रतिष्ठा कर दी, लेकिन बाद में अनेकानेक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। ये कठमुल्ले बन गये।

सब से पहले इस चरित्र को प्रारूप (टिपिकल) बनाया गया। इस चरित्र में किसी खास सामाजिक-ऐतिहासिक घटना या वर्णन का निचोड़ रखा गया तथा यथार्थवादी कला में इसे विचारधारा-अनुवर्ती (पार्टिजन) बनाया गया। यथार्थ के महत्त्वपूर्ण पक्षों का चुनाव तथा योग इन चरित्रों को अंकित करता है। यह चुनाव तथा योग बिचारधारा-अनुवर्त्तन से बंधा होने और जीवन के कृष्ण पक्ष को वर्जित मानने के कारण केवल पैटर्नों में बंध जाता है। जो चरित्र अंकित होते हैं वे सुदृढ़, स्पष्ट, उल्लासपूर्ण, भविष्य-विश्वासी, सिद्धांत-व्रती और विचारधारा-बद्ध होते हैं। इस प्रकार ये नये मानव के बजाय 'नेपोलियनी नायक' (सोवियेत आलोचना की परिभाषा में ही) हो जाते हैं। एक ओर तो इन नायकों में **जीवन की बहुलता** लुप्त हो जाती है तथा दूसरी ओर **वैयक्तिकता** नहीं रह पाती। यथार्थवादी सौंदर्यबोधशास्त्र यह मांग करता है कि ये नायक एक ही साथ, तथा एक ही समय में, प्रारूप भी हों और व्यक्ति भी; जनता के प्रतिनिधि भी हों और एकमात्र व्यक्तित्व भी। यदि कला में यह 'शेक्सपियरीय यथार्थ' नहीं आ पाता तो नायकों की वैयक्तिकता लुप्त हो जाती है, और वे गणित के सवाल, भोंडे सामूहिक मनुष्य, उत्पादन की इकाई आदि की ही तरह रह जाते हैं। केवल सामाजिक तत्त्व के आधार पर ही हम चरित्र का विश्लेषण नहीं कर सकते। और न ही इन प्रारूप चरित्रों पर बिना दबाव डाले इन्हें किसी खास ढांचे में कस सकते हैं। वस्तुतः ये चरित्र प्रारूप भी हैं और व्यक्ति भी, ये उद्देश्य भी रखते हैं और मानवीय दुर्बलताएं भी। इसीलिए ये समर्थ हैं। लेकिन सोवियेत नायकों में विचारधारा का इतना प्रबल आग्रह होता है कि वे शुद्ध राजनीति के ढांचे में जकड़ जाते हैं। इसके अलावा निश्चयवादी होने के नाते उनके जीवन में द्वंद्व-

विहीनता रहती है जिससे वे सभी परिस्थितियों पर प्राचीन महाकाव्यों के चरित-नायकों की तरह गुण-पुंज होकर सफल होते जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये चरित्र इतिहास-विरोधी हो जाते हैं, और इससे भद्दापन छा जाता है। अतः ज़रूरी है कि कलाकार इन चरित्रों की रचना कलाकार के रूप में करे। यदि वह अन्य किसी नज़रिये से यह वर्णन करता है तो चरित्र केवल राजनीति के सूत्रों में जड़ जाते हैं तथा उनकी वैयक्तिकता गुम हो जाती है।

दूसरे, कुछ कलाकार समझते हैं कि नया प्रारूप नायक तभी चित्रित हो सकता है जब अतिशयोक्तिवाद (हाइपरबोलाइज़ेशन) का सहारा लिया जाए। अतः अतिरंजकता (एक्साजरेशन) को ज़रूरी मान लिया जाता है। होमरकालीन महा-काव्यों या रामायण-महाभारत में यह साधन अलौकिक और अतिप्राकृतिक तत्त्वों का इस्तेमाल करके काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन सभी परिस्थितियों में यह उचित नहीं है। उन वीरता-प्रधान नायकों में महान् राष्ट्रीय संघर्षों या दो सभ्य-ताओं के संघर्षों का चित्रण करने के लिए इसका उपयोग होता था जिससे घटनाएं और वर्णन चटकीले हो उठते थे। आज के युग में इसका उपयोग घटनाओं से ऊपर उठकर उनके अंतरंग संबंधों को समझने और स्पष्ट करने के लिए होता है। अतः दोनों ही प्रकार के नायकों में अतिशयोक्तिवाद प्ररूपता को व्यापकता प्रदान करता है; दोनों में ही यह महान् नायकों की सृष्टि करता है। आज के युग में इसका उपयोग करते समय यह गौर करना ज़रूरी है कि न तो यह जीवन से पिछड़ जाए, और न ही यथार्थ से बिछुड़ कर अधिक कलात्मक उड़ानों (फेंसीज़) में खो जाए। इन दो झुकावों के कारण ये नायक सामाजिक यथार्थ से थोड़ा मुड़ जाते हैं। अतः जीवंत और प्रारूप चरित्रों के चित्रण के लिए कलात्मक उड़ान वांछनीय है; लेकिन वह समाज से, जीवनतथ्यों से, ऐतिहासिक घटनाओं से अलग न हो; कृती ऐतिहासिक प्रकाश में जीवन के तथ्य और घटनाएं चुनकर अपनी काल्पनिक उड़ानों की प्रतिभा का परिचय दे। गोर्की ने अपने 'मां' शीर्षक उपन्यास (१६०६) को सामाजिक संघर्षों का एक महाकाव्य बना दिया है। उसका नायक पावेल व्लासोव धीरे-धीरे जीवन के तथ्य और घटनाएं चुन-चुन कर अपनी भव्य कल्पना को जगाता है और जीवन में हर मूल्यांकन तथा सुंदर वस्तु को पहचानता जाता है। नायक ही नहीं; अन्य पात्र भी (यहां जन-चरित्र का प्रसार होता है) एक नई दुनिया के स्वप्नद्रष्टा हो जाते हैं, एवं ऊंचे आदर्शों के लिए लड़ते हैं। इस प्रकार वे एकमात्र व्यक्ति के साथ-साथ जन-प्रतिनिधि भी हैं और साधारण जनता के पीड़ित, दलित, अपमानित 'लघु-मानवों' के स्तर से ऊपर उठकर नये मानव एवं नये नायक हो जाते हैं। इसी प्रकार शोलोखोव के 'डॉन मंद गति से बहता है' नामक उपन्यास में मनुष्य और डॉन नदी के किनारे के मनुष्यों के भयानक वर्ग-संघर्ष की कहानी का महाकाव्यात्मक चित्रण हुआ है। ये नायक साहसपूर्ण ढंग से यथार्थ पेश करते हैं, स्वाभाविक गति से जीवन की कल्पना में बहते हैं और अपने गुणों से मानवीय तथा महान् हो जाते हैं। "लेकिन कई समाजवादी लेखक यह गलती करते हैं कि अपनी सारी प्रतिभा और

शक्ति का उपयोग एक हड़ताल, एक सामाजिक आंदोलन, समाजवाद-निर्माण, एक क्रांति या एक गृह-युद्ध के वर्णन में ही कर डालते हैं। वे यह नहीं सोचते कि सब से महत्त्वपूर्ण चीज़ सामाजिक पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य है--उस पृष्ठभूमि में अपने सभी विकासों से पूर्ण। ऐसा मनुष्य **महाकाव्यात्मक मनुष्य** (मेरा रेखांकन) है।"[1] इसलिए कल्पना से हीन, द्वंद्व-भावना से हीन, जीवन के कृष्ण पक्षों से शून्य 'अतिशयोक्तीकरण' का फार्मूला केवल अतिरंजकता ही उत्पन्न करता है जिससे निषेधात्मक बातें ही प्रकट होती हैं। अतिशयोक्तीकरण प्राचीन महाकाव्यों में भी हुआ है, लेकिन उनमें कल्पना की भव्य उड़ानें, देवताओं तक की सुकुमार और दुर्बल भावनाओं का अंकन, महान् द्वंद्वात्मक संघर्षों का तेज आज भी विद्यमान है। इसी वजह से उनके जीवित मनुष्य, राष्ट्र-नायक और जन-नेता बने हुए हैं। अतः जब हम चरित्रों के निर्माण में 'द्वंद्वविहीनता' तथा 'असंयमित अतिरंजकता' से मुक्त होंगे तभी हम नये मनुष्य और नये नायकों की प्रतिष्ठा कर सकेंगे जो लघु होकर भी अपने गुणों से महान् एवं मानवीय होंगे। द्वंद्वों के समावेश से इन चरित्रों की वैयक्तिकता की समृद्धि के फव्वारे झर उठेंगे तथा जीवन के आवश्यक तत्त्वों को पकड़कर एक प्रारूप मनुष्य भी खड़ा कर सकेंगे।

सारांश यह है कि नया नायक केवल **नया मनुष्य** ही नहीं है, वह **महाकाव्यात्मक मानवता** भी है। उसके अंकन में जीवन का यथार्थ और यथार्थवादी कल्पना दोनों का ही संयोग है। वह व्यक्ति भी है, और जन की समष्टि भी।

समालोचना की पद्धति के सिद्ध आयाम

कला की सापेक्षता तथा सौंदर्यात्मक समस्याओं के सहवर्तन में ही मार्क्सीय **समालोचना** के कुछ अन्य पक्षों पर विचार हो सकता है। वैसे पूर्वोक्त सौंदर्यबोधशास्त्रीय मीमांसा भी इसके अंतर्गत ही आती है, लेकिन यहां हम कुछ प्रश्नों पर गौर करेंगे; जैसे कला की कसौटियां, युग-चेतना, सोवियेत-चीनी आलोचना, शैली आदि।

(१) कलाकृति के मार्क्सवादी मूल्यांकन के एक नहीं, दो प्रमुख पहलू हैं—सौंदर्यबोधात्मक एवं ऐतिहासिक। इन दोनों में से केवल एक का आधार कृति को एकांगी बना सकता है। मूल्यांकन के दोनों निकष भी यदि वैयक्तिक, सामान्य, संकीर्ण या विकृत हुए, तो भी समालोचना एकांगी होगी। अतः **इन दोनों निकषों को साथ-साथ आबद्ध और 'सर्वोच्च' होना चाहिए।** निकषों के 'सर्वोच्च' होने का तात्पर्य यह है कि इनमें शतियों से अर्जित मानव-जाति की कला-विरासत के मानदंडों के साथ-साथ भविष्य की यथार्थता का ज्ञान भी शामिल हो। इसकी परिणति यह होती है कि **समाज** खुद कला का एक विषय हो जाता है।

समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग, उनके भिन्न-भिन्न सौंदर्यबोध होते हैं। समाज में भी कई ऐतिहासिक युग और कई युगों की कलाकृतियां होती हैं।

१. राल्फ फॉक्स : 'दि नॉवेल ऐंड दि पीपुल', पृ० १३७; मास्को सं०।

समाज में ही कलाकार और कलाग्राही होते हैं; ये कलाकार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्गों के बीच से या बीच में होकर जीवित रहते हैं। अतः कलाकृतियां भिन्न-भिन्न युगों में, भिन्न-भिन्न समाजों की, भिन्न-भिन्न कलाकारों की सृजनात्मक भावनाओं और चेतनाओं का प्रतिबिंब होती हैं। यह प्रतिबिंब हमेशा स्पष्ट और यांत्रिक नहीं होता। समाज के मैत्रीसंबंध और विरोध दोनों ही कलाकृतियों में प्रतिबिंब होते हैं। अतः कलाकार जाने या अनजाने इन संबंधों में अनिवार्यतः बंधा होता है; वह समाज के वर्गों की चेतना का वैयक्तिक तथा वर्गीय विश्लेषण करता है और अपने अनुभवों को कलाकृति में प्रस्तुत करता है। अतएव सौंदर्यबोधात्मक तथा ऐतिहासिक कसौटियां मिलकर ही कलाकृतियों के विशिष्ट ऐतिहासिक काल, ऐतिहासिक समाज, ऐतिहासिक संबंध, सामाजिक चेतना, वर्गीय विरोध, सौंदर्यानुभव आदि को स्पष्ट कर सकती हैं। वे अतीत के जीवन का दर्पण होती हैं; वे उस जीवन के अंतर्विरोधों (कांट्रेडिक्शन) को प्रतिबिंबित करती हैं; वे युग की ऐतिहासिक समस्याओं और आकांक्षाओं की कलात्मक अभिव्यंजना होती हैं; वे वर्गीय संबंधों को सीधे या छुपे ढंग से उद्घाटित करती हैं तथा कलाकार की 'काव्यात्मक दृष्टि' की गहराई का भास कराती हैं। इन पांच प्रयोजनों में संगति की अपेक्षा एक द्वंद्वात्मक समन्वय मिलता है। अतएव मार्क्सवादी आलोचना प्राचीन कलाकृतियों का मूल्यांकन करने में इन दोनों निकषों तथा पांचों प्रयोजनों को ध्यान में रखती है। इन्हीं के सम्मिलन से **विचारधारा तथा काव्यात्मक दृष्टि की पृथक्ता की धारणा** का विकास हुआ। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कलाकृतियां केवल युग का दर्पण ही नहीं, युग के विरोधों का भी दर्पण होती हैं।

एंगेल्स ने गोएटे (१७४९-१८३२) और बालज़ाक (१७९९-१८५०) को लेकर विचारधारा तथा कलात्मक दृष्टि की पृथक्ता के सिद्धांत को दर्शाया है। कलाकार की स्पष्टतः व्यक्त विचारधारा और जीवन के चित्रांकन में विरोध हो सकते हैं। हो सकता है कि कलाकार खुद अपनी कृति की वस्तुगत महत्ता न समझे। हो सकता है कि वह अपने सर्वज्ञात दर्शन और ज्ञान के विपरीत भी सत्य को उद्घाटित करे। विरोध की ये तीन दिशाएं हैं।

एंगेल्स बालज़ाक को विगत, मौजूदा और भावी सभी लेखक ज़ोलाओं की अपेक्षा यथार्थवाद का महान् उस्ताद मानते थे। उनकी 'कॉमेदी ह्यमेन' १८१६ से १८४८ तक के फ्रेंच समाज का अद्भुत यथार्थवादी इतिहास है। फ्रेंच समाज की भावात्मक निर्दयता, अत्याचारशीलता, व्यसनदासता, नीचता और भद्देपन को चित्रित करके यह कृति मानुषी राक्षसों' की एक प्रदर्शनी हो गई है। उन्होंने अपने समय के समाज के सभी विरोधों को उधेड़कर रख दिया है, यद्यपि उनका उद्देश्य कतई यह नहीं था। वे राजनीतिक दृष्टि से शास्त्रसम्मतवादी थे; उनकी सहानुभूति पतनोन्मुख वर्ग के साथ है; वे इस तथाकथित 'अच्छे समाज' के मर्सिये गाते हैं। लेकिन सामंतीय समाज तथा उसके विरोध का इतना व्यंग्यपूर्ण व जीवित चित्रण—जिसे मार्क्स की शब्दावली में 'रेंब्राई रंगों से युक्त' कहेंगे—किसी ने नहीं किया। एंगेल्स ने उस

काल के तमाम पेशेवर इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों, तथा आंकड़ेकारों से अधिक बालजाक की उस पुस्तक से सीखा था। वैयक्तिक जीवनी के दृश्य, प्राकृतिक जीवनी के दृश्य, पेरिस-जीवनी के दृश्य, राजकीय जीवनी के दृश्य, ग्रामीण जीवनी के दृश्य पेश करके उन्होंने मजबूरन अपनी वर्गीय सहानुभूति के खिलाफ जाकर भी भविष्य के मनुष्यों का संकेत कर दिया था। यही यथार्थवाद की महत्तम विजयों में से एक है (—एंगेल्स)। लेखक की कलात्मक दृष्टि और विचारधारा पृथक् रही; लेकिन उसके मतों के बावजूद भी यथार्थ झलक उठा।

वूल्फगां वॉन गोएटे को खुद भी ज्ञात नहीं था कि वे अपनी विचारधारा से पृथक सत्यों का उद्घाटन कर रहे हैं। एंगेल्स के शब्दों में : "हम केवल एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। गोएटे अपनी कृतियों में अपने समय के जर्मन समाज के साथ दो-तरफा रिश्ते से जुड़े हैं। कभी वे उसके विरोधी हैं और उसकी निंद्यता से बचना चाहते हैं; जैसे 'इफीजीनिया' में और साधारणतया इटैली-यात्रा की अवधि में। कभी वे उसके प्रति विद्रोह करते हैं—गोएट्ज़, प्रोमेथिउस और फॉस्ट की तरह; मेफिस्टोफिलीज़ की तरह वे उस पर तीव्र घृणा उड़ेलते हैं। इसके विपरीत, कभी वे उसके प्रति मैत्रीपूर्ण रहते हैं और उससे व्यवस्थापन भी करते हैं; जैसे 'टैम एपिग्राम' के अधिकांश में,···फ्रेंच-क्रांति से संबंधित सभी लेखों में।···इस प्रकार गोएटे अभी विशालकाय हैं, अभी क्षुद्र; अभी उद्दंड, व्यंगात्मक, संसार से घृणा करने वाली प्रतिभा है; अभी शांत, आत्म-संतुष्ट और संकीर्ण विचारक। गोएटे तक जर्मन-ज़िंदगी के भद्देपन को नहीं जीत पाए; प्रत्युत उसने ही इन्हें जीत लिया।"[1] वे शिलर की तरह कांटवादी आदर्शों में पलायन करने वाले न होकर प्रकृति-प्रेमी, सक्रिय और मानवतवादी थे, लेकिन जिस जीवन से वे घृणा करते थे उसी में बंधे रहने के कारण उनमें यह संक्रांति उत्पन्न हुई जिसके सत्य कला में भी प्रकट हुए। होमरकालीन विश्व-दृष्टिकोण, कला की जरूरतें, यथार्थ के क्षितिज सभी यूरिपिडीज़ के काल तक आकर बदल चुके थे और वर्गीय समाज एक वर्गीय संस्कृति को उत्पन्न करने लगा था। अतः सत्य की खोज में अनजाने ही यूरिपिडीज़ ने अपने युग का बढ़ता हुआ वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक दृष्टि से पक्षधर कलाकार के रूप में अंकित किया। अतीत (और वर्तमान के भी) साहित्य तथा कला की समालोचना में इस सिद्धांत का प्रयोग एक बिलकुल ताजी सामाजिक और कलात्मक दृष्टि प्रदान करता है। क्लासिकल साहित्य के मूल्यांकन में तो यह सिद्धांत बेहद महत्त्वपूर्ण है।

मार्क्सवादी आलोचना के दूसरे सिद्धांत के अनुसार "वस्तुगत यथार्थ तथा कल्पना के जीवन का संबंध जितना ही सुघटित होगा, कलाकृति उतनी ही महत्त्वपूर्ण होगी।" यह सिद्धांत एक ओर तो कला में यथार्थवाद की समस्या का निराकरण करता है, दूसरी ओर वर्तमान पूंजीवादी युग में व्यक्ति की परकीयता के आयामों को खोलता है और तीसरी ओर दो कलाकारों की आपसी तुलना के मानदंड निर्धा-

१. एंगेल्स : 'गद्य और पद्य से जर्मन समाजवाद' (टिप्पणी)।

रित करता है। सारांश में कहा जा सकता है कि यथार्थवाद की पहली मंज़िल में भौतिक वस्तुओं तथा इंद्रिय-अनुभवों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया है; दूसरी मंज़िल में प्रत्यक्षक के मनोवैज्ञानिक रुझानों और मस्तिष्क का महत्त्व हो जाता है; तीसरी मंज़िल में पूर्ण यथार्थ की खोज में विचारधारात्मक दृष्टि भी आ जाती है; चौथी मंज़िल में सांस्कृतिक पैटर्न कलात्मक यथार्थ की खूबी प्रकट करता है, तथा पांचवीं मंज़िल में गोपित मतों का प्रकाशन भी वांछित यथार्थ पेश कर सकता है।

प्रत्यक्षक मानो वर्तमान भौतिक दुनिया में एक बलपूर्वक छीन-झपटकर रहने वाले अजनबी के रूप में रहता है जहां चारों ओर धन की लोलुपता का बोलबाला और वर्ग-संघर्ष का गर्जन है। अतः प्रत्येक आंदोलन और विचारों के प्रत्येक संघर्ष में कुछ बंदे होते हैं जो प्रफुल्लता तथा कर्मों के वैभव से समृद्ध होते हैं; कुछ मर्द होते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सज्जित होकर नई दुनिया का स्वप्न देखते और जीवन के सुंदर एवं मूल्यवान को समझने का प्रयास करते हैं; कुछ इंसान होते हैं जो घोर निराशा, भ्रांति और पराजय में ही चैन पाते हैं; कुछ आदमी महत्त्वपूर्ण और गैर-ज़रूरी चीज़ों के बीच भेद नहीं कर पाते और कुछ व्यक्ति स्वप्नवादी हो जाते हैं। प्राचीन युग के कलाकारों की महत्ता इस बात में थी कि उनकी कलाकृतियों में वस्तुगत यथार्थ एवं कल्पना-जगत् के बीच सुघटित संबंध हैं। इसीलिए वाल्मीकि की रामायण में आये हुए स्वर्ण-मृग, शूर्पणखा, दशानन-रावण, वानर हनुमान, जटायु, जामवंत, सुग्रीव आदि सभी सांस्कृतिक भित्ति के यथार्थ हैं; कालिदास के काव्यों में अप्सराएं और आकाशवाणियां यथार्थ हैं। तुलसी के काव्य में उनके युग का पारिवारिक जीवन तथा उस परिवेश में अंकित मर्यादापुरुषोत्तम राम का लोक-चरित्र दोनों की एकता करता है। अतः वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी आदि ऐसे ही क्लासिकी कलाकार थे जिनकी कला में वस्तुगत यथार्थ तथा कल्पना-जगत् के बीच सुघटित संबंध हैं। आदिकाल और मध्यकाल में व्यक्ति भौतिक जगत् से इतना पृथक् होकर मैत्री-हीन नहीं था। मध्यकाल की कला की सामूहिकता की चर्चा हम कर ही चुके हैं। हम शिल्प और चित्रकला जगत् में अजंता, खजुराहो, भरहुत की विशिष्ट कलाकृतियों के चित्रकारों को नहीं जानते; न ही वाल्मीकि-रामायण या वेदव्यास-पूर्व महाभारत के चारण-कवियों को जानते हैं; न ही रासो-ग्रंथों, आल्ह-खंड, कबीर-काव्य के बाबत निश्चित ढंग से जानते हैं कि उनमें उनका कितना है। साहित्य में हम अवश्य—कुछ उदाहरणों में बहुत शोध के बाद—एक कालिदास, एक सूर, एक तुलसी को देख लेते हैं। फिर भी उनमें सामूहिकता—लोक-मंगल-भाव या दार्शनिक सिद्धांत के रूप में—विद्यमान हैं।

लेकिन आज की वैयक्तिकता के संदर्भ में फ्लाबेयर और ज़ोला जैसे साहित्यकार हैं जो कला में **अनिवार्य** तथा **द्वितीयक** (=अमहत्त्वपूर्ण) दोनों को ही उसी **समान** सतह पर रख देते हैं। इसी परकीयता में रिंबो जैसे कलाकार विशाल औद्योगिक शहरों की भयानकता का शर्मनाक अंकन करके अंततः आत्महत्या कर लेते हैं; कुप्रिन और मोपास्सां जैसे कलाकार वेश्यालयों, शराबघरों, फैक्टरी की चिमनियों और

चकलों की मासूम, दर्द-भरी ज़िंदगी पेश करते हैं; तोल्सतोय जैसे कलाकार किसानों का विशाल कैनवेस खींचकर ईसाई अराजकतावाद के आदर्शों को प्रचारित करते हैं; प्रेमचंद जैसे कलाकार देहाती समाज की समस्याओं को सोद्देश्य पेश करते हैं। मार्क्सवादी इस 'मैत्री-भेद' और 'परकीयता' के बीच भी सामूहिक कला, कलात्मक विचारों, सामाजिक चेतना के भेद की छानबीन करता है; यथार्थ को अंगीकार करने में अनिवार्य और द्वितीयक के चयन के रहस्य का उद्घाटन करता है और गुणात्मक मनुष्य को भी देखता है। उन्नीसवीं शती के बालज़ाक और फ्लाबेयर में से कौन श्रेष्ठ है, यह इस पद्धति के सहारे ही जाना जा सकता है। यह प्रश्न केवल सौंदर्यबोधशास्त्र का ही नहीं है, दर्शनशास्त्र और समाजशास्त्र का भी है। इसका निर्णय केवल आनंद के आधार पर ही नहीं, उपन्यास के सौंदर्य के सामाजिक आधार का भी है। बालज़ाक ने यथार्थवाद का, और फ्लाबेयर ने प्रकृतवाद का आश्रय लिया। बालज़ाक ने शुद्ध सौंदर्य के साथ-साथ सामाजिक और नैतिक समस्याओं को लिया; फ्लाबेयर ने शुद्ध सौंदर्य पर ज़ोर दिया। बालज़ाक ने मनुष्य और समाज के सभी रूपों का दिग्दर्शन किया; फ्लाबेयर ने मनुष्य के मनोवैज्ञानिक और रूपवादी स्वरूप का दर्शन किया। बालज़ाक ने कृति में प्रारूप की गहराई दी है, फ्लाबेयर ने केवल व्यक्तिवादी संधान किया। इसी प्रकार हम फ्लाबेयर की 'मादाम बोवारी' और तोल्सतोय के 'रिसरेक्शन' की तुलना कर सकते हैं और कह सकते हैं कि पहली कृति अपनी सभी श्रेष्ठताओं के बावजूद भी दूसरी से कम श्रेष्ठ है। तोल्सतोय की कृतियों में सामाजिक समस्याओं और नैतिक, सौंदर्यात्मक और जीवन के प्रति एक 'ऐतिहासिक' दृष्टिकोण मिलता है। आदर्शवादी होने के बावजूद भी उनकी कृति में (बालज़ाक जैसा) सत्य अपने-आप प्रकट हो उठता है। एक ओर तो उनकी कृतियों में रूसी जीवन के अतुलनीय चित्र हैं जो उन्हें विश्व-साहित्य की विरासत बना देते हैं; तो दूसरी ओर ईसाई-अराजकतावाद की अंधभक्ति है। एक ओर सामाजिक कुरीतियों और झूठ के प्रति प्रबल विद्रोह है, तो दूसरी ओर शुद्धिवादी और पश्चातापवादी आत्मग्लानि। एक ओर पूंजीवादी समाज के शोषण, झूठी अदालतों के अन्याय, सरकारी मूढ़ता आदि का भंडाफोड़ है, तो दूसरी ओर अहिंसात्मक सत्याग्रह की रूहानी ताकत पर ज़ोर। वस्तुतः गुलामी से मुक्त किंतु पूंजीवादी शिकंजों में जकड़ते हुए रूसी समाज के विरोध उनकी कृतियों में भी अंकित हैं। इसी आधार पर हम कई महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करने की दिशा में बढ़ सकते हैं—जैसे, चेखव का 'यथार्थवाद' और मोपासां का 'प्रकृतवाद; प्रेमचंद का 'सामाजिक आदर्शवाद' और अज्ञेय का 'मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद', श्रीलाल शुक्ल का 'अंतर्विरोध' और निर्मल वर्मा का 'सामाजिक सौंदर्यबोध'।

मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र यथार्थवादी दृष्टि की समग्रता स्वीकार करता है जिससे किसी भी प्रकार की भावात्मक तथा बौद्धिक गतिशीलता का विरोध नहीं होता है। **मानवीय व्यक्तित्व की पुनर्रचना** और **वर्गीय समाज के भद्देपन का विध्वंस** ही इसके मापदंड हैं। मानव-व्यक्तित्व की पुनर्रचना और समाज के महान् युगों का

चित्रण ही वाल्मीकि, होमर, दान्ते, शेक्सपियर, कालिदास, तुलसीदास, रेणु, नागर आदि की कृतियों में है। आज की कृतियों में भी इन दोनों आदर्शों को एक नवलतर ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार किया जाता है। गोर्की की कृतियों में यह दृष्टि दिखाई पड़ती है। आज की कला और साहित्य रोज़ की घटनाओं के घोल में से सार के चमकते कणों (क्रिस्टल) को जमा सकता है और एक 'सुघटित-संगठित' रूप पेश कर सकता है। आज की कला और साहित्य भी हमें वर्ग-मुक्त करने के लिए जनता को कर्मयोग के लिए प्रेरित कर सकता है, उन्हें जागरित कर सकता है और एक संघटित संघर्ष चलाने का आह्वान कर सकता है जिसके द्वारा वे अपने भाग्य को रचने वाली, मानवीय प्रेम को फैलाने वाली और सर्वहारा मानवतावाद की स्थापना करने वाली हो सकें। अतः आलोचना के दो मापदंड हैं—सौंदर्यबोधात्मक और विचारधारात्मक। विचारधारात्मक मानदंड (अ) सामाजिक आधारों का सतर्क विश्लेषण करता है तथा (ब) कलाकारों के विकास की युगीन तथा वैयक्तिक प्रेरणाओं की खोज करता है। सौंदर्यात्मक मानदंड (स) कलाकृतियों के सौंदर्यात्मक और बौद्धिक वस्तु-तत्त्व की वास्तविकता का पता लगाता है; उसमें व्यक्त दृष्टिकोणों और सौंदर्यबोधों को प्रकट करता है और उनके आधार पर कलाकार द्वारा व्यवहृत् काव्य-रूपों तथा उसकी सफलता की परिगणना करता है। यह मंतव्यों और प्रभावों की द्वंद्वात्मक एकता की मांग करता है। मंतव्यों की स्वीकृति और प्रभावों की अस्वीकृति, अथवा प्रभावों की स्वीकृति और मंतव्यों की अस्वीकृति—दोनों ही गलत हैं। पहली दृष्टि आदर्शवादियों की, तथा दूसरी भौतिकवादियों की है। अतः मार्क्सवाद दोनों का समन्वय करता है। लोक-कल्याणोन्मुख मंतव्य लोक प्रभाव से किस प्रकार मुक्त किये जा सकते हैं? एक श्रेष्ठ मंतव्य भी, प्रभावहीन होने पर, निरर्थक हो जाता है। किसी कला-कृति के आत्मगत निश्चयों को लेखक द्वारा घोषणापत्रों में व्यक्त विचारों या कला-कृतियों में अभिव्यंजित दर्शन में खोजने के बजाय समाज और जनता में पड़े उसके (या उसकी कृति के) **व्यवहार** द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मगत निश्चय भी **सामाजिक व्यवहार** के क्षेत्र में आ जाते हैं। **मंतव्यों** को जांचने का मानदंड केवल उनके द्वारा उत्पन्न **प्रभाव** ही हैं।[1]

प्रत्येक ऐतिहासिक युग और (उससे पल्लवित-पुष्पित) समाज का कोई शिरोबिंदु होता है। जब तक कि पूर्व की सामाजिक व्यवस्था की सभी संभावनाओं का विकास नहीं हो जाता, उत्पादन की सभी क्षमताएं विकसित नहीं हो जातीं और सामाजिक संबंधों के विरोध पूर्णतः प्रकट नहीं हो जाते, तब तक नया आर्थिक मूलाधार भी प्रकट नहीं होता। जब तक कि नये मूलाधार में विकास की संभावनाएं रहती हैं, उत्पादन के नियम बनते रहते हैं, सामाजिक संबंधों में पूर्ण निश्चयता नहीं आ पाती, तब तक वह लुप्त नहीं होता। अतः कला और साहित्य की दुनिया में तभी महान्

१. देखिये, माओ-त्से-तुंग : 'प्रोब्लेम्स ऑफ आर्ट एंड लिट्रेचर', पृ० ३२ (भारतीय संस्करण, १९५२)।

कृतियां आती हैं जब अभिव्यंजना की पूरी संभावनाएं मौजूद हों, सौंदर्यबोध को नई दिशाएं मिल रही हों, नये अनुभवों का कौतूहल बढ़ रहा हो; या फिर अभिव्यंजना की सभी संभावनाओं को खोजा जा चुका हो, सौंदर्यबोध में पूर्ण स्थिरता आ गई हो, नये अनुभव पूरी तरह प्राप्त किये जा चुके हों। दान्ते ने इटैली के अपने समाज में पहली स्थिति में कार्य किया और मिल्टन ने इंग्लैंड के दूसरे सामाजिक युग की दूसरी स्थिति में। संस्कृत साहित्य में शूद्रक को पहली स्थिति में सृजन करना पड़ा था और पंडितकवि माघ को दूसरी स्थिति में। खड़ी बोली में हरिऔध को पहली स्थिति में, तथा प्रसाद को दूसरी स्थिति में कार्य करना पड़ा। यहां हम ध्यान दिलाना चाहते हैं कि ये कलाकार विभिन्न सामाजिक युगों के हैं; हमने केवल उदाहरण के लिए उन्हें संयुक्त किया है। अतः हरएक समाज में कला और साहित्य का एक प्रसुमन-काल होता है, जब श्रेष्ठ और मनोहर कलाकृतियों में संगति आती है और एक नहीं अनेक कलाकृतियों का सृजन होता है। पर इसके पीछे सामाजिक आधारों, उनके परिवर्तनों और शिरोबिंदुओं का आधार होता है। यह तभी होता है जब सामाजिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन हों। इसीलिए "आज फ्रांस में कोई बालज़ाक, स्तांदाल, ह्यूगो, फ्लाबेयर या ज़ोला नहीं हैं। इंग्लैंड के पास आज कोई डिकेंस, बायरन या शैले नहीं है। उन देशों में बहुत परिवर्तन होने चाहिए तभी यह आशा की जा सकती है कि एक डिकेंस या एक स्तांदाल का जन्म होगा। इस अंतराल में तो हर चीज़ उनके पीछे ही है।"[1] समाज का भी प्रभात, मध्याह्न और निशाकाल होता है जिसमें कुछ दशक वर्ष केवल कुछ प्रहरों के बराबर होते हैं; यद्यपि मानव-जीवन में तब तक बहुत परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए समाज के प्रभात-काल में ही हमें एक कालिदास या तुलसी, या प्रेमचंद नहीं मिल सकते। हमारे समाज में भी बहुत परिवर्तन होने हैं, तभी हमारा भी शिरोबिंदु आएगा।

(२) मार्क्सवादी आलोचना की एक अन्य देन है—'हमारे युग की चेतना' (स्पिरिट आफ आवर टाइम) के संदर्भ।

कला और साहित्य में **युग-युग की चेतना का वहन** करने वाली कलाकृतियां नायक, कलात्मक विचार, कलाकार, सहृदय और रुचियां होती हैं। कलाकृतियों, नायकों और कलात्मक विचारों का निरूपण हो चुका है (और प्रसंगानुसार होता रहेगा); कलाकार और 'सहृदयों' की विवेचना आगे होगी। इस प्रसंग में हम मूलतः सहृदय और उनकी **रुचियों** का ही स्थापत्य रचेंगे।

[यूरोपीय साहित्य-शास्त्र में दर्शक, श्रोतागण और पाठकों के लिए इस्तेमाल किये गये अलग-अलग शब्दों के लिए भारतीय काव्य-शास्त्र में 'सहृदय' नामक एक ही शब्द आया है। हम इसी शब्द का उपयोग करेंगे।]

मार्क्सीय सौंदर्यबोधशास्त्र ने आलोचक के काल (टाइम) और देश (प्लेस) के ज्ञान की गहराई (डेप्थ) को पैना बनाया है। इस महत्त्वपूर्ण अनुदान की वजह

१. इलिया एहरेनबर्ग : 'दि राइटर एंड हिज क्रॉफ्ट', पृ० ५।

से हम एक ओर तो कला में जीवन और समाज का दिग्दर्शन कर सकते हैं, दूसरी ओर अतीत के सांस्कृतिक पैटर्न और सामाजिक चेतना को चित्रित कर सकते हैं और तीसरी ओर कलाकृतियों की ऐहिक तथा भौतिक परिस्थितियों में मूलबद्धता प्रमाणित कर सकते हैं। अतीत के किसी भी युग का सर्वांगीण **समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक** चित्र प्रस्तुत करने में यह गहराई एक लंगर और जाल की की भांति सहायक है। 'देश-काल की गहराई के निर्णय के सिद्धांत' में से ही **सहृदय की रुचियों के अध्ययन** की धारणा का भी प्रस्फुटन हुआ है। इसके आधार पर हम जान सकते हैं कि अकबरकालीन श्रोतागणों की ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय हालतें क्या थीं? भारतेंदु के नाटकों के प्रति दर्शकगणों ने किस प्रकार की रुचियां प्रदर्शित की होंगी? देवकीनंदन खत्री और मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों ने किस प्रकार नये पाठकों का विकास किया होगा?

रुचियां इंद्रियों के द्वारा सामाजिक और मनोवैज्ञानिक इच्छाओं तथा चेतनाओं की अभिव्यक्ति हैं। रुचियों में वैयक्तिक पसंद और चुनाव भी होते हैं। लेकिन इन चुनावों की विधा शुद्ध वैयक्तिक नहीं होती। कुछ व्यक्तियों के समरूप चुनाव और पसंद होती है। कुछ राष्ट्रीय रुचियां भी होती हैं और कुछ ऐसी रुचियां भी होती हैं जो एक वर्ग में समरूप होती हैं। अतः व्यापक सौंदर्यात्मक रुचियां जनता के सामाजिक अनुभवों का नतीजा हुआ करती हैं। यों कहा जा सकता है कि (अपवादों को छोड़कर) कला-रुचियां 'सामाजिक रुचियों की वैयक्तिक अभिव्यक्ति' होती हैं।

कोइ व्यक्ति कालिदास के शरद्-वर्णन पर मुग्ध होगा, कोई वर्षावर्णन पर; कोई शिव-उमा के काम-उत्सव में डूबेगा, तो कोई शकुंतला के सौंदर्य पर मुग्ध होगा; कोई उनकी उपमाओं से रसाप्लावित होगा, तो कोई छंद-योजना से। लेकिन एक नहीं ऐसे अनेक लोग होंगे जो एकसाथ ही या तो उनके शरद्-वर्णन, या काम-उत्सव या उपमाओं के गुणी होंगे। यही नहीं, एक वर्ग ही होगा जो कालिदास के केवल इन्हीं तत्त्वों का प्रशंसक होगा, जबकि दूसरा किन्हीं अन्य तत्त्वों का याचक होगा। इसका कारण यही है कि सामाजिक चेतना में इन रुचियों के स्रोत होते हैं। क्योंकि ये चेतनाएं ही लोगों की एकता कायम करती हैं इसलिए इनमें **परंपरा** का प्रभाव प्रमुख हो जाता है। अतः जन-लोक-कथाओं में जिस नारी-सौंदर्य की कल्पना होती आ रही है वह मांसल-पुष्ट अंगों तथा खेतों-खलिहानों, पनघटों, गृहकाजों में व्यस्त नारी की है; लेकिन राजसभाओं में जिस नारी-सौंदर्य की कल्पना हुई है वह अत्यंत कोमल और क्षीण अंगों तथा अंतःपुरों, अभिसारवीथियों, शयनकक्षों में कामिनी नारी की है। यह अंतर पृथक परंपराओं और वर्गीय रुचियों, दोनों का है। अतः यदि कोई प्रतिभाशाली कलाकार जाने-अनजाने उन सहृदय की रुचियों की उपेक्षा करता है जिनके लिए उसकी कला है, तो वह भी उपेक्षित हो जाता है। परंपरा सशक्त और रूढ़ होती है। अतः उसका अनुकरण न करने पर कलाकृतियां उपेक्षित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे मूल्यवान नहीं

हैं। यदि तुलसीदास अपने 'रामचरितमानस' को अवधी भाषा में न लिखकर संस्कृत में लिखते और ठीक उसी प्रकार लिखते, तो उसकी स्थिति क्या होती? यदि अवधी में लिखी गई कृति में भी भारवि-माघ-श्रीहर्ष के अनुकरण पर श्रृंगार-वर्णन, राज-सभा-वर्णन, और उच्च सामंतीय ज़िंदगी का वर्णन होता तो क्या यह कृति महान् होती? 'रामचरितमानस' की श्रेष्ठता इसी में है कि वह जिस प्रकार की विशाल जनता के लिए लिखी गई है, उनकी रुचियों का परिपाक करने के साथ-साथ उन रुचियों का पुर्ननिर्माण और शोध भी करती है। अतः हम अप्रत्यक्ष ढंग से उस युग की लोक-भाषा, जन-रुचि, जनता की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ठीक इसके विपरीत भवभूति हैं। कहा जा सकता है कि भवभूति परंपरा के विपरीत दिशा में गये और इसीलिए (प्रचलित प्रमुख रुचि से असंपृक्त होने के कारण) उन्हें खामोश हो जाना पड़ा। यह गलत दृष्टि होगी। भवभूति लोकप्रिय इसीलिए नहीं हो सके कि उन्होंने चक्रवर्ती श्रृंगार के स्थान पर करुण की प्रतिष्ठा की; मांसल श्रृंगार के स्थान पर मानव के अंतर्लोक का उद्घाटन किया; राज्याश्रयी होने के बजाय उन्मुक्त भ्रमण करते रहे; नारी को कामिनी मानने के बजाय उसे स्वाभिमानिनी का पद दिया और घोर अलंकारयुक्त कलावस्तु के बजाय नैसर्गिक काव्य-विधान किया। उन्होंने यह सब तत्कालीन उस वर्ग की रुचियों के प्रतिकूल (यदि विरुद्ध नहीं) किया जो कलाग्राही था। वे अपनी अभिव्यक्तियां तो प्राकृत् जनों के अधिक निकट ले आये, लेकिन उनके माध्यम उनकी रुचियों के अनुकूल नहीं थे क्योंकि उनकी भाषा, जीवन के रीति-व्यवहार, सामाजिक आचार साधारण थे। अतः जब प्राकृत् जनों की रुचियों की भी सुनवाई हुई, तब भवभूति अमर हो उठे। अतः रुचियां—चाहे वैयक्तिक हों, या वर्गीय, या राष्ट्रीय—कला के भाग्य में बड़ी ही निरंकुशता से दस्तंदाज़ी करती हैं। 'कभी-कभी तो कला को अपने अधीन तक बना लेती हैं। वे केवल स्थापित संप्रदायों के भाग्य का ही निपटारा नहीं करतीं, अपितु नये कला-संप्रदायों को भी जन्म देती हैं।'[1] इन सभी प्रकार की रुचियों का आपसी अंतर्संधान हुआ करता है। अतः **एक** ही कलाकृति में **भिन्न-भिन्न** वर्गों की रुचियां, उनकी प्रकृति, उनके रीति-रिवाज, उनका समाज साकार हो उठता है। यही अध्ययन समाज और समाज की जनता का संघटित चित्र प्रकट करता है।

ये सभी रुचियां जन्म से ही विकसित नहीं हो जातीं। इनमें कुछ परंपराओं द्वारा प्राप्त होती हैं; कुछ विकसित होती हैं और कुछ का निर्माण होता है। इनका सामान्यीकरण या तो **सामाजिक संघातों** से होता है, या **आर्थिक संघातों** से, या **भौतिक एवं टैकनिकल खोजों** से। सामाजिक व्यवस्था परंपराओं के रूप मे रुचियों को रूढ़ करती है, आर्थिक संघात उन्हें वर्गीय बना देते हैं और भौतिक तथा प्राविधिक खोजें उनमें आमूल क्रांति ला देती हैं। अब हज़ारों तकुओं वाले पोलिस्टर मिलों के वाद्य-वृंद के सम्मुख तकली के गीत फीके हो जाते हैं; स्पुतनिकों की

१. निकोलाई शामोता : 'आंन टेस्ट इन आर्ट', सोवियेट लिट्रेचर, नं० १२, १९५७।

सौर-मंडल-यात्रा के सम्मुख पुष्पक विमानों का संवेद्य सौंदर्य हल्का हो जाता है; मृदुला गर्ग की नारियों के सम्मुख रीति-कालीन नारी की क्षयिष्णुता झलक उठती है और प्रेमचंद के किसान-नायकों के आगे देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी जासूस मिथ्या लगने लगते हैं। यही रुचियों की धरोहर और विधान है। ये रुचियां परंपराओं में संघटित होती हैं और परंपराएं भी नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों में प्रवाहित हो उठती हैं। इस प्रकार रुचियां एक नैतिक, सामाजिक या राजनीतिक आंदोलन की 'इमेज' भी रंग देती हैं। "कई अवसरों पर नैतिक, सामाजिक या राजनीतिक आंदोलन की लहरों पर कोई साहित्य-कृति प्रवाहित होती हुई दूर-दूर तक व्याप्त हो जाती है और कुछ सीमा तक (उस आंदोलन का) प्रतीक भी हो जाती है।"[1]

इन रुचियों का विकास और पुर्ननिर्माण होता है। समाज की समाजवादी व्यवस्था में मिलों और फैक्ट्रियों के मज़दूरों, मेहनती किसानों, बौद्धिक कामगरों की रुचियों के प्रतिबिंब के रूप में जब कला मंडित होती है तब वह बिलकुल नयी हो जाती है।

(३) मार्क्स ने शैली संबंधी एक सूत्र प्रस्तुत किया है—"निर्धारित अभिव्यंजना का तात्पर्य तो बुरी स्थिति में अच्छा मुख रखना है।"

वे निर्धारित (प्रेस्क्राइब्ड) शैली को व्यंग्य में 'सरकारी रंग' कहते हैं क्योंकि कलाकार की आत्माभिव्यंजना केवल इसी एक शैली में प्रकट होने के लिए मजबूर है। "यद्यपि कदंब की गंध वही नहीं होती, जो केतकी की; लेकिन सरकारी रंग केवल एक की ही अनुमति देता है। यद्यपि आप हंसोड़ हैं, लेकिन सरकारी रंग आपसे गंभीरतापूर्वक लिखवाता है; यद्यपि आप साहसी हैं, लेकिन सरकारी रंग आपकी शैली को विनीत चाहता है। इस अंकुश को मार्क्स 'काली वेशभूषा' कहते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह जीवन की इंद्रधनुषी समृद्धि को ढंक लेता है। उन्होंने लिखा है कि शैलियां ओस-बिंदुओं की तरह होती हैं जो आत्मा के सूर्य से प्रकाशित होकर असंख्य रंगों में झलकती हैं; क्योंकि वह (सूर्य) उन्हें निरंतर असंख्य व्यक्तियों और वस्तुओं में बांटता जाता है। जबकि मनुष्य प्रकृति के असीम. वैभव और उल्लासपूर्ण विविधताओं की प्रशंसा करता है, तब उसे इतना क्यों बांधा जाए।"[2]

मार्क्स शैली को कलाकार का आत्मगत् (स्पिरिचुअल) व्यक्तित्व मानते हैं। वे कलाकार का यह अधिकार मानते हैं कि वह अपनी आत्मा (=चेतना) का मुख सबको दिखा सके। उनके अनुसार केवल एक 'सरकारी' शैली ही नहीं, असीम शैलियां विद्यमान हैं। जिस प्रकार प्रत्येक नन्हा ओस-बिंदु अपनी आत्मा के प्रकाश में असीम रंगों के प्रदर्शन में झिलमिलाता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रतिभा की आत्मा का सत्त्व स्वयं सत्य हुआ करता है और यह सत्य उस आत्मा को उसकी रीति में अभि-

१. लेविन एल० शूकिंग : 'दि सोश्योलॉजी ऑफ लिट्रेरी टेस्ट', अध्याय पांच।

२. देखिए, मा० और एं० : 'लिट्रेचर एंड आर्ट', पृ० ५२, भारतीय संस्करण, १९५२।

व्यंजित करता है। आंतरिक समृद्धि को बाह्य अभिव्यंजना प्रदान करने के लिए ही शैलियां होती हैं, लेकिन अभिव्यंजना कदापि ऐसी नहीं होनी चाहिए कि सत्य ओझल हो जाए। शैली एक आवरण की तरह होती है जो कलाकार की आत्मा के मुख को ढांकती है। लेकिन यह अलंकृत (एंब्राइडर्ड) भी होती है, और अनलंकृत (अन-एंब्राइडर्ड) भी; यह अनिवार्य सत्य को अंकित करती है और द्वितीयक यथार्थ को भी; यह एक सघन वन-कांतार में एक-एक पुष्प-पक्षी-पल्लव को देखते समय वन की सत्ता भूल सकती है, और वन के समष्टि-प्रभाव में सूक्ष्मता का वैभव त्याग सकती है। अतः हम यह शर्त मंजूर कर सकते हैं कि जो शैली कलाकृति की परमावश्यक बुनियाद—सामाजिक अनुभवों की व्यक्तिगत अभिव्यंजना—को स्पष्ट करती है, वह वरेण्य है—चाहे उसमें अलंकृति हो (मार्क्स की शब्दावली में 'रैफेलीकरण'), चाहे अनलंकृति (मार्क्स की परिभाषा में 'रेब्रांकरण')। लेकिन व्यवहार में यही होता है कि अनलंकृत शैली में ज़्यादा सत्य, और अलंकृत शैली में ज़्यादा सौंदर्य संचित हो जाता है; कृत्रिम विस्तारों के अंबार में मौलिक आधार—आत्मा का सत्त्व—ढंक जाता है, या धुंधला हो जाता है। यदि स्वाभाविक विस्तार भी हो, तथा अलंकृत शैली भी हो, तो वह एक **भव्य** शैली होगी। इस प्रकार वह अच्छे पट में बुरा मुख नहीं रखेगी और न ही बुरी स्थिति में अच्छा मुख ! किसी भी शैली में यदि परमावश्यक बुनियाद साफ है तो वह कलाकार की आत्मा का मुख भी दिखाती है और कलाकृति को प्रभावोत्पादक भी बनाती है।

अनंत शैलियां **विचारों** और **ध्वनियों** के पैटर्नों का निर्माण भी करती आ रही हैं, जो संवेगों का उद्दीपन करते हैं। ध्वनि-श्रेणी में ताल (रिद्म), तुक (राइम) और समस्वरता (एजोनेंस) आते हैं; विचार-श्रेणी में मूर्तिविधान (इमेजरी) और भाव (आइडिया)। मूर्तिविधान इंद्रिय बोधों और इंद्रिय गुणकों के अलावा 'नायक की इमेज', या 'समाज की इमेज' तक खींच सकता है। इसी प्रकार भाव विचारों तक फैल सकते हैं।

यदि ध्वनियों और विचारों के पैटर्न आपस में मिला दिये जाते हैं तो हमें 'काव्य' के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं; जैसे, क्लासिकल ओजस्वी काव्य, वैयक्तिक वेणु-गीति, महाकाव्य या भिन्न-भिन्न छंद। ये अंतर्मिश्रित रूप विकसित होकर नाटक तथा उपन्यास का भी विकास करते हैं। अतः मानव के विचारों और ध्वनियों के संवेगात्मक जागरण तथा विकास के साथ-साथ ही काव्य-रूप किन्हीं विशेष सामाजिक चेतना के युगों के अनुकूल उत्पन्न होते हैं। महाकाव्य और नाटक, नाटक और उपन्यास, वीर काव्य और वेणु-गीति, गीत और मुक्तछंद शनैः-शनैः विशेष ऐतिहासिक युग में सामाजिक चेतना और भौतिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार ही विकसित होते हैं। पहले भी हम यह बात स्पष्ट कर चुके हैं। कलाकार अपनी संवेगात्मक तीव्रता और सामाजिक व्यापकता के मुताबिक इन पैटर्नों में से किसी एक या अनेक द्वारा अपनी कृतियों की अभिव्यंजना करता है।

(४) मार्क्सवादी आलोचना के मानदंडों को जब यांत्रिक ढंग से प्रयुक्त

किया जाता है तब वे बिल्कुल ही उलट जाते हैं। यदि इन मानदंडों को ऐतिहासिक **छानबीन** में पथ-प्रदर्शक लीक के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जाकर ऐतिहासिक **तथ्यों** को सिली-सिलाई पोशाक पहनाने के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, तभी विकृतियां आती हैं। अतः ऐतिहासिक तथ्यों को ज्यों-का-त्यों जड़ देने के बजाय ऐतिहासिक खोजों को पहचानना ही सच्चा मानदंड है। इस विकृति को स्पष्ट करने के लिए एंगेल्स के साथ पॉल अर्नेस्ट की दिलचस्प बातचीत हुई। स्कैंडिनेवियन नाटककार इब्सन तथा स्ट्रिंडबर्ग के नाटकों की नारियों पर आधारित एल० मार्गोलम के 'स्कैंडिनेवियन साहित्य में नारी' शीर्षक को लेकर हर्मेन बार तथा पॉल अर्नेस्ट में बहस छिड़ गई। दोनों ही मार्क्सवादी आलोचना को यांत्रिक ढंग से लागू कर रहे थे। अर्नेस्ट साहित्य में विचारधारा के द्वंद्व का पूर्ण निषेध करके औद्योगिक संबंधों के विकसित होने पर नारी-समस्या के खुद-ब-खुद सुलझ जाने पर विश्वास करते थे। बार का कहना था कि यदि स्वयं मार्क्स होते तो वे पहले प्रत्येक नारी की विशेषताओं की तुलना करके सभी नारियों की प्रारूपता (टिपिकलनेस) निर्धारित करते; उसके बाद वे 'परिवेश' की स्थापना करते जिसमें केवल इस प्रारूप (टाइप) की नारी के अलावा किसी अन्य का विकास ही नहीं हो सकता। और अंत में उसके मूल कारणों को अर्थशास्त्र में ढूंढ़ लेते। इस प्रकार वे बूर्ज्वा-नारी, मध्यम वर्गीय नारी, मेहनतकश नारी को खोज लेते जिनके बीच अर्थतंत्र ने ये तीनों प्रारूप विकसित किये। इसके बाद बार कहते हैं कि इन नारियों के अलावा 'तीसरी नारी' भी है—'विशुद्ध स्त्रीजाति'। अतः वे नैसर्गिक वृत्तियों एवं ऐतिहासिक क्रम में घोर यांत्रिक विभेद करना चाहते हैं। अर्नेस्ट ने कहा कि यह तो सारी की सारी नारी-समस्या को मात्र यौन-समस्या में बदल देने की बात हुई। बार आदम और ईव के आदिम युग की चर्चा करते हैं। एंगेल्स ने इन दोनों अतियों और यांत्रिक विवेचनाओं का विरोध करते हुए बताया कि वस्तुतः स्कैंडिनेवियन दुनिया को जर्मन जगत् के अनुरूप मानने से ही यह उल्टापन आया। इब्सन के नाटक उस साधारण बूर्ज्वा तथा मध्य बूर्ज्वा दुनिया को प्रतिबिंबित करते हैं जो राष्ट्रीय विलक्षणताओं और ऐतिहासिक तत्त्वों के कारण जर्मन दुनिया से नितांत भिन्न है।[1] अतः **स्थानीय विलक्षणताओं** पर जब नजर केंद्रित होगी, तभी हम ऐतिहासिक तथ्यों को पोशाक पहनाने के बजाय ऐतिहासिक छानबीन कर सकते हैं। यह कठमुल्ले मार्क्सवादियों को ऐसी पेशकदमी चेतावनी थी जो आज भी उतनी ही सच्ची और खरी है।

बार द्वारा उठाई गई 'स्त्री जाति' ('नारी' के बजाय) की बात का यह स्पष्टीकरण लाज़िमी है।

'स्त्री जाति' की अमूर्त्त धारणा की तरह 'मानव स्वभाव' की बात भी उठाई जाती है। क्या सचमुच 'स्त्री जाति' है? क्या सचमुच 'मानव-स्वभाव' है? हां, है! लेकिन अमूर्त्त नहीं, मूर्त्त स्त्री जाति तथा **मानव-स्वभाव**! वर्गीय समाज में

१. देखिए, एंगेल्स द्वारा प्रेषित 'पॉल अर्नेस्ट को पत्र', जून ५, १८९०।

ये वर्गीय विशेषताओं को ग्रहण करते हैं। सामाजिक वातावरण से कटा हुआ कोई भी स्वभाव या जाति नहीं है। अतः मार्क्सवाद इन अमूर्त्त धारणाओं को अनावृत करके उनकी मूर्त्त विवेचना करता है। इसी प्रकार **प्रेम** की समस्या है। प्रेम भी वस्तुगत अनुभव का परिणाम होता है। कला और साहित्य में मानव-स्वभाव और मानव-प्रेम की बात कुछ अस्पष्ट रहती है क्योंकि वर्गों में बंटी मानव-जाति के बीच मानव-प्रेम कहां होगा? अतः मानव-स्वभाव तथा मानव-प्रेम सापेक्ष होता है; यह अमूर्त्त न होकर मूर्त्त होता है और वर्गीय विलक्षणताओं से संचालित! अतएव आलोचना में इन दोनों भ्रांतियों का निराकरण अनिवार्य है। इन दोनों भ्रांतियों का निराकरण माओ-त्से-तुंग ने किया है। उन्होंने एक अन्य भूल की ओर भी इशारा किया है। यह धारणा, कि कला और साहित्य **हमेशा** उज्ज्वल और श्याम पक्ष का **निष्पक्ष** चित्रण करते हैं, महज़ अस्त-व्यस्त विचारों की उपज है। कला और साहित्य हमेशा निष्पक्ष ढंग से उज्ज्वल और श्याम पक्ष पेश नहीं करते। कुछ लोग श्याम पक्ष कभी नहीं प्रस्तुत कर पाते और कुछ लोग उज्ज्वल पक्ष कभी नहीं अभिव्यक्त कर पाते। पहले प्रकार के कलाकार हमेशा गुलाबी रंगों में सराबोर चित्रण करते हैं, तो दूसरे पूर्णतः अंधकार, निराशावाद और पराजयवाद फैलाते हैं। द्वंद्वात्मक 'समन्वय' के अनुसार जनता और समाज को खतरे में डालने वाले श्याम पक्ष का उद्घाटन तथा उन्हें विकास और कल्याण की ओर उन्मुख करने वाले उज्ज्वल पक्ष का यशोगान होना चाहिए। आलोचकों और लेखकों की यही दृष्टि स्वीकार करने के लिए मार्क्सवादी मानदंड धरातल मुहैया करते हैं।

यह विचित्र बात है कि **व्यावहारिक दृष्टि** से सोवियत तथा चीनी आलोचना में एक प्रौढ़ ढंग से यह 'समन्वय' नहीं हो सका है। इसके कारण अनेक हैं लेकिन प्रमुख यह है कि विज्ञान, नीति, दर्शन, विधि-संहिता, टैकनॉलॉजी इत्यादि तो समाज के साथ बढ़ रही हैं, लेकिन साहित्य समाज से पिछड़-सा गया है। सोवियेत साहित्य में यह संक्रांति बेहद है। इलिया एहरेनबर्ग, शोलोखोव, शागिन्यान, फेडिन, फादेयेव आदि सोवियेत लेखकों ने खुद भी स्पष्टतः इस बात को स्वीकारा है। शिपले ने अपने विश्लेषण में लिखा है: "सोवियेत ज़िंदगी में घटनाओं का उछाह इतना तीव्र-गामी रहा है कि उसकी वजह से साहित्य पिछड़ गया। इसी के फलस्वरूप साहित्यिक आलोचना ने भी जनता की अगुआई का दावा खो दिया है। सोवियेत आलोचकों में से एक की भी तुलना बेलिंस्की, पिज़ारेव, चर्नीशेवस्की, दोब्रुल्युबोव, मिखाईलोवस्की से नहीं हो सकती जिन्होंने केवल रुचियों को ही नहीं, बल्कि १९वीं शताब्दी के रूसियों के सामाजिक एवं राजनीतिक मतों को भी गढ़ा है।"[1] युद्धोत्तर सोवियेत संघ में जीवन बहुत तेज़ी से बढ़ रहा है और लोगों की आत्मा बेहद समृद्धि-शाली होती जा रही है। गांवों में पितृसत्ताक सत्ता की जड़ें उखड़ चुकी हैं; उद्योगों के क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण और टैक्नॉलॉजी की कल्पनातीत उन्नति हुई है; कृषि-व्यवस्था

१. जोसेफ टी० शिपले: 'डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स', पृ० ३८१।

सामूहिक हो चुकी है और साइबेरिया की क्वांरी धरती में नया संसार बसाया जा रहा है; विज्ञान ने अंतरद्वीपीय राकेटों, स्पुतनिकों और चंद्रबाणों तक विकास कर लिया है। **सचमुच, यहां इस ज़िंदगी से साहित्य पिछड़ गया है** और यही 'सांस्कृतिक पिछड़ाव' (ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिभाषा में) आलोचना का भी स्तर गिरा रहा है। परिवार में, फैक्टरी में, सामूहिक फार्मों में, सरकारी दफ्तरों में गहरे द्वंद्व-विरोध के चित्रण के बजाय संशोधनवादी सोवियेत साहित्य और आलोचना केवल उज्ज्वल पक्ष का गुलाबी रंग से सराबोर चित्रण करने में खो गई है। सन् १९५४ में हुई सोवियेत लेखकों की दूसरी कांग्रेस में इसी भ्रांति पर बहुत ज़ोर दिया गया। शोलोखोव ने तो पहली कांग्रेस के काल (१९३४ ई०) से लेकर (जब गोर्की ने 'समाजवादी यथार्थवाद' की प्रतिष्ठा की थी) अब तक (१९५४ ई०) के समय को 'विपत्ति' की संज्ञा दी जिसमें केवल 'फीकेपन का प्लावन रहा और लेखन में सरकारी रंग की वजह से मूढ़ता आई।' लेखकों ने निश्चयात्मक नायकों की सृष्टि की और अनिवार्य के बजाय द्वितीयक पर जोर दे गये। अतः उद्योगों का वर्णन करने के जोश में वे श्रम और मशीनों पर अच्छे संदर्भ-ग्रंथ लिख गये, लेकिन पुरुषों और नारियों को मशीनों द्वारा वामन भी बना गये। ऐसे नायक जनता के दिल-दिमाग में घर नहीं कर सके।...इन निश्चयात्मक नायकों को उन्होंने लघु मानव के स्तर से उठाकर प्रारूप (टिपिकल) बनाने के बजाय 'नेपोलियनवादी' बना दिया। ये झंझावात की तरह आकर प्रत्येक को आगे बढ़ने के लिए झिझकोर जाते हैं। न तो इनके सम्मुख वास्तविक कठिनाइयां आती हैं, और न ही पराजयें। इसके पीछे सिद्धांतों को सिली-सिलाई पोशाक पहनाने वाली कहावत थी। ये लेखक विश्वास करते थे कि सोवियेतों के समाजवादी समाज में मौलिक द्वंद्व होते ही नहीं। कांग्रेस में इस नज़रिये को 'यथार्थ का विहंगावलोकन' (बर्ड्स आई-व्यू ऑफ रियेलिटी) कहा गया।

दूसरा दृष्टिकोण 'यथार्थ का देवावलोकन' (गॉड्स आई-व्यू ऑफ रियेलिटी) विकसित हुआ। यहां लेखक जीवन से असंपृक्त होकर पुष्पक विमानों में विचरण करने वाले देवों की तरह मानवों को क्षमा, प्रेम, करुणा की दृष्टि से देखता है और भ्रांत लक्ष्य बना लेता है—"**सभी** को समझना और **सभी** को क्षमा कर देना।" इस दृष्टिकोण को इलिया एहरेनबर्ग के 'थॉ' नामक उपन्यास में पाया गया। मार्क्सवादी मानदंडों से यह भी गलत है।

अतः यथार्थ के विहंगावलोक या यथार्थ के देवावलोकन के बजाय 'यथार्थ के सिंहावलोकन' की आवश्यकता है। कलाकृतियों में और साहित्य-पुस्तकों की कथा-वस्तु में द्वंद्व हों, श्याम पक्ष हो, उज्ज्वल पक्ष हो, गुलाबी रंगों से लबरेज़ चित्र ही न हों; घने वन-कांतार हों, घनापन हो, सिंह हों, जोखिम हों। ऐसे ही जीवन का चित्रण अपेक्षित है; ऐसे ही वस्तुगत यथार्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए। एहरेन-बर्ग ने युद्धोत्तर सोवियेत जीवन के बारे में कहा है कि जीवन अत्यंत गतिमान और वैभवपूर्ण हो गया है। 'आज पाठक उन पुस्तकों से अधिक रोचक हैं जो उन्हें प्रदान की जाती हैं।' सोवियेत लेखकों की तीसरी कांग्रेस मई, १९५९ में हुई। इस बीच में

कई बुनियादी तब्दीलियां हुई हैं; जैसे, स्तालिन की व्यक्ति-पूजा का परित्याग; सोवियेत जीवन में संशोधनवाद; समाजवादी खेमे की उन्नति; स्पुतनिकों और मिग-हवाई जहाज़ों और अंतरद्वीपीय राकेटों का अनुसंधान; चीन के खिलाफ सैद्धांतिक युद्ध, दुदित्सोव के 'नॉट बाई दि ब्रेड अलोन' तथा बोरिस पास्तर्नाक के 'डॉ० ज़िवागो' का प्रकाशन; चीन में 'सौ फूलों को फूलने देने' वाले सिद्धांत की लघुकालिक स्वीकृति; सोल्ज़नित्सिन का प्रसंग और पुन: 'शुद्धीकरण-आंदोलन' का प्रवाह आदि। दुदित्सोव के उपन्यास में पहली बार द्वंद्वात्मक ढंग से एक ओर तो रूसी जनता व रूसी व्यवस्था के प्रति प्रेम (उज्ज्वल पक्ष) है, और दूसरी ओर सोल्ज़नित्सन में रूसी नौकरशाही के दोषों (श्याम पक्ष) का उद्घाटन है। तीसरी कांग्रेस में इस कृति की पुनर्प्रतिष्ठा हुई है। 'डॉ० ज़िवागो' में तो सिर के बल खड़े होकर यथार्थ को उल्टा (एंगेल्स की परिभाषा में) देखा गया है। एक ओर तो इसमें लेखक की विकृत मनोस्थिति से यथार्थ देखा गया है, दूसरी ओर समाज का पक्षपातपूर्ण जन-विरोधी चित्रण किया गया है और तीसरी ओर पात्रों द्वारा पराजय, घृणा आदि का प्रचार किया गया है। फिल-हाल सोवियेत आलोचना में इतना असंतुलन और इतनी अप्रौढ़ता है कि जब कोई लेखक आता है तो मानो वह मुज़रिम बन जाता है जिसका इस्तगासा दायर है। किसी भी ताज़ी, मौलिक और वज़नदार कृति के आने पर वे समवेत चिल्ला उठते हैं—"यह टिपिकल नहीं है", "हमारे जैसे समाज में इस प्रकार की चीज़ें लिखने की आवश्यकता ही नहीं है।" दूसरी कांग्रेस में इस प्रकार के कई उदाहरण दिये गये।

चीनी जन-गणतंत्र में सन् १९४२ की येनान-फोरम वार्ता—जिसमें जन-साहित्य की रचना की हिदायतें दी गई थीं—के बाद पुन: २ मई १९५६ को सर्वोच्च राज्य सम्मेलन के अवसर पर एक सिद्धांत की स्थापना की गई—"कई प्रकार के सैकड़ों फूलों को आपस में फूलने दो और प्राचीन की सिवार को छांटकर नूतन का अभ्युदय होने दो।" कलाकारों और साहित्य के लिए कई प्रकार के फूल तथा वैज्ञा-निकों के लिए कई प्रकार के विचारों के स्कूल मिले। यह स्वतंत्रता केवल जन-साहित्य एवं जन-कलाकारों को ही मिली; न कि प्रतिक्रियावादियों और पुराण-पंथियों को। पुन: ३० अप्रैल, १९५७ में 'भूल-सुधारक आंदोलन' चलाने की ज़रूरत पड़ी। इसकी रूपरेखा तैयार करते समय यह मार्क्सवादी सिद्धांत सामने रखा गया था कि वर्गीय समाज में कला, साहित्य एवं विज्ञान वर्ग-संघर्ष के अस्त्र की तरह होते हैं। अत: जनता के लिए स्वतंत्रता और जन-शत्रुओं के लिए अधिनायकत्व प्रदान करके ही यह सिद्धांत सफल हो सकता है। इस सिद्धांत ने 'जनता' की परिभाषा व्यापक बनाकर उसमें सर्वहारा, हलवाहा, बंदूकधारी और 'जनवादी' बुद्धिजीवी भी शामिल किया। इस प्रकार **जनवाद** की प्रतिष्ठा हुई।...इसी बीच में संशोधनवादी विचारों ने साहित्य में प्रभाव डाला जिसके विरुद्ध पुन: आंदोलन चलाया गया। ये संशोधनवादी मूलत: समाजवादी व्यवस्था के श्याम पक्ष के चित्रण को ही श्रेय मानने लगे, सत्य के चित्रण के नाम पर वर्ग-संघर्ष का निषेध करने लगे और बूर्ज़्वा विचार-धारा के उदारतावादी रहनुमा होने लगे। संशोधनवाद के प्रतिनिधि तीन लेखक बनाये

गये—चेन-ची-शिया, फेंग-सूह-फेंग और प्रसिद्ध लेखिका टिंग-लिंग। यह हालत बहुत कुछ लाल अक्तूबर क्रांति के समय से १६३० तक के सोवियेत समाज जैसी ही है जब प्लेखानोव और कालांतर में उनके अनुयायी वोरोंस्की, गोर्बोव, कल्वोव-रोगाचेव्सकी, गोर्बाचेव, पेरिवर्ज़ेव आदि भी अपने समाजशास्त्रीय तथा सौंदर्यात्मक निर्णयों को एकतान नहीं कर पाये थे। इनके विरोध में 'प्रोलिकल्ट'-वादी (सर्वहारा संस्कृतिवादी), जिनमें बोग्डानोव, मेलिनोव्सकी, लेबेडेव, पोलियांस्की, लुनाचर्स्की, कालिनिन आदि प्रमुख थे, एकमात्र सर्वहारा साहित्य की मांग कर रहे थे जो 'बूर्ज़्वा विरासत को भी तर्कपूर्वक ग्रहण कर सके। अब तक तो इसका कठमुल्लापन भी उद्घाटित हो चुका है।

सारांश यह है कि सोवियेत आलोचना में अभी भी संतुलन, प्रौढ़ता और अभिव्यंजना-उदारता का अपेक्षाकृत अभाव है। अभी भी उसमें भावावेश और कट्टरता विद्यमान है; अभी भी पगे-पगे मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन आदि के शब्दों द्वारा ही बात खड़ी की जाती है; अभी भी सोवियेत जगत् के बाहर के प्रगतिवादी कला-समीक्षकों की कृतियों का हवाला तक नहीं दिया जाता है; अभी भी कांग्रेस में लेखक-संघ के मंत्री के बजाय पार्टी-मंत्री के भाषणों को आधार माना जाता है। सोवियेत-चीनी-समाज शिरोबिंदुओं की ओर बढ़ रहे हैं। ऐसी हालत में हम कुछ अधिक की अपेक्षा करते हैं।

५

पुरातन मिथकें बनाम आधुनिक भाषा : एक अनवरत पुनश्चर्या

अभी, बिल्कुल अभी, हम पहले अध्याय में गोत्रों के प्रसंग उठा चुके हैं, पशुमंडल और देवमंडल के रिश्ते को ढूंढ़ चुके हैं, और आर्यों तथा ग्रीकों की आर्केटाइपल संरचनाओं को भी पहचान चुके हैं। इसी उपक्रम में (तीसरे अध्याय में) मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा के उत्तराधिकारियों के मिट्टी के बर्तनों पर संकेतचित्रों तथा पशु-ठप्पों, नदी-देवियों के अभिप्रायों तथा काव्य-रमणी के शोभारूपक की पवित्रादिम धारणाओं की चर्चा भी हम कर चुके हैं।

भाषापूर्व तथा इतिहासपूर्व, तर्कपूर्व तथा विज्ञानपूर्व संपूर्ण मानवता का जो बचपन था, उसमें कभी-न-कभी **भाषा** तथा **मिथक** का कहीं-न-कहीं कोई धुंधला-सा, भ्रांतिपूर्ण, अनुभूतिगर्भित, अनुष्ठानमंडित एक ही उद्‌गम रहा होगा। मानव-जाति का वह स्वप्न तथा सामूहिक अनुभव कर्मकांडों/प्रतीकों/अंगमुद्राओं में अनूदित होकर मिथक तथा भाषा बना होगा। मिथक सामूहिक पुनर्प्रस्तुति के रूप में अभिव्यक्त हुई होगी। ऐतिहासिक चेतना में मिथक प्रतीक बनी किंतु भाषिक अर्थविज्ञान में मिथकीय शब्द जादू हो गये। इसीलिए सूर्योदय की एक ही दैनिक संघटना का मिथकथन एक वैदिक ऋषि या आदिम संथाल भी प्रस्तुत कर सकता है, वैज्ञानिक जयंत नार्लिकर भी इसकी व्याख्या कर सकते हैं तथा गद्यकवि हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इसका फांतासी-जाल बुन सकते हैं। अस्तु।

मिथकों की यथार्थता क्या है ? इनके रूपांतरण में भाषा का योगदान कैसा है ?

(१) महाकाल के मिथक-काल से इतिहास और आधुनिक युग तक

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर फ्रीडरिख मैक्समुलर (१८२३-१९००) तथा नव्य कांटवादी जमीन पर अर्नस्ट कैसीरर (१८७४-१९४७) तथा

तुलनात्मक धर्मों की भूमिका पर मर्सिया ऐलियाड (१९०७—) ने मिथक पर, मिथक और भाषा पर, तथा बिंब और मिथक पर जो अनुशीलन किये हैं वे आजकल भी हमारे लिए साभिप्राय परिप्रेक्ष्य बने हुए हैं। तथापि मिथकशास्त्र (माइथोलॉजी) और मिथकालेखनशास्त्र (माइथोग्राफी) तथा मिथक-निर्मिति (मिथ-मेकिंग) के आयाम बहुत दूर तक टेलिकास्ट हो चुके हैं।

अर्नस्ट कैसीरर ने मिथकपुंज को **प्रतीकात्मक रूपों** (सिंबालिक फार्म्स) के संसार का ही एक उपरूप माना जिसमें उन्होंने, धर्म, जादू, विज्ञान, कला, इतिहास को, और बाद में राज्यप्रकृति के रूपों को भी शामिल कर लिया। इस तरह उन्होंने केवल पुनीत कथाओं एवं देवकथाओं को ही नहीं, बल्कि पूज्य चिह्नों (टोटेम) के अभ्यासों में भी मिथक की सत्ता संप्राप्त की। मिथक केवल **धर्मविश्वास** (बिलीफ) ही नहीं, बल्कि हठात् विश्वास की तरह छद्म या **छलना** (मेक-बिलीफ) भी है। यह दुर्ग्राह्य विज्ञान भी है अर्थात् छद्म विज्ञान भी है। 'मिथक-संसार एक नाटकीय संसार है जो कार्यों, शक्तियों, परस्पर संघर्षी पक्षों आदि से बना है। मिथकीय प्रत्यक्षीकरण हमेशा इन संवेगात्मक खूबियों से गर्भित होता है।...विज्ञान की नई रोशनी में मिथकीय प्रत्यक्षीकरण को विलीन हो जाना पड़ता है।'[1] मिथकीय चिंतन भी **तर्क-पूर्व** चिंतन (प्रि-लॉजिकल) है; अर्थात् कार्यकारण क्रम में न तो यह तर्कात्मक है और न ही आनुभविक; प्रत्युत यह रहस्यात्मक कारणों से उन्मिषित है। अतः इसके क्रोड़ में चिंतन के बजाय **अनुभूति** का स्पंदन है। मिथक के शब्दों (संकेतों या चिह्नों) का प्रकार्य अर्थीय न होकर जादुई (चमत्कारिक) होता है जिससे मिथकीय भाषा भाषा-संसार के बाहर की भाषा है। यह एक रूपात्मक (मेटा-फारिकल) भाषा है जिसमें अप्रत्यक्ष विवरण होते हैं और यह भाषा भ्रांतियां (एंबीग्विटी) व्युत्पन्न करती है। अतः मिथक में बिंब (संकेतक) ही स्वयं वस्तु (संकेतित) है; न कि (वस्तु की) पुनर्प्रस्तुति। फलतः मिथकीय चेतना में हरएक वस्तु की प्रतीति **त्वं** के रूप में होती है। मिथकीय चेतना में संपूर्ण यथार्थता का प्रक्षेपण इस तरह होता है कि वह पवित्र (पुनीत) एवं सांसारिक (अपवित्र : प्रोफेन) का मूलभूत विरोध बन जाती है। विश्वास-केंद्रित होने के कारण मिथक का खंडन नहीं हो सकता।

ऐलियाड ने आद्यचिंतन (आर्केइक थिंकिंग) में प्रतीकान्वयन की महत्ता के आधार पर मिथकों का निरूपण किया। उनके अनुसार चिति (साइके) की यथार्थता से प्रतीक कभी भी गुमशुदा नहीं होता। इसीलिए आद्य प्रतीकवाद में आद्य रूपों (आर्केटाइप्स) का अनुसंधान आधुनिक मनुष्य की चिति में भी होता है। इसलिए अतीत की मिथकीय चेतना कभी भी नहीं गुज़र सकती। यह हमेशा **यहां** (देश) है तथा **अभी** (काल) है। मिथक में अतीत ही **शाश्वत वर्तमान** है। अतः केवल मिथक का आद्य संसार ही **यथार्थ** है, **पवित्र** है, तथा **सत्य** (भी) है। (इस न्याय से **मिथकीय काल** एकैक काल है; 'शाश्वत काल' है; अविभाज्य काल है; तथा अनैतिहासिक

१. 'एन एस्से आन मैन', अर्नस्ट कैसीरर (येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन, १९५६), पृ० ७६।

काल है)। अतः यह **पूर्वेतिहास** (प्रि-हिस्टरी) है। यह मिथकीय काल ही **महाकाल** है। काल के इतिहासबोध में मिथकें घुलकर इतिहास तथा धर्मदर्शन के प्रतीकात्मक रूपों में ढलकर अंतर्विरोधों (कांट्रेडिक्शंस) तथा विरोधाभासों (पैराडाक्सेज़) के चमत्कारपूर्ण उन्मीलन के बजाय नैतिक औचित्यीकरण (जस्टीफिकेशन) और ऐतिहासिक व्याख्याएं (इंटरप्रिटेशन) करने लगती हैं।

अब हम प्राथमिक ढंग से यह कह सकते हैं कि मिथक वाक् का एक आद्य/पुरातन रूप है जो बाद में समझ में नहीं आई। इस वाक् (भाष्) का अर्थ रूपक, अन्यापदेश (एलिगरी), नीतिकथा (पैरेबल्स), कर्मकांड (रिचुअल), आद्यबिंब (रूप) के धुंधले चिह्नों या संकेतों की **अधिभाषा** (मेटा लैंग्वेज) तथा **आदि भाषा** (प्रोटो-लैंग्वेज) तथा **रूपकात्मक भाषा** (मेटा-फारिकल लैंग्वेज) के मिथिधुंध में झिलमिलाता, कंपकंपाता रहता है। अतः इसका उद्गम (भाषा की) अर्थभ्रांति में ढूंढ़ा जाता रहा है, ['वह तेजस पुरुष उषा-रमणी का अरुणोन्मत्त होकर पीछा कर रहा है'=सूर्य उषा के बाद उगता है]। अतः मिथक का अर्थ गोपित, ग्रंथित, कूटस्थ, अवगुंठित होता है। इसके विश्लेषण की कई आधुनिक विधियां विकसित हुई हैं।

मसलन, 'मिथक की संरचनावादी (स्ट्रक्चरलिस्ट) परिकल्पना के कई प्रतिपादकों (लेवी-स्ट्रास, सिबैग, आल्यूज़र) ने इसे मार्क्सवाद के प्रसारण की तरह पेश किया है; तथापि इससे सभी इत्तफाक करेंगे कि विश्लेषण की एक पद्धति के रूप में इसे सर्वाधिक अनुप्राणित करने वालों में फर्डिनांड द सौस्यूर तथा भाषिकी का प्राग-स्कूल हैं।'[१] इसलिए हम पहले लेवी-स्ट्रास (१९०८—) और रोलां बार्थ (१९१५—) के विचारों को लेना चाहेंगे।

क्लाड लेवी-स्ट्रास अपने गुरु ब्रोनिसेलाव मेलिनोव्सकी (१८८४-१९४२) के प्रकार्यवाद से एक लंबी छलांग मारकर संरचनावाद में आकर जम गये। किंतु उन्होंने मिथक बनाम इतिहास के सवालों से किनाराकशी की। उन्होंने आदिम, कबीलाई, बर्बर जैसे निःऐतिहासिक समाजों को लेकर उनमें **रक्त-संबंधों** (गोत्रव्यभिचार, टैबू, असगोत्र विवाह आदि) को लिया, आदिम साम्यवादी व्यवस्था वाले, एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली वाले समाजों के **उत्पादन-संबंधों** की उपेक्षा की। वे मिथक और कर्मकांड के क्रमशः संकेत और संदेश की छानबीन करते रहे; ऐतिहासिक परिवर्तन तथा कर्मशील संघर्ष की उपेक्षा करते गये। वे पूर्वेतिहास की उस यथार्थता की धुरी से जुड़े जो 'किमाकार' (ग्रोटस्क) है, 'अन्यथाकृत' (डिस्टारटेड) है तथा 'फांतासी-क्रीड़ित' भी है। उनके **प्राकृतिक संसार** में मनुष्य देवताओं-दानवों-पशुओं से साझेदारी किये है। वे उस **सामाजिक संसार** को जानबूझकर नजरंदाज कर रहे हैं जिसे मनुष्य स्वयं बनाते हैं तथा अपने समूह के साथ साझेदारी करते हैं। वह संसार प्रकृति की विजय तथा संघर्ष की उपज है जो निरंतर तथा शाश्वत है। उसमें अभी तक मनुष्य विरक्त नहीं हुआ है, बल्कि वह **अवमिथकीयकरण** करते-करते

१. 'पोलिटिकल मिथ', हेनरी ट्यूडर (पाल माल, लंदन, १९७२), पृ० ४८।

अवमानवीकरण के घेरे में **आत्मनिर्वासित** होता गया है । **पुनर्जागरण** (रि-नासां), **पुनरुत्थान** (रि-जेनरेशन), **क्रांति** (रि-वोल्यूशन) भी उसके मिथकों को चमत्कृत करने वाले करिश्मे हैं । अतः हमें **प्रकृति** की ऐतिहासिक धारणा तथा **इतिहास** की भौतिकवादी धारणा को एकतान करना होगा ताकि हम यह पहचान सकें कि 'आदिम प्रकृति' के बजाय 'ऐतिहासिक प्रकृति' की उपज के रूप में ही मनुष्य की मिथकीय चेतना तथा वैज्ञानिक चिंतन का सामंजस्य है । मिथकें लिखी तो गई हैं इतिहास-खंड में ही । अतः वे इतिहास से अतिक्रांत नहीं हो सकतीं । वे दैवी के बजाय धार्मिक हुई अर्थात् **जादू** और पुरोहित की **प्रार्थना** के बजाय शुभकर्म और प्रतीकात्मक रूप से खुलीं । अब वे समकालीन अर्थात् ऐतिहासिक एवं राजनीतिक हैं ।[1] व्यावहारिकतावादी (प्रैग्मेटिक) समाजशास्त्री जैसे ज्यार्जिस सोरेल (१८४७-१९२२) और पारेटो (१८४३-१९२३) सामाजिक प्रतिकर्म के लिए **सामाजिक मिथकों** को अपरिहार्य मानते हैं—भले ही उनमें सत्य का मूल्य जैसा भी हो । ज़रूरी यह बात है कि मिथक पर विश्वास किया जाना चाहिए और महत् कार्यों के लिए उसे प्रेरणा देनी चाहिए । इस तरह मिथक कई क्षेत्रों में परिव्याप्त होती रही है । "कई तरह के ज्ञानानुशासनों के विशेषज्ञ मानते हैं कि मिथकें उनके अध्ययन-क्षेत्र में आती हैं । कुछ ने मिथकों को तुलनात्मक भाषिकी के एक उपखंड के रूप में अपनाया है; कुछ ने धार्मिक अनुभूतियों के रूप में देखा है; फ्रायड और जुंग ने मिथक का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विकसित किया; कैसीरर ने मिथकों के लिए एक प्रमुख प्रतीकात्मक रूप की हैसियत का दावा किया; मेलिनोव्सकी से लेकर लेवी-स्ट्रास जैसे सामाजिक नृतत्त्वशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के निरूपण तथा परीक्षण के लिए मिथकों का इस्तेमाल किया ।···राजनीतिक मिथक प्रकृत्या उन्नतिशील समाजों के लक्षण हैं । कोह्न तथा हाब्सबाम ने (दूसरों की तरह) कृषक-विद्रोहों में युगांतवादी मिथकों की भूमिका को परखा ।"[2]

इसलिए अगर समाज-संचारण एवं संप्रेषण की, सामाजिक-आर्थिक संघटनों की एक व्यवस्था है तो मात्र 'प्रकृति', और निजी संपत्ति भी, इसमें बाधा होगी । रोमन जेकोब्सन ने भी माना है कि 'भाषा में कोई भी निजी संपत्ति नहीं है । हर चीज़ का समाजीकरण हो गया है ।' इसलिए मिथक के इतिहास-विरोधी और विज्ञान-विरोधी मिथकों को हम अस्वीकार करते हैं । यह आदमी की समझ को ऐतिहासिक चेतना से भी मंडित करती है । असली सवाल हमारे राज्य के चरित्र का तथा मिथक-प्रयोक्ता के प्रयोजन का है । मिथकों का प्रयोग प्रोमेथिन ढंग (मार्क्स-

१. "एक नृतत्त्वशास्त्री की आम धारणा है 'मिथक एक पुनीत कथा है ।' अगर हम इस परिभाषा को मान लें तो मिथक का विशेष गुण यह नहीं होगा कि वह झूठी है बल्कि वह उनके लिए दैवी दृष्टि से सत्य होगी जो आस्थावान (विश्वासी) हैं ।'—एडमंड लीच ('लेवी-स्ट्रास', फोंटाना, लंदन १९७०), पृ० ५४ ।

२. हेनरी ट्यूडर, वही, पृ० १४ ।

वाद) का भी है तथा सिसिफ़स-ढंग (अस्तित्ववाद) का भी। यह समकालीन प्रश्नों से जूझने, उन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने, समझ को दूरगामी तथा ऐतिहासिक बनाने, हमारी जातीय तथा वर्गीय चेतना को अग्रसर करने के लिए होता है / हो सकता है। जैसे, मशीन टैकनॉलॉजी खुद में इतनी अच्छी-बुरी नहीं है। सवाल उनसे बने सामाजिक संबंधों का है। मिथक धार्मिक संस्कारों से काटी जाकर ही वास्तविक हो पाती है। अतः यह ज़्यादा देर तक इतिहास की भीषणता और भयंकरता से डरे हुए लोगों का तिलिस्म नहीं बन सकती। मिथक काल के किसी बंधे हुए, ग्रंथिल (नोडल) **क्षण** का विस्तार है जो परंपरा तथा इतिहास-रूप बनता है। पशु-कथाएं (फेबल्स) और परी-कथाएं मानवता के बचपन की अनुभूतियां संजोये हैं। लोक-कथाएं इतिहास की पूर्वपीठिका हैं। निजंधर (लीजेंड) में मिथक और इतिहास की गोधूलि है। इतिहास आगे बढ़ता हुआ समाजशास्त्र और राजनीति (विचारधारा तथा यूतोपिया) में भी रूपांतरित होता है। अतः हम भी आदिम और बर्बर मनुष्य से विकसित होते हुए ऐतिहासिक और आधुनिक मनुष्य बने हैं। हमने भी ज्ञान के औज़ारों को अधिक सूक्ष्म, तीव्र और श्रेष्ठ बनाया है। मुद्रा-संकेत (जेसचर) से शब्द-संकेत (साइन), आर्केटाइप से रूपक, रूपकत्व (मेटा-फॉरिज़्म) से कायाकल्प (मेटा-मार्फोसिस), आदि हमारे संचार तथा संप्रेषण के साधन हुए हैं। अतः यदि हम व्यक्ति (मैं) से जाति या वर्ग हो जाएं तो हम सामूहिक अवचेतन तथा पुनर्प्रस्तुति के शक्तिस्रोतों से जुड़ते हैं। यह रूपांतरण मिथक सर्वाधिक तथा सर्वव्यापी कर सकती है। फिर सवाल है : कौन से मिथक रचें और चुनें ?

मिथक और स्वप्न (प्रतीक), तथा मिथक और कर्मकांड (रिचुअल)—ये दो संबंध बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

'मिथक मानवजाति का सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव है; और स्वप्न एक व्यक्ति की सुप्त आकांक्षा है। मिथक प्रागैतिहासिक घटना या आस्था है, जबकि स्वप्न एक प्रतीकात्मक इच्छाभिव्यक्ति। प्रतीक दोनों में विद्यमान है, पृथक्-पृथक् ढंग से।'[१] तथापि मिथक के तीन आयाम और हैं—(१) अनुकरणीय या निदर्शनात्मक (एक्ज़ेंपलरी); (२) वैश्वक (यूनिवर्सल); और (३) देशकाल का तिरोभाव। वैश्वक आयाम एक **संपूर्ण मनुष्य** भोगता है (आत्मनिर्वासित, वर्गविभाजित या अवमानवीकृत व्यक्ति नहीं)। इसी तरह देशकाल का तिरोधान **यथार्थता की संरचना** का और प्रकारांतर से 'संसार (समाज के बजाय ?) की यथार्थता' का उद्घाटन करता है। मिथकीय काल प्रत्यावर्तनपरक है अर्थात् कर्मकांडों और कूटों द्वारा इन उद्गमों तक पहुंचा जा सकता है जब संसार शिशु था, नया था, आरंभिक था; किंवा परिपूर्ण (?) भी था। (शायद इसीलिए ऐलियाड कहते हैं कि हरएक मिथक में कालातीत सत्यों के अतिक्रांत अंचलों की रहस्यमयता वर्तमान है।) स्वप्न में अनुकरणीय तथा वैश्वक आयाम नहीं होते; उसमें अवचेतन तथा वैयक्तिक आयाम होते

१. 'मिथक और स्वप्न' (ग्रंथम, कानपुर, १९६७), पृ० २०६।

हैं। उसका वैयक्तिक आयाम अकेला और केवल व्यक्ति भोगता है। उसके तीसरे आयाम में देशकाल-अक्ष का संशोधन होता है अर्थात् **अवचेतन की संरचना** का प्रतीकीकरण होता है। यहां—'संसार में मनुष्य की उपस्थिति' का उद्घाटन होता है। लेवी-स्ट्रास और डुमेज़िल बनाम सिग्मंड फ्रायड (१८५६-१९३९) और कार्ल अब्राहम (१८७७-१९२५) का ऐसा सन्निधान भी है। इसी लड़ी में जेन हैरिस ने मिथक के उद्‌गम को मानवीय संस्कृति के उस युग का सहचारी बनाया है जब डायोनीसियाक चेतनता तथा मातृसत्ताक अधिकारों के कानून प्रचलित थे ('थेमिस', १९१२)।

हम कह ही चुके हैं कि मिथक तथा स्वप्न में प्रतीक पृथक्-पृथक् प्रकार्य करते हैं। **स्वप्न** एक व्यक्ति की सुप्त आकांक्षित वासना है जबकि **मिथक** प्रागैतिहासिक घटना/तथ्य/विश्वास है। तथापि स्वप्न में वह इच्छाभिव्यक्ति प्रतीकों में होती जबकि मिथकों में उसका प्रतीकात्मक रूपांतरण होता है। मिथकों तथा रूपकों में परिवर्तन नहीं होता, बल्कि रूपांतरण होता है। बहुधा 'अंश' का ही 'संपूर्ण' के साथ तादात्म्यीकरण हो जाता है। इसका उदाहरण वैदिक ऋचा है। पकी हुई सुनहली सोम-शाखा को जब दुहिताएं सिल पर पीसती थीं तो उनकी दसों अंगुलियां लाल हो जाती थीं। अतः गाया गया कि स्वर्णगात सोम देवता शिला पर लेटा हुआ है और उसके युवा शरीर का संवाहन दस लजीली सुकुमार रमणियां कर रही हैं [एक युवती की दस हस्तांगुलियां (अंश) ही दस लजीली तरुणियों (संपूर्ण) में रूपांतरित हो गईं (परिवर्तित नहीं)]। मिथकों की प्रतीकात्मक प्रक्रिया वैश्वक है। तथापि मिथक की यथार्थता प्राकृतिक की अपेक्षा ऐतिहासिक ही है। यहां भी मिथक का मॉडल **प्रकृति** के मुकाबले में **समाज** है; किंवा 'स्वयं प्रकृति ही एक महान् समाज बन गयी है, जीवन का समाज बन गयी है। मनुष्य इसका एक सदस्य है लेकिन किसी तौर पर वह किसी अन्य सदस्य से बड़ा, ऊंचा या श्रेष्ठतर नहीं है।'[1] आगे हम **रूपांतरण के नियमों** को तफसील से लागू करेंगे।

मिथकों के प्रतीकों का एक विशिष्ट तथा संकेतपूर्ण नाम है—**आद्य रूप** (आर्केटाइप)। वस्तुतः जुंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और बार्थ के संकेतविज्ञान के संयोजन से ही यह 'धारणा' पूर्णतः स्पष्ट होती है। आर्केटाइप मिथकीय जीन (genes) हैं (चरित्र, आकृतियां, प्रतीक, स्थितियां, थीमाज़, इत्यादि) जो शत-सहस्र वर्षों तक अटल रहते हैं।[2] इसीलिए मिथक के **कूट** (code) में मानवीय कल्पना की सीमातिक्रांत शक्ति वाले रूप उर्फ **फांतासी** आप्लावित होती हैं; वे मनोवैज्ञानिक सत्य या पूर्वेतिहास के तथ्य की एक न एक डिबाणु प्रतीक-वीर्य के लिए छिपाये होती हैं। अतः 'मिथक एक रहस्यपूर्ण भाषा है जिसमें संदेश हमसे ही निःसृत होकर हममें ही ग्रहीत होता है ताकि हम अंतर्घटना का उपचार एक बहिर्घटना के तौर पर कर

१. 'एन एससे आन मैन', पृ० ७९, ८३।

२. देखिए 'मिथ एंड मिथमेकिंग' ('डीडेलस', स्प्रिंग १९५९ अंक, कोनेक्टीकट), हेनरी ए० मरे का लेख, पृ० २१५।

सकें' (फ्रायड)। इस कसौटी पर कलाकार भी न्यूरोटिक से ज़्यादा मिथक-निर्माता उतरता है। वह प्रादिम सत्यों का उच्चार करता है जो सामूहिक अवचेतन की शत-सहस्र जिह्वाओं वाली वाणी है [जोसिफ़ कैंपबेल (१९०४—)]। उसका मिथकथ्य (मिथकीय वाक्यविधान) मानो फैंटेसी का ताना-बाना बुनने के जैसा है, आद्यरूपों, रूपकों, अन्यापदेशों, प्रतीकों, संकेतों के डोरों से (शब्द नहीं)। इसमें मिथकेंद्र के महावाक्य के दक्षिण-वाम प्रशाखन-जैसे भी फैलते हैं: आंतरिक संरचना को बाह्य संरचना से जोड़ते हुए (चौम्स्की)। इनकी 'अर्थीय व्यवस्था' अधिभाषा में आधायित है।

मिथक और **कर्मकांड** (रिचुअल) के संबंधों पर क्लाइड क्लुकोह्न (१९०५—) तथा जेन हैरिसन की स्थापनाएं स्वीकार्य हैं। मिथक को हम **रूप-प्रतीक** (अथवा संकुचित तात्पर्य में शब्द-प्रतीक) कह सकते हैं; कर्मकांड को **कर्म-प्रतीक**। (कर्मकांड संपन्न किये गये अनुष्ठानों (rites) की वाचिक सहसंबद्धता के रूप हैं)। दोनों एक ही टाइप की परिस्थितियों से मुतासिर हैं। इनकी प्रभावक प्रणाली भी एक ही टाइप की है। इस ग्रंथि को खोलते हुए फ्रायड ने कहा है कि आदिम मानव 'कर्मकांडों' तथा 'वर्जनाओं' (टैबू) की वर्त्तना सचेतन तौर पर करता था, जबकि सभ्यतापूर्ण मानव उन्हें अवचेतन (दमित) तौर पर करता है।

मेलिनोव्सकी ने बताया कि मिथक का यह सामाजिक प्रकार्य है कि वह परंपरा को संपुष्ट करे तथा उसके उद्गम को एक उच्चतर, श्रेष्ठतर, अधिकतर अतिप्राकृतिक यथार्थता की आरंभिक घटनाओं में ढूंढ़े। तदुपरांत उसे (परंपरा को) पुनश्च महत्तर मूल्य और प्रतिष्ठा प्रदान करे। "मिथक **वाक्** (स्पीच) का एक टाइप है। इसलिए हर वस्तु मिथक हो सकती है बशर्ते कि वह प्रकथन (डिस्कोर्स) के ज़रिये संप्रेषित की जाये। मिथक की परिभाषा उसके संदेश की अंतर्वस्तु के द्वारा न की जाकर (संदेश के) उच्चार-विधि द्वारा की जाती है।"[१] सामूहिक तथा सामाजिक संप्रेषण के भेद को खोलने के लिए सर्वाधुनिक पद्धतियां अपनाई जा रही हैं। यहां तक कि संगणकों (कम्प्यूटर) का भी इस्तेमाल हो रहा है। "मिथकों में सही ढंग से दो प्रकार की तकनीकों की शुरुआत निहित है: मिथकाव्यात्मक (माइथोपोएइक), तथा संप्रदायमूलक (cultic); क्योंकि मिथक एक (देवसृष्टि वाले—) मिथकशास्त्र का तथा एक संप्रदाय का पूर्वानुमान है।...निस्संदेह बाद में मिथक केवल शब्द में ही नहीं, बल्कि बिंब में भी तथा बिंबाश्रयी **प्रकर्म** (एक्शन-इन-इमेज) में निहित होती गई: प्रतीकात्मक कृत्य में, या नृत्य में।...शब्दपूर्व मिथक की अवस्था धर्मपूर्व की भी थी।...तथा धर्म के बाहर भी राजनीति तथा सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में मिथक का उपयोग होता है।"[२]

१. रोलां बार्थ, 'माइथोलॉजीज' ('पलाडीन' पेपरबैक, ग्रेट ब्रिटेन, १९७६), पृ० १०९।
२. कार्ल करेन्यी: 'मिथ एंड टैकनीक' (यूनेस्को पत्रिका 'डायोजीन्स', पेरिस, स्प्रिंग १९६५, नं० ४९, पृ० २७, ३१)।

मिथक के इस नृकुलवादी (एथनोग्राफिक) आधार पर लोकायन (फोकलोर) का संसार उद्‌घाटित होता है। एक सिस्टम (व्यवस्था) में जब संस्कृतियों (लोकों) का **विस्तरण** (डिफ्यूज़न) होता है, जब उनके बीच **टकराव** होता है, जब एक सांस्कृतिक **संकट मौजूद** होता है, तब मिथकों में **विस्फोट** होता है; तब समाज की अर्थीय 'व्यवस्था' के छिन्न-भिन्न पैटर्नों को करिश्मे वाले लोग (पुरोहित, कलाकार, क्रांतिकारी) एक नयी 'संरचना' में बेताबी से बटोरना शुरू कर देते हैं। भक्तिकाल और भारतेंदु, भगतसिंह और गांधी, विवेकानंद और नक्सल पंथ ऐसे ही दृष्टांत हैं। इस भांति मिथक यथार्थता से पलायन न होकर (दुर्खीम सम्मत —) सामाजिक समूहों की संचयित उपलब्धियां भी तो हैं।

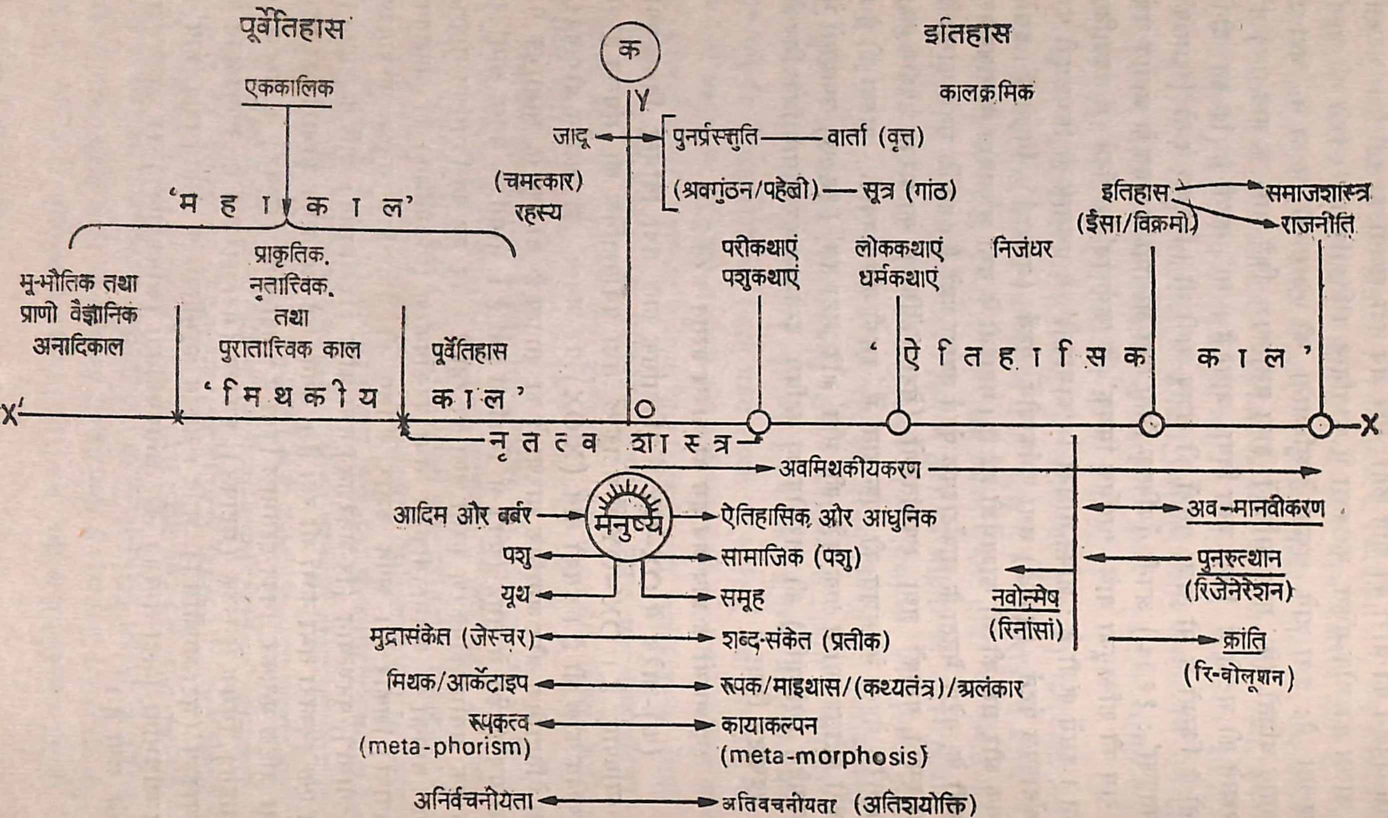
हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ('बाणभट्ट की आत्मकथा' १९४६) महावराह की मिथक के इर्दगिर्द एक मूलभूत सांस्कृतिक पैटर्न बुना है। महावराह ने प्रलय में डूबी हुई धरिणी का उद्धार किया था और उसे अपने नुकीले दांतों पर स्थित कर दिया था (मिथक)। बाणभट्ट ने घटना-प्रलय में डूबी हुई भट्टिनी का उद्धार किया। सांस्कृतिक पैटर्न की बुनावट के लिए भट्टिनी को तो उपासिका-सी बना दिया गया है जिसके पास महावराह की प्रतिमा है और वह 'प्रार्थना'-निरत है; तथा बाणभट्ट [बंड, भुजंग ('शेष'-प्रतीक)] को उसका रक्षक। रूपांतरण के नियमों में महावराह के दो-तीन परिवर्तनांकों में खिसकाव होता है। जब एक नदीयात्रा में नौका डूबती है और भट्टिनी भी महावराह के विग्रह समेत डूबने को होती है तब महावराह की प्रतिमा को जलनिमग्न कर दिया जाता है तथा बाणभट्ट अपने पराक्रम से भट्टिनी का उद्धार करता है। यहां रूपांतरण के लिए आकस्मिकता तथा संभाव्यता का नियम लागू हुआ है। उपन्यासकार ने **सांस्कृतिक पैटर्न** के ऊपर एक दोहरा/दूसरा **आर्केटाइपल** पैटर्न भी 'पुनर्प्रस्तुत' कर डाला है। धुरी है : उद्धार! कई अर्थीय व्यवस्थाओं वाली।

नागार्जुन की एक ताज़ी कविता **ऐसा तो कभी नहीं हुआ था** (१९७८) है जो बिहार के बेलछी गांव में हरिजनों (चमारों : सूअरपालकों) के नस्ल-संहार की घटना से अभिप्रेरित होकर लिखी गई है। इसमें एक गुरुजी संत गरीबदास एक नये जन्मे चमार बच्चे के घर में पहुंचते हैं और उसकी हस्तरेखाएं देखने लगते हैं। चमत्कार यह घटता है कि उसकी हथेली पर रेखाओं में शंख, चक्र, पद्म के स्थान पर गदा बने थे : खुखरी और भाला, गंडासा और तलवारें। पुरोहित क्रांतदर्शी होकर यह अनुमान लगा लेते हैं कि यह तो वराह-अवतार हैं। इसकी कुंजी स्पष्ट है—यह शोषण तथा अत्याचारों से पीड़ित धरती (=भारतीय पूंजीवादी-सामंतवादी व्यवस्था) का उद्धारकर्त्ता है। यह शूद्र सर्वहारा-वर्ग की श्रमशक्ति का मूर्तिमान विग्रह है! कुमार विकल ने भी **एक सामरिक चुप्पी** (१९७३) कविता में वीरां नाम की एक लोक युवती के माध्यम से निजंधर का राजमिथकीय-प्रतीकात्मक उपयोग किया है। वीरां के शरीर से संतरों की ताज़ा खुशबू आती थी और वह जेहलम नदी तैरकर पार कर जाती थी किंतु वह खुद संतरे नहीं खाती थी। एक रात वीरां इस नदी में डूबकर मर गई थी

जिससे जेहलम को वीरां का शाप लगा और अब नदी सूखती जा रही है। भटकती हुई आत्मा का लोक-संकेत कलकत्ता में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों पर किये गये जुल्मों में खुलता है; तथा आगे खुलता है लुधियाना की एक सच्ची घटना में, जहां दो नौजवान बहिनों (के साथ मालिकों द्वारा बलात्कार किये जाने के बाद उन) को कारखाने की भट्ठी में ज़िंदा जला दिया जाता है। 'मां' कहती है कि इन दोनों बहनों के जिस्मों से भी ताजा संतरों की खुशबू आती थी। निराला ने तो ('राम की शक्तिपूजा' : १९३६) अपनी वैयक्तिक चिंता तथा अस्थायी पराभव के जातीय अर्थ को राम की शक्तिपूजा वाले 'धार्मिक मिथक' के 'कर्मकांड' के पैटर्न में उद्घाटित किया। इसमें कुंजी है : शक्ति-साधना ! 'कामायनी' में एकसाथ ही मिथकधुरी पर आर्केटाइपल पैटर्न (पूर्वार्द्ध) तथा कर्मकांडीय पैटर्न (उत्तरार्द्ध) मिलते हैं। इसमें मिथक और धर्म की भी काव्यमैत्री हुई है। महादेवी के तथा मुक्तिबोध के, राजकमल चौधरी के, नरेश मेहता के आर्केटाइपल पैटर्न ज़्यादा गहरे हैं। क्योंकि उनमें फान्तासी तथा रूपकों, प्रतीकों तथा रूपकांतरणों (मेटामार्फोसिस) का भरपूर उपयोग हुआ है। नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' में इसकी अस्तित्ववादी व्याख्या की है। चौधरी बदीउज़्ज़मां ने 'एक चूहे की मौत' और 'छठा तंत्र' (१९७७) उपन्यासों में अन्यापदेश (एलिगरि) की तरकीब का बहुविध इस्तेमाल करके सामाजिक मिथकों का उद्घाटन किया है।

इन भाष्यों के बाद अब हम दो आरेख प्रस्तुत करते हैं—

(क)-आरेख में OX–OY में ऐतिहासिक काल तथा विभिन्न मिथक-रूपों की व्याख्याएं हैं। OX′–OY में महाकाल तथा पूर्वैतिहासिक का संघुलन है जो मिथकीय काल भी है। इसकी नींव (X′OX) पर 'मनुष्य' की आदिम और बर्बर, तथा ऐतिहासिक और आधुनिक धारणाओं का सातत्य है जो पशु से सामाजिक में, तथा यूथ (हर्ड) से समूह (ग्रुप) में विकसित हुआ है। सामाजिक मनुष्य आधुनिक युग तक अवमिथकीयकरण करता चला आ रहा है। अब वह वर्ग-विभाजित शोषण-केंद्रित समाजों में अवमानवीकरण तथा परकीयकरण (ऐलियेनेशन) का अपेक्षतया (ज़्यादा) शिकार है। अपने उद्धार के लिए ही ऐतिहासिक मनुष्य पुनर्जागरण (रिनासां), पुनरुत्थान (रि-जेनेरेशन) तथा क्रांति (रि-वोलूशन) आदि के आंदोलनों का एक हरकारा तथा कर्त्ता भी रहा है। उसने कई ज्ञानात्मक औज़ारों को सूक्ष्म तथा जटिल बनाकर उनका इस्तेमाल किया है : मुद्रा-संकेत (जेस्चर) से शब्द-संकेत (साइन), मिथक से रूपक (मेटाफर), रूपकत्व (मेटा-फरिज़्म) से रूपकान्वयन या कायाकल्प (मेटा-मार्फोसिस) आदि। अंतरंग अनुभूतियों के अनिर्वचनीय 'भाष्' से वह अधिभाषा (मेटा-लैंग्वेज) की अतिवचनीयता (अतिशयोक्ति) तक का व्यवहार करने लगा है।


पूर्वेतिहास
एककालिक
'म हा का ल'
भू-भौतिक तथा प्राणी वैज्ञानिक अनादिकाल
प्राकृतिक. नृतात्त्विक. तथा पुरातात्त्विक काल
पूर्वेतिहास
'मिथकीय काल'
X'
नृततव शास्त्र
क
Y
O
जादू
(चमत्कार) रहस्य
पुनर्प्रस्तुति —— वार्ता (वृत्त)
(श्रवगुंठन/पहेली) —— सूत्र (गांठ)
इतिहास
कालक्रमिक
परीकथाएं पशुकथाएं
लोककथाएं धर्मकथाएं
निजंधर
इतिहास (ईसा/विक्रमी)
समाजशास्त्र
राजनीति
'ऐतिहासिक काल'
X
अवमिथकीयकरण
आदिम और बर्बर
मनुष्य
ऐतिहासिक और आधुनिक
पशु
सामाजिक (पशु)
यूथ
समूह
मुद्रासंकेत (जेस्चर)
शब्द-संकेत (प्रतीक)
मिथक/आर्कटाइप
रूपक/माइथास/(कथ्यतंत्र)/अलंकार
रूपकत्व (meta-phorism)
कायाकल्पन (meta-morphosis)
अनिर्वचनीयता
अतिवचनीयता (अतिशयोक्ति)
अव-मानवीकरण
पुनरुत्थान (रिजेनेरेशन)
नवोन्मेष (रिनांसां)
क्रांति (रि-वोलूशन)

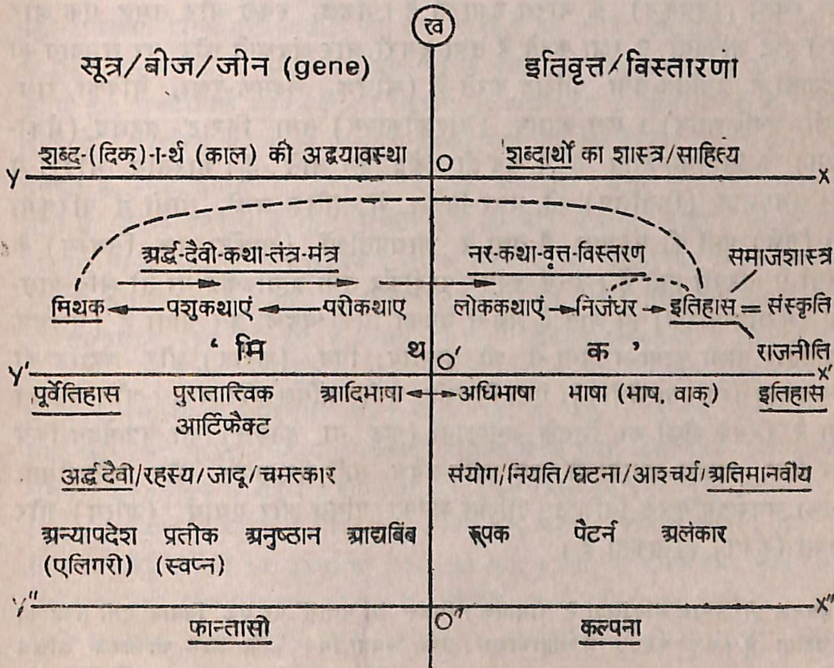
(ख)-आरेख में तिहरे सिस्टम के कई अक्ष एक ही अनुलंब मूलरेख (O–O′–O″) पर उभारे गये हैं।

(i) O–X–Y में शब्द तथा शब्दार्थों की द्विविधता है।

(ii) O′–X′–Y′ में (ऊपर की ओर) महामिथकवृत्त में मिथकों के नाना सहवर्ती तथा ऐतिहासिकतया अनुवर्ती प्रशाखन हैं। सहवर्ती रूपों में मिथक, पशुकथाएं, परिकथाएं आदि हैं जो मानवता के बचपन का नीला-धुंधला दर्पण है। अनुवर्ती प्रशाखनों में लोककथाएं, निजंधर और स्वयं इतिहास है जो वर्तमान युग में समाजशास्त्र तथा राजनीति में विस्तार पाता है। निजंधर में मिथक और इतिहास की चेतनाओं की गोधूलि होती है। यहां पुरातात्त्विक आर्टिफेक्ट और आदिभाषा (प्रोटो-लैंग्वेज) से चलकर अधिभाषा (मेटा-लैंग्वेज) तथा सौस्यूरीय भाष् (लांग) एवं वाक् (स्पीच) की यात्रा का मंडल पूरा होता है।

(iii) Y″–O″–X″ में फान्तासी तथा कल्पना की द्वयता वाले प्रभागों में अभिव्यंजना के रूपों का अनुमान हुआ है।

उनसे ऊपर अर्द्धदैवी बनाम अतिमानवीय द्वयता के संभागों में एक ओर रहस्य, जादू, चमत्कार जैसे तथा दूसरी ओर संयोग, नियति (भाग्य, शाप-वरदान), घटना, आश्चर्य जैसे कथायंत्रों और कथाग्रंथियों आदि का अंकन हुआ है।



अंततोगत्वा यह कहना कोई ज्यादती नहीं होगी कि हम नृतत्त्वशास्त्री तथा सामाजिक नृकुलशास्त्री के झरोखों से मिथकों को लघु या विराट् कल्परूपों में

कर्मसंघर्षी भी पा सकते हैं; विशिष्ट प्रणालियों से उनका निरीक्षण भी कर सकते हैं।[1] मेलिनोव्सकी और लेवी स्ट्रास, वैरियर ऐल्विन (गोंडवाना) और बेज़बरुआ (कामरूप), धर्मानंद कोसांबी और राहुल सांकृत्यायन आदि के कार्य हमारे लिए मिसाल हैं। आगे हम कुछ विशेषण-पद्धतियों के प्रयोग भी करेंगे।

(२) मिथकीय भूगोल के अक्षांश-देशांतर

मिथकीय भूगोल में विश्व की विभिन्न संस्कृतियां अपने में असंख्य 'केंद्रों' की सत्ता स्वीकार करती हैं और उनमें से प्रत्येक ही **पवित्र केंद्र** (स्थल) होता है। इसका 'पवित्र देश' ज्यामितिक तथा इहलौकिक तो होता नहीं है। इसलिए 'मिथक भूगोल में पवित्र देश (स्पेस) तत्त्वत: यथार्थ देश (दिक्) भी है क्योंकि आद्यलोक में केवल मिथक ही यथार्थ होती है।'[2] काशी, ब्रह्मावर्त, सूकरक्षेत्र आदि सभी देवताओं की नगरियां हैं। इसी तरह शैलशिखरों, स्तंभों (लाठों), महावृक्षों के प्रतीक भी संसार-केंद्र में स्थित माने जाते हैं। सुमेरु, उदयाचल, अरुणाचल आदि, अथवा क्षीरसागर आदि ऐसे हा ब्रह्मांड-स्थल हैं जो शाश्वत हैं अर्थात् जिन पर प्रलय और संहार का कोई असर नहीं होता।

पवित्र केंद्र के मिथक ही **मंडलों** (ब्रजमंडल), **समूहों** (खजुराहो मंदिर समूह) तथा **स्थलों** (चित्रकूट) के चरित्र उभारते हैं। मंडल, स्थल और समूह एक ओर बाहरी दुष्ट शक्तियों से रक्षा करते हैं तथा दूसरी ओर अंदरूनी तौर पर समुदाय को अनुष्ठानों में प्रवर्तित तथा दीक्षित करते हैं (श्रीचक्र, लक्ष्मण-रेखा, वेदिका, रास-मंडली, प्रदक्षिणादि)। लघु ब्रह्मांड (माइक्रोकाज़्म) तथा विराट् ब्रह्मांड (मैक्रो-काज़्म) के विनिमय-न्याय से ये खुद ही 'केंद्र' बन जाते हैं। भारतीय मंदिरों में सुमेरु तथा लाठ (शिवलिंग) की, नगर-निवेश में तांत्रिक चक्रों, तीर्थों में परिक्रमा तथा (गर्भ) गृहों की संरचना है तथा वे आद्यप्रतीकों (आर्केटाइपल सिंबल्स) के रहस्यों से परिपूर्ण होते हैं। इनमें अक्सर पृथ्वीकेंद्र तथा ब्रह्मांडकेंद्र या तो अविन्यास-क्रमी (पैराडिग्मेटिक) हो जाते हैं अथवा उनका एक 'बंडल' बन जाता है [मूलचक्र से ब्रह्मद्वार वाली काया-संरचना से भी तुलनीय; पिंड (शरीर) और ब्रह्मांड की साम्यतुलना (या एनालॉजी)]। ऐसा मिथकीय भूगोल पवित्र और यथार्थ और शाश्वत होता है जिसके क्षेत्रों का, जिसके अनुष्ठानों (कूट या कोड्स) का चक्रभेदन किये बगैर दैत्य, राक्षस, दानवरूपी शत्रु आदि प्रवेश नहीं कर सकते और प्रतिलोमत: जिनका चक्रभेदन करके विशिष्ट दीक्षित व्यक्ति पवित्र और यथार्थ (आत्म) और शाश्वत (मुक्त) हो सकता है।

१ हंसमुख धीरजलाल सांकलियां ने 'रामायण : मिथक या यथार्थ' पर एक विवाद इसी तरह का उठाया है। सन् १९७७ में 'महाभारत : सत्य अथवा मिथक' के प्रश्न को लेकर अखिल भारतीय बहस-मुबाहसे हुए; अर्थात् पुरातत्त्वशास्त्री बनाम मिथकवेत्ता की दृष्टियां टकरा रही हैं।

२. 'इमेजेस एंड सिंबल्स', मर्सिया ऐलियादे (हार्विल प्रेस, लंदन, १९६१), पृ० ४०।

मौखिक परंपराओं के चक्र में मिथक-निर्माता मिथकीय भूगालकार भी रहे हैं जिन्होंने हर अज्ञात और उपेक्षित, रहस्यमय और विचित्र स्थल को किसी 'मिथकीय गांठ' (नोड) से गूंथ डाला और इस प्रकार उसे भी एक शाश्वत तथा प्रजातीय अतीत प्रदान कर दिया : शिमला के सब से ऊंचे जाखू स्थल में संजीवनी बूटी ले जाते वक्त हनुमान रुके थे, नैनीताल की झील का पैर जैसा रूप इसलिए है कि हिमालय में स्वर्गारोहण के मौके पर भीम ने वहीं से एड़ लगाई थी; मध्य-प्रदेश में भीमबेटका की गुफाएं इसलिए हैं कि वनवास के समय वे वहां भी छिपे थे (साधर्म्य); इत्यादि। यदि इन गांठों का ही मिथभौगोलिक एटलस तैयार किया जाए तो मौखिक परंपराओं वाले प्रतीकों, पुरातत्त्वों, भू-भौतिक अन्वेषणों, निजंधरों तथा भू-संरचनाओं का अक्षय भंडार खुल पड़ेगा।

भू-भौगोलिक संरचना तथा रूपों के कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं। केरल की फरसे जैसी आकृति को लेकर परशुराम का मिथक जुड़ गया; हिमाचल प्रदेश में डल-हौज़ी के पास खजियार नामक एक हरियाला मैदान है जिसके बीच में अतल जलकुंड है जो लाखों साल पहले किसी हिमपर्वत (ग्लेशियर) के धंसने से बना था। लो, उसकी गहराई को लोकमानस नापता है। अतः मिथक यह प्रचलित हुई कि एक बार जोगी भेष में शिव-पार्वती घूमते हुए निकले तो पार्वती की नाक की लौंग उस पुकुर में गिर पड़ी। उसकी खोज गद्दी कबीले की एक नारी ने की और वह उसे बहती हुई नीचे के शहर पठानकोट के मुहाने पर उस चो में मिली जिसका उद्‌गम खजियार बताया जाता है। भू-भौतिक अन्वेषणों को छिपाये हुए मध्यप्रदेश के गोंडों/भीलों के मिथक हैं जहां वे (मैंगनीज़ के) काले टीलों के बाबत कहते हैं कि वे उन श्यामल युवतियों के उबटन हैं जिन्हें लगाने से उनके पुरुषों के अंग और अस्त्र लोहे-जैसे मज़बूत हो जाते हैं। कुल्लू-मनाली के बीच पार्वती नदी की घाटी है। वहां रेडियोधर्मी यूरेनियम/रेडियम पाया गया है तथा आजकल भारत सरकार के आणविक ऊर्जा विभाग का स्थायी कैंप कायम है। पास ही मणिकर्ण (कानों की मणि) तीर्थ का सोता है जिसमें रेडियो-सक्रिय तत्त्व घुले हुए हैं। वहां का पानी खौलता हुआ तेज़ी से ऊपर निकलता है, १००° से १५०° सेंटीग्रेड के तापतान से। मिथक के मुताबिक शिव-पार्वती इस घाटी में घूम रहे थे। पूर्णिमा थी। रहस क्रीड़ा में पार्वती का एक कर्णकुंडल गिर गया और उसे तुरंत शेषनाग लपककर पाताल में ले गया (मणिधर सर्पों का कवि-समय : तु०) शिव के तप। (रोष) से धरती डांवांडोल हो उठी (भूकंप का माइथीम) जिससे भयभीत मणिधर ने मणिकर्ण समर्पित कर दिया। पाताल फोड़ता हुआ पानी निकला और पार्वती का कुंडल भी बाहर आ गया। साथ में अनेक छोटे-छोटे रत्न भी बाहर आ गये (ये रत्न सन् १६०५ तक मिलते रहे हैं। किंतु यह भूकंप-क्षेत्र है इस-लिये अचानक इसके मुहाने बंद हो गये)। पार्वतीघाटी की शय्या पर चांदी भी मिलती है। अब मणिकर्ण के गर्भस्रोत का मुहाना अंशतः बंद हो गया है। कुल्लू-क्षेत्र की चौदह सौ वर्षों तक प्राचीन राजधानी नग्गर की कुलदेवी भीम-पत्नी हिडिंबा रही है। इसकी गढ़ी के वास्तुकौशल को उभारने के लिए भी निजंधरी मिथक पढ़ें : पांच

से आठ फुट के आकार की 'जगती पट' नामक एक शिला है। जब यह फैसला किया गया कि नग्गर को नया कैलास बनाया जाय जहां विश्व के सभी देवता वास करें तो देवतागण मधुमक्खियों में रूपकान्वित (मेटामार्फोज़्ड) हो गये। उनमें भीम की शक्ति समा गई। उन्होंने ही 'देवटिब्बा' का नमूना उत्कीर्ण किया और उसे उड़ाकर गढ़ी में ले आये।···इसी तरह वृंदावन के निधु-वन में बड़े छोटे-छोटे भू-स्पर्शी करीलवृंत हैं। भक्तों का 'विश्वास' है कि वे कृष्ण के समय के हैं। उस स्थल पर (आज भी) रात में राधा-कृष्ण श्रृंगार करके नित्य केलि करते हैं। अतः वहां रात को कोई नहीं रहता (विश्वास है कि जो रहता है उसकी मृत्यु हो जाती है)। ये करीलवृंत श्रीकृष्ण-राधा के चरणों से रौंदी गई पवित्र धूलि की भी सेवा करते हैं। यहां यही बैकुंठ ही 'नित्य' भी हो गया।

परंपरागत क्रमण वाले पवित्र नगरों (तीर्थों) में तो लगभग हर स्थल या वस्तु केंद्र/मंडल/कील है। उसके नगर-निवेश तथा शिलपशास्त्र में मिथक का पूरा मंडल, पात्रों का संपूर्ण जीवनवृत्त, घटनाओं का कथातंत्र गुंथा हुआ होता है। यह सब कुछ विश्वास के साथ श्रद्धा पर कायम रहता है। उदाहरण के लिए वृन्दावन में सेवा-निकुंज, मधुवन, निधुवन आदि की भौगोलिक पहचान की कहानी भी बहुत बाद की है और सम्मोहक है। जब महाप्रभु चैतन्य (१४८६-१५३३) ब्रजमंडल आये तो भाव-विह्वलता तथा भावोन्माद की मूर्च्छाओं में उन्हें (राधाभाव से) जिस स्थल पर जिस तरह की अनुभूति हुई, उसका वैसा ही नामकरण हो गया। तब से वे स्थल उसी रूप में धन्य और पावन, शाश्वत और यथार्थ हैं। खोया हुआ मिथकीय इतिहास इहलौकिक भूगोल पर छाप कर रूपांतरित कर दिया गया।

इसके सहवर्तन में **चित्रकूट** की मिसाल है। नई राजनीतिक मिथकों के रूपांतरण के लिए वहां लोहिया समाजवादियों ने 'रामायण-मेले' शुरू कराये हैं। वहां के भौगोलिक स्थल इतिहास में विलीन नहीं हुए थे। अतः तुलसीदास को (चैतन्य की तरह) उन्हें दिव्य-दृष्टि से खोजना नहीं पड़ा। वहां पयस्विनी नदी है तथा कामदगिरि है। इन दो पवित्र केंद्रों के क्रोड़ के चारों ओर मिथकीय भूगोल विरचित हुआ। जानकी-कुंड बना जहां सीता स्नान करती थीं; स्फटिक शिला पहचान ली गई जहां राम-सीता-लक्ष्मण ने विश्राम किया था; तीन कोस दूर अनसूया आश्रम भी कायम है जहां अनसूया ने सीता को सतीधर्म का उपदेश दिया था; यहां तक कि अनसूया आश्रम से पांच किलोमीटर दूर एक 'गुप्त' गोदावरी नदी भी रच ली गई (क्योंकि प्रकट गोदावरी तो नासिक पंचवटी-केंद्र में गुंथेगी)। नवद्वार अष्टचक्र वाली पुरातन **अयोध्या** (फैज़ाबाद) की स्थिति भिन्न है क्योंकि वहां मिथकीय भूगोल स्तब्ध है : वहां तो फैज़ाबाद का वातावरण है। कई अयोध्याएं दक्षिण एशिया में प्रकट हो गईं (कंबोदिया, जावा) जहां प्राचीन काल में भारतीयों ने निष्क्रमण करके अपने उपनिवेश बनाये। साथ में मिथकत्व भी तैरते चले गये। अब अयोध्या में बच गये हैं—कुबेर-टीला, सुग्रीव-टीला, मणिपर्वत, छोटी देवकाली, इत्यादि। अयोध्या में मिथकीय भूगोल का समारोह (सेलिब्रेशन : बार्थ) होता है, अनुष्ठानों के 'रूप' में। रामनवमी में रामजन्म, सावन

में युगल सरकार के हिंडोले, कार्तिक-पूर्णिमा में रामसिंहासन, अगहन में रामविवाह, आदि। मिथकें खिसक कर अनुष्ठान (कल्ट) में ढल गईं।

(३) मिथक और भाषा की संरचनाएं तथा संबंधित रूपांतरण

मिथक और भाषा के रिश्तों को समझने में एक ओर **रूपांतरण** (**ट्रांसफार्मेशन**) **के नियमों** से सहायता ली गई जो 'संरचनाओं' का उद्घाटन करते हैं। इसका उपयोग संरचनावादी भाषिकी तथा मिथकालेखनशास्त्र (माइथोग्राफ़ी), दोनों में किया गया। दूसरी ओर **संकेतविज्ञान**, या लक्षण-विज्ञान, या चिह्न-विज्ञान (सेमिओलॉजी) का उपयोग किया गया। रोलां बार्थ ने मिथक को एक 'संकेतवैज्ञानिक व्यवस्था' के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार "संकेतविज्ञान रूपों (फार्म्स) का विज्ञान है क्योंकि यह उनकी विषयवस्तु (कांटेंट) के अलावा संकेतनों (सिग्निफिकेशंस) का भी अध्ययन करता है।···मिथकशास्त्र **संकेतविज्ञान** का और उतना ही विधिवत् **विज्ञान** का अंग है; उतना ही **विचारधारा** का भी अंग है जितना कि यह **ऐतिहासिक विज्ञान** है। यह रूप-में-विचारों का अध्ययन करता है।"[1] अतः संकेतविज्ञान दो पदों के बीच के रिश्तों को अभिगृहीत करता है। **संकेतक** (सिग्निफायर) तथा **संकेतित** (सिग्निफाइड)। **संकेत** (साइन) तो इन दोनों का आसंगिक योग है। यह **भाषिकी-व्यवस्था है** : संकेत-केंद्रित, या चिह्न-केंद्रित। इसके समांतरण में तथा उत्तरोत्तर **मिथक-व्यवस्था** है : चिति (साइके)-केंद्रित, या/और रूप-केंद्रित। यहां **रूप** (फार्म) की भूमिका संकेतक की है; **धारणा** (कांसेप्ट) की भूमिका संकेतित की है; तथा **मिथक** का प्रतिकर्म एक संश्लिष्ट संकेत या चिह्न के रूप में परिलक्षित होता है। मिथक-व्यवस्था को हम **अधिभाषिकी-व्यवस्था** (मेटालिंग्विस्टिक सिस्टम) भी कहते हैं। अतः भाषिकी में अनूदित होने पर भाषिकी की लघुत्तम इकाई '**शब्द**' अधि-भाषिकी की पहली इकाई 'रूप' में अनूदित हो जाती है। **चिह्न और चिति (साइके) के अर्थात् 'शब्द' और 'रूप' के ये संबंध ही हमारे आधुनिक भरतसूत्र हैं।**

फर्डीनांड द सौस्यूर (१८५७-१९१३) ने ऐसी निदर्शनात्मक संकेतवैज्ञानिक व्यवस्था का अभिनव स्थानांतरण किया। **भाषा** को उन्होंने 'वाक्' (स्पीच) तथा 'भाष्' (लांग) में अलगाया। **भाष्** भाषिकी-आदतों का एक मुकम्मिल कुलक है जबकि **वाक्** अभिव्यंजना के प्रकर्म (एक्ट) हैं। एककालिक (सिंक्रानिक) होने की वजह से भाष् में तो समय प्रत्यावर्तित हो सकता है, लेकिन वाक् के कालक्रमिक (डायाक्रानिक) होने के कारण उसमें समय प्रत्यावर्तित नहीं हो सकता। इसलिए सौस्यूर की संकेत-व्यवस्था के अंतर्गत संकेतक तो बिंब है, संकेतित **धारणा** है, तथा **संकेत** स्वयं है अर्थात् वह शब्द है। सौस्यूर-सम्मत संकेतक बिंब एक मानसिक बिंब है; तथा मूलतः एक ध्वनि-बिंब है [वाक् से जुड़ा]। इस भांति ध्वनि-बिंब तथा धारणा का रिश्ता ही संकेत (शब्द) अथवा चिह्न है। अथच भाषा के चिह्न से लेकर मिथक

१. 'माइथोलॉजीज' ('पलाडीन' पेपरबैक, ग्रेट ब्रिटेन, १९७६), पृ० १११, ११२।

की चिति तक एकतान व्यापार ही हमें एक भाषा से दूसरी अधिभाषा (मेटा·लैंग्वेज) में आत्मोत्तीर्ण करा देता है।

मिथक एक 'चिह्नवैज्ञानिक व्यवस्था' के रूप में प्रकट होने के कारण एक 'अधिभाषा' भी है।

मिथक एक अधिभाषा है। मिथक वाक् भी है। इन दोनों का मूल लक्षण-संश्लेष (सिंड्रोम) मिथकत्व या माइथीम है। मिथकत्व दोनों में वर्तमान है। कथा-धुरी पर इसमें जो मिथकथ्य (रोज़र फ्राई-सम्मत 'माइथॉस') हैं वे कालक्रमिक हैं, तथा संरचना-धुरी पर जो मिथकत्व (लेवी-स्ट्रास सम्मत माइथीम) हैं वे समकालिक हैं।

सौस्यूर ने यह भी दर्शाया कि जिस प्रकार वाक्-प्रकर्म के लिए 'विशिष्ट भाषा' का ज्ञान पूर्वापेक्षित है, उसी तरह भाषा के लिए भी 'सामूहिक पुनर्प्रस्तुति' (कलेक्टिव रिप्रेज़ेंटेशन) की पूर्वापेक्षा है। फ्रेंज बोआज़ (१८५८-१९४२) ने सामूहिक पुनर्प्रस्तुति बनाम भाषा की खाई के बीच जो समायतन ढूंढ़ा वह अवचेतन बनाम चेतन का है। (अगर हम सामूहिक पुनर्प्रस्तुति की जगह मिथक को अभिलिखित कर दें तो मिथक बनाम भाषा की खाई प्रस्तुत हो जाती है)। स्वयं बोआज़ ने इस प्रक्रिया का उद्घाटन किया है :

एकल विचार के क्रोड़ के इर्दगिर्द कई कार्यिकियों (एक्टिविटीज़) का झुंड गुंथने लगता है जिसके लिए यह शर्त नहीं होती कि वह एकल विचार पहले हमारी चेतना में अनुप्रवेश ही करे। फिर अवचेतन उस एकल विचार के कई अंतर्वर्गों (कैटेगरीज़) का विरचन बुनने लगता है (जैसे अनसूया मिथक में 'नग्नता' के भाव/विचार को लेकर हुआ)। इस बुनावट में हमारी जातीयता, राष्ट्रीयता तथा मानवता के भी कई जटिल पक्षों की गांठें तथा बंडल बन जाते हैं। ये ही अंतर्विरोध तथा प्रतिरोध आदि बनकर आंदोलित होते हैं। नतीजन उस एकल विचार की अर्थीय (सिमेंटिक) शक्ति को मापने के लिए उन कार्यिकियों की संख्या ही है जिन्हें वे इकट्ठा करके एकजुट करती हैं। इन **अंतर्वर्गों का अवचेतन निर्माण** हमारे सामाजिक जीवन का भी प्रतिपादक है। अवचेतन दशा में होने के कारण एकल विचार के 'संदेश' कूटों (कोड्स) की कई पर्त्तों में ढंके हुए छिपे रहते हैं। अतः इनकी कई पर्त्तों वाली व्याख्याओं की संभावनाएं मौजूद रहती हैं जिससे ये अपने अवगुंठित अर्थों को बेनकाब करती हैं।

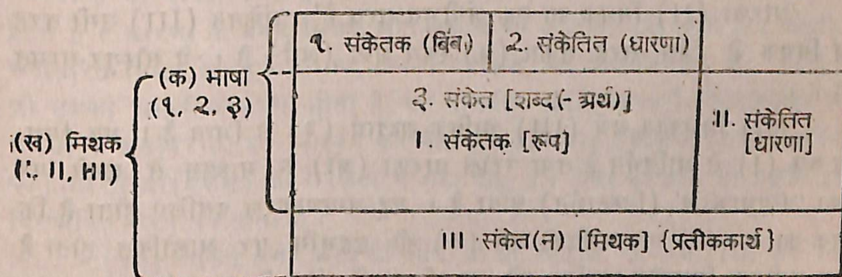
तो फिर मिथकों के कूट क्या हैं जिन्हें पुरातन कबीलाई समाज और टैक्नॉलॉजिकल समाज (भी) पर्दानशीं करते रहे हैं? हम आगे अनसूया-मिथक का विश्लेषण करके यह छानबीन गहराई से करेंगे। तथापि यह निश्चित है कि मिथकें काल-देश के अक्ष में सहयात्री हैं; इन के गर्भ में एक न एक तथ्य या घटक छिपा है; तथा बहुधा ये मानवीय कल्पना की एक सीमाहीन ऊर्जा (फांतासी) हैं। विभिन्न सभ्यताओं में पालित-पोषित मानव-मस्तिष्कों की भी संगत संरचनाओं में कतिपय मिथकों का जन्म होता है। ये **सभ्यता** तथा **शैली** के संबंध-सूत्र कायम करते हैं (क्रोबर)।

नोआम चोम्स्की (१९२८—) ने इसी वज़न पर एक ओर 'आंतरिक

संरचना' (डीप स्ट्रक्चर) तथा 'भाषासामर्थ्य' (काम्पीटेंस) की, तथा दूसरी ओर 'बाह्य संरचना' (सरफेस स्ट्रक्चर) और 'भाषानिष्पादन' (पर्फ़ार्मेंस) की खाई को दिखाया। उन्होंने एडम शाफ़्फ़ की तरह अर्थीय रचनातंत्र के क्षेत्र में एक क्रांति ला दी। एक महावाक्य के—अंतर्वाक्यीय व्याकरण के घेरे में—वाम-दक्षिण प्रशाखनों के नियमों को हम मिथक के 'मिथकथ्य' के भी बहुविध अंतर्वर्गों के निर्माण के आमने-सामने रख सकते हैं : केवल सीमित संदर्भों में। अस्तु।

भाषिकीय वाक्य में **संकेत** या चिह्न (शब्द) हमारी विशिष्ट इकाई है। मिथकीय प्रकथन (डिस्कोर्स) में ऐसी विलक्षण इकाई **प्रतीक** है। भाषिकीय वृत्त में **संकेत** के अंतर्गत संकेतित और संकेतक के बीच विवेकशील, स्वाभाविक और अनिवार्य (वाक्-ध्वनि वाले) रिश्ते नहीं होते। इसी तरह मिथकीय वृत्त में भी संकेत (स्वयं मिथक) के अंतर्गत संकेतित (धारणा) और संकेतक (रूप) के बीच कोई भी रिश्ता हो सकता है; तथापि वह पूर्णतः निरंकुश या नैसर्गिक (लेवी-ब्रूह्ल और लेवी-स्ट्रास) नहीं होगा। स्पष्ट है कि यहां **शब्दार्थ** धुंधला होता जाता है और उसे **कूट** (कोड) प्रतिस्थापित-सा कर देता है। कूट के चक्रभेदन के लिए 'प्रकथनों' के 'बंडलों' को पुनर्गठित तथा अंतर्संबंधित करना होता है। तभी हम अभिप्रेरकों तथा अभिप्रायों के अतल में गोताखोरी कर सकते हैं। यह बात भी निरंतर याद रखनी ही होगी कि भाषा तथा मिथक (-भाषा) के बीच जो सामान्य घटक है, वह वाक्यीय संरचना (सिंट्रैक्टिक स्ट्रक्चर) का है।[1]

यदि हम (क) **भाषिकीय व्यवस्था** को प्रथम व्यवस्था कहें तथा (ख) **मिथकीय व्यवस्था** को दूसरी, तो हम इनके बीच वाम-दक्षिण खिसकावों को, या ऊपर-नीचे के आरोहावरोह को आरेखित कर सकते हैं। रोलां बार्थ के आधार पर हम इन दोनों सिस्टमों का एक व्यापक प्रारूप (मॉडल) पेश करते हैं—



(क) शीर्षक भा० व० (भाषिकी व्यवस्था) तथा (ख) शीर्षक मि० व० (मिथकीय व्यवस्था) के लिए हम (क) तथा (ख) के अक्षरांक ही इस्तेमाल करेंगे।

१. मिथक में ऐसे वाक्यांश या लघुत्तम वाक्य, अथवा कथासूत्र या विचार-वस्तुसूत्र इन संबंधों के विवरण खोलते हैं। इन्हें मिथकत्व (माइथीम) कहते हैं।

(i) (क) प्राथमिक तथा प्रथम चरण वाला सिस्टम है, जबकि (ख) द्वितीयक तथा दूसरे चरण वाला सिस्टम है जो (क) की संकेतवैज्ञानिक शृंखला के ऊपर सुपरिगठन की नाईं निर्मित हुआ है। अतः (ख) अर्थात् मिथक (की व्याख्या) को हम दूसरी श्रेणी या दूसरे चरण वाली संकेतवैज्ञानिक व्यवस्था कहेंगे जहां अधिभाषा का 'वाक्' तत्त्व है [जबकि (क) में भाषा-बहिर्वस्तु (लैंग्वेज-आब्जेक्ट) सन्निहित है]।

(ii) (क) में जो भाषिकी संकेत (३) है वही मिथकीय संकेतक (I) में लघुकृत हो जाता है अर्थात् भाषिक बिंब एवं धारणा की कांतमैत्री जो शब्द (सौशब्द्य) रचती है, वह अधिभाषिकी (मेटालिंग्विस्टिक्स) अर्थात् (ख) में रूप का मुख्याधार बनता है। शब्दार्थ का 'अर्थ' ही मिथकीय 'रूप' में बदल जाता है अर्थात् भाषिकी-संकेत मिथकीय संकेतक में घुल जाता है। अनसूया=ईर्ष्याहीन शब्दार्थ मिथकीय सकेतक बनने पर अर्थात् 'रूप' बनने पर अपने अंदर एक सूना अंतरिक्ष फैलाता है क्योंकि ज्ञान खोया जा चुका है। जब यह रूप (I) धारणा (II) से संयुक्त होता है तब बिंब (१) खोया हुआ 'ज्ञान प्राप्त करने' लगता है।

खोया ज्ञान प्राप्त करने की यह प्रक्रिया धारणा (II) में घटती है। धारणाएं ऐतिहासिक हैं, इतिहास से अनुकूलित होती हैं तथा अपनी शब्दावलियां बदलती चलती हैं। ये अटल नहीं हैं। 'धारणा मिथक का एक अंगीभूत तत्त्व है: यदि मैं मिथकों का चक्रभेदन करना चाहता हूं तो मुझे येन-केन प्रकारेण धारणाओं को नाम-संज्ञा प्रदान करना चाहिए।'[1]

(iii) एक मिथकीय धारणा (II) की आवृत्ति विभिन्न रूपों (I) द्वारा होती है। इसी वृत्ति की सहायता से मिथक का चक्रार्थभेदन (डिसाइफर) हो सकता है क्योंकि मिथकीय संकेतकों (I) का भंडार अक्षय होता है।

'धारणा (II) मिथक का एक अंगीभूत तत्त्व है'। संकेतन (III) उसी तरह स्वयं मिथक है जिस तरह संकेत (३) स्वयं शब्द (अर्थ) है। ये सौस्यूर-सम्मत शब्द हैं।

(iv) मिथकीय अर्थ (III) भाषिक शब्दार्थ (३) से भिन्न है। यह मिथकीय रूप (I) से आविर्भूत है तथा परोक्ष धारणा (ओं) के माध्यम से छनने पर इसका 'अन्यथाकरण' (डिस्टार्शन) होता है। यह अन्यथाकरण इसलिए होता है कि मिथक का रूप (I) एक भाषिकी अर्थ (३) की द्वंद्वभूमि पर आलोकित होता है (तथा प्रतीपतः मिथकीय अर्थागम की इस प्रक्रिया में मिथकीय रूप (I) का प्रयाण होता है, उसी तरह जैसे कि मिथकीय रूपागम की प्रक्रिया में भाषिक अर्थ का प्रयाण हुआ।

इस तरह रूप (I) और अर्थ (III) एक ही स्थान पर नहीं हैं। ये कालक्रमिक (डायाक्रोनिक) हैं। मिथकीय रूप (I) हमेशा ही अर्थ (स्वयं मिथक) से

१. रोलां बार्थ, वही, पृ० १२०-१२१।

बहुत आगे निकल जाता है और इतिहास के अर्थगर्भित बिंदु पर पुनः—धारणा के माध्यम से छनकर—नये-नये अर्थों से गर्भित हो उठता है।

(v) मिथकीय संकेतन (III) कभी भी निरंकुश नहीं होता। यह हमेशा अभिप्रेरित (मोटिवेटेड) हुआ करता है और अपरिहार्य रूप से इसमें कोई साधर्म्य-सादृश्य हुआ करता है। यदि अभिप्रेरकता **इतिहास** है तो फिर रूप को उसका साधर्म्य या सादृश्य या रूपकत्व मिलता है। अतः इतिहास के चरणों में मिथक (अर्थ, III) प्रतीक हो जाती है, रूपक बन जाती है, समकालीन व्याख्या से प्रति-विन्यस्त हो जाती है, तथा अगली अभिव्यंजना तक के लिए किंचित् अपूर्ण, अधूरी या एकांगी बनी रही है।

अतः मात्र रूप (I) और संरचना (III) को मिलने वाली मिथकीय व्यवस्था **अव-इतिहासीकरण** (डि-हिस्टोरिसाइज़) करती है। रूप और संरचना के युग्म अक्सर कालातीत हो जाया करते हैं। इसलिए अनुपस्थित अर्थ वाले मिथक-रूप रिक्त होते हैं। वे वर्तमान होकर भी अनैतिहासिक होते हैं। धारणा (II) इतिहास-गति तथा ऐतिहासिक यथार्थ है। अतः इतिहास के बगैर मिथक **प्रकृति** बन जाती है।

(vi) यह ठीक है कि **यथार्थता** ऐतिहासिक होती है जिसे हम 'सामाजिक यथार्थता' कहते हैं। यह इतिहासपूर्वा होती है जिसे हम 'प्राकृतिक यथार्थता' (अमूर्त पदबंध में 'बहिर्गत यथार्थता') कह सकते हैं।

धारणा (II) की प्रकृति ऐतिहासिक होती है। अतः धारणा यथार्थता भी है। इतिहास और यथार्थता अर्थात् ऐतिहासिक यथार्थता और यथार्थ इतिहास मिथक को इहलौकिक (प्रोफेन) बनाते हैं, परिवर्तमान (शाश्वत) बनाते हैं तथा सामाजिक प्रकार्यों से भी गुंफित करते हैं। धारणा के द्वारा **मिथक और इतिहास** की क्रांत मैत्री होती है। धारणा के बगैर **मिथक और प्रकृति** की शुद्ध अन्विति होती है। प्रकृति में रूपांतरित मिथक अव-ऐतिहासिक, अव-यथार्थीकृत, अव-राजनीतिकृत हो जाती है। जो उसका 'प्राकृतिकीकरण' होता है, वह मानवीय कार्य-व्यापारों की जटिलता, तथा संबंधों के अंतर्विरोधों का विसर्जन कर देता है और उन्हें (कार्य-व्यापार, अंतर्विरोध को) सारतत्त्वों (ऐशेंस) की सरलता में घटा देता है। ऐसा **इतिहास को प्रकृति** द्वारा विस्थापित करने पर होता है।

(vii) लेकिन अगर स्वयं इतिहास को ही प्रकृति में रूपांतरित कर दिया जाये अर्थात् संघर्ष (स्ट्रगल) तथा कर्मान्विति (प्रेक्सिस) के द्वारा 'मनुष्य का नैसर्गिकीकरण' तथा 'प्रकृति का मानवीकरण' सहवर्ती ढंग से घटित हो तो मिथक क्रमशः **आद्यरूपों** (आर्केटाइपल इमेज) में तथा प्रकार्यधर्मा **प्रतीकों** में अनूदित हो जाती है। मर्सिया ऐलियाड (१९०७—) के मुताबिक 'हर एक ऐतिहासिक मनुष्य अपने साथ पूर्वैतिहासिक मानवता का बहुत बड़ा अंश वहन करता चलता है।···अपनी ऐतिहासिकता से पलायन करने में मनुष्य न तो अपने स्टेटस का परित्याग करता है और न ही पाशविकता के आगे आत्मसमर्पण करता है। वह भाषा को, और कभी-

कभी एक विलुप्त आनंद-लोक के अनुभव को पुन: प्राप्त करता है ।'[1]

आद्यरूप तथा प्रतीक चिति की यथार्थता से कभी भी गायब नहीं होते । वे चिति की लीला में अवगुंठित अर्थों को खोजा करते हैं। आधुनिक मनुष्य भी आद्यरूपों का पुन:-पुन: अनुसंधान करता है । यह भूमि सामूहिक अवचेतन के वृत्त में 'सामूहिक पुनर्प्रस्तुति' की है । बोआज़ ने भी इस ओर इशारा किया है ।

इसलिए कार्ल जुंग (१८७५-१९६१) ने काव्यभाषा को शब्दों के पर्दे के पार आदिम शब्द की 'दूरवर्ती ध्वनि' माना है । 'आद्यबिंब का रूपग्रहण मानो वर्तमान की भाषा में पुरातन का अनुवाद है' (जुंग) । जुंगीय आलोचना-पद्धति **शब्दों के मणिभीकरण**(क्रिस्टलाइज़ेशन)की प्रक्रिया है । इसलिए इसमें साहचर्य तथा विस्तरीकरण की पद्धतियां अपनाई जाती हैं। आद्यरूप(I)तथा आद्य शब्दबिंब (१)में अमूर्त धारणात्मक विनिमय हो जाता है । इसमें प्रजातीय अवचेतन की अपेक्षा सामूहिक अवचेतन ज़्यादा गहराया होता है । मिथकों की तरह आद्यरूप भी सत्य, यथार्थ और शाश्वत के त्रिकोण होते हैं (पवित्र पर वैसा एवं इतना बल नहीं है) । आद्यबिंब चित्त की ऊर्जा का आद्यबिंब-शृंखलाओं तथा फांतासियों में रूपांतरण करते हैं । ये चिति को नियमित भी करते हैं; ये संकेतों या चिह्नों की अपेक्षा अधिक अभिव्यंजक होते हैं। आद्यबिंब की शब्दबद्ध अभिव्यंजनाएं काव्य हैं। अत: प्रतीकात्मक या बिंबात्मक शब्द ही काव्य हैं। अत: बिंबात्मक महाशब्द(पुंज) काव्य है तथा फांतासी-स्वरूप है । "एक सांस्कृतिक या सामाजिक अतीत की जांच-पड़ताल करने पर यह (आलोचना) ऐतिहासिक है, किंतु साहित्य के विशेष युग से आजाद मूल्य के प्रदर्शन की दृष्टि से यह अन-ऐतिहासिक भी है ।"[2]

(viii) मानवीय पूर्वेतिहास की तरह **भाषा का पूर्वेतिहास** भी होता है। इसकी सांस्कृतिक विचारवस्तुओं को मापने के लिए प्रखंडीकरण (सेगमेंटेशन) का भाषिकी सिद्धांत इस्तेमाल किया जा सकता है । इस प्रखंडन की लघुत्तम सार्थक इकाई **अभिप्राय** (मोटिफ) है । अभिप्राय और **चित्रलिपि** की अस्मिता मिथक को चित्र-भाषा (आद्यबिंबात्मक भाषा, आद्यरूपात्मक भाषा) में परिवर्तित करती है। मोहेनजोदड़ो की **आदि भाषा** (प्रोटो-लैंग्वेज) इसी पद्धति द्वारा पुनरुद्धारित हुई है। इसका प्रथम स्रोत तो 'वाक्' ही है, दूसरा स्रोत **लोक-मार्ग** है । अत: पुनर्विन्यास की प्रक्रिया द्वारा ही आदि भाषा की पुन:प्राप्ति हो सकती है । और, हम पहले ही इसे लिपिबद्ध कर चुके हैं कि मिथक और मिथक-भाषा (अधिभाषा, आदि भाषा) की आधारभूमि 'सामूहिक पुनर्प्रस्तुति' ही है । एक भाषा-परिवार के स्वरविज्ञानपरक

१. वही, पृ० १२-१३ ।

२. "फाइव एप्रोचेज टू लिट्रेरी क्रिटिसिज़म", विल्बर स्कॉट (कोलियर पेपरबैक, न्यूयार्क, १९६२), पृ० २४७ ।

और भी देखिए, मॉड बाडकिन (१९३४) तथा नार्थाप फ्राइ (१९५७) । मिथक की मेटा-लिंग्विस्टिक्स या 'अधिभाषिकी' की तरह आद्य मिथकथ्यों (आर्केटाइपल माइथास) वाली नार्थाप फ्राइ की आलोचना-पद्धति 'अधि-आलोचना' (मेटा-क्रिटिसिज़्म) कहलाती है ।

सादृश्य वाले अंतर्वर्गों तथा दूसरे भाषा-परिवार के प्रकार्यवादी सादृश्य वाले अंतर्वर्गों को आमने-सामने लाने पर आदि भाषा का पुनर्विन्यास (रि-कांस्ट्रक्ट) किया जाता है।[1] लगभग सभी भाषाओं में लगभग साठ प्रतिशत अर्थविज्ञान की सामान्य व्यवस्था होती है किंतु वाक्य-विन्यास की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएं होती हैं। अतः अर्थीय व्यवस्था ही मिथक और भाषा की समानता की भूमिका प्रस्तुत करती है। प्रोटो-भाषाएं यह भी सिद्ध करती हैं कि **तैरती हुई मिथकें** (फ्लोटिंग मिथ्स) दूर-दूर के महासागर-तटों, मैदानों, देशों तथा पर्वतों तक भी पहुंचती रही हैं।

कई तरह से अन्वीक्षा करके हम यही पाते हैं कि मिथक **अधिभाषिकी** (मेटा-लिंग्विस्टिक्स) है अर्थात् इसकी भाषा का संबंध बाहरी संसार से है। यह सामाजिक तथा ऐतिहासिक है। वर्तमान समाज की भीषणता और जटिलता से बचने के लिए, अथवा इतिहास से पलायन करने के लिए मिथक का इस्तेमाल मानवीय चिति तथा सामाजिक द्वंद्वमान, दोनों का ही विनाश कर देगा। अधिभाषिकी के द्वारा हम समाजों की अर्थीय (सीमेंटिक) अथवा मूल्यचक्रीय (वैल्यू क्लस्टर) व्यवस्था की खोज करते हैं जो मिथकों का व्यवहार करती हैं। इन्हें केवल 'शुद्ध' अथवा मात्र विषयगत नहीं किया जा सकता। हम लेवी-स्ट्रास की यह भूल नहीं दुहराएंगे। भाषा तथा मिथक तो मानवीय समाजों की सामूहिक एवं सामाजिक संस्थाएं हैं।

(ix) जार्ज डुमेज़िल ('कालेज द फ्रांस' में लेवी-स्ट्रास के वरिष्ठ सहकर्मी; इनके सैद्धांतिक विश्लेषण ऊंची पद्धर के हैं) तथा ग्रेइमास अपेक्षतया जटिल समाजों के घटकों से निपटे हैं[2] और उनका 'विषयवस्तुमूलक' विश्लेषण संरचनात्मक विश्लेषण से काफी ज़्यादा अर्थवान है क्योंकि वह कई धरातलों पर निष्पादित हुआ है— सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि पुनर्प्रस्तुतीकरणों (रिप्रेज़ेंटेशंस) से। इस पद्धति से **मिथक की सार्वभौम विषयवस्तु** के आरेख प्राप्त किये जा सकते हैं। इस पद्धति में कुछ 'निश्चयक' (डिटर्मिनेंट्स) रहे हैं:

शहरी बनाम ग्रामीण;
पावन (सेकरेड) बनाम भूतेंद्रिक (प्रोफेन);
पौराणिक (क्रिश्चियन) बनाम वैदिक (पेगन); आदि।

(x) अब हम भाषा और मिथक के संबंधों के बाबत अंतिम निष्कर्ष तथा कार्यकारी परिभाषा दे सकते हैं।

प्राचीन मिथक और आधुनिक भाषा के रिश्ते बहुत जटिल हैं: द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों तथा द्विकर्मी प्रतिरोधों से गुंथे हुए, बंडलों और संकेतों वाले, रूपों और प्रतीकों वाले। भाषिकी व्यवस्था पहली है और इसका संक्षेत्र भाषा-बहिर्वस्तु है, जबकि मिथक व्यवस्था ऊपरली है और इसका संक्षेत्र अधिभाषा है। भाषा का (खुद

१. देखिए, तीसरे अध्याय में मोहेनजोदड़ो की भाषा के प्रसंग।

२. देखिए, ग्रेइमास: 'तुलनात्मक मिथकशास्त्र'; पियरे मारांडा द्वारा संपादित: 'माइथॉलॉजी' (पेंग्विन, १९७२), पृ० १६२-१७०। दिमित्री एम० सेगल भी (वही), पृ० २१५-२४६।

भी) एक मिथक है; भाषा भी मिथक है। मिथक (की भाषा) विज्ञान भी है तथा संकेत-विज्ञान भी; प्रतीक भी है तथा संरचना भी। यह मिथकत्व (माइथीम) एवं मिथकथ्य (माइथास) की लघुत्तम इकाइयों वाली होती है।

(१) मिथक 'प्रकथन या प्रवचन' हैं जिन्हें संकेतविज्ञान, शैलीविज्ञान, नृकुलविज्ञान की दृष्टि से विस्तरणीय बनाया जा सकता है। इन प्रवचनों की इतिवृत्तात्मक इकाइयां बिंब हैं और अभिप्राय हैं, अंतर्वर्ग हैं और क्रोड़ भाव/विचार हैं; लघुत्तम वाक्य हैं और विपथित या विचलित पदबंध हैं।

(२) मिथकीय प्रकथनों की 'अभिव्यंजनाएं' वास्तविकता-वृत्त के बजाय संभावनाचक्र और व्याख्यावृत्त पर होती हैं क्योंकि मिथक एक दोहरा सिस्टम हैं। इनमें कूटों (कोड्स) का चक्रार्थभेदन होता है, इनकी धारणाओं में इतिहास का तथ्यांक गठित होता है। इनके विरोधों में मानवीय मस्तिष्क की ज्ञानमीमांसा के सूत्र गुंथे होते हैं तथा इनके चिह्नों में मानवीय चिति महाकाल के फलक तलक अपनी लंबी बाहें तथा चक्राक-गठीली एड़ियां तान लेती है।

(३) मिथकीय प्रकथनों की अभिव्यंजनाएं 'अर्थीय व्यवस्था' के 'संघटकों' की उद्घाटनकर्त्री हैं। मिथकीय अर्थ शब्दार्थक नहीं हैं। वे संकेतविज्ञान तथा संरचनाशास्त्र के मेल से प्राप्त संसार के (यथार्थता वाले) अर्थ हैं। ये अर्थीय व्यवस्थाएं वैयक्तिक, या स्वयंप्रकाश्य, या अंतर्मुखी नहीं हैं, बल्कि ये धर्म के इतिहास से (कल्ट, संप्रदाय), विज्ञान के इतिहास से (तकनीक), समाज के इतिहास से (प्रेक्सिस) भी बंधी हैं। ये सामूहिक हैं, सामाजिक हैं, सामुदायिक हैं तथा साम्यावस्था (कम्यून)-संभूत हैं। इनमें सामूहिक अवचेतन तथा सामूहिक पुनर्प्रस्तुति की आंतर शय्याएं भी हैं। ये आद्य और आधुनिक की द्वंद्वात्मक एकता हैं।

(४) दर्पण और एक्स-रे के सामने निर्वसन मिथकों की रूपगाथा

मिथक **वाक्** (स्पीच) है। मिथक में **भाषा** (लैंग्वेज) का वही महत्त्व है जो भाषा में **स्वनिम** (फोनीम) का। फर्डीनांड द सौस्यूर ने भाषा और वाक् के बीच जो अंतर किया है, तथा रोमन जेकोब्सन (१८९५—) ने एककालिक व्यवस्था के रूप में भाषा-चरित्र की जो छानबीन की, उससे मिथकों की संरचना भी विश्लेषित हुई। भाषा एककालिक या समकालिक (सिंक्रानिक) है तथा वाक् कालक्रमिक (डायाक्रानिक)। इस तरह "मिथक **वाक्** है; इसका काल घटित को संदर्भित करता है और यह एक अनावृत्तिपरक उच्चार है। इसी के साथ-साथ यह भाषा है : एक ऐसी संरचना है जो हर बार मूर्तिमान हो उठती है जब हम दोबारा गाथा सुनाते हैं।"[1]

मिथक और भाषा की तुलना से अनुप्रेरित होकर लेवी-स्ट्रास (१९०८—) ने मिथक के अंगीभूत तत्त्वों की छानबीन की। उन्होंने 'संरचनामक भाषिकी' में प्राप्त

१. ओक्टाविये पाज : 'क्लाड लेवी-स्ट्रास : एन इंट्रोडक्शन' (कार्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, १९७०), पृ० २६।

भाषा-चरित्र का उपयोग किया। रोमन जेकोब्सन स्पष्ट कर चुके थे कि एक समकालिक व्यवस्था के रूप में भाषा **वाक्-ध्वनियों** से बनी होती है जिन्हें स्वनिम कहते हैं। आधारभूत वाक्-ध्वनियों का फर्क **द्विमुखी विरोध या प्रतिरोध** (बाइनरी अपोजीशन) के पदबंधों से होता है : अनुनासिक/कंठ्य, तीव्र/अतीव्र, घोष/अघोष। इस 'प्रतिरोध' का प्रत्येक पद **प्रभेदी लक्षण** (डिस्टिंक्टिव फीचर) कहलाता है। इस तरह एक स्वनिम एक बंडल या पुलिंदा है जो ऐसे कई प्रभेदी लक्षणों से मिलकर बना है। जेकोब्सन ने बताया कि प्रभेदी लक्षण मिलकर **स्वनिम** बनाते हैं; स्वनिम मिलकर **रूपिम** (मार्फीम) बनाते हैं; **शब्द** बनाते हैं। इस बंतर के व्यावहारिक नियम होते हैं।

भाषा की संरचना भी द्विमुखी या 'द्विकर्मी प्रतिरोध' वाली है। **मिथकें** भी द्विकर्मी प्रतिरोध वाली हैं। मिथकों के रहस्यमय घेरों में हम इन विरोधों से इनके समाहारों की ओर अग्रसर होते हैं।

क्लाड लेवी-स्ट्रास ने संरचनावादी पद्धति से बताया कि एक मिथक को लघुत्तम **वाक्य-प्रखंडों** (सेगमेंट्स) या घटनाओं में तोड़ा जा सकता है। [जिस तरह तर्कशास्त्र में हम स्वयंसिद्धि, अमूर्त चिह्नों, प्रतिज्ञाओं, अनुमानों आदि का व्यवहार करते हैं उसी तरह मिथकीय चिंतन में देवताओं, नायकों, पशु-पक्षियों, घटनाओं, संबंधों आदि का इस्तेमाल कर सकते हैं]। मिथकों में स्थूल तर्कशास्त्र की पहेलियां, गांठें तथा समस्याएं होती हैं। इन विखंडित वाक्य-खंडों को सादृश्य-साम्यता के आधार पर 'बंडलों' या पुलिंदों में अलहदा किया जा सकता है। एक साम्यधर्मी तत्त्वों के बंडल ही मिथक की सही **अंगीभूत इकाइयां** (यूनिट) हैं। ये इकाइयां विरोधों या **प्रतिरोधों के युगल** में मिलती हैं। इन्हें हम द्विकर्मी प्रतिरोधों के युगल कह सकते हैं; जैसे टैबू/उपहार, भिक्षा/भेंट, नर/नारी, मृत्यु/जीवन, पति/प्रेमी।

प्रतिरोधों के ऐसे विभिन्न युगल एक ओर तो लघुत्तम वाक्य-**प्रखंड** हैं तथा दूसरी ओर अंगीभूत **इकाइयां** भी हैं। इन्हें ही **मिथकत्व** (माइथीम) कहा गया है। 'मिथकत्व' वस्तुतः मिथकीय संबंधता के बंडल या गांठें हैं या लघुत्तम इकाइयां हैं जो शुद्ध भाषिकी स्तर से ऊपर होकर परिचालित होते हैं। "शुक्रिया है कि 'मिथकत्वों' की वजह से ही मिथकें वाग्मिता और भाषा हैं, अप्रत्यावर्तनीय काल (कथा) और प्रत्यावर्तनीय काल (संरचना) हैं, कालक्रमिकता और समकालिकता हैं। सारांश में, मिथकें पुनश्च अर्थ के अर्थ की समस्या से हमारा साक्षात्कार कराती हैं।"[1]

मिथक की संरचना के लिए लघुत्तम वाक्य प्रखंडों वाले **मिथकत्व** ही हमारे आधार हैं जो मिथकथ्य (माइथॉस) के छल्लों में फैलते चले जाते हैं। हर स्थिति में घटनाएं **संबंधों** और विशिष्ट पात्रों की **हैसियतों** से जुड़ी हैं। अतः संबंध और स्टेटस अपेक्षाकृत प्रमुख हैं।

हम विन्यासक्रमी श्रृंखला (सिंटैग्मेटिक चेन) में इन प्रखंडों को ले सकते हैं। फिर इन विभिन्न आयोजनाओं (स्कीम) के आरेख (ग्राफ़) खींचे जा सकते

१. ओक्टाविया पाज, वही, पृ० २८।

हैं। ये ही **मिथक की सार्वभौम संरचनाएं** होंगे। ये आरेख 'एक तर्काभासित मॉडल पेश करते हैं जो अंतर्विरोध (विरोध) का समाधान/तिरोधान करे।'

हम इस पद्धति को अनसूया की मिथक पर दोबारा लागू करेंगे। इसे पहले ही स्पष्ट कर दें कि लेवी-स्ट्रास इस पद्धति द्वारा एक ओर तो मिथक को **तटस्थ** बना देते हैं, दूसरी ओर **इतिहास** के संसार की उपेक्षा करके उन्हें प्रकृति में तब्दील-सा कर देने हैं तथा तीसरी ओर यह भी नहीं खोल पाते कि मनुष्य कैसे सोचते हैं, क्या सोचते हैं, सांस्कृतिक सीमाओं में कितना सोचते हैं। हम इन कमियों को खारिज करते हुए चलेंगे।

अनसूया मिथक की विन्यासक्रमी शृंखला के नौ प्रखंड या 'मिथकत्व' हैं—

(i) त्रिदेवियों (सरस्वती, लक्ष्मी, सती) की ईर्ष्या उनके पति त्रिदेवों को ईर्ष्यारहित अत्रिपत्नी अनसूया का सतीत्व भंग करने को अभिप्रेरित करती है।

(ii) छद्मवेशी त्रिदेवमुनि नहाती हुई नंगी अनसूया से भिक्षा की मांग करते हैं। (देवकांताएं नग्नता से नारी-सतीत्व भंग करना चाहती हैं, तो त्रिदेव नग्नता में नारी-सृष्टि के रहस्य को भंग करना चाहते हैं)।

(iii) अपार सुंदरी सती नग्न अनसूया की गोद में तीन नग्न शिशुदेव स्तन-पान (की **भिक्षा**) पाते हैं। (वह भिक्षा देती है, शर्त पूरी करती है, सतीत्व का टैबू या वर्जना भी भंग नहीं होती)।

(iv) अत्रि पुत्ररूप में शिशुदेवताओं को पाते हैं। (वे रहस्य समझ लेते हैं; वे पति होकर भी पिता नहीं हैं।

(v) त्रिदेव अपने तेज (=वीर्य) से गुणवती संतानकामिनी अनसूया की गोद में तीन अंशशिशु (पुत्र) **भेंट** देते हैं। (निर्मल, नग्न, निष्कुंठ नारी-शरीर में ही सतीत्व तथा सृष्टि की शक्ति का रहस्य छिपा है)।

(vi) पति अत्रि हैं और अब पति-से नहीं हैं। त्रिदेव पति नहीं हैं और अब पति-से हैं। (पात्र अदल-बदल गये हैं किंतु संबंधों पर गौर है)।

(vii) शिशुविहीन सती अनसूया पुत्रवती माता अनसूया भी हो जाती है (पति और पुरुष के संबंध प्राकृतिक हैं क्योंकि संभवतः मिथक में एक मातृसत्ताक समाज की स्वच्छंदता में पति-प्रेमी-पुत्र के रिश्तों का संघुलन हो गया है।)

[परगमन (एडल्ट्री) की **वर्जना** सतीत्व में तथा **ग्रहण** या स्वीकृति सृष्टि में हुई।]

(viii) अत्रि (त्रित्व-रहित) की पत्नी सती अनसूया त्रिदेवशिशुओं को प्राप्त करके **महासती** हो जाती है : पूर्णगात, पूर्णकाम नारी ! वह सती (वर्जना) है तथा सती नहीं भी है (शिशुभेंट)।

इस कथा में नामों के व्युत्पत्तिमूलक (एटिमोलाजिकल) अर्थ भी हो सकते हैं :

(ix) अत्रि—अनसूया के पति = त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) / त्रित्व (सृष्टि, स्थिति, संहार) से रहित।

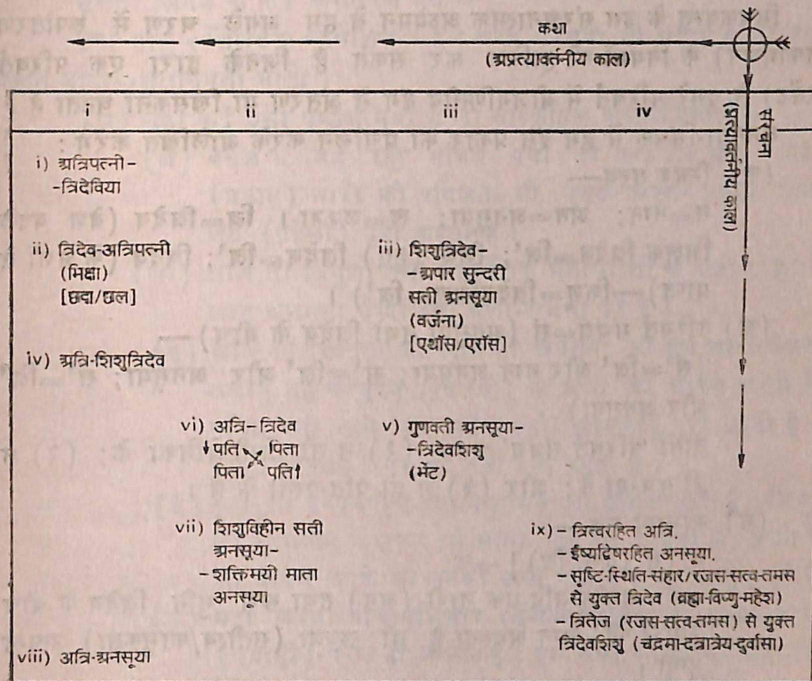
अनसूया—अत्रिपत्नी =अपने सतीत्व की ईर्ष्या और अपने अपार रूप के द्वेष से रहित।

त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश =सृष्टि-स्थिति-संहार/रजस, सत्त्व, तमस।

त्रिदेवशिशु—सोम (चंद्रमा), दत्तात्रेय, दुर्वासा=रजस तेज, सत्त्व तेज, तमस तेज।

अत: 'शिशु' के केंद्र में अनसूया सतीत्व का, तथा देवता सृष्टि का रहस्य जान लेते हैं। **भिक्षा** (की पहेली) दो असंगत संबंधों की एकता करती है तथा उपहार या **भेंट** (परगमन : एडल्ट्री) दो असंगत लोगों की एकता करती है।

अंतत: नीचे के आरेख में हम इन नौ मिथकत्वों (माइथीम्स) को चार महलों (I, II, III, IV) में वर्गीकृत करते हैं—



चारों महलों में दायें से बायें जाने पर 'कथा' का तथा ऊपर से नीचे आने पर 'संरचना' का निरूपण होता है। पहले महले (I) में संबंधों का अवमूल्यन हुआ है। यहां परगमन (एडल्ट्री) तथा सतीत्व अर्थात् नारीत्व तथा सतीत्व को लेकर

संकट है। दूसरे महले (II) में संबंधों का अधिमूल्यन है। सतीत्व बनाम मातृत्व तथा पतित्व बनाम पौरुष के अंतर्विरोध समंजित हुए हैं। तीसरे महले (III) में मानवीय सृष्टि के रहस्य-क्रोड़ में शिशु है। यह लघु तथा विराट्, उभय रूप है। यहां स्वयं त्रिशिशुदेव (स्रष्टा) हैं तथा त्रिदेव शिशु सृष्ट हैं। यह क्रम मनुष्यों और देवों के सृष्टि-रूपों का आदान-प्रदान तथा अदल-बदल है। चौथे महले (IV) में प्रकृति और विश्व की सृष्टि का रहस्य (शिशु के स्थान पर) अंशों/तेजों के त्रित्वपरक संयोजनों के रूप में उद्घाटित हुआ है। प्रकृति, पुरुष, देवता और मनुष्यादि एक ही आद्यक्रम में गुंथे हैं। उनका एक ही उद्गम है।

पहले और दूसरे महले में पूर्ण नारीत्व की पहेली, तथा तीसरे और चौथे महले में संपूर्ण सृष्टि का रहस्य समाधानित हुआ है।

इनके संबंध-सूत्र यों हैं :

I / II : : III / IV

मिथकवस्तु के इस संरचनात्मक अध्ययन से हम अगले चरण में रूपांतरण (ट्रांसफार्मेशन) के नियमों को हासिल कर सकते हैं जिनके द्वारा एक परिवर्त (वेरियेंट) से दूसरे परिवर्त में बीजगणितीय ढंग से अंतरण या खिसकना घटता है।

अनसूया-मिथक में हम इस प्रकार का प्रचालन करके आलेखित करेंगे :

(क) स्थिर तत्त्व—

न=नग्न; अन=अनसूया; ल=लज्जा। त्रि=त्रिदेव (वेश बदले भिक्षुक त्रिदेव=$त्रि^{१}$; शिशु (हुए) त्रिदेव=$त्रि^{२}$; त्रिदेव (के अंशों से प्राप्त)—शिशु=त्रिदेवशिशु=$त्रि^{३}$)।

(ख) परिवर्त संबंध=सं (अनसूया तथा त्रिदेव के बीच)—

($सं^{१}$=$त्रि^{१}$ और नग्न अनसूया; $सं^{२}$=$त्रि^{२}$ और अनसूया; $सं^{३}$=$त्रि^{३}$ और अनसूया)

तीनों 'परिवर्त संबंध' क्रमशः (१) न तो प्रेमी-प्रेमिका के; (२) न ही पुत्र-मां के; और (३) न ही पति-पत्नी के हैं।

(ग) सामान्य सूत्र—

न [सं (अन, त्रि)] → ल

अर्थात् यदि एक नारी (अन) तथा छद्म मुनि त्रिदेव के बीच (नारी की) नग्न अवस्था है तो लज्जा (सतीत्व/कामुकता) उत्पन्न होगी।

धार्मिक से नैतिक संस्करण में खिसकने वाला 'रूपांतरण' $सं^{१}$→$सं^{२}$ द्वारा होता है जिससे मंतव्य (सतीत्व-भंग) की तीव्रता घटती है; त्रि का छद्म/छल असफल होता है और उनका रूपांतरण भी $त्रि^{१}$→$त्रि^{२}$ में हो जाता है।

अतः दो रूपांतरकर्मी (ट्रांसफार्मर) मिले—

$सं^{१}$→$सं^{२}$;

तथा $त्रि^{१}$→$त्रि^{२}$।

इनसे सतीत्व-भंग का मंतव्य समाप्त होता है तथा लज्जा की अभिप्रेरकता (मोटिवेशन) बदल जाती है। अतएव तनाव उदात्तीकरण में बदल जाता है। लज्जा व्युत्पन्न करने वाले संबंधों में क्रमश. $त्रि^{1}$ और एक नग्न नारी; $त्रि^{2}$ और एक नग्न नारी; तथा $त्रि^{3}$ और एक संतानकामी नारी के हैं जो नग्न-भिक्षा से रिक्त होकर (स्तनपान कराकर) उन्हीं (के अंशों) की भेंट से भर जाती है।

अंततः —

$$सं = सं^{1} \vee (सं^{2} \wedge सं^{3})$$

अर्थात् चार परिवर्त संबंध रूपांतरण हुए जिनसे सतीत्व की भी तथा संतान-प्राप्ति की भी सिद्धि हो गयी।

इस सांस्कृतिक-नैतिक रूपांतरण में कई 'अर्थीय व्यवस्थाएं' (सीमेंटिक सिस्टम्स) अपनाई गयीं।

मूलतः त्रिदेव के कई रूपांतरण हुए—

छद्म साधु→शिशुदेव→देवशिशु। इस तरह अनसूया भी अपार सुंदरी सती→प्रकृति नारी→संतानवती माता।

(घ) यहां कई ऐसी पृष्ठभूमियां हैं जो सांस्कृतिक रूपांतरकर्मी हैं—

(अ) बगल में बह रही पवित्र गंगा की तरह हर माह रजस्वला (प्रवाह) नारी की पवित्रता भी उसके निरंतर पवित्र रहने की शर्त (पहेली) पूरी करती है।

(आ) अत्रि तो त्रिगुणों तथा सामाजिक अंतर्विरोधों से 'तटस्थ' हैं; इसी तरह अनसूया ईर्ष्या-द्वेष, घृणा-राग से परे है।

(इ) अत्रि की रिक्तता की पूर्ति ही अनसूया को पूर्ण नारी बनाती है अर्थात् वह परपुरुष (त्रिदेवों) के अंशों को धारण करती है—पवित्र बनी रहने की शर्त (गंगा/रजस्वला) पूरी करती है और इस (परगमन) पर भी सती बनी रहती है।

(ई) अनसूया परपुरुषों के आमने-सामने भी प्रेमिका नहीं है; शिशुदेवों को स्तनपान कराकर भी माता नहीं है; त्रिदेवों के तेजस वीर्य को धारण करके भी उनकी पत्नी नहीं है। वह अनसूया ही है।

(उ) यहां लज्जा गोत्रव्यभिचार (इंसेस्ट)-मूलक न होकर परगमन (एडल्ट्री)-परक हो सकती है। इस शंका का ही समाधान निरावरण काया (नग्नता) द्वारा हुआ है। $सं^{3}$ में तो अनसूया तथा शिशुरूप त्रिदेव, सभी नंगे हो जाते हैं। रहस्य खुल जाता है। लज्जा यौनधुरी से हट जाती है। एक नग्न (अक्षतयोनि) काया तथा तीन नन्हे शिशु!!! पहेली का उत्तर मिल जाता है—

(i) स्व-पर-अन्य संबंधों से विमुक्त यह नारी (इ) टैबू-केंद्र में भिक्षा देती है तथा भेंट-केंद्र से भिक्षा पाती भी है;

(ii) उसका सतीत्व भंग नहीं होता और सतीत्व भंग होता है।

(iii) त्रिदेव उसके पुत्र-से हैं (पति नहीं हैं); तथा वे पति-से हैं (पुत्र नहीं हैं)।

इस तरह कुछ अन्य 'द्विकर्मी विरोध' हैं—

(iv) पवित्र सती अत्रिपत्नी/त्रिदेवभोग्या सती नारी;

(v) नग्न लज्जा (सतीत्व)/नग्न रति (सृषि);

(vi) शिशुदेव/देवशिशु (यहां शिशु मानवरूप हैं);

(vii) शिशुविहीन मातृत्व/शिशुवती माता।

(ऊ) इस तरह एक मातृसत्ताक अवस्था वाली नारी-चिति (फीमेल साइके) की 'धारणा' पर नैतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक 'रूपों' के **सामूहिक पुनर्प्रस्तुतीकरण** (बोआज) छाये हैं। मातृसत्ताक व्यवस्था की स्वच्छंदता में नारी-पुरुष **संबंध** अधिकांशतः माता-शिशु के ही होते हैं। यहां अनसूया में पत्नी-पति, प्रिया-प्रेमी, आदि के 'संबंधों' पर आग्रह नहीं है। मूलतः ये 'नारी-शिशु-संबंध' हैं जहां अनसूया अपनी पदवियां बदलती है। 'सतीत्व' का आवरण तो बाद की पौराणिक नैतिकता की देन है जब शीलभंगकर्त्ता (सिड्यूसर्स) त्रिदेव और एक अकेली नंगी युवती आमने-सामने आ टकराते हैं। इस तरह इस मिथक का धार्मिक-नैतिक प्रशाखन परवर्ती है। यह तथ्य मिथक-व्याख्या के फलस्वरूप उसके नये-नये छोटे-बड़े मिथक संस्करणों में से उभरा है।

निष्कर्षतः इतिहास का द्वंद्वन्याय भी यही बताता है कि मूल संबंध एक है: नारी (माता) तथा शिशु (संतति) का। पुरुष का महत्त्व गौण (अत्रि) है। नग्नता और स्वच्छंदता के अवचेतन अंतर्वर्गों ने 'मातृत्व' के अंतर्विरोध का समाहार कर दिया है।

सामूहिक रूपांतरकर्मियों[1] के माध्यम से भी इस मिथक के संरचनावादी विश्लेषण द्वारा 'एक ऐसा मॉडल पेश हुआ है जो अंतर्विरोधों का तिरोधान करता है', (लेवी-स्ट्रास)।[2]

'संरचना' के अंतर्गत रूपभेद (वेरियेशन) के कुछ नियम हैं जो संयोजनों, निरुक्तियों, विकासों का निर्धारण करते हैं।

१. इस पद्धति के लिए देखें: सं० पियरे मारांडा: 'माइथोलॉजी' (पेंग्विन, लंदन, १९७२), पृ० ११-१२।

२. इस अनसूया-मिथक के कई विपथन हैं; जैसे चंद्रमा दक्ष की सत्ताईस कन्याओं का पति है (दक्ष की कन्याओं में अनसूया, सती, रति, दिति, अदिति आदि हैं)। मूल मिथक में वह अनसूया-पुत्र है। इस तरह गोत्रव्यभिचार (इंसेस्ट) की समस्या भी उठती है। एक अन्य मिथक में समुद्रमंथन में लक्ष्मी के साथ निकलने के कारण वह उसका भाई है। ये धुंधले संबंधों वाली व्यवस्थाओं के सूचक हैं।

'संयोजन' (काम्बिनेशन) की मिसाल 'कालिय-मंथन' है। यमुना-तट पर खेलते हुए बालकृष्ण की 'गेंद' यमुना नदी में गिर जाती है। उसे लाने के लिए कृष्ण नदी में जाते हैं और वहां 'कालिय नाग' का मंथन कर देते हैं। स्पष्ट है कि गेंद पृथ्वी का लघुरूपण है; कालिय शेषनाग की पुनर्प्रस्तुति है तथा इन दोनों के ताल-युक्त संयोजन से विष्णु के बालरूप में कृष्ण की सिद्धि है। अब 'गेंद' उनके हाथ में है (स्थिति) तथा 'शेष' उनकी चरणशय्या है।

संयोजन तथा कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) का दृष्टांत बालिवध है। बालि-वध के लिए श्रीराम पर एक शर्त लगी थी कि बालि का वध तभी होगा जब उनका तीर एक गोले में उगे हुए सात ताड़वृक्षों को एकसाथ भेदता हुआ निकलेगा। यह पहेली है। इसका उत्तर कायाकल्प में है। एक शापग्रस्त सर्प के कुंडलित शरीर पर वे सात ताड़वृक्ष उगे थे। धनुष तानते हुए श्रीराम ने लक्ष्मण (संयोजन) के एक पैर का अंगूठा अपने पैर से दबा दिया जिससे वे सातों ताड़वृक्ष एक सीधी पंक्ति में स्थित हो गये तथा राम का तीर बालि को बेंध गया (क्योंकि लक्ष्मण शेषनाग के अवतार थे और उनका अंगूठा दबाते ही शापग्रस्त सर्प कुंडली छोड़कर सीधा हो गया)।

'विकास' धर्म के इतिहास से भी जुड़ जाता है। रामभक्ति की मधुरोपासना-धारा की एक 'मिथकीय धारणा' के अनुसार एक बार राम की एक दासी ने उनका तांबूल-रस पी लिया जिससे उसके होंठ लाल हो गये। प्रसन्न होकर राम ने वरदान दिया कि अगले जन्म में जब वे कृष्णावतार लेंगे तो वह एक प्रमुख गोपी होगी।

मिथकों के सांप्रदायिक उपयोग में काल विभक्त हो जाता है। जीवन जन्म-जन्मांतरों की शृंखला से जुड़ जाता है, अंतर्विरोध शाप-वरदान में जुड़ जाते हैं; इत्यादि।

'ध्वनि-रूप-संवेग-रूपांतरण' भी व्युत्पत्तिशास्त्र में काफी खोजा गया। उदा० : तपस्या में लीन पार्वती द्वारा मां के सामने (लज्जा के कारण) शिव-वरण का प्रस्ताव मना करने पर—'उःमा !' उसका नाम ही **उमा** हो गया और एक मिथक-निर्मिति हो गयी।

सृष्टि के प्रारंभ में आकाश की लाली को देखकर आदिम बर्बर मनुष्य के अतिप्राकृतिक आश्चर्य से उत्पन्न 'उ श् श् श् श ा ा ा !' की ध्वनि ने उःषा गढ़ डाली होगी और उसका सूर्य-उषा की नित्य प्रणयलीला में विकास कर डाला होगा।

इस तरह भाषा ने हर बार मिथक को एक नयी संरचना प्रदान की है जिसमें नाना प्रकार के 'रूपांतरकर्मी परिवर्त' हैं।

निष्कर्ष : (मिथक की) संरचना में एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें कूट (कोड) होते हैं। यदि मिथक-सर्जक या नृतत्त्वशास्त्री उन कूटों का चक्रभेदन (डिसाइफ़रिंग) कर लेता है तो वह (व्यवस्था) एक दूसरी व्यवस्था (रूप) में अनूदित हो जाती है। वाक्-ध्वनि-विचार के बीच विवेकशील तथा नैसर्गिक रिश्ते नहीं होते। वे मूलतः अवचेतन के रिश्ते हैं। अवचेतन के अंतर्वर्गों द्वारा ही हमें छिपी हुई 'संरचना' तक पहुंचना होता है, बिंब-अर्थ (मेटा-सिग्निफिकेशन) पाने के लिए। ब्रानिसलाव

मेलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ़ ब्राउन (१८९७-१९५८) ने अवचेतन अंतर्वर्गों को मात्र प्रकार्यमूलक या अविवेकी माना है; जबकि लेवी-स्ट्रास इन्हें अवचेतन तथा विवेकशील मानते हैं। वे इन्हें बंडलों/गांठों में घटाते हैं तथा उनके अंतर्संबंधों एवं अंतर्विरोधों की छानबीन करते हैं। जैसा कि हम बार-बार कह चुके हैं, यह छानबीन रूप-केंद्रित है, अर्थाश्रयी होने की अपेक्षा। वस्तुतः कूटोंवाले प्रवचनों में अर्थ तो छिपा हुआ होता है।

(५) मुनासिब राजनीतिक कार्यवाहियों में मिथकों के हथगोले

मिथक और **राजनीति** के समकालीन सवाल तो बेहद मुश्किल तथा जटिल हैं।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अधिभाषा मिथक की संरक्षिका है। यह भाषा वस्तु का सीधा साक्षात्कार या उसका कार्यान्वियन नहीं होने देती बल्कि उसके नाम, या रूप, या बिंब का वृत्तांत गूंथती-रचती-बुनती है। यह ऐतिहासिक तथा सामाजिक यथार्थ का परिवर्तनशील समकालीनता में अंगीकार नहीं कर सकती बल्कि उन्हें शाश्वत अर्थात् प्राकृतिक, शाश्वत और प्रावृत्तिक बना देती है। यह मूर्त्त तथा ठोस भाषा नहीं है। **भाषा** में हमारा यह संसार द्वंद्वात्मक मानवीय संबंधों तथा सामाजिक संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त होता है, लेकिन **मिथक** में उसी (संसार) का अमूर्तीकरण हो जाता है अर्थात् ऐतिहासिक यथार्थता रिक्त हो जाती है। इतिहास से रिक्त उस यथार्थता को शाश्वत बनना ही होता है। अतः वह एक 'प्राकृतिक बिंब' हो जाती है; प्रत्युत **प्रकृति** हो जाती है।

बूर्ज़्वा समाज की प्रकृति भी मिथकीय है अर्थात् इसकी विचारधाराएं मिथक फैलाती हैं। अनाम 'बूर्ज़्वा मनुष्य' वर्गभेद तथा वर्गसंघर्ष को नकारने की वजह से 'शाश्वत मानव' तथा 'प्राकृतिक मानव' हो जाता है जो शाश्वत है, पूर्ण है, चिरंतन गुणों तथा स्वभाव वाला है। वह मानव न तो श्रमजीवी है और न ही अभिजात। इसी तरह अज्ञात बूर्ज़्वा विचारधारा की धुरी शोषण एवं उपभोग है। बूर्ज़्वा समाज खुल्लमखुल्ला पूंजीवादी है जो इस 'अमूर्त मानव' को प्राकृतिक मानता है। यह बूर्ज़्वा नाम 'राष्ट्र' की धारणा से अभिहित होता है। अतः मिथक का अव-ऐतिहासिक हो जाना, अव-यथार्थीकृत हो जाना, अव-राजनीतिक हो जाना बूर्ज़्वा समाज की प्रकृति से मेल खाता है। अत बूर्ज़्वा समाज में मिथक अव-राजनीतिकीकृत (डि-पोलिटिसाइज़्ड) वाक् है। अर्थात् यह इतिहास और राजनीति, दोनों से रिक्त होती है। पहले यह प्राकृतिक हुई; फिर इस पीठिका पर अव-राजनीतिकृत हुई। अतः एक भोली अधिभाषा को व्युत्पन्न करके मिथक स्वयं **प्रकृति** में अन्यथाकृत (डिस्टार्ट) हो जाती है। मिथक स्वयं को इतिहास से छुपाती है; बूर्ज़्वा समाज भी अपने ऐतिहासिक शोषण और उपभोग को छिपाकर स्वतंत्रता और समृद्धि की मिथकें फैलाता है। अतः बूर्ज़्वा समाज मिथकें प्रसारित करता है। बूर्ज़्वा समाज में मिथकें अनैतिहासिक, अयथार्थ, असामाजिक, अवैज्ञानिक, अप्रगतिपूर्ण आदि हो जाया करती हैं। बूर्ज़्वा समाज की अधिभाषा में प्रकथित मिथकें **प्राकृतिकीकृत** (नेचुरलाइज़्ड) तथा **अव-राजनीतिकीकृत**

चाक् हो जाती हैं क्योंकि 'इतिहास से प्रकृति की तरफ गुज़रने पर मिथकें मितव्ययिता से काम करती हैं : ये मानवीय कृत्यों की जटिलता का उन्मूलन कर देती हैं; ये उन्हें सारतत्त्वों (एशेंस) की सरलता प्रदान कर देती हैं; ये समस्त द्वंद्ववाद से बच निकलती हैं...।'[१] अतः इस परिवेश में मिथक की भाषा आदि में राजनीतिक होकर भी अंत में नैसर्गिक (प्राकृतिक) हो जाती है।

तथापि वे आगे स्पष्ट करते हैं कि 'एक भाषा और भी है जो मिथकीय नहीं है। यह उत्पादनकर्त्ता मनुष्य की भाषा है। जहां कहीं भी यथार्थता को रूपांतरित करने के लिए और उसे महज़ एक बिंब के तौर पर संरक्षित न रखने के लिए मनुष्य बोलता है, जहां कहीं भी वह अपनी भाषा को वस्तुओं की निर्मिति से जोड़ देता है, वहां अधिभाषा का प्रसंग **भाषा-वस्तु** (लैंग्वेज-आब्जेक्ट) को लक्षित करता है, और (तब) **मिथक** असंभव होती है। इसी वजह से खास **क्रांतिकारी भाषा** मिथकीय नहीं हो सकती।'[२] यह भाषा आदि में राजनीतिक तथा अंत में भी राजनीतिक होती हैं। अतः **वामपंथी भाषा** 'राजनीतिक भाषा' है। यह सारत्वविहीन भाषा है। यह एक द्वंद्वात्मक **कर्मरत भाषा** है। मार्क्स ने स्पष्टतः कहा था कि सर्वाधिक प्राकृतिक वस्तुओं तक में राजनीतिक पुट होता है। इसकी परिणति विचारधारा है। अतः प्रतीतियों (इतिहास, राजनीति, समाज) को धुंधला करके या भ्रांति बनाकर ही बूर्ज्वा इस यथार्थता को बरकरार रखता है। यहां उत्पीड़क की भाषा है। उत्पीड़ित आदमी वस्तुओं के बनाने या मिटाने (कर्म करने) से बंधा है। अतः उसकी भाषा सकर्मक है। इसीलिए आधुनिकता-बोध के अंतर्गत 'प्रतिबद्धता' एक ऐतिहासिक यथार्थता का द्वंद्वात्मक स्वीकार है तथा 'भाषा की लड़ाई' समाज-परिवर्तन में सक्रिय हस्तक्षेप है।

तो फिर मिथकें व्याख्याओं तथा प्रतीकों के रूप में द्वंद्वात्मक ढंग से अनुप्रयुक्त भी हो सकती हैं। वे जातीय परंपरा से जुड़कर वर्गीय शोषण के विरुद्ध भी पक्ष ले सकती हैं। वे अंधविश्वासों के कुहासे को चीर भी सकती हैं। अर्थात् आधुनिक मिथकों का व्याख्येय जन्म भी होता है : राज्य, मानवीय उद्धार, भविष्य के समाज की व्यवस्था आदि के क्षेत्र में।

अगर ऐसी राजनीतिक **मिथकें** द्वंद्वात्मक नहीं हैं और मात्र व्याख्यात्मक हैं तो वे **कल्पलोक** (यूटोपिया) हैं। द्वंद्वन्याय से विहीन होने का मतलब है, उनका परिपूर्ण (पर्फेक्ट) होना। कल्पलोक समग्र स्थिति की आदर्श दशा है, जबकि (राजनीतिक) मिथकें किसी भविष्य की घटना की प्रत्याशा हैं (सोरेल)। मिथक में संदर्शन के अलावा कथावस्तु अवश्य होती है। मार्क्स संदर्शक रहे हैं, किंतु मिथकनिर्माता नहीं। क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग के बारे में उनकी व्याख्या ऐतिहासिक तथा सामाजिक यथार्थ से संश्लिष्ट है (प्राकृतिक और अमूर्त्त नहीं)। यदि **राजनीतिक मिथकों** तथा **समाजशास्त्रीय सिद्धांतों** के रिश्तों को लें, तो अक्सर समकालिक घटनाओं के अध्ययन में

१. रोलां बार्थ, वही, पृ० १४३।

२. वही, पृ० १४६।

समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को लागू करने पर राजनीतिक मिथकें व्युत्पन्न होती हैं (हेनरी ट्यूडर, १९७२)। चेतना कभी भी (ऐतिहासिक) यथार्थता का तटस्थ प्रतिबिंब नहीं होती। इसलिए इसका पहला रिश्ता मनुष्य के सारतत्त्व के बजाय उसके उस अस्तित्व से है जो वास्तविक जीवन-प्रक्रिया में उभरता है ('दि जर्मन आइडियोलॉजी', पृ० ३७)। अतएव राजनीतिक मिथकें विचारधारा से भी गुत्थमगुत्थ रहती हैं।

राजनीतिक मिथकें एक ऐसे **राजनीतिक समाज** की कहानी कहती हैं जो या तो अस्तित्वमान था (गांधी का रामराज्य), या अतीत में रचा गया था (गुप्तों का स्वर्णकाल) अथवा अब उसका पुनर्जागरण, पुनरुत्थान या पुनरुद्धार होना चाहिए, अथवा भविष्य में उसका निर्माण होना चाहिए (भगतसिंह का प्रजातंत्रवादी-समाजवादी समाज)। "वस्तुतः राजनीतिक मिथक लाज़िमी तौर पर उन लोगों को संबोधित नहीं हुआ करती जो एक राजनीतिक समाज में होते ही हैं। तथ्य यह है कि राजनीतिक मिथकें जनता के बीच से अपने उस श्रोतावर्ग को ढूंढ़ लेती हैं जो यह सोचता है कि उसने या तो एक राजनीतिक समाज खो दिया है, अथवा एक ऐसा समाज अभी तक प्राप्त नहीं किया है। ऐसी मिथकें जिस प्रकार की कार्यवाहियों का प्रावधान करती हैं वे बहुत कम राजनीतिक कार्यवाहियां होती हैं।"[1] अर्थात् धूमिल के शब्दों में वह मुनासिब कार्यवाही नहीं होती। तथापि ऐसी मिथकों की भाषा सपाटबयानी वाली हो जाती है ताकि अधिभाषा के खिलाफ लड़ाई छेड़ी जा सके।

उपर्युक्त प्रक्रियाएं कुछ उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती हैं: 'रामराज्य' तथा 'समाजवाद' को यूतोपिया के धरातल पर उत्सवधर्मा बनाकर लोकचित्त को निरंतर भरमाया गया है (क्योंकि उन्हें इतिहास से अमूर्त्त कर दिया गया)। भारत-चीन सीमा-संघर्ष (१९६२) तथा भारत-पाक युद्ध (१९७५) के दौरान दिल्ली की रामलीलाओं में क्रमशः माओ-त्से-तुंग को रावण, अहमद सोकार्णो को मेघनाद तथा अयूब खां को कुंभकर्ण के पुतलों में; तथा (पुनश्च) याहिया खां को रावण, भुट्टो को मेघनाद तथा चाउ एन लाई को कुंभकर्ण के पुतलों में प्रतीकायित किया गया। इसी तरह परिवार-नियोजन आंदोलन के क्रम में रामलीला (१९७६) की एक झांकी में श्रीराम तथा लव-कुश के रथ पर लिखा था: "भगवान श्रीराम के दो: हमारे दो!" भारत-पाक युद्ध के दौरान ही लोकसभा में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का 'महाशक्ति', 'रणचंडी' जैसे मिथकीय संबोधनों से भी प्रतीकाभिषेक किया गया था। तथापि राजनीतिक मिथकें हमेशा ही एक विशेष समूह या एक विशिष्ट वर्ग की होती हैं। ये उनकी परिस्थितियों की, मनःस्थितियों की व्याख्याएं करती हैं जिन्हें हमारे वर्तमान के राजनीतिक समाज में ये संबोधित हैं। इन मिथकों के नेता वर्ग या जाति, कबीले या राष्ट्र के प्रतिनिधि या नियतिवाहक होते हैं। अतः समकालीन मिथक-निर्माण अब एक रहस्यात्मक प्रतिकर्म नहीं रहा [पूर्वैतिहासिक मिथकें अलबत्ता निरंतर दोहराई जाने के कारण हमारी चिति की संरचना में कुछ रूपों को उकेर

१. हेनरी ट्यूडर, वही, पृ० १३८-१३९।

देती हैं। इन्हें हम यथार्थ और संभावना कह सकते हैं]।

× × ×

अंततः काल और प्रवस्तु (थिंग) को विशिष्ट प्रक्रियाओं से जोड़ने वाली मिथकें यथार्थता और प्रीति के अंतर्विरोधों के घूंघट उठा देती हैं।

इस प्रकर्म में ये मनुष्य का अनुचिंतन या उसका अपना प्रतिबिंब भी हैं।

काल-क्रम में प्रवस्तुएं पिछड़ती जाती हैं। उनका क्षय होता है, उनमें परिवर्तन होता है। उनका विनाश भी होता है। मिथकों में क्षय नहीं होता, परिवर्तन नहीं होता, रूपांतरण होता है। अतः कहा जा सकता है कि स्वयं को, वस्तु को, शरीर को कर्मकांडों तथा मिथकों में, मार्क्सीय कर्मनीति (प्रैक्सिस) तथा संघर्षधर्मा प्रतीकों में दुहराओ! वे हमेशा युवा रहेंगी!! हम भी कभी बूढ़े या मरणशील प्रतीत नहीं होंगे।

लेकिन हमारी आधुनिक त्रासदी यह है कि मिथकें यह भी मनवाती हैं कि प्रारंभ ही परिपूर्ण था। तब संसार नया था। तब काल अविभाजित था। तब एक शाश्वत वर्तमान था। तब की प्राकृतिक परिपूर्णता में आज तलक इतिहास का कोई भी विकास नहीं हुआ। क्या यह सच है? क्या हर मिथक एक नया आरंभ नहीं होती? बारंबार! एक अनवरत पुनश्चर्या!!

इसके लिए एक सूत्रबंध है। भारतीय मिथकशास्त्र का जो अपना सिस्टम है उसमें कुछ विशिष्ट रूपात्मक बोध हैं। उस सिस्टम में देवों/मानवों/पशुओं के सापेक्ष दर्जे हैं—खड़े और पड़े (अनुप्रस्थ तथा अनुलंब) सृष्टिअक्षों में। ये पांच प्रमुख द्विकर्मी विरोधों से संवलित हैं जो भारतीय सांस्कृतिक पैटर्न बुनते हैं—ब्रह्म (आत्मा) और माया (काया), प्रकृति और पुरुष, दैवी अवतार और मानवीय जन्मांतर, इहलोक और परलोक, आनंद और कर्मभोग। अस्तु।

अब इस लड़ी में आगे के अध्यायों में क्रमशः प्रतीकों, बिंबों एवं विचारों के सौंदर्य-सांस्कृतिक अध्ययन का विनयन होगा।

६

चिति की लीला में मंत्रमुग्ध 'प्रतीक' के इंद्रजाल !

(१) 'साइके' और मिथक

क्योंकि इस लेख के संदर्भ में 'साइके' अथवा 'चिति' की मिथक जुड़ी है और वह प्रतीक भी है, इसलिए हम भी एक वैसी मिथक से शुरुआत करते हैं। मिथक का असली और अमली धरातल चिंतन (थाट) का नहीं, बल्कि अनुभूति (फीलिंग) का है। मिथक विश्वास के बजाय 'हठात्-विश्वास' (मेक-बिलीफ़) पर टिकी है। इसलिए विज्ञान के सौर धमाके के आगे मिथक की धुंधली यथार्थता की निष्ठा वाली जोत बुझ जाती है। मिथक की भी यथार्थता है। किंतु वह पुनीत एवं प्रागैतिहासिक (प्रि-हिस्टोरिकल) है। मिथक की भी चेतना है। लेकिन वह प्राक्चिंतनात्मक (प्रि-लॉजिकल) है। मिथक का संबंध मनुष्य के बजाय मानवता के सामूहिक इतिहास से है। अतः वे सामूहिक चेतना की विरासत हैं। इसीलिए मिथक मानवता के शैशव और शिशु के सार्वभौम (यूनिवर्सल) अनुभव का पुंज है। अतः वे चैतन्य के पहले भी अस्तित्वमान थीं। अतः उनका उद्गम सामूहिक अवचेतन अर्थात् मानवता के प्राथमिक अनुभव रहे हैं। मिथकों के द्वारा ही हम—प्रतीकों के माध्यम से—मानव-जाति के पुरातन इतिहास का ऐतिहासिक एवं आधुनिक अनुभवन करते हैं जिनके कई नाम हैं : प्रतीक, आर्केटाइप, मानसिक ऊर्जा (एनर्जी), फांतासी, रूपक, बिंब, संकेत और शब्द, आदि। अत. मिथक बिंब भी हैं, और संवेग (इमोशंस) भी। अतः वे रूप और भाव, शब्द और अर्थ, बिंब और प्रतीक, भाव और कार्य के द्वंद्व से बंधे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मिथक-रचना के कुछ सूत्र छुए हैं। वे मिथक को अव्यक्त अनुभूति मानते हैं। जिस तरह भाषा में आदिम तत्त्व संगीत (छंद) था जो विकसित होते-होते अर्थ हो गया, उसी तरह आदिम वृत्त में मिथक (अव्यक्त अनुभूति) था जो विकसित होकर 'माइथोलॉजी' बन गया जिसका प्रतिफलन चित्र, मूर्त्ति

आदि हैं। आदिम मनुष्य ने सुबह की लाली देखकर 'उशश् !' की अनुभूति की और वही 'उषा' हो गयी। सिंधु से घुमड़ता हुआ एक बादल का सफेद टुकड़ा उठा होगा और मिथक-अनुभूति ने उसे ऐरावत हाथी बना दिया होगा क्योंकि मिथकशास्त्र में यह इंद्र (मेघों के देवता) का वाहन तथा बादलों का वाहक है। उदासी तथा अकेलेपन में डूबे हुए पाषाणकालीन आदमी ने कोई एक ऐसी इच्छा की होगी जो उसे जल से, थल से, नभ से आज़ाद कर सके। तब उसके सामने सूअर ऐसा जानवर और कछुवा ऐसा जीव मौजूद था। अतः उसने महावराह और कच्छप के सादृश्य (एनालॉजी) लिये। उसने रूपक-तत्त्व (मेटाफोरिज़्म) के द्वारा उसके रूपांतरण-तत्त्व (मेटामारफिज़्म) का अनुभव किया। अतः वाराह और कच्छप के इर्दगिर्द मिथक कथाएं जुड़ गयीं। वे पवित्र और अतिमानवीय और प्रतीक से मंडित होकर 'अवतार' हो गये। आज अर्थ एवं अभिव्यक्ति-प्रधान बौद्धिक भाषा से आदिम मिथक-तत्त्व छूट गये हैं। लेकिन प्रतीकों के रूप में वे बार-बार नया जन्म लेते हैं, नये अर्थ पाते हैं, नये अनुभवों का रहस्योद्घाटन करते हैं। इस रूपांतरण का सूत्र है—रूपक-तत्त्व से रूपांतरण-तत्त्व की ओर प्रयाण। रूपक (मेटाफर) के प्रति मनुष्य का लगाव यही साबित करता है कि जीवन में प्रत्येक वस्तु स्थायी परिवर्तन और पारस्परिक क्रिया की दशा में है। अतः वह रूपांतरित होती है। "रूपक-तत्त्व संबंधवाद की देन है। वह एक ऐसा दर्शन है जो मानता है कि प्रत्येक वस्तु तुलनीय (कम्पेयरेबल) और हर किसी दूसरी वस्तु से विस्थापनीय (रिप्लेसियेबल) है। इस तरह प्रतिस्थापन (सब्स्टीट्यूशन) का सिद्धांत रूपक-तत्त्व तथा तटस्थीकरण की प्रवृत्ति, दोनों के लिए ही आधार देता है।"[1]

(२) 'साइके' और 'चिति' के प्रतीकार्थ

तो, हम भी, 'साइके' या 'शक्ति' की चितिमय लीला के मिथक के ज़रिये मानवता, मानवजाति तथा मनुष्य के अनुभवों का मंथन कर सकते हैं और इनकी महा-नीलिमा के अंतराल से 'प्रतीकों' के सहस्रदल कमलों को निकलते-डूबते पा सकते हैं। 'साइके' या 'शक्ति' मनुष्य की मानसिक दुनिया में इच्छा-क्रिया-ज्ञान के जालों को फैलाती तथा बटोरती है।

यूनानी मिथक के मुताबिक नीले सिंधु और उज्ज्वल झाग पर तैरकर आयी 'अफ्रोदीत' (अदिति ?) महान् देवी थी। वह देवी मातृशक्ति के रूप में पूजित थी। किंतु द्यौस के वीर्य से गर्भवती हुई पृथ्वी से 'साइके' उत्पन्न हुई। वह अपने कौमार्य की समस्त शालीनता के साथ द्वितीय वीनस बनी। मानवीय नारीत्व (फ़ेमिनिटी) एवं नारी-भावना (वुमेनहुड) के एक कुंवारे कुसुम के रूप में साइके का अभिषेक हो गया। ईर्ष्या के कारण अफ्रोदीत ने अपने महान् पुत्र देव 'इरोस' को यह काम सौंपा कि वह ऐसा विधान रचे कि साइके एक अमानवीय दानव के प्रति प्रणय में

१. मैनरिज़म', भाग I, आर्नल्ड हाउज़र, पृ० २६५।

फंसे तथा विरह में भस्म हो जाए। इरोस अदृश्य देवता था, अनंग की तरह। साइके थी एक सौंदर्यगर्विता देव-मानव किशोरी; लेकिन प्रेम नहीं पा सकी। इरोस उसका अदृश्य पति तथा प्रेमी था। शर्त यही रही कि वह उसे कभी देखने की कोशिश नहीं करे। अतः इरोस अंधेरे में रहा। इस मिथक-कथा में सभी कुछ अर्थ के परे झिलमिला रहा है। साइके एक 'अनाघ्रात पुष्प' है; इरोस के साथ उसका प्रणय निविड़ अंधकार (अवचेतन) में होता है। साइके अदृश्य देवता और अमानवीय दैत्य के द्वंद्व के बीच में आंदोलित है; उसमें रूप है किंतु उस प्रणय नहीं मिलता···और···अंततः वह मानवीय 'अनादिवासना' या 'रति' ही है। भारतीय मिथकों में शिव और शक्ति की कथा, शिव द्वारा मदन का दहन तथा उसका अनंग हो जाना, काम की रति एवं प्रीति नामक दो पत्नियों का होना भी हमें एक ऐसे ही समानांतर अनुभव के नज़दीक ले जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मिथकीय चेतना (मिथिक कांशसनेस) हमें मानवीय वैश्वकता (ह्यूमेन यूनिवर्सेलिटी) से जोड़ देती है। इस जोड़ने की प्रक्रिया में मिथकीय नाम या संज्ञाएं बिंबों की अपेक्षा 'प्रतीक दशा' (सिंबालिक सिचुएशन) की अभिव्यक्ति करने लगती हैं। अतः 'प्रतीक' अर्थ के दायरे में नहीं बंधते। या तो वे बड़े होते हैं अथवा छोटे; या वे अतिमानवीय होते हैं अथवा अवमानवीय; या वैयक्तिक होते हैं अथवा सार्वजनीन। ये अर्थ को धुंधला अर्थात् दुहरा-तिहरा कई परतों वाला करके अनुभूति (फीलिंग) और मनोवृत्ति (एटीच्यूड) को भी धारण कर लेते हैं। ये पदार्थ की न तो परिभाषा करते हैं, न वर्णन। बल्कि ये धारणा (कांसेप्ट) को अनुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), वैशिष्ट्य (सिगनीफ़िकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) तथा सारूप्य (कोनोटेशन)—ये चार प्रयोजन माने हैं।[१] अतः लैंगर के अनुसार प्रतीक किसी लक्ष्यवस्तु का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि वह वस्तुओं की धारणा (कांसेप्शन) का ही वाहन होता है। प्रतीक हमें धारणाबोध तक ले जाता है। उसके बाद हमारी मानसिक अव्यक्त यात्राएं शुरू होती हैं जहां अनुभूति है, अनुभव है, अवचेतन-चेतन है, अस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस) और भाविता (बिकमिंग) है, तथा चितिमय यथार्थता (साइकिक रियलिटी) भी है। कार्ल जुंग के अनुसार प्रतीक तब तक 'जीवंत' (लिविंग) है जब तक उसमें अर्थगर्भ है। यदि उसके तात्पर्य का जन्म उसी में से हुआ है, यदि वास्तविक प्रतीक से उसका तात्पर्य अधिक दिव्य हो गया है, तो प्रतीक मृत है और उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। तब वह केवल 'संकेत' (साइन) बन गया है।[२] वास्तव में प्रतीक उद्घाटन करता है। उसका रहस्य-द्रष्टा ऋषि स्वयं उसे नहीं जानता। अतः इन्हीं दशाओं में वह अवचेतन तक धंसता चला जाता है और एकबारगी मानवीय चेतना तथा जीवन-चेतना और मानस-चेतना की सृष्टि करता है। यही संपूर्णता-

१. दे० 'प्राब्लेम्स ऑफ ऐस्थेटिक्स', पृ० २१६-२५।
२. दे० 'साइकोलाजिकल टाइप्स', पृ० ६०२।

जैसी संघटना 'चिति' या साइके है। यह मानवीय प्रकृति (नेचर) का, या मानवीय मानस (माइंड) का, अथवा ऐतिहासिक अर्थों में आत्मा (सोल) का नाम भी पा चुकी है। मूलरूपेण यह विशेषतः मानसिक जीवन का सारत्व तथा सिद्धांत है। यह मानवता तथा मानव जाति, और मनुष्य तथा व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील है। वस्तुतः 'मानस' की धारणा से बहुत व्यापक और महत् धारणा 'चिति' (साइके) की है। इसमें चेतन और अवचेतन, अस्तित्व और सत्ता, निस्पंदन और क्रिया, व्यक्ति और मानवता आदि का द्वंद्वात्मक समाहार हो सकता है। अतः हम आगे 'साइके' को चिति तथा 'साइकिक प्रोसेस' को 'चिति-लीला' या 'चिति-प्रक्रिया' कहेंगे। इसे रेखांकित कर लिया जाए।

(३) मिथक और प्रतीक से यथार्थता में प्रस्थान

चिति में कई बिंब बार-बार आया करते हैं जो विश्व में प्रागेतिहास से लेकर आज तथा अभी तक जीवंत बने हुए हैं। वे मानवता के तथा मानव जाति के संचित अनुभव हैं जो बिंब, मिथक, प्रतीक, धारणा के नाम से अभिहित होते हैं। नाना नामों से बारंबार आकर वे मेरी, तुम्हारी, हमारी, इसकी तथा मानव जाति की जिंदगी में कई अभिप्रायों को पूरा करते हैं। अतः चिति-लीला (साइकिक प्रोसेस) निरंतर गतिशालिनी है, एक स्थायी गति से बंधी है; एक 'शक्ति' या ऊर्जा (एनर्जी) है, जो स्व-नियंत्रण भी करती है। प्राचीन रहस्यानुभवों में इसे प्रकाश (चैतन्य) रूप 'परम शिव' की विमर्श 'शक्ति' कहा गया है जो आनंद, इच्छा, क्रिया और ज्ञान नामक शक्तियों में विभक्त होकर पुरुष को काल (टाइम), नियति (स्पेस), विद्या (नॉलेज), कला (एक्ट) और राग (पैशन) का भौतिक प्रबोध कराती है। तब शिव 'पुरुष' हो जाते हैं, और शक्ति 'प्रकृति' एवं 'माया'। इस तरह शक्ति के स्व-नियंत्रण के द्वारा शिव ही पुरुष हो जाते हैं। उक्त रहस्यवाद में सामाजिक शक्ति की बहुविध दशा को प्रतीक-पुंज में ढाल दिया गया है। चैतन्य शिवतत्त्व को हम मानवता, मानवजाति, मनुष्य तथा व्यक्ति में समाहित कर सकते हैं; चैतन्य शिव की 'चिति-शक्ति' को ही साइकिक 'ऊर्जा' मान सकते हैं जो ज्ञान, क्रिया, इच्छा और आनंद रूपों में प्रकट होती है और अंततः समाधिस्थ शिव में लीन हो जाती है। अतः उसका प्रकट होकर 'लीला' करना चेतनावस्था, और 'लीन' हो जाना अवचेतन दशा है। इसका संबंध शिव से भी है, और पुरुष से भी। यह पुरुष के 'कंचुक' होकर उसको स्व-नियंत्रित करती है। चिति शक्ति की ऐसी स्थापना को जुंग ने एक लैटिन नाम 'लिबीडो (उच्चारण : 'लि-बीऽऽडो') दिया है। लिबीडो का तात्पर्य कांक्षा, कामना, आवेश है। उन्होंने इसे कामना एवं ऊर्जा [या शक्ति (एनर्जी)] के संयुक्त अर्थ में इस्तेमाल किया है।

मध्ययुग में यथार्थता (रियलिटी) का धर्मरहस्य तथा अलौकिक दर्शन से अन्यथाकरण (डिस्टार्शन) कर दिया जाता था। अतः मध्यकालीन बोध में यथार्थता पवित्र (सेक्रेड) और रहस्यात्मक (अलौकिक) हो जाती थी। फलतः हम मानव की

सभी क्षमताओं, श्रेष्ठताओं, कामनाओं को एक दिव्य तथा दैवी धारणा को अर्पित तथा उस पर आरोपित कर देते हैं। इस तरह पुरुष शिव हो जाता है। आधुनिक सामाजिक विज्ञान इसे आत्मनिर्वासन (सेल्फ़ ऐलियेनेशन) की एक स्थिति मानते हैं। कार्ल मार्क्स से पहले फायरबाख़ ने मनुष्य को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर की धारणाओं का उन्मूलन किया। इसे उन्होंने अव-मिथकीयकरण (डी-माइथो-लाइज़ेशन) की प्रक्रिया कहा। फलतः समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र (ऐंथ्रोपोलाजी) में ईश्वर के बजाय मनुष्य की प्रतिष्ठा हुई। हमने भी 'चिति-लीला' की मध्यकालीन धारणा का अवमिथकीयकरण करके मनुष्य के अंतर्लोक तथा मानस के कई आयामों का विश्लेषण किया है। अगर हम मिथक एवं धर्म के बीच स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींच सकते, तो मिथक और प्रतीक के बीच भी फर्क करना मुश्किल काम है। लेकिन इससे हम अलबत्ता मानवजाति की एकता, जीवन की चिरंतनता तथा ऐतिहासिक कालों के अनुरूप मनुष्य की चेतना के रूपांतरण के भेद-विभेद अवश्य जान सकते हैं।

शिव और अनंग का द्वंद्व, शिव और शक्ति की समरसता, अर्द्धनारीश्वर का मिथक, प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक प्रक्रिया आदि वे भारतीय मिथक एवं प्रतीक हैं जो चितिलीला के अनेक कार्यधर्मों का उद्‌घाटन करते हैं। इस संदर्भ में हम पुनः साइके-संबंधी दूसरा मिथक पेश करना चाहेंगे। 'डायोनीसियाका' में आयी एक मिथक में कुमारियों पर फंदे डालने वाली 'आर्तेमिस' और उसकी सहेली 'आउरा' के बीच एक दृश्य का वर्णन है जिसमें आर्तेमिस आउरा के कुचों के गुदगुदे मुलायमपन तथा उसके शरीर की सामान्य स्त्रैणता (फेमिनिटी) की आलोचना करती है। आर्तेमिस के कटाक्ष से आहत आउरा बदला लेने के लिए वनदेवता नेमेसिस (जो बाद में ट्रेजेडी का अधिशासन देवता हो जाता है) के पास जाती है। नेमेसिस ईरोस के साथ षड्यंत्र करके आउरा का कौमार्य भंग करता है। डायोनीसस को इतनी शराब पिलाई जाती है कि मदमत्त होकर वह सोती हुई आउरा के साथ विश्वासघात करता है। इस मिथक में ईरोस की भूमिका बदली है और अफ्रोदीत का स्थान नेमेसिस ले लेता है। किंतु यहां चिति की गहराई में जाने पर हमारे सामने यूनानी राष्ट्र की यौन संस्कृति का पैटर्न भी उन्मीलित हो जाता है। आर्तेमिस-आउरा-संवाद में यूनानियों की 'सम-रति' (होमोसेक्सुअलिटी) की मनोवृत्ति का उद्‌घाटन होता है। उनके आदर्शों के मुताबिक सच्ची कुंवारी को छोकरे-जैसा (ब्वाइश) होना चाहिए, अर्थात् उसमें मांस-पेशियों का उभार तथा पौरुष का संभार होना चाहिए, अर्थात् नारी-शोभा और नारीत्व का निर्धारण सुहाग-सेजवाला कमरा न करके व्यायामशाला (जिमनेज़ियम) करती थी। तदनुकूल नारी के पयोधरों के सेब-जैसे (ऐपल-लाइक) आकार तथा आकृति का निश्चय समरतिमूलक दृष्टि करती है। यूनानी मिट्टी के बर्तनों पर अंकित कुमारिकाओं के चित्र किशोर बालकों के अनुरूप-से हैं। इसी कथा का डायनीसस-आउरा वाला खंड भिन्नरति (हेटरो-सेक्सुअलिटी) का प्रतीक देता है। लेकिन संपूर्ण कथा में रति की द्वैतावस्था है। यूनानियों की समरति की दूसरी मिसाल लेस्बोस द्वीप की कवयित्री सेफ़ो की जीवनी है जो कुमारी ऐतिथस से प्यार करती थी। अतः मनो-

विश्लेषण में 'लेस्बियन-प्रेम' का भी एक भेद स्वीकार किया गया है।

यहां इस मिथक-कथा को हमने इस ढंग से निरूपित किया है कि मिथक ही रूपांतरित होकर प्रतीक-दशा के वृत्त में प्रतीक बन जाता है। यूनानियों के विलक्षण 'सांस्कृतिक पैटर्न' के अंतर्गत उनकी प्रजाति (रेस) में चितिशक्ति का प्रवाह उक्त मिथकात्मक प्रतीकों द्वारा कार्यवाहित होता रहा है। इस प्रतीक-कृत्य में नीति एवं धर्म के हाशिये विलुप्त कर दिये गए हैं। धर्म के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रतीकीकरण के उदाहरणार्थ शिव-शक्ति और पुरुष-प्रकृति की रूढ़ व्याख्याएं दी गयी थीं। ऐसी स्थिति का चितिमय (साइकिक) अनुभव अन्यथाकृत होकर 'रहस्यवादी अनुभव' हो जाता है। कुल मिलाकर मिथकीय चेतना से ही जादू, धर्म, दर्शन और कला के लोक झिलमिलाते चलते हैं। इस तरह मिथक एक ओर चितिशक्ति (साइकिक एनर्जी) के प्रवाह के कुतुबनुमा हैं, दूसरी ओर स्वयं प्रतीक हो जाते हैं, और तीसरी ओर नयी-नयी वैयक्तिक अनुभूतियों एवं सामाजिक संबंधों से मंडित होकर चेतना का विकास और रूपांतर भी करते हैं। आदिम मानसिक अमल में तो प्रतीकों की बेहद महत्ता थी और आधुनिक मनुष्य के अंतर्लोक में भी प्रतीक उतने ही जीवंत तथा आदिम होकर मौजूद हैं। अलबत्ता वे अवगुंठित हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं अथवा पदावनत हो जाते हैं किंतु विनष्ट कभी नहीं होते।[1]

इस तरह प्रतीक यथार्थता के उस पहलू—और सबसे गहरे पहलू—का उद्‌घाटन करते हैं जो ज्ञान के किसी दूजे कंपास में नहीं नापा जा सकता। इस तरह मिथकावगुंठित प्रतीक हमें मनुष्य के यथावत् स्वरूप की पहचान कराते हैं। ये प्रतीक सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक 'ऐतिहासिक' मनुष्य अपने संग-संग प्रागैतिहासिक मानवता का बहुत-कुछ अधिग्रहण (एडाप्ट) करता है, और ऐतिहासिकता से पलायन करने पर वह पुन: स्पप्नों और दिवास्वप्नों तथा चिति के लोक में खो जाता है। इन दशाओं में मिथकीय अतीत 'आर्केटाइपल प्रतीकों' के रूप में जाग उठता है। चिति की यथार्थता में से प्रतीक कभी भी हमेशा लापता नहीं हो सकता।

दुनिया के सभी इंसानों तथा राष्ट्रों में हम पुन: आर्केटाइपों को नवजीवित तथा पुनरुज्जीवित होते हुए पाते हैं क्योंकि चिति की यथार्थता से प्रतीक का विलयन कभी नहीं होता। अत: आधुनिक मनुष्य भी आर्केटाइपल प्रतीकों का पुनरान्वेषण करता है, क्योंकि ये प्रतीक और मिथक विशिष्ट सामाजिक दशाओं तथा सामाजिक चेतना से मनोजन्म लेते हैं। अत: मनुष्य की चितिलीला (साइकिक प्रोसेज़) में ये उसकी वैयक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चेतनाओं का भी विकास करते हैं। इन वैश्वक मिथकाच्छादित प्रतीकों के माध्यम से भी हम 'मनुष्य' और 'मानवता' की धारणा की पुष्टि होती हुई पाते हैं जो प्रजाति (रेस) तथा ऐतिहासिक परिवेश के राष्ट्रीय स्वरूपों की विशिष्टता को भी घुला देती है। इस तरह आदिम प्रतीकों के रूप (फार्म्स) तो राष्ट्रीय होते हैं, किंतु विषयतत्त्व (कांटेंट) वैश्वक या यूनिवर्सल।

१. देखिए 'इमेजेस एंड सिंबल्स', मर्सिया एलियादे, पृ० ६-१२।

ऐतिहासिक हो अथवा आधुनिक, मनुष्य की प्रत्येक अस्तित्ववादी (एक्ज़िसटेंशियल) स्थिति में प्रतीक अनिवार्यतः प्रकट होकर उसे रूपांतरित (मेटामारफोज़) करते हैं। मनुष्य की चिति नितांत तात्कालिक (इमीडियेट) है। अतः यह अतिशय रूप से यथार्थ है, लेकिन अंतर्मुखी भी है। अतः यह अपने अनुरूप ही बाह्य यथार्थता अनुभव करती है। इसलिए यह यथार्थता को झूठा भी कर सकती है और रूपांतरित भी। चिति के ये कार्यधर्म (फंक्शन) प्रतीकों के माध्यम से होते हैं। कभी किसी कार्यधर्म और प्रतीक में परस्पर आरोप हो जाता है, तो कभी किसी अनुभव को प्रतीक बना दिया जाता है। हम शंख और सीप और मछली के प्रतीकों का दृष्टांत ले सकते हैं। शंख और मछली, सीप और घोंघे आदि अफ्रोदीत, वीनस, लक्ष्मी, मीनकेतन (कंदर्प) की कथाओं से जुड़कर काम, रति तथा श्री के कार्यधर्मों का वहन करते हैं। एक ओर तो इन वस्तुओं की आकृतियां नारी की योनि या पुरुष के लिंग के समान होती हैं, दूसरे ये मिथकीय देवप्रतीक काम एवं रति के कार्यधर्मों से भी संबंधित हैं। इसलिए देवताओं के कार्यधर्म तथा वस्तुओं की आकृति के आरोप से हम प्रजनन और मैथुन की अनुभूतियों का भोग करने लगे। विष्णु के आयुधों में शंख भी एक है; हिंदू-विवाह के अवसर पर शंखनाद होता है; गर्भवती नारी को देखने पर उन्मत्त काम अर्थात् प्रतीक सर्प अंधा अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है, इत्यादि। इस तरह प्रतीक कर्मकांड तथा रूढ़ परंपराओं के कार्यधर्म भी निबाहते हैं। आधुनिक मनुष्य भी संकट के समय प्रतीकों का इस्तेमाल करता है। शत्रु अथवा शत्रुराष्ट्र के संबंध में यह धारणा कि वह राक्षस है और अमंगलों का पुंज है, हमारे देशों में आज तक जीवित है। प्राचीन कालों में शत्रुओं को आसुरी माया से संपन्न माना जाता था। इसकी तुलना में अपने राष्ट्र को स्वर्ग, देश को पवित्र, नेता को अवतारी मानने के पीछे भी प्रतीकों का रहस्यात्मक प्रभाव है। अर्न्स्ट कैसीरर ने 'दि मिथ ऑफ दि स्टेट' शीर्षक पुस्तक में मनुष्य तथा राष्ट्र के मानसिक अमल में इन राजनीतिक प्रतीकों की भूमिकाओं का निरूपण किया है। विराट् आंदोलन और महत्तम क्रांतियां भी प्रतीकों पर आरूढ़ होकर गतिवान होती हैं। रूसो-सम्मत 'आदिम भोलेपन और प्राकृतिक स्वतंत्रता' से आंदोलित होकर लोगों ने फ्रांसीसी क्रांति की; प्रोमेथियस के चिरंतन विद्रोह के प्रतीक को लेकर मार्क्स ने 'मज़दूर' का अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक प्रसारित किया; एवं साम्राज्यवाद को समाप्त करने के प्रखर संघर्ष के निर्णय को प्रसारित करने के लिए माओ-त्से-तुंग ने साम्राज्यवादियों को 'कागज़ी बाघ' का शानदार प्रतीक दिया। सारांश में, हमारी चितिलीलाओं को उनसे जन्मे प्रतीक अभिव्यक्त करते हैं, और वे (प्रतीक) हमारी चितिलीलाओं का सूत्र-संचालन भी करते हैं। यह दुतरफा कार्य बहिर्मुखी सामाजिक शक्तियों और अंतर्मुखी वैयक्तिक संकल्पों के सहयोग से ही हो पाता है।

(४) चितिलीला में प्रतीक के प्रकार्य

चितिलीला (साइकिक प्रोसेस) या मानसिक अमल के क्षेत्र में प्रतीक मात्र सैद्धांतिक कार्य (एक्शन) कर सकते हैं, न कि व्यावहारिक काम (वर्क)। अतः

गतिशील चिति की गति को रूपकों के माध्यम से प्रकाशित किया गया है और उसके कार्यधर्मों को 'शक्ति' (पावर) अथवा 'ऊर्जा' (एनर्जी) कहा गया है। इस 'चिति-शक्ति' या 'चितिऊर्जा' को हम सांख्यदर्शन की 'प्रकृति' के साधर्म्य से समझ सकते हैं जहां भूत (मैटर) निरंतर तथा स्थायी गति में व्यस्त है। प्रकृति से 'महत्', महत् से 'अहंकार', अहंकार से 'मन', मन से नाना 'इंद्रियों' का विकास दार्शनिक मनोविज्ञान के द्वारा बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति सृष्टि और प्रलय के ध्रुवांतों में झूलती है: कभी व्यक्त होती है, उन्मीलित होती है; और कभी अव्यक्त और निमीलित। इन विपरीत अवस्थाओं की निरंतर द्वंद्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) के फलस्वरूप जो नया समन्वय (सिंथीसिस) होता है वह 'प्रतीक' है जिसमें प्रज्ञा (इंट्यूशन) तथा प्रमा (रीज़न) की विलक्षण अशांत संगति है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक जुंग प्रकृति या 'चितिशक्ति' को 'लिबीडो' कहते हैं जो दो विपरीत ध्रुवांतों (पोलारिटीज़) के बीच सतत् प्रवाहित रहता है: ज्वारभाटे की भांति। आप चाहें तो उन दो ध्रुवांतों का नामकरण, चेतन-अवचेतन, या इदम्-नतिक अहं कर सकते हैं। लेकिन ये विपरीत, परस्पर विरुद्ध न होकर, प्रतिलोम हैं। फिर भी, यह रूपकों द्वारा की गयी व्याख्या ही तो है। इवान पावलोव इसे 'प्रथम सांकेतिक व्यवस्था' (फर्स्ट सिग्नल सिस्टम) तथा 'द्वितीय सांकेतिक व्यवस्था' के नाम देते हैं। मार्क्स इसे दो विपरीत वर्गों के बीच का संघर्ष बताते हैं जिसके परिणामस्वरूप 'क्रांति' का आविर्भाव होता है। अथवा वे इसे काम (वर्क) और चिंतन (थिंकिंग) का नाम देंगे जिसके फलस्वरूप प्रकृति का मानवीयकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन ऑफ नेचर) करते-करते 'इतिहास' का आविर्भाव होता है; रोमांटिक योहान् वूल्फगांग गोएथे (१७४९–१८३२) इसे तनाव और खिंचाव (स्ट्रेस एंड स्ट्रेन) का नाम देते हैं जिससे सुंदर और कुरूप, अंधेरा और उजाला, गंभीर और हास्यात्मक आमने-सामने हो आते हैं। स्वयं गोएथे ने 'फाउस्ट' की मार्गरेट और हैलेन को अंकित, तथा रोमांटिक फ्रांसीसी चित्रकार देलाक्रॉ (१७९८–१८६३) ने 'शिओस का कत्लेआम', 'पागलखाने में टासो', 'लोगों का नेतृत्व करती हुई स्वतंत्रता' जैसे फलकों को चित्रित किया। इससे यह अनुमान पक्का हो जाता है कि विपरीतों (अपोज़िट्स) के द्वंद्व के बगैर शक्ति या ऊर्जा का आविर्भाव नहीं हो सकता। और, प्रतीक ऊर्जा के इन्हीं ध्रुवांतों, अथवा शक्ति की सृष्टि प्रलय-धाराओं में डूबती-उतराती मणियों-जैसे हैं।

कार्ल जुंग लिबीडो अर्थात् प्राकृतिक चिति-शक्ति को प्राकृतिक ऊर्जा मानते हैं। यह जीवन के प्रयोजन संपादित करती है। निरंतर प्रवाहित होने के कारण इसकी मात्रा तथा तीव्रता घट या बढ़ सकती है जो दो विपरीत ध्रुवांतों के बीच तनाव की मात्रा के अनुपात में होगी। लिबीडो की अतिरिक्त ऊर्जा—जीवन की मूलप्रवृत्ति वाले (इंस्टिंक्टिव) प्रयोजन पूरा करने के बाद—सृजनात्मक कार्यों और सांस्कृतिक प्रयोजनों में इस्तेमाल हो सकती है। जुंग चेतना की मांगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) अग्रगति को 'प्रगमन' (प्रोग्रेशन) तथा अवचेतन की मांगों को संतुष्ट करने वाली (लिबीडो की) पुरोगति को 'अगमन' (रिग्रेशन) कहते

हैं। 'प्रतीक' इस ऊर्जा को दिशा (नियंत्रण) तथा अर्थ (अभिव्यक्ति) देते हैं। अगमन में एक स्वप्निल मानसिक दशा रहती है; और इसी दशा में, तथा केवल अवचेतन में ही, प्रतीक का जन्म होता है। यह प्रतीक लिबीडो को आकर्षित करता है तथा उसकी दिशा में बंकिमता (कर्व) ला देता है। इस तरह चेतन में सोच-विचार कर प्रतीक उत्पन्न नहीं होता, बल्कि एक उन्मेष, या स्वयंप्रकाश्य ज्ञान, अथवा स्वप्न में उन्मीलित हो उठता है। सारांश में, प्रतीक का संबंध वास्तविक वस्तु से न होकर एक चितिमय तथ्य (साइकिक फैक्ट) से होता है। जुंग यह भी कहते हैं कि प्रतीकों के द्वारा लिबीडो का अन्वयन सभ्यता के आरंभ से होता चला आ रहा है। इसलिए प्रतीक-कार्य मानवीय स्वभाव का ही अंग है। अपने लंबे ऐतिहासिक अभ्यास के दौरान मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक ऊर्जा का एक अंश मूलप्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) से विच्छिन्न करके उसे संकल्प (विल) अर्थात् मन के काव्यधर्म से जोड़ दिया है। अतः यह मनस्तात्त्विक ऊर्जा मूलप्रवृत्त्यात्मक (कालिदासीय 'अबोधपूर्वास्मृति') उद्-गम भी रखती है और वैयक्तिक संकल्पों से अपना अभिषेक करके 'पर्युत्सुकी भावों' से विकल रहती है। इस तरह प्रतीक में व्यक्ति-मन की मौलिक पर्युत्सुकता भी छिपी है जो बहुत गहरे में जाकर मानवीय मूलप्रवृत्ति (अनादि वासना) के विराट् शक्तिपुंज के द्वारा उछाली गयी है। किंतु इसके लिए एक सामाजिक निश्चयता भी है : यह 'मिथ्या चेतना' के द्वारा आत्मनिर्वासन (सेल्फ़-ऐलियेनेशन) में नहीं बिखर पाये।

अगर हम गहराई में जाएं, तो कार्ल जुंग के इस प्रारूप (माडल) के पीछे सामाजिक विज्ञानों की देन को खोज सकते हैं। सांस्कृतिक प्रयोजनों तथा कलात्मक कार्यों में इस्तेमाल हो सकने वाली 'अतिरिक्त ऊर्जा' की उनकी धारणा मानो कार्ल मार्क्स द्वारा खोजी गयी 'अतिरिक्त मूल्य' (सरप्लस वेल्यू) का अंतर्मुखी रूपांतर है। इसी तरह उन्होंने लिबीडो-प्रवाह की कल्पना भी द्वंद्ववाद से ग्रहण की है। प्राचीन यूनानी समाज में संस्कृति और कला के रिनैसां की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया था कि वह दासों के श्रम पर आधारित थी ताकि कुलीनों को बेहद अवकाश मिला। ऊर्जा और अवकाश (लेज़र) के ऐसे ही संबंधों को वेब्लेन ने अपने 'अवकाश-भोगी वर्ग के सिद्धांत' में स्पष्ट करते हुए कहा था कि कला एवं संस्कृति अवकाश में जन्म लेती हैं, कर्म में नहीं। अतः उच्चवर्गीय विचारधारा (आइडियोलाजी) का सारा सुपरिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) कर्म और श्रम को हीन तथा अपवित्र तथा अगौरवपूर्ण मानकर विलासपूर्ण अवकाश (लेज़र) में जिस संस्कृति का निर्माण करता है वह सुखमय (प्लेज़र) है। मध्यकालीन विचारधारा ने इस 'सुख' की धारणा के ऊपर इसकी ही 'आनंद' की धारणा का एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक महारूप (मैक्रो-काज़्म) आरोपित कर दिया।

अतएव निष्कर्ष के तौर पर हमें हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि हम चितिप्रक्रिया में प्रतीकों के कार्यधर्म की जांच-पड़ताल करते समय एक ओर तो घोर असामाजिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों से बचें; दूसरी ओर उच्च वर्गों के दृष्टिकोणों को सामान्य जनता तथा मानवता की प्रकृति न मान लें; और तीसरी ओर सामा-

जिक चेतना का बलिदान करते हुए 'मिथ्या चेतना' के आदर्शवादी-अध्यात्मवादी रहस्यलोक में न खो जाएं। केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण ही इस विराट् विश्वैतिहासिक फलक को संतुलित रख सकता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि हम अतीत तथा इतिहास को एक अस्तित्ववादी मनुष्य की तरह नामंजूर कर दें। इसके एवज में हमें मानवीय चिति तथा मानवीय समाज के तत्त्वादि (परख के बाद) ग्रहण कर लेने चाहिए जो मनुष्य के लिए सर्वसामान्य हैं। अतः हमें जुंग की इस स्थापना से असहमत होना चाहिए कि चितिमय यथार्थता के मिथ्याधर्म भी बराबर महत्त्व के हैं। इसके बाद ही हम प्रतीकों को व्यक्ति-मन तथा सामाजिक चेतना के अक्षों में संचरणशील बना सकते हैं, अन्यथा वे मात्र 'अनिर्वचनीय ख्याति' में भुला दिये जाएंगे। मनुष्य को प्राकृतिक बनाने के कार्य, तथा प्रकृति को मानवीयकृत करने का संघर्ष, सदैव ही अन्योन्याश्रित रहा है। अतः सर्जक प्रतीक केवल चितिप्रक्रिया में ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तनों में भी जन्म लेते हैं, तथा उन्हें प्रभावित करते हैं। अपने विवेच्य विषय की सीमा और एकांगिता को परिलक्षित करके हम यहीं थमते हैं।

(५) प्रतीकों की मनोऊर्जा का गणितीय जेस्टाल्ट

प्रतीकों में समग्र 'शक्ति' तथा 'अतिरिक्त' ऊर्जा किस प्रकार अभिव्यक्त होती है? इसे समझने के लिए हमें प्रयोगात्मक (एक्सपेरिमेंटल) मनोविज्ञान की दुनिया में जाना होगा। अर्न्स्ट कैसीरर प्रतीकात्मक रूपों (सिम्बालिक फार्म्स) के दायरे में भाषा और मिथक, धर्म और कला को भी शामिल करते हैं। कला के 'प्रतीकात्मक रूप' होने का तात्पर्य यह है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि कलाकार की चितिशक्ति की दिशा और अर्थ का वहन करते हैं; वैयक्तिक शैलियों और मानसिक मौलिकता को विशिष्टता देते हैं; तथा कला के सामाजिक इतिहास में समाज एवं इतिहास का **दर्पण** तथा **दीपक** हो जाते हैं। उपर्युक्त नतीजे अनिवार्य रूप से स्वयं-सिद्ध हो जाते हैं। इनसे यह भी उद्घाटित होता है कि शब्द, रेखा, रंग, मुद्रा, भाव आदि भिन्न-भिन्न माध्यमों से आविर्भूत होने वाली सौंदर्यबोधात्मक इकाइयों (एस्थेटिक यूनिट्स) में कोई एकतान-व्यापार भी है। इसलिए शब्द रेखा में, रेखा मुद्रा में, भाव रंग में, मुद्रा शब्द में ढला हुआ रूपकत्व भी पा सकती हैं; तथा रूपांतरित भी हो सकती हैं। कलाकारों के स्वभावों, प्रभावों तथा शैलियों को समझने के लिए यह एक बेहद महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कला-इतिहास तथा इतिहास-दर्शन में इस सूत्र से कलाओं के **वर्गीकरण** तथा उनके **अंतर्संबंधों** की छानबीन करने की दिशाएं भी मिल सकती हैं। एक मूर्ति बनाने में चितिऊर्जा अधिक **समय** तक इस्तेमाल होगी; एक चित्र बनाने में चितिऊर्जा अधिक **स्थान पर** फैलेगी; एक नृत्य करने में अधिक **बल** (पावर) की अपेक्षा रखेगी; एक वेणुगीत रचने में अधिक **तीव्रता** से फूट पड़ेगी; इत्यादि। इस तरह कलारूपों के प्रतीक चितिऊर्जा की दिशाओं की भूलभुलैयां रचते हैं। इसके साथ ही वे सभी कलाओं के एकधारावाही 'अनुभव' ('अर्थ' के बजाय) की

एक 'वैश्वक भाषा' (यूनिवर्सल लैंग्वेज) की संभावना को साकार करते हैं। इस तरह साहित्य एवं काव्य के अलावा अन्य सभी कलाओं में अर्थ के सवाल को हल करने वाले प्रतीक ही हैं।

जेस्टाल्टवादी सौंदर्यबोध-शास्त्रियों ने बोत्तिचेली, राफेल, माइकेल एंजिलो आदि के चित्रफलकों की इन्फ्रा-रेड एक्स-किरणों द्वारा रंगीन फिल्में लीं। एक ही चित्रफलक की निरंतर बढ़ती हुई नितांत सूक्ष्म पर्त्तों वाली रूपरेखाएं उभारने के लिए मिली-माइक्रोन वेवलैंग्थों (तरंगदैर्घ्यों) का इस्तेमाल करके उसकी चित्रावली तैयार की गयी। बोत्तिचेली कृत 'वीनस का जन्म' तथा लियोनार्दो-द-विंची कृत 'मोनालिसा' की जो ऐसी क्रमिक गहराई वाली कई प्रतिकृतियां खींची गयीं उनके अध्ययन से यह ज्ञात हो गया कि इन चित्रकारों की पहली रूपरेखा क्या थी; आकृतियों में कहां-कहां तथा कब-कब, कितनी बार परिवर्तन किये गये; कूचियों की छाप लगाने की पद्धति कैसी है; इससे कलाकार की विशिष्ट शैली का आविर्भाव किस तरह हुआ; किन स्थलों पर कलाकार ऊबा है और कहां तन्मय हुआ है; कहां उसने जल्दी मचाई है और कहां वह आलस्य कर गया है; किन अंगों, वस्त्रों, आभूषणों या वस्तुओं में वह मोहासक्त हुआ है; एक खंड को अंकित करने के बाद कितनी देर बाद (रेडियो-कार्बन पद्धति के प्रयोग से) उसने अन्य खंड चित्रित किये हैं···। यह ज्ञात हुआ कि बोत्तिचेली ने वीनस की कटि, कुच तथा झूलती-झूमती केशमाला में अठारह-उन्नीस बार परिवर्तन किये हैं; लियोनार्दो की मोनालिसा की मूल छवि दूसरी थी; इत्यादि।[1] कोई विशेष अंग, मुद्रा, रंग, वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार अंकित होने पर यदि एक पैटर्न होकर शैली बनता है तो हर पुनरांकन में चिति की अनुपम अनुभूतियां उस वस्तु को प्रतीक-दशा के प्रभामंडल से ज्योतिर्मय कर देती हैं। जेस्टाल्ट-मनोविज्ञान संपूर्णता को आधार मानकर चलता है। अतः चितिप्रक्रिया में शक्ति या ऊर्जा के विविध रूपों तथा दिशाओं को ग्राफ में बिंदुलित किया जाता है।

किसी एक चरण में सृजन के दौरान मूल शक्ति या प्राकृतिक ऊर्जा 'ऊ' (मू) है, कलाकार की सृजनात्मक ऊर्जा 'ऊ(सृ)' है; और कलाकृति के मुकम्मिल हो जाने पर अवशेष ऊर्जा 'ऊ(शे)' बच जाती है; तब संपूर्ण ऊर्जा को अगर 'ऊ' मानें तो यह स्थिरांक 'K' होती है। इस तरह—

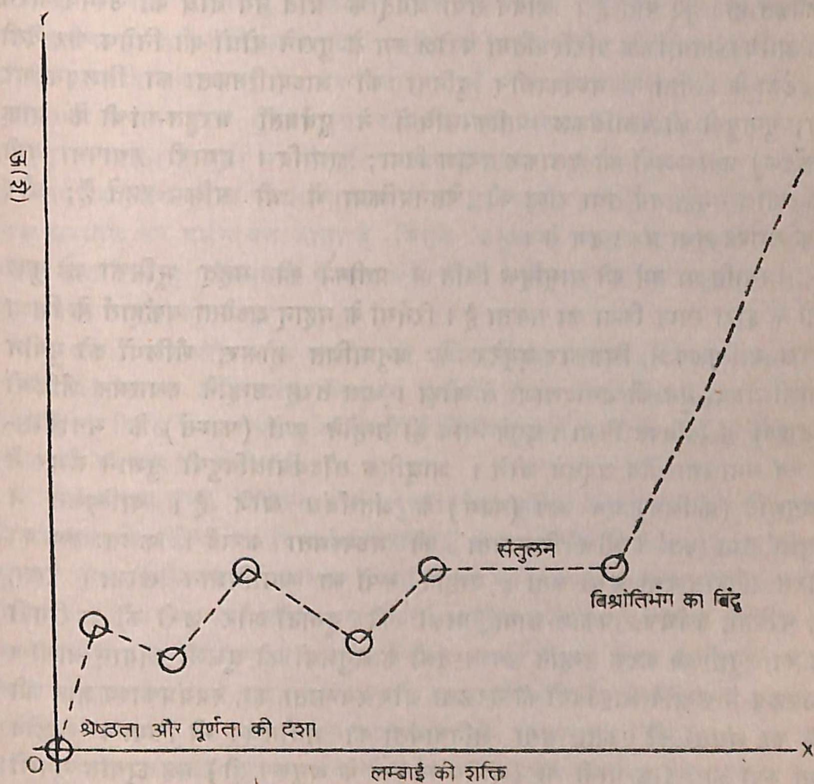
(i) ऊ = K; अर्थात्

(ii) ऊ = ऊ(सृ) + ऊ(मू) + ऊ(शे) = K

जिन कृतियों में प्रतीक ऊर्जा-प्रवाहों पर आरूढ़ होकर श्रेष्ठता और मानव-चिति का अधिग्रहण कर लेते हैं, उनमें (iii) ऊ(शे) > O होता है। उन कृतियों में ऊ(सृ) क्रमशः घटती जाती है तथा ऊ(मू) बहुत अधिक होती है। जेस्टाल्ट ने ऊ(शे) के आधार पर यह पाया कि प्रतीकों के अर्थ जितने अधिक गहरे तथा व्यापक होते हैं उसी अनुपात से यह ऊ(शे) इच्छाशक्ति की स्थिरता, पाठकों की

१. 'एस्थेटिक्स एंड दि जेस्टाल्ट', इयान रालिंसन।

तृप्ति (रसभोग), प्रतीकों के अर्थगर्भत्व का मानदंड हो जाती है। श्रेष्ठतर दशाओं में ऊ(शे) न्यूनतम होती है; और आदर्श स्थिति में शून्य होती है। इस ऊर्जा-त्रयी से यह भी ज्ञात होता है कि कलाकार किस तरह अधिकाधिक परिष्कार तथा लावण्य के हेतु माध्यम से, और मन से, संघर्षलिप्त रहा है। माइकेल एंजिलो की सृजन-प्रक्रिया तत्स्फूर्त (स्पोंटेनियस) है और लियोनार्दो की अभ्याससाध्य (पेन-स्टेकिंग)। आम तौर पर इन ऊर्जाओं के अंकन से यह पाया गया कि आरंभ में कलाकारों की ऊर्जा बहुत बिखरी तथा थकी हुई होती है; फिर धीरे-धीरे व्यवस्थित और घनीभूत होती है; तथा अंत में घबराहट कम होती हुई तथा आत्मविश्वास बढ़ता हुआ नज़र आता है। इस तरह प्रतीकों के कार्यधर्म का नक्शा भी खुल जाता है। इसके साथ कला की दैवी प्रेरणा और रस की अलौकिकता के दैवी नकाब भी उतरे चले आते हैं। ग्राफ़ के X-अक्ष पर **लंबाई की शक्ति** [चित्र में क्षेत्रफल, काव्य में समय, आदि] को बिंदुलित किया जाता है, तथा Y-अक्ष पर ऊ(शे) अर्थात् **श्रम की मात्रा** को। शुरू में तो ऊ(शे) बहुत ही नमित होती है किंतु प्रतीकों के जादू तथा दिशा में बंधकर



एकदम ऊंचे उठ जाती है। इस तरह तनाव से उन्मुक्ति होते ही 'विश्रांति (रिपोज़) की ऐंद्रियकता' नष्ट हो जाती है। सृजन-प्रक्रिया को वैज्ञानिक भूमिका देने में इस पद्धति का महत्त्व तो स्वयंसिद्ध है ही। (दे० पृष्ठ ३२६ पर संलग्न ग्राफ)—

अब इस फलक का दूसरा पक्ष। एक व्यक्ति की चिति के घेरे में व्यापक समूह, वर्ग, राष्ट्र के व्यापक मानस-वृत्त होते हैं। लेख के शीर्षक की वजह से हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि प्रतीकात्मक अभिव्यंजना किसी वस्तु या कर्म की भौतिक तथा विशेष प्रामाणिकता (वेलिडिटी) को बर्खास्त कर देती है। वास्तव में प्रतीक तो किसी वस्तु या कर्म में एक अतिरिक्त महत्ता भर जोड़ देता है। इस संयोग के बावजूद वस्तु या कर्म की तात्कालिक या 'ऐतिहासिक' महत्ता बरकरार रहती है। हमें 'प्रतीकात्मक' या 'ऐतिहासिक' को परस्पर विरुद्ध नहीं मानना चाहिए। ऐतिहासिकता के कारण ही प्रतीकात्मकता को नये-नये हाशिये मिलते हैं, तथा प्रतीकात्मकता इतिहास को वैश्वकता और चिरंतनता प्रदान करती है। इतिहास-दर्शन में हम संपूर्ण मानवता, संस्कृतियों, कालों, आंदोलनों, घटनाओं, चरित्रों तक को प्रतीकीकृत होते हुए पाते हैं। जीवन तथा जगत् के प्रति नये बोध का उन्मेष करने वाली आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां परोक्ष रूप से पुराने बोधों का निमेष कर देती हैं। इटैली के रिनैसां ने मध्यकालीन दुनिया की आध्यात्मिकता का विलयन कर डाला; गुप्तयुगों की क्लासिकल प्रतीक-छवियों ने पूर्ववर्ती भरहुत-सांची के प्राक् (आर्केइक) प्रतीक-रूपों को घुलाकर तराश दिया; इत्यादि। हमारी स्थापना यही है कि प्रतीक समूह, वर्ग तथा राष्ट्र की चेतनप्रक्रिया में भी सक्रिय रहते हैं; और अधिक सशक्त तथा प्रकट ढंग से।

प्रजाति या वर्ग की सामूहिक चिति में प्रतीकों की महत् भूमिका को कुछ संकेतों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रिनैसां के महान् अध्येता बर्कहार्त के शिष्य हीनरिख वाल्फ़्लिन ने, चित्रकार ड्यूरेर से अनुप्राणित होकर, शैलियों को युगीन चेतनाओं अथवा युग की मनोदशाओं से जोड़ा। इस तरह उन्होंने रूपात्मक शैलियों को 'टाइपों' में विविक्त किया। इसके साथ ही उन्होने रूपों (फार्म्स) के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय उद्गम खोजे। आधुनिक सौंदर्यबोधविदुषी सुशाने लैंगर ने भी अनुभूति (फीलिंग) एवं रूप (फार्म) के अंतर्संबंध खोजे हैं। वाल्फ़्लिन ने 'अनुभूति' तथा 'रूप' के बीच 'निश्चयता' की मध्यस्थता कराई। फलतः रूप का निर्धारण इतिहास-दशा करने लगा। उन्होंने रूपों का मनोविज्ञान खोजा। रेखा, छवि, भंगिमा, वर्णभंग, प्रकाश-छाया वस्त्रों की चुन्नटों और ज़री की कारीगरी आदि का अनुशीलन करके उन्होंने उन वस्तुओं के अनुभवों की धुंधली छायाएं बांधीं। इस उपक्रम में उन्होंने आकृतियों की सरलता और स्वच्छता का, स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की समृद्धि का, संबंधों की एकता तथा अनिवार्यता का मनोमंथन भी किया। उन्होंने शैलियां रूपों की प्रतीक मानीं जो (जुंगीय सादृश्य के अनुरूप ही) छह ध्रुवांत युगलों में प्रवाहित हैं: (क) तकनीकी-वनस्पतीय, (ख) अनुपात-कार्यधर्म, (ग) आदर्श-यथार्थ, (घ) स्थिर-गत्यात्मक, (ङ) ससीम-असीम, और (च) नियमितता-अंतर्रता।

इन सभी के आधार में उन्होंने एक विशेष जीवन की भावदशा और विश्व-दृष्टि को प्रतिष्ठित किया। आजकल नेत्र, मुख, वेशभूषा, वसन, स्तन, हाथ, मुस्कान आदि को लेकर ही जो ऐतिहासिक अध्ययन हो रहे हैं उनमें इनसे संबंधित नाना बारीकियां, शैलियां, युगबोध, सामाजिक रुचियां आदि इन्हें प्रतीक बना देते हैं। तब इनके कार्य-धर्म भौतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में भी उद्घाटित हो जाते हैं। आधुनिक समाजशास्त्र के जनक मैक्स वेबर ने शैलियों तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह बताया है कि किस तरह सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में एक ही मिथक अथवा धार्मिक रूढ़ि एक सामाजिक वर्ग में, इसके बाद एक कानूनी व्यवस्था में, एक कलारूप में, एक तर्क-व्यवस्था में, एक यौन नैतिकता आदि में स्थानांतरित हो जाती है। कार्ल मार्क्स के आरंभिक अनुयायी वेबर ने यहां सुपरिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) के एकस्तरीय विचारधारात्मक रूपों (आइडियोलाजिकल फार्म्स) की ही उदार व्याख्या की है। सारांश में, चितिमय (साइकिक) तथा सामाजिक, प्रतीकात्मक तथा ऐतिहासिक के बीच असमन्वयपूर्ण विरोध नहीं है। इनके एकांगी ग्रहण के कारण ही गड़बड़ी फैलती है। अलबत्ता इनके समन्वय से रहस्यपूर्ण और अवचेतन में जन्मा प्रतीक ही शनैः-शनैः अन्यापदेश (एलिगरी) और दर्शन (फिलासफी), निजंधर (लीजेंड) आदि बन जाता है। एक उदाहरण लें : 'इंद्र ने वज्र फेंका'। यह मिथक भू-भौतिकी धरातल पर तुरंत एक सचेतनापरक अन्यापदेश (इंद्र=मेघ, वज्र=विद्युत्) हो जाता है तथा मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतीकात्मक बन जाता है जब इंद्र चेतना का तथा वज्र स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का प्रतीक हो जाते हैं। और यही आध्यात्मिक धरातल पर दर्शन बन जाता है जिसके अनुसार माया के पाशों को दिव्य प्रकाश काट देता है। निजंधरों के रूप में सम्राटों ने 'वज्रधारी' की उपाधियां धारण कीं, अथवा 'नरेंद्र' हो गये।

अतः चिति-प्रक्रिया के अंतर्गत भी प्रतीक, चिह्न (साइन), मिथक, अन्यापदेश (एलीगरी), रूपक (मेटाफर), निजंधर (लीजेंड) में रूपांतरित होकर कार्यरत रहता है। चिति तथा समाज, दोनों ही क्षेत्रों में ध्रुवांतों के बीच प्रवाहित होती हुई शक्ति की धारणा ही केंद्रीय है।

अब तक हमने जेस्टाल्ट और तदुपरांत 'सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के अंतर्गत शक्ति की व्यवस्था में प्रतीकों का दिग्दर्शन कराया है। अब शक्ति के केंद्रापसारी (सेंट्रीफुगल) होकर बिखरने की अवस्था में प्रतीक की भूमिका का अध्ययन कर सकते हैं। इसके लिए हम एक लंबी छलांग लगाकर आधुनिक चित्रकार पैब्लो पिकासो की मिसाल लेंगे। पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद तीसरे दशक में उन्होंने जिन चित्रों को बनाया उनमें फ्रांसीसी चित्रकार इन्ग्रे, और उसके प्रेरणास्रोत राफेल की क्लासिकल परंपरा के साथ माइकेल एंजिलो की शिल्पात्मक विलक्षणता का मेल था। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद चौथे दशक में उन्होंने जो चित्र अंकित किये उनमें मुख, भुजाओं और पांवों के कोण गड्ड-मड्ड कर दिये गये; वे आयामहीन स्थान (स्पेस) में गुड़मुड़ा गये; तथा मानव-शरीर क्षत-विक्षत खंड-खंड बना दिया गया।

उन्होंने अनुभव कराया कि किस सीमा तक कुरूप (अगली) तथा किमाकार (ग्रोटेस्क) मिलकर सुंदर के पूरक तथा खंडक बनते हैं। उन्होंने आकृतियों में खुरदरे क्रिस्टल की तरह अनेक सतहों तथा आयामों को एकसाथ उभारा है जिससे उनकी मूल या अनादि शक्ति अनियंत्रित तथा उन्मुक्त होकर बिखरी है। इस तरह वह न तो असौंदर्य के, और न ही शोभा के चितेरे हैं। वास्तव में वे शक्ति के चित्रकार हैं। इसी तरह मार्क चागल 'स्वप्न' के, तथा साल्वेदोर डाली 'फांतासी' के चित्रकार हैं। चागल में शैशव और यौवन के भोले प्रतीक हैं, तो डाली में 'आतंक' (हारर) के प्रतीक। 'असौंदर्य' के अलावा 'घृणा', तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप और शर्म वाले प्रतीक-बिंब भी उभरे।

इस भांति 'शक्ति', 'स्वप्न', 'भोलेपन', 'घृणा', 'आतंक' आदि की भी प्रतीक-दशाओं (सिंबालिक सिचुएशंस) ने आधुनिक चिति-प्रक्रिया को अन्वित किया है।

(६) व्यक्तिगत प्रतीकायन की गहराइयां

लेकिन ऊपर संकेत की गयी प्रतीक-दशाओं में बेहद निजता (प्राइवेसी) के आने की संभावना है; और वह आयी भी। फलतः 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' (पर्सनल सिंबालिज़्म) का फैलाव हुआ। अब सामाजिक शक्ति या चिति-ऊर्जा के आधार तिरोहित होने लगे। अतः अर्थ-भ्रांतियां (एंबिग्विटीज़), विभ्रांतियां (कंफ्यूज़ंस), वैयक्तिक संदर्भ आदि प्रतीकों के कार्यधर्म को स्तब्ध और अनुमानविहीन बनाने लगे। किंतु ऋणक 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' का एक धनक (पाज़िटिव) पहलू भी है। यह अभिव्यंजना की नयी संभावनाओं, नये रूपात्मक संबंधों, विलक्षण अलंकारों, अनुभूति की बारीकियों और रूप के प्रयोगों आदि के द्वार भी खोल देता है। इस तरह से यह चेतनता के विकास के एक अगले कदम का भी प्रतिनिधि होता है। इसके साथ ही यह पहलू कलाकार के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का उन्मीलन भी करता है। रिनैसां के चित्रकार लियोनार्दो (१४५२–१५१९) का लालन-पालन दो माताओं ने किया था। अतः उनके चित्रों में शिशु-ईसा दो माताओं से घिरे हुए अंकित हुए हैं; टिशियां द्वारा अंकित देवियों के बाद रूबेंस ने जिन आभिजात्य नारियों को अंकित किया उनमें विलासमय मांसलता, शरीर में थुलथुलापन, त्वचा में चिकनाहट लक्षित होती है। उन चित्रों में शिशु-देवदूतों की संख्या भी बढ़ गयी है। कारण, कि रूबेंस (१५७७–१६४०) के समय में और उनके परिवार में उच्च-वर्गों के खानपान तथा भोगविलास में इज़ाफा हुआ था तथा परिवारों में संतानों की संख्या भी बढ़ गयी थी। बोत्तिचेली (१४४४–१५१०) ने सन् १४८५ में 'वीनस का जन्म' शीर्षक चित्र बनाया। उसकी विचार-वस्तु (थीम) तो यूनानी है किंतु उसके उपचार में मध्य-कालीन ईसाइयत की वर्जनाएं घर कर गयी हैं। अतः 'मूल पाप' की ईसाई-धारणा के फलस्वरूप शर्म तथा अशोभनता को व्यक्त करने के लिए उसने अपने स्तनों को हाथ से ढंक लिया है। बोत्तिचेली का मानस खुद भी तो रिनसां के नव्य पेगनवाद तथा मध्यकालीन ईसाइयत के बीच द्विधाविभक्त रहा था। पिछली शताब्दी के अंत

में जब चित्रकार आगस्त रेनोआ (१८४१–१९१९) की अंगुलियां आर्थाइटिस रोग के कारण लुंज-पुंज हो गयीं और वे कूची पकड़ने में भी असमर्थ हो गये, तब उन्होंने शरीर की पूर्णता, ऐंद्रियकता और स्वास्थ्य के प्रतीक रूप में नग्न रमणियों के अनूठे अंकन किये। यही नहीं; इसके बाद से उसके फलकों पर सिंदूरी, लाल और गुलाबी जैसे 'गरम' प्रभाव वाले रंगों की प्रचुरता भी हो गयी। पाल गोग्यां (१८४८–१९०३) ने (सन् १८९१ में ताहिती जाने के बाद से) अपने चित्रों में प्रतीकात्मक तत्त्वों की भरमार कर दी जिनमें पवित्रता और भोग, भोलेपन और गंभीरता के नाटकीय द्वंद्व उभरे हैं। वान गोग़ (१८५३–९०) ने तो अपने रंगों में ही अर्थ तथा विद्युत्तरंगों की अनुभूति की। अतः उनके कैनवास का कोना-कोना आंतरिक पर्युत्सुकता से छटपटाता मिलता है।···इस तरह हम 'व्यक्तिगत प्रतीकत्व' के उदाहरणों को बढ़ाते चले जा सकते हैं। लेकिन चिति-प्रक्रिया में प्रतीकीकरण के अनुशीलन पर नीचे दी हुई संभावनाएं ही अनुमित होती हैं : (१) **सारूप्य तुलना** (जैसे चंद्रमा और सोम, सूर्य और अग्नि); (२) **बहिर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, हृदय जुड़ाने वाला चन्द्रमा); (३) **अंतर्मुखी कारणवादी तुलना** (जैसे, गौ और पृथ्वी, मादकता और अंगूर, पयोधर और स्तन); (४) **साधर्म्य तुलना** (जैसे, वियतकांग छापामार शेर की तरह बहादुर और मछली की तरह फुर्तीले हैं)।[1] इस भांति कम-से-कम चिति-प्रक्रिया में प्रतीक के कार्यधर्मों के उचित स्तर तथा विधियां हैं। इनमें हम रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक और बिंब के रूप में भी प्रतीक को रूपांतरित होते हुए पाते हैं। प्रतीकों की गम्यता का मूल, अनादि रास्ता यही है कि हम 'रूपकात्मक तुलना' (मेटाफोरिक कंपेरीज़न) की क्रीड़ा या स्वप्न या क्रिया में संलग्न हो जाएं। अतएव चिति-प्रक्रिया में ऊर्जा जिस यथार्थता का ग्रहण करती है वह ज्ञानेंद्रियों एवं मनस् को, प्रतीकों के माध्यम से, अनुभूत तथा अनुमित होती है। अनुभूति की तीव्रता तथा अनुमान के लक्षणों के अनुसार ही प्रतीकपुंज रूपक, अलंकार, अन्यापदेश, मिथक, दिवास्वप्नबिंब आदि हो जाया करता है। इसलिए प्रतीक अकेला न होकर 'प्रतीकपुंज' या 'प्रतीक-स्तबक' के रूप में शृंखलाकार उपलब्ध हो जाता है क्योंकि इस पुंज या स्तवक में अभी बताये गये प्रतीकों के 'प्रकार' तथा 'तुलनाओं' के भेद भी गुंथे हैं। शायद इसीलिए सुशाने लैंगर ने प्रतीक में तात्पर्य (मीनिंग), अहमियत (सिग्निफिकेंस), उपलक्षण (डिनोटेशन) और सारूप्य (कोनोटेशन) के चार प्रयोजन संश्लिष्ट किये।

(७) प्रतीक और विचार के अंतर्बंध

किसी भी 'प्रक्रिया' की तरह चिति-प्रक्रिया (साइकिक प्रोसेस) में भी अपूर्णता तथा निरंतरता और, माध्यम तथा कर्म की आवश्यकता रहती है। तदुपरांत 'कृत्य' या 'कृति' या 'रचना' पूर्ण होती है। इसलिए प्रक्रिया के दौरान चिति-वृद्धि

१. देखिए कार्ल जुंग : सिंबल्स ऑफ ट्रांस्फार्मेशन।

(साइकिक ग्रोथ) के कई स्तर उभरते हैं। अब एक ओर तो सामाजिक विकास और परिवर्तन होता है, दूसरी ओर मनुष्य का विकास तथा परिवर्द्धन होता है। अतः सही हालत तो द्वंद्वन्याय और पूरकन्याय के द्वारा दोनों पहलुओं के सामंजस्य से हासिल होगी। चिति-प्रक्रिया के प्रकार (स्वप्न, मिथक, अन्यापदेश, रूपक, अलंकार, फांतासी) भले न बदलें किंतु इनके वाहक और संचालक प्रतीक अवश्य बदल जाते हैं क्योंकि प्रतीकीकरण में तुलनाओं के लिए आर्थिक एवं सामाजिक उन्नतियां हमें नयी-नयी वस्तुएं तथा परिवर्तित संबंध प्रदान करती हैं। कुषाण-शुंगकालीन भरहुत की यक्षिणी-मूर्ति और गुप्तकालीन दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति की तुलना करने पर चिति-वृद्धि के नये स्तर भी मिलते हैं। इन दो मूर्तियों के शिल्पन के बीच के समय में केवल तकनीकी कौशल में ही तरक्की नहीं हुई, बल्कि पुनर्प्रस्तुत (रिप्रेज़ेंटेशनल) प्रतीकों में ही परिवर्तन हो गया। तैलरंगों के आविष्कार के दौर में बोत्तिचेली तथा टिशियां के समय के बीच यों तो केवल अस्सी वर्षों का ही अंतर है लेकिन वहां भी संवर्द्धित कौशल और तदनुरूप अपेक्षित कुशलतर प्रतीकायन साफ तौर पर लक्षित होता है। अतः सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के नये-नये वातावरणों में ही मानवीय अस्तित्व चेतनता का निर्धारण करता है। फलतः आवश्यकताओं का बोध ही मौलिकता, वैयक्तिकता तथा स्वतंत्रता की त्रयी को उद्धारित (ऊपर उठाता) करता है। जो मनुष्य इस उद्धार का अनुभव करके अभिव्यक्त भी कर पाते हैं उनमें 'वैयक्तीकरण' (इंडिविजुएशन) का अभिधान होता है। इस तरह **वैयक्तीकरण द्वारा ही चिति-वृद्धि होती है**। इसके अलावा एक शिशु से प्रौढ़ के रूप में विकासशील मनुष्य की चिति-वृद्धि के भी उत्तरोत्तर स्तर होते हैं। अतः चिति को अकेला करने पर तो हम व्यक्तिवाद तथा आदर्शवाद तथा नव्य रहस्यवाद के शिकार हो जाएंगे।

चिति (साइके) के कंपास में इच्छा, कल्पना, स्मृति, संकल्प, ज्ञान, संस्कार, वृत्ति, वासना, बुद्धि, मन, अहंकार, चित्त, चैतन्य, अनुभूति, अनुभव, इंद्रियबोध, स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (प्रज्ञा) आदि आते हैं। इनका ही योगायोग 'व्यक्तित्व' (पर्सनालिटी) तथा 'प्रारूप' (टाइप) का विभेद करता है। हम इनमें से एक तत्त्व या कुछ तत्त्वों को प्राथमिकता देते हैं। उसके आधार पर मानवीय व्यवहारों (बिहेवियर) का वर्गीकरण होता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की चिति आदिम तथा शैशवावस्था से विकसित होती है। पहले चरण का प्रतिनिधित्व बच्चों के चितारहित खेल; दूसरे चरण का आरंभिक किशोरावस्था या 'यौगंडावस्था' के दुस्साहसिक रोमांच; तथा तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व यौनावस्था के आत्मोत्सर्ग एवं आदर्शवाद करते हैं।[1] इस भांति एक अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ व्यक्तित्व का आविर्भाव शनैः-शनैः और क्रमिक चरणों में ही होता है। चिति-वृद्धि की अंतर्दिशा का यह एक ऐसा भी प्रारूप (मॉडल) मुमकिन है। जिस तरह सांख्य दर्शन में 'अंतःकरण' की धारणा है उसी

१. 'मैन एंड हिज सिंबल्स', जुंग, पृ० १६०।

तरह जुंग-सम्मत 'चिति' है। अंतःकरण में बुद्धि, मन और ज्ञानेंद्रियां शामिल हैं। चिति के केंद्र में 'स्व' (सेल्फ) है जो अन्वेषी, संगठक और स्रोत है। 'स्व' तभी स्पंदित या सक्रिय होता है जब अहं (ईगो) प्रयोजनों एवं इच्छाओं से विमुक्त होकर गहराई में डूबे। यूं तो अहं चेतन के क्षेत्र में ही व्यस्त रहता है लेकिन नीचे उतरने पर उसका 'इदं'-रूप स्व को स्पंदित कर देता है। यूं मालूम पड़ता है कि जुंग चिति-प्रक्रिया में प्रयोजनों तथा चेतनता को निर्णायक भूमिका नहीं देना चाहते। वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद (साइको-ऐनालासिस) में 'इदं' के अनुशीलन को ही सर्वोच्च दर्जा दिया गया है। फ्रायड ने इदं-चक्र में ऊर्जा को प्रवाहित होती हुई तथा तत्काल कार्य के लिए प्रस्तुत माना है। इसकी तुलना में वे स्व-चक्र में ऊर्जा को बंदिनी तथा अहं की आश्रिता मानते हैं। इस तरह चिति में दो प्रतिक्रियाएं होती हैं और ऊर्जा इन दो चिति-स्तरों में आरोहण-अवरोहण करती है। कला के प्रतीक इदं-चक्र से उछलकर अहं-चक्र में सक्रिय हो जाते हैं। इस तरह कला-प्रतीकों का एक प्रमुख कार्यधर्म उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) है। कला-प्रतीकों का एक दूसरा कार्यधर्म नाटक जैसे कलारूपों में 'कलात्मक भ्रांति' (इल्यूज़न) तथा काव्य जैसे कलारूपों में 'अर्थभ्रांति' (एंबिग्विटी) उत्पन्न करना है। इन भ्रांतियों के निराकरण के क्रम में ही प्रतीक, रूपक, अलंकार, मुद्रा, अभिनय, साधारणीकरण, स्वप्न, आभास, अन्यापदेश, अनुमान, फांतासी आदि के संसारों के ताने-बाने झिलमिलाते हैं। चिति-प्रक्रिया में प्रतीकों की तीसरी भूमिका क्रीड़ा से आनंद अथवा कर्म की ओर प्रयाण है। सामाजिक जीवन में प्रतीक राजनीतिक आंदोलनों, नैतिक आचरणों, धार्मिक कर्मकांडों आदि को प्रेरित करते हैं, लेकिन कला के संसार में वे आनंद की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

चिति-स्तरों (साइकिक लेवेलस) में अदल-बदल और इस प्रक्रिया में प्रतीकों की भूमिका पर हमने संक्षिप्त विचार किया है। किंतु कलाकार और सहृदयवृंद के प्रसंग में चिति-स्तरों में अदल-बदल के दूसरे ही आयाम खुल पड़ते हैं।

कलाकार-पक्ष से ललित सृजन में अहं के कार्यधर्मों को विश्रांति (रिलेक्सेशन) मिलती है जो कि अगमन (रिग्रेशन) या लिबीडो के अंतर्मुखी होने का ही एक रूप है। अत. कला में 'विश्रांत अगमन' की जो दशा होती है वह प्रयोजनपूर्ण तथा नियंत्रित भी होती है। इसके मुकाबले में फांतासी और स्वप्न में बाह्य अंकुशों से सर्वतंत्र स्वतंत्रता होती है। इस भांति हम 'कार्यधर्मी (फंक्शनल) अगमन' और नियंत्रण का सह-अस्तित्व पाते हैं। जब अगमन बहुत दूर तक हो जाता है तब प्रतीक वैयक्तिक (प्राइवेट) हो जाते हैं। यहां तक कि वे स्वयं की भी चिंतनदशा में अबोध-गम्य हो जाते हैं। अगर नियंत्रण अत्यधिक हो जाता है, तब भी नतीजा प्रेरणाशून्य, भावशून्य और घिसा-पिटा होता है।[1] इसलिए अगमन और नियंत्रण की दशा में, तथा इनके सामंजस्य में, चिति-स्तरों में अदल-बदल होती है। इन विभिन्न चिति-

१. 'साइको एनेलिटिक एक्सप्लोरेशंस इन आर्ट', अर्नेस्ट क्रीस, पृ० २५४।

स्तरों (साइकिक लेवेल्स) में प्रतीकों की धार्य ऊर्जा की मात्रा, दिशा तथा गुण में विवर्तन होता है।

सहृदयवृंद (आडियेंस) के मामले में एक दूसरी तरह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घटती है। यह एकसाथ सामूहिक एवं वैयक्तिक भी है। सहृदयवृंद अवचेतन ढंग से कलाकार के साथ तादात्म्य (आइडेंटिफिकेशन) करता है। सहृदयवृंद पक्ष में चिति-स्तरों में अदल-बदल प्रतीपक्रम से होती है। इसकी शुरुआत चेतनता से होती है तथा परिणति इदं में। सहृदयवृंद अनुभव, ज्ञान एवं रुचियों का कलाकार से **तादात्म्य** तथा **सांझा** करता है। अतः आदर्श स्थिति में कारयित्री तथा भावयित्री अनुभवों में सरसता हो जाती है। सापेक्ष दशाओं में, रचना-प्रक्रिया की भांति, ग्राहकता में भी 'जब नियंत्रण बहुत अधिक होता है तब परिणाम पुनर्रचना (रिक्रिएशन) न होकर पुनर्विन्यास (रिकांस्ट्रक्शन) होता है अर्थात् अनुभव बौद्धिकताविधेन (इंटेलेक्चुअलाइज़्ड) हो जाता है। ऐसे में सौंदर्यबोधात्मक प्रतिक्रिया आलोचना तथा इतिहासवाद में बौद्धिकीकृत हो जाती है।···और जब अगमन बहुत दूर तक होता है तब चिति-स्तर में अनुभव आशंसा (एप्रिसियेशन) वाला न होकर भोग (एंज्वायमेंट) प्रधान होता है। ऐसी दशा में अर्थ प्रक्षेपित (प्रोजेक्टिड) होते हैं।'[1] उपर्युक्त चिति-स्तरों में हम प्रतीकात्मक प्रतिबोध को सौंदर्यतात्त्विक नहीं कह सकते, अगर चिति-स्तर में अदल-बदल के साथ-साथ चितिमूलक या 'मनस्तात्त्विक दूरी' (साइकिकल डिस्टेंस) न हो। इस अवस्था पर एडवर्ड बुलो ने सबसे पहले विचार किया था। इस 'दूरी' पर सभी सांस्कृतिक जेस्टाल्टों में विवेचन हुआ है: यूनानियों में 'कैथार्सिस', भारतीयों में 'साधारणीकरण', पाश्चात्यों में 'डिपर्सनलाइज़ेशन' के रूपों में। इन सभी में केंद्रीय बात यही है कि अभिनेता या पात्र, या अर्थ के प्रतीक के संचरण की स्थिति में चिति-स्तर में अदल-बदल हो जाती है जिसकी वजह से सक्रियता से निष्क्रियता, व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक, फिर भाववाचक संज्ञा की ओर उन्मुख होना प्रधान है। एक अन्य दृष्टिकोण से चिति (साइके) तथा मनोविज्ञान (साइकोलाजी) के अनुशीलन का भेद किया जा सकता है।

चिति मनुष्य तथा ब्रह्मांड को संबंधित करनेवाली लीलाशक्ति है। चिति **मानवीय प्रकृति** का उद्‌घाटन करती है। किंतु विडंबना यह है कि इसे मनोरोग-चिकित्सकों (साइकियाट्रिस्ट) की ऑपरेशन-मेज़ पर लिटा दिया गया है। वास्तव में चिति मनोसौंदर्यात्मक मिथक-धारणा है। यह मनुष्य की इच्छाओं, इच्छापूर्तियों, आदिम अभिज्ञानों तथा सहज आवेशों की कलियों को खोलती है लेकिन फ्रायड ने इसे **'दमित अवचेतन'** के द्वारा समझाने का वितंडावाद खड़ा किया। चिति को **'प्रतीकित स्वप्नों'** द्वारा समझने-संवेदने की बात ज़्यादा संगत है। यह बात अंतर्साक्षी सामाजिक यथार्थता के संज्ञान से भी जुड़ी है। अतः चिति का मशीनी बहिष्कार कदापि नहीं होना चाहिए।

१. 'साइको एनेलिटिक एक्सप्लोरेशंस इन आर्ट', अर्नेस्ट क्रीस, पृ० २५६।

मनोविज्ञान ने, चिति के बजाय चेतना को केंद्र में गर्भित करके, स्वयं से चिति को अलग करने का विभ्रम फैलाया है। मनोविज्ञान में चितिमूलक मानवीय प्रकृति के बजाय **मानवीय व्यक्तित्व** को प्रधानता मिली। यह सही है। किंतु मानवीय व्यक्तित्व को प्रधानतः **स्नायुमंडल** के प्रसंग में ही रखा गया। नये मनोवैज्ञानिक **कंडीशंड रिफलेक्स** को भी शामिल करने की अनबन कोशिशें करते हैं। अलबत्ता प्रत्यक्षीकरण तथा शिक्षण (पर्सेप्शन एंड लर्निंग) के क्षेत्र में मनोविज्ञान की खोजें समन्वयात्मक हैं।

अतएव चिति-लीला के प्रकाशन के लिए हमें अकेले **स्वप्न** तथा **अवचेतन** के अमूर्त बिंदुओं को ही नहीं, बल्कि स्नायुमंडल और प्रत्यक्षीकरण के चक्रों का भी अंगीकार करना होगा। अतएव मनोरोग-चिकित्सकों के 'चिति के आधुनिक धन्वंतरि' होने के दावे हमें कैसे मंज़ूर हों? हम तो 'चिति के हमदम और दोस्त' होने की बातें करते हैं। इस भूमिका में हम विचारधारक तथा सामाजिक सौंदर्यवेत्ता हैं। अत: **प्रतीक** (सिंबल) तथा **विचार** (आइडिया)—ये ही चिति के दो आकर्ण-लोचन हैं।

(८) रूपकत्व और रूपांतरण

जिस तरह कोई हरसिंगार का वृक्ष अपने फूल उगाता-खिलाता है, उसी तरह 'चिति' अपने प्रतीकों की सर्जना करती है। लेकिन वृक्ष की जड़ों की तरह चिति का आधार भी मानवशरीर, मस्तिष्क (ब्रेन), भौतिक जगत्, पदार्थ है जो मात्रा से गुण में रूपांतरित होता है। सामाजिक जीवन की बुनियाद के बिना चिति-प्रक्रिया की बात ज़्यादा सार्थक नहीं है; तथा व्यावहारिक कर्म के बिना प्रतीकों के कार्यधर्म का अनुमान बेहद अधूरा, गलत जौर एकांगी है। प्रतीकों का उद्‌भव चिति द्वारा होता है; चिति भौतिक मानव-मस्तिष्क की चेतना का धर्म है; मानव-अस्तित्व इस चेतना का निश्चय करता है; तथा यह चेतना आर्थिक संबंधों, श्रम के विभाजन, सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए असली चुनौती तो यह है कि सही विचार और जीवंत प्रतीक कहां से आते हैं? वे दोनों एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से उपजते हैं; न कि अकेले रहस्यात्मक इदं से। सर्वप्रथम सारा ज्ञान प्रत्यक्ष (पर्सेप्चुअल) होता है। तब वह छलांग लगाकर अवधारणात्मक (कांसेप्चुअल) अर्थात् विचार (आइडिया) बनता है। अत: अवधारणा में प्रत्यक्षीकृत ज्ञान का केंद्रीभवन होता है। इसके बाद नाना व्यवहारों (प्रेक्टिसेज़) की कसौटी पर विचारों की परख होती है। तब विचार ही कार्य (ऐक्शन) तथा प्रतीक (सिंबल) के युगल बनते हैं। अत: ज्ञान के विचार, प्रतीक तथा व्यवहार जैसे स्वरूप प्रतिबिंबात्मक हैं अर्थात् इस व्यापार में अस्तित्व से सत्ता, भूत से चेतना, मात्रा से गुण में रूपांतर (मेटामार्फोसिस) होता है। इस प्रक्रिया में प्रतीक सेतु का कार्यधर्म निबाहता है। अतएव हमारे मत से निर्धारित विषय फिलहाल अधूरा तथा एकांगी है। इसमें दूसरे खंड 'सामाजिक जीवन में कर्म के प्रतीक-धर्म' का भी होना लाज़िमी है। अंततः यह मूल सवाल बाकी

ही रह जाता है : "कहां से सही विचार और प्रगतिधर्मा प्रतीक आते हैं ?" हमराहियो, यही अगली तथा असली चुनौती है !

× × ×

पांचवें अध्याय में 'मिथक और भाषा' और इस अध्याय में चिति-लीला में 'प्रतीक' के गुंफित एवं संकेंद्रित अनुशीलन के उपरांत समकालीन कला एवं साहित्य के आधुनिक सौंदर्यबोध-दर्शन की महत्तम कसौटियां 'बिंब' तथा 'विचार' उभरती हैं। अत: अब हम उनका दर्शन-दिग्दर्शन करेंगे ताकि मूल्यांकन और समकालीन विचार-दर्शन की सही धाराओं की भी पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाए।

७

बिंबों का सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षीकरण तथा मार्क्सीय 'राफ़ेलीकरण' एवं 'रेम्ब्रांकरण'

हमारा पहला और समस्त इंसानी कार्यकलाप शुरू ही प्रतिबिंबन अथवा अनुचिंतन (रिफलेक्शन) से होता है। जब बाह्य जगत् हमारी इंद्रियों पर प्रभाव डालता है तो चेतना में वस्तुगत विषय (आब्जेक्ट) का प्रतिबिंबन होता है। ऐसे चितिमूलक प्रतिबिंबन या चितिमूलक अनुचिंतन—साइकिक रिफ्लेक्शन—को 'प्रत्यक्षीकरण' (पर्सेप्शन) कहा जाता है।

जाहिर है कि प्रत्यक्षीकरण ऐंद्रियक है और अनुचिंतनात्मक भी; कलात्मक है और दैनंदिन भी; वैयक्तिक है और वर्गीय भी; ऐतिहासिक है और तात्कालिक भी। इसमें आत्मनिष्ठ एवं बाह्यनिष्ठ घटकों की, अंश और अंशी की, स्थूल और सूक्ष्म की, प्रतीति और सारत्व की द्वंद्वात्मक एकता होती है। अतएव इतिहास एवं संस्कृति के प्रायः सभी धारणात्मक, कर्मी और प्रतीकात्मक रूपों की शुरुआत नाना भांति के प्रत्यक्ष 'बिंबों' (इमेज) से होती है। अतएव 'वस्तुगत यथार्थता'[1] का अनुचिंतन कराने वाले पहले इंद्रिय-हरकारे बिंब ही हैं!

बिंबों का प्रत्यक्षीकरण ज्ञान-मीमांसा (ऐपिस्टेमोलाजी) के क्षेत्र में, तथा उनका सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण सौंदर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में अनुप्रवेश कराता है। यही नहीं, सामान्य प्रतिबिंबन तथा चितिमूलक अनुचिंतन के बीच भी अंतर है।

१. —'वस्तुगत' (आब्जेक्टिव) का मतलब उन घटकों से है जो जनता तथा व्यक्ति से स्वतंत्र होते हैं और अपने कार्यकलाप की सीमा तथा दिशा का निर्धारण खुद करते हैं। प्राकृतिक दशाएं, सामाजिक अवस्था, और विचारधारात्मक विकास आदि ऐसे ही वस्तुनिष्ठ घटक हैं।…इनकी भूमिका प्रमुख हुआ करती है।
—'यथार्थता' वस्तुओं का सत्व (बीइंग) है; वस्तुओं में से सारत्व (एशेंस) है। यह सत्वशून्यता की विरोधी है। यथार्थता 'वास्तविकता' (एक्चुअलिटी) से भी भिन्न है क्योंकि वह (परवर्ती) प्रदत्त वस्तु के सभी सारत्व एवं निस्सारत्व की उपस्थिति वाला अभिकल्प है।

सामान्य प्रतिबिंबन पदार्थ के सामान्य भौतिक गुणों से संबंधित है [दपण-न्याय], लेकिन चितिमूलक प्रतिबिंबन या अनुचिंतन जीवित प्राणियों (पशु और मनुष्य) के मस्तिष्क में वस्तु के कार्य के परिणाम से व्युत्पन्न होता है [मनोमुकुर-भाव]। चितिमूलक अनुचिंतन को ही सही अर्थों में प्रत्यक्षीकरण कहा जा सकता है। इस तरह **प्रत्यक्षीकरण** और **अनुचिंतन** (रिफ्लेक्शन) को अंतर्बद्ध किया जा सकता है। इनके बीच कुछ समाकृतिक (आइसोमार्फिक) संबंध हैं। कलाबिंबों के संसार में 'सादृश्य' एवं 'तुलना' के संबंध ऐसे ही हैं जिनसे अलंकार-रथों तथा शैली-मार्गों का आलोकमय उन्मीलन होता है।

हमारे प्रमस्तिष्क बाह्यकों (सेरिब्रल कोर्टेक्स) पर वस्तु या प्रमेय या आब्जेक्ट का कार्य अंकित होता है। कार्यांकन का प्रथम माध्यम इंद्रियां हैं। अतः पहला चरण **इंद्रिय-बोध** का है जब वस्तुविशेष के कार्य (छाया) का स्पष्ट संमूर्तन होता है। यहां बिंब अद्‌भुत होता है। दूसरे चरण में कार्यफल का विश्लेषण-संश्लेषण जारी रहता है और बिंब का एक उच्चतर रूप अर्थात् **धारणा** (कांसेप्ट) प्राप्त होता है जो ऐंद्रियक बिंब की तरह विशिष्ट और मूर्त न होकर, अब सामान्य और अमूर्त्त (छाया की मनोछाया) होता है। उसमें स्मृति-अंश भी रंजित हो जाता है। तीसरे चरण में चेतना के इंद्रियबोध वाले स्तर में गुणात्मक छलांग लगती है और बिंब तथा धारणाओं के संसार से उत्तरोत्तर **'प्रतीक'** तथा **'विचार'** प्रतिरूपित हो उठते हैं।

अतः प्रत्यक्षीकरण—जो यथार्थता की बुनियाद है—हमेशा ही उभयपक्षीय है। वस्तुगत यथार्थता अवलोकितेश्वर की प्रतिमा और हिमालय पर्वत, रंगों के धब्बों और नदियों-घाटियों की तरह जड़ा हुआ नहीं है। इसकी मीमांसा में मानवीय क्रिया तथा मानवीय सहिष्णुता एक शक्ति के रूप में प्रवाहित होती रहती है। वस्तुगत यथार्थता प्रत्येक ऐतिहासिक काल में, प्रत्येक सामाजिक अवस्था में, प्रत्येक सांस्कृतिक पैटर्न में, प्रत्येक वर्ग में, प्रत्येक सामाजिक समूह में तथा प्रत्येक व्यक्ति में, भिन्न-भिन्न सापेक्ष ढंग से, **शक्ति** तथा **चिंतन** तथा **प्रत्यक्षीकरण** के रूप में परिवर्तित-रूपांतरित होकर मुक्त प्रवाहित होती है। वस्तुगत यथार्थता के ये कार्य व्यक्ति के स्मृत-अंश के रूप में, अतीत के संक्षोभ (ट्रौमा) के रूप में, मानवता के जातीय अतीत एवं सामूहिक अवचेतन में प्राचीन संस्कार-लेखों (एनग्राम्स) के रूप में अंकित होते हैं। व्यक्ति के अंकन **चितिमूलक** बिंब, राष्ट्र के अंकन **मिथक-बिंब**, तथा मानवता के आनुवंशिक एवं सांस्कृतिक अंकन **आद्यादिम-बिंब** (आर्केटाइपल इमेज) कहे गये हैं। यह एक व्यापक विभेद हैं। तथापि इनसे मस्तिष्क-क्रिया के दो आयाम उन्मीलित होते हैं—

(क) यथार्थता प्रस्तुत वातावरण में से ऐतिहासिक, सामाजिक या वर्गीय विभेद बताती है तथा व्यक्ति-रुचि एवं जातीय संस्कारों के आधार पर चुनाव करती है; और

(ख) यह अपनी सीमा के परे भी गमन करती है और स्वयं में, पुनरुत्पादन तथा प्रक्षेपण के द्वारा, जोड़तोड़ भी करती है।

इस मानसिक क्रिया से यह स्पष्ट होने लगता है कि सही प्रत्यक्षीकरण और सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षीकरण के बीच 'पद्धति' का अंतर है। इससे हम बाद में उलझेंगे। सही प्रत्यक्षीकरण में एक तो स्वयं **वस्तु की संरचना** (स्ट्रक्चर) होती है और दूसरे उस (बाह्य वस्तु) के **बिंब की संरचना**। हमारे संज्ञान की प्रक्रिया में ये दोनों ही सक्रिय होते हैं। प्रत्यक्षीकरण के अंतर्गत वस्तु की संरचना उसकी सामान्य **धारणाओं** के निर्माण का आधार बनती है, तथा उसके बिंब की संरचना नाना भांति के सूत्र-बंधों तथा सूत्रसंबंधों की विशिष्ट सामग्री प्रदान करती है। यह सामग्री पुनरुत्पादक (रिप्रोडक्टिव), अनुकृतिपरक (माइमेटिक), सृजनात्मक (क्रिएटिव), प्रक्षेपित (प्रोजेक्टेड), रूपांतरित (ट्रांसफार्म्ड), कायाकल्पित (मेटामार्फोज़्ड), रूपकान्वित (मेटाफोराइज़्ड), प्रतीकित (सिंबोलाइज़्ड) आदि होकर बिंबों के अनेक स्वरूपों तथा स्वभावों का विन्यास करती है। यह चितिलीला का ललित कार्यविलास है। यह स्थापना भी क्रांतदर्शी है : सौंदर्यतत्त्व में।

यथार्थता के **'कलात्मक प्रतिबिंबन'** (अनुचिंतन) में ही सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षी-करण आविर्भूत होता है।

स्पष्ट है कि यथार्थता कलात्मक प्रतिबिंबन एक कलाकार के द्वारा होगा तथा एक कलात्मक पद्धति से होगा। विशिष्ट माध्यम के आदेश तथा प्रकृति के अनुशासन से प्रत्येक कलारूप में **कलात्मक प्रतिबिंबन की पद्धति** भी विशिष्ट होगी। हाथीगुंफा में खुदी दुर्गा की शिल्प रचना, और निराला-कृत 'राम की शक्तिपूजा' में अंकित दुर्गा-वर्णन भिन्न-भिन्न प्रतिबिंबन-पद्धति के परिणाम हैं। एक ही कलारूप के अंतर्गत विभिन्न कलाकृतियों में यद्यपि माध्यम नहीं बदलता किंतु कृती के चितिमूलक संस्कारों तथा ऐतिहासिक समाजों के अंतर के कारण शैली एवं मूल्यविधान में तब्दीली आती है : कालिदास के रघुवंशी राम, भवभूति के करुणालीन राम, तुलसी के लीला-पुरुष राम, और नरेश मेहता के अस्तित्ववादी राम में नाना प्रकार के अंतर हैं। केवल कलाकृति में ही, कलात्मक पद्धति के द्वारा, यथार्थता का प्रतिबिंबन कलात्मक प्रति-बिंबन होता है। पहले की तरह यहां भी देशकाल में अस्तित्वमान एक वास्तविक एवं मूर्त्त ऐतिहासिक **वस्तु** या विषय; तथा कलाकृति में उसका कलात्मक प्रति-बिंबन—ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्युत वस्तु-संसार के एक प्रति-संसार के रूप में कलाकृति का संसार प्रस्तुत होता है। इस तरह एक देशकालसंभूत मूर्त्त ऐतिहासिक वस्तु कला में एक देशकाल-बहिर्भूत कलावस्तु (कलाकृति) बन जाती है।

अतएव यथार्थता का कलात्मक प्रतिबिंबन अर्थात् चितिमूलक अनुचिंतन एक प्रस्थान-बिंदु भी बन जाता है। इस प्रस्थान-बिंदु को हम त्रिकोण का केंद्र भी मान सकते हैं। यह केंद्र वर्तमान यथार्थता है और निर्धारक भूमिका निभाता है। प्रत्येक ऐति-हासिक काल में इसका (वर्तमान यथार्थता का) स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है और जनता के सांस्कृतिक अनुचिंतन तथा सामाजिक आयास द्वारा गढ़ा हुआ होता है। कलात्मक अनुचिंतन के अंतर्गत हर युग की (समसामयिक) वर्तमान यथार्थता के प्रस्थान-बिंदु से एक ओर अतीत का पुनरुत्पादन है, तथा दूसरी ओर भविष्य का प्रक्षेपण। अतएव

कलाकृति में मूर्त्त एवं ऐतिहासिक वस्तु का कलात्मक प्रतिबिंबन होता है। यह देश-काल बहिर्भूत, अथवा शाश्वत, अथवा अमर, अमर क्लासिकी कहलाता है। यह कलात्मक प्रतिबिंबन अथवा चितिमूलक अनुचिंतन प्रधानतः रूपकात्मक एवं साहचर्य-परक (सांस्कृतिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक) होता है।

(क) कलात्मक बिंब और कलात्मक प्रत्यक्षीकरण तथा सौंदर्यात्मिक आदर्श

कलात्मक प्रतिबिंबन ही चितिमूलक[1] अनुचिंतन अर्थात् **सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षीकरण** है।

सौंदर्यतात्त्विक प्रत्यक्षीकरण एक कलानिष्ठ विषयी (सब्जेक्ट) के द्वारा होता है और वह एक बाह्य वस्तु, ठोस एवं ऐतिहासिक विषय का होता है—'कलात्मक बिंब' के माध्यम तथा पद्धति से !

चितिमूलक प्रतिबिंबन के दो पक्ष हैं : एक तो प्रतिबिंबन (रिफ्लेक्शन) की विषय-वस्तु अर्थात् बिंब है; दूसरा चिति द्वारा वस्तु के प्रभाव-ग्रहण का संसाधन है।

पहले पक्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय-वस्तु कोई अमूर्त्त विचार नहीं है, बल्कि ऐसा विचार है जो बिंब में रूपाकृत हो गया है। बिंब हम पर संवेदना की अस्थिर प्रभावना के आगे संवेग के प्रबल प्रभाव डालता है। इस तरह बिंब मनुष्य के संवेगात्मक अनुचिंतन को अग्रसारित करता है।

वस्तु के किसी खास पहलू का प्रभाव हमारे चिंतन-तंत्र पर छपता है। इसलिए वस्तु के विशिष्ट पक्ष और उसकी छाप के बीच अर्थात् विषय और विषयी के, बाह्य और आंतरिक के, बीच कुछ समाकृतिक संबंध (रिलेशंस ऑफ आइसोमार्फिज़्म) होते हैं। यह '**समाकृति**' रूप की, धर्म की, गुण की, बोध की हो सकती है। इससे यह विभिन्न प्रकार की हो सकती है। यह प्रभावसाम्य के कई स्तरों की भी हो सकती है; जैसे, ऐंद्रियक, मानसिक, तार्किक, साहचर्यात्मक, तीव्र, क्षीण, आदि। इस तरह वस्तु की संरचना तथा वस्तुबिंब की संरचना, दो भिन्न-भिन्न चीज़ें हैं।

इस बिंदु पर हम वस्तुनिष्ठता (आब्जेक्टिविटी) के प्रश्न का सामना भी करते हैं। अनुचिंतन की विषयवस्तु अर्थात् बिंब में विषयी (कलाकार और सहृदय) केवल अपने इंद्रिय-ग्राहकों, स्नायुमंडल और मस्तिष्क की दशा ही धारण नहीं करता अर्थात् बिंब कोरमकोर आत्मनिष्ठ नहीं होता। बिंब बाह्यजगत् की विषयवस्तु का धारण करता है अर्थात् बिंब में विषयी का प्रत्यक्षीकरण सचेतन होता है अर्थात् वह वस्तुनिष्ठ विषय का सीधे संदर्शन करता है।[2] इस भांति बिंब के दो मूल अक्ष

१. मामूली तौर पर 'चिति' (साइके) को संवेगों, संकल्पों और संज्ञानों का संयौगिक कहा जा सकता है। विस्तार के लिए देखें 'चिति की लीला में मंत्रमुग्ध प्रतीक के इंद्रजाल !' शीर्षक पिछला अध्याय।

२. देखिए, 'ए डिक्शनरी ऑफ फिलासफी', सं० रोसेनथाल और यूदिन, मास्को १९६७, पृ० ३८१।

हैं—(१) **समाकृति** का आलंकारिक उपलक्षण; तथा (२) **वस्तुनिष्ठता** का प्रत्यक्ष लक्षण। इन्हीं दो अक्षों पर कलात्मक बिंब का भी विधान होता है। यह बिंब की ज्ञानमीमांसा है। आगे उसका सौंदर्यबोध है।

कलात्मक बिंब केवल अनुचिंतनात्मक ही नहीं होता। यह सर्वप्रथम सृजनात्मक, फिर पुनरुत्पादक, और प्रक्षेपात्मक, और रूपकात्मक, और साहचर्यात्मक, तथा अंततः समाजसांस्कृतिक होता है। इसलिए कलात्मक बिंब की संरचना विशिष्ट (पार्टीकुलर), विलक्षण (यूनीक) एवं प्ररूपित (टिपिकल) होती है। इसलिए कलात्मक बिंब न तो अपोलो यान द्वारा लिया गया चंद्रमा का आलोकचित्र है, न ही खजुराहो के मंदिर का नक्शा है; और न ही मानवशरीर का कोई मानचित्र है। कलात्मक बिंब हू-ब-हू पुनरुत्पादन न होकर यथार्थता का ऐसा बिंब है जिसे कलाकार ने रूपांतरित तथा मूल्यांकित भी किया है। इस बिंब में सौंदर्यात्मक आशंसा का वह प्रत्यक्ष-परोक्ष हाशिया जुड़ा है जो इतिहास और संस्कृति, समाज और वर्ग, व्यक्ति और संस्कार द्वारा अनुमित होता है। इस तरह कलात्मक बिंब यथार्थता का **प्रतिपादक** है। यह प्रतिपादन **साहचर्यमूलक** है जिससे विशिष्ट अनुभूतियों और चिंतनों की अभिरंजना एवं अभिव्यंजना होती है। इस भांति कलात्मक बिंब के वृत्त में कलाकार और कलाग्राही, दोनों एकसमान-से हो जाते हैं। इसमें आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सिद्धांतों का सामंजस्य हो जाता है।

कलात्मक बिंब में कई तत्त्वों के बीच अविच्छिन्न एवं अंतर्ग्रथित द्वंद्वात्मक एकता कायम होती है। इसमें **'ऐंद्रियक'** (काव्य, संगीत) तथा **'तर्कपरक'** (आलोचना) के बीच एकता है जिसके अंतर्गत एक तो कलाकार अपने श्रोतावृंद से जुड़ता है; दूसरी ओर इच्छाएं (विशेष भूमिका अदा करने वाली) अप्रकट संज्ञान कराती हैं तो विचार (अंतर्निहित सोद्देश्यता अथवा प्रतिबद्ध विचारधारा) स्पष्ट प्रस्तुतीकरण करते हैं। इसमें **'वैयक्तिक'** (प्रगीत, नृत्य, मार्ग) तथा **'वैश्वक'** (संस्कृति-रूप, कला-रूप) के बीच एकता है जिसके अंतर्गत व्यक्ति की अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विशिष्ट सामाजिकार्थिक व्यवस्था के वैश्वक 'सुपरिगठन' (वैचारिक रूपों की अविच्छिन्न सत्ता) का अंतर्ग्रंथन होता है। इसमें **'स्थूल'** (वास्तु, शिल्प) तथा **'सूक्ष्म'** (भाव, व्यंजना, प्रतीक) की एकता है। इसमें **'अंश'** (एक मूर्ति, एक अंक, एक मुद्रा) तथा **'संपूर्ण'** (पूर्ण मंदिरनिवेश, पूर्ण अभिज्ञानशाकुंतल, पूर्ण कत्थक नाच) के बीच एकता है जिससे लय और गति और संरचना के तत्त्वों का समावेश होता है। इसमें **'बाह्य'** (बहिर्गत अस्तित्वमान जगत् का बिंब) तथा **'आंतरिक'** (कलाकार तथा आशंसकवृंद की अंतर्मुखताओं) की एकता है। इसमें **'आत्मनिष्ठ'** (सृजन) तथा **'वस्तुनिष्ठ'** (पुनरुत्पादन) की एकता है जिससे कि यथार्थवाद में ऐतिहासिक रूप से गतिशील तत्त्वों की संचेतना का समावेश होता है। अतः मानव ज्ञानेंद्रियां यथार्थ से काफी दूर होने के बावजूद विचारों के मुक्त क्रम तथा क्रीड़ावृत्ति के आविर्भाव को संभव बनाती हैं। अतः मनुष्य अपनी वस्तुओं का निर्माण कलात्मक ढंग से करता है; कर्मदक्षता को विकसित करने एवं आचार-विचार

में भौतिक दुनिया पर प्रभुत्व कायम करने की प्रक्रिया के दौरान अपने सौंदर्यबोध को विकसित करता है तथा आत्मनिर्वासन की दशा को समाप्त करता है। यह एकता सौंदर्यबोध को सामाजिक सक्रियता से जोड़ती है, उसे मात्र शुद्ध अनुचिंतनात्मक रूप में नहीं छोड़ देती। इस तरह मनुष्य प्रकृति को मानवीय तथा समाज को सौंदर्यबोधात्मक बनाता है। कलाबिंब में **'आवश्यक'** (निश्चित यथार्थ, सुगठित संरचना) तथा **'आकस्मिक'** (नवीन कल्पना, प्रवर्तक शिल्प, मौलिक प्रस्तुतीकरण) की एकता है जिसके फलस्वरूप एक ओर प्रमुख क्रियात्मकता मौजूद रहती है जो मानवीय श्रम से कला के चितिमूलक संघटकों का विकास करती है तो दूसरी ओर सिसृक्षा के मार्ग में निरंतर अभ्यास मौलिकता और नवीनता और श्रेष्ठता का आविर्भाव करता है। इसमें **'यथार्थता'** और **'मरीचिका'** (भ्रांति) की एकता होती है अर्थात् यथार्थता के प्रतिबिंबन में मात्र दर्पण-जैसी अनुकृति न होकर प्रक्षेपण (कल्पना, संदर्शन, वक्रता) आदि होता है। यथार्थता का ऐसा प्रतिबिंबन एक प्रस्थान-बिंदु बन जाता है, एक प्रतिकल्पित वस्तु के सृजन के हेतु। वर्तमान यथार्थता की भूमि से समारंभ करके ही अतीत का पुनरुत्पादन तथा भविष्य का प्रक्षेपण संभव है और ये दोनों प्रक्रियाएं भी वर्तमान से निश्चित होती हैं। इस भांति कलाकृति में अतीत, वर्तमान और भविष्य अंतर्लिप्त हो जाया करते हैं।[1] असाधारण बाहरी अवस्थाओं में अथवा आंतरिक मनोरोगात्मक दशाओं में जो प्रत्यक्षीकरण होता है उसमें **मरीचिका** की छाया भी फैलती है। इसी तरह जब यथार्थता से संचित किये गये अनुप्रभावों को नये बिंबों में ढाला जाता है तो कल्पना का प्रतिभास होता है (कल्पना के अंतर्गत यथार्थता में आमना-सामना करके प्राप्त किये गये अनुप्रभावों को महत्त्व नहीं दिया जाता)। अंततः कलाबिंब में **'विषयवस्तु'** और **'रूपविधान'** की एकता का परिवर्धन होता है जिससे कला का यथार्थता से विच्छेद नहीं होता। कला में विषयवस्तु कोई अमूर्त्त विचार न होकर एक ऐसा विचार है जो बिंब होकर संवेगात्मक प्रभाव डालता है। अतः स्थूल विषयवस्तु और कलात्मक बिंब के बीच अंतर्विरोध है क्योंकि परवर्ती रूपविधान का एक जटिल अन्वयन ऐसा है जो शैलीगत गुणों को उछालता है। विषयवस्तु और रूपविधान की एकता हमेशा सापेक्ष और क्षणभंगुर है। इन दोनों के आपसी प्रकार्यों तथा विकास में अंतर होने के कारण ही इनकी एकता में अंतर्विरोध और संघर्ष पैदा होते हैं। "विषयवस्तु विकास का आधार है, तो रूपविधान किसी वस्तु के अस्तित्व की विधि है; विषयवस्तु की अपनी गत्यात्मकता है, रूपविधान उस पर निर्भर है; विषयवस्तु में असीमित विकास की नैसर्गिक संभावना निहित है, रूपविधान उसे परिसीमित करता है; विषयवस्तु विकास में निदर्शक भूमिका अदा करता है, रूपविधान सापेक्षतया स्वाधीन होता है क्योंकि यह विकास को अवरुद्ध अथवा

१. के० डोलगोव, 'आब्जेक्ट एंड सब्जेक्ट, आब्जेक्टिव एंड सब्जेक्टिव आर्ट', "आर्ट एंड सोसाइटी", मास्को, १९६८, पृ० ५६-५७।

अग्रिम करने की उभय योग्यताएं रखता है।"[1] रूपविधान की सापेक्ष स्वाधीनता अर्थात् 'स्वायत्तता' प्राचीनता के अनुपात से संवर्द्धित होती है। रूपविधान का 'स्थायित्व' विषयवस्तु के पूर्ण अनुशासित तथा शैल्पिक विकास का संरक्षक भी होता है क्योंकि यह सुगठित संरचना पर बल देता है। मार्क्स ने ग्रीक कला की इसी विशेषता को सराहा है क्योंकि इससे संरचना (स्ट्रक्चर) का यथावत् प्रस्तुतीकरण, संतुलन, नियमितता, अनुपात और सामंजस्य जैसे निश्चित माप (मात्रा) समाविष्ट होते हैं। फलस्वरूप कलाकृति की आंतरिक सघन संरचना में सुसंगति तथा संपूर्णता आ जाती है। इस तरह रूपविधान कलात्मक तंत्र की समष्टि है और यह समग्र सौंदर्यपरक संरचना के अंतर्गत विभिन्न तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण संगठन करता है जिससे एक सिद्ध कलाकृति एक 'स्वायत्त संरचना' भी हो जाती है।[2] किंतु आरंभ से प्रगतिशील विकास को गति देने वाला यह रूपविधान का स्थायित्व जीवंत यथार्थता से कटकर रूढ़िवाद का स्रोत भी बन जाता है। तथापि एक गुणात्मक दशा से दूसरी में संक्रमण करने पर पुराने रूपविधान का या तो उन्मूलन होता है, अथवा रूपान्वयन। पुराने रूपविधान के उन्मूलन की यह प्रक्रिया कभी-कभी पुरोगमन भी कर लेती है और पुनः उसी पुराने रूपविधान को पदारूढ़ कर डालती है। उपर्युक्त आठ या दस द्वंद्वात्मक एकताएं मिलकर विभिन्न कलाओं में विभिन्न प्रकारों से विविध कलात्मक बिंबों का अनुरंजन करती हैं। प्रत्येक कला (और कलाकृति भी)—कलात्मक बिंब के माध्यम से—यथार्थता का प्रतिबिंबन एवं पुनरुत्पादन अपने ही निजी ढंग से करती है क्योंकि हरएक की वस्तु, साधन और सामग्री में विभेद होता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न कलाओं तथा प्रत्येक कलाकृति में उपर्युक्त आठों द्वंद्वात्मक एकताएं नहीं मिलतीं बल्कि प्रत्येक कला की सामग्री, विषयवस्तु, शैली, माध्यम आदि के अनुसार एक या कुछ एकताओं का कार्यकलाप मिलता है। इसके अलावा यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि विशिष्ट कला के अनुरूप समाहित उपर्युक्त एकताएं ही चरित्रों, घटनाओं, परिस्थितियों आदि के बिंब (इतिवृत्त तथा विवरण, चित्रण तथा गल्पन) भी रचती एवं रंजित करती हैं जिससे आद्य संवेगभूमि (स्थायीभाव, अभिधा) पर एक ओर सामान्य विचारों तथा आवेशों की एवं दूसरी ओर विशिष्ट सौंदर्यानुभूति तथा मानवीय अनुभवों की अभिव्यंजना होती है। 'कलात्मक बिंब' की ज्ञानमीमांसा तथा सौंदर्यदर्शन का संसार यही है।

उपर्युक्त संसार में कलात्मक बिंबों के विभिन्न **समाकृतिक प्रकार**, तथा प्रभावनसंभूत विभिन्न **रंजक धरातल** प्राप्त होते हैं। यदि समाकृति (आइसोमार्फिज़्म) के क्षेत्र में बिंबों को 'रूपक' का पर्याय अथवा विपर्याय माना जाता है, तो इंद्रियरंजकता के धरातल पर उनके दृश्य, स्पर्श, श्रवण, रसना और गंध को लेकर ऐंद्रियक

१. 'ए डिक्शनरी आफ फिलासफी', रोजेनथाल और यूदिन, पृ० १६३-१६४।

२. देखिए, "मार्क्स और एंगेल्स के सौंदर्यशास्त्रीय विचार", स्तेफ़ान मोराव्स्की, 'आलोचना', अंक १५, १९७०।

विभेद हो जाते हैं। रूपक से आगे यदि उन्हें (अतिशय-गर्भता के कारण) अलंकार-शोभा से जोड़ा जाता है, तो अनुभूति की गहराई में (स्मृति-गर्भता के कारण) उन्हें भावों, चरित्रों, धारणाओं आदि के साहचर्यमूलक पुनर्निर्माण से संलग्न किया जाता है। यदि जुंग मानवता के शैशव के पूर्वाघातों को आदिम बिंब मानते हैं, तो कुछ के द्वारा विशिष्ट संस्कृति और जाति के अतीत के संस्कारित अनुभवों को मिथक (सामूहिक बिंब) तथा सांस्कृतिक पैटर्न की शक्ति माना जाता है। आवेगशील (काइनेस्थेटिक) बिंबों के अंतर्गत सहसंवेद्य बिंब (साइनेस्थेटिक) तथा समानुभूतिपरक (इंपैथिक) बिंब प्रभावन-स्तरों के नये भेदक एवं उद्‌घाटक हैं जिससे चिति में चमत्कार, गत्यात्मकता, परिवर्तनशीलता (द्रवण, दीप्ति, द्रुति) आदि के द्वारा बाह्य यथार्थता मानवीयकृत होती है। इसके अंतर्गत ही प्रातीतिक (आइडेटिक), तापबोधक (थर्मल), रासनिक (गस्टेटरी), गत्यात्मक (मोटर) बिंब आदि भी स्वीकृत हुए हैं। सी० डी० लेविस, रिचर्ड हर्टर फाग्ले, ई० जे० फर्लांग, राबिन स्केलटन, एच० कूम्बे, स्पर्जियन, आदि ने विभिन्न आधारों पर कलात्मक बिंबों का अपना-अपना वर्गीकरण किया है। तथापि इनके मूल में वस्तुनिष्ठता के प्रत्यक्ष लक्षण तथा समाकृति के आलंकारिक उपलक्षण ही हैं। ये दोनों ही मिलकर कलात्मक बिंबों की विपुल राशि, असंख्य भेदों, और अनंत प्रभावों का एक कलात्मक-संज्ञानात्मक-वैचारिक संसार बनाते हैं।

जब मनुष्य संसार से अपने बहुमुखी संबंधों को संवेगात्मक प्रतिबिंबन द्वारा ग्रहण करता है तो वह 'बिंबों-में-चिंतन' करता है। एक सौंदर्यमुखी मनुष्य (कलाकार, आशंसक) जब कलात्मक बिंबों में चितिमूलक अनुचिंतन करता है तो उसे **कलात्मक प्रतिबिंबन** कहा जाता है। कलात्मक प्रतिबिंबन एकसाथ संवेगात्मक, साहचर्यपरक तथा रूपकात्मक होता है। अतः यह वस्तुनिष्ठ प्रतिबिंबन या वस्तुगत अनुचिंतन का एक विलक्षण स्वरूप है।

कलात्मक प्रतिबिंबन केवल अनुचिंतनात्मक ही नहीं होता, बल्कि पुनरुत्पादक, सर्जनात्मक और प्रक्षेपणात्मक भी होता है। फलतः एक अमूर्त्त भाव, या स्मृति छाया, या मूर्त्त वस्तु का **'विषयीकरण'** (आब्जेक्टिफिकेशन) होता है जिसका पूर्ण समाहार एक कलाकृति है। विषयीकरण के अंतर्गत यथार्थता का प्रतिबिंबन, सर्जना और अभिव्यंजना की त्रयी शामिल हो जाती है। इसलिए विषयीकरण प्रत्येक कला में भिन्न-भिन्न होगा क्योंकि प्रत्येक कला का माध्यम, शिल्प, सामग्री और वस्तु भिन्न-भिन्न होती है। विषयीकरण-चक्र में एक ओर तो विषय और विषयी के संबंध गुंथे हैं; दूसरी ओर कलाकार और रसिक के तदाकृत संबंध भी बंधे हैं। वस्तुतः विषयीकरण का पहला पक्ष सृजन-प्रक्रिया से तथा दूसरा संप्रेषण-प्रक्रिया से जुड़ा है। इस तरह हम वस्तुनिष्ठ प्रतिबिंबन से सौंदर्यबोधात्मक विषयीकरण की ओर प्रयाण करते हैं। विषयनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ (आब्जेक्टिव) प्रतिबिंबन में एक त्रिकोणात्मक संबंध होता है : (१) मस्तिष्क से स्वतंत्र बाह्य यथार्थता (सामग्री); (२) स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान संबंधताएं, जो चेतना का निर्धारण करती हैं (उत्पादन संबंध);

(३) समग्र रूप में यथार्थता का प्रतिबिंबन या प्रत्यक्षीकरण एवं पुनरुत्पादन करने की विषयीकर्ता (सब्जेक्ट) की **पद्धति**।[1]

इस उपक्रम में पहले **बाह्य यथार्थता** मनुष्य के मस्तिष्क से स्वतंत्र होती है और निर्माण के पश्चात् **कलाकृति** हमारी चेतना से स्वतंत्र हो जाती है। सौंदर्यवस्तु या कलाकृति की इस स्वायत्तता में **'आत्मनिष्ठीकरण'** (सब्जेक्टिफिकेशन) की प्रक्रिया ढलती है।

आत्मनिष्ठता (आत्मपरकता : सब्जेक्टीविटी) केवल एक व्यक्ति को दूसरे मनुष्य से विभिन्न ही नहीं करती बल्कि इस पर भी निर्भर करती है कि कर्त्ता या विषयी में बहिर्गत अथवा वस्तुनिष्ठ (तत्त्व) किस माप तक सघनीभूत हुआ है। इस तरह सही आत्मनिष्ठता के अंतर्गत व्यक्ति की **अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता** और **विश्वदृष्टि की सामाजिकता**—इन दोनों का कांतसंयोग होता है। इसलिए एक ही विश्वदृष्टि की सामाजिकता से अनुप्राणित लियोनार्दो द विंची और माइकेल एंजिलो, मैक्सिम गोर्की और शोलोखोव, नागार्जुन और गजाननमाधव मुक्तिबोध में अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता के भेद हैं; तथा एक ही सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि से संवलित निराला और प्रसाद, कबीर और तुलसी, राजकमल चौधरी और सौमित्र मोहन की विश्वदृष्टि की सामाजिकता में विभेद हैं। इस तरह कलाकार की इच्छाओं और अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता की विशेष तथा महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं होती हैं। कलात्मक प्रत्यक्षीकरण में कलाकारों के प्रिय बिंबों का प्रभामंडल, स्मृत चित्रों की बारंबार आवृत्ति वैयक्तिक शैलियां और रीतियां आदि आत्मनिष्ठता का प्रमुख परिणाम हैं।

कर्त्ता या विषयी विषय का सृजन तथा पुनरुत्पादन, दोनों ही करता है। उसके सृजन-पुनरुत्पादन के पहले प्रकृति में 'रघुवंश' महाकाव्य, अजंता गुफाएं, कोणार्क मंदिर अथवा 'गोदान' उपन्यास आदि का अस्तित्व तक नहीं था। देशकाल के अक्ष में, तथा समाज-इतिहास के परिवेश में कलाकार कुछ वैयक्तिक एवं वर्गीय, सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों का आयत्तीकरण करता है। इन्हें हम (मार्गरेट मीड-सम्मत 'सांस्कृतिक पैटर्न' के समतुल्य) **'सौंदर्यात्मक आदर्श'** (एस्थेटिक आइडियल) कह सकते हैं।

सामाजिक वातावरण के अनुकूल, सौंदर्यात्मक आदर्शों के समतुल्य तथा अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता के अनुसार ही कलाकार (विषयी) अपनी कलात्मक पद्धतियों के द्वारा प्रकृति की वस्तुओं का रूपांतर करता है। वह प्रकृति की वास्तविकता का सामना स्वयं प्रकृति का ही **मानवीयकरण** (ह्यूमेनाइफ़ेशन) करके करता है। प्रकारांतर से इस प्रक्रिया में वह अपना भी **विषयीकरण** (आब्जेक्टिफिकेशन) कर डालता है। पहली प्रक्रिया में मनुष्य का प्राकृतिक अस्तित्व **मानवीय अस्तित्व** हो जाता है तथा दूसरी में वह ऐसा सामाजिक मनुष्य हो जाता है जिससे **कला की सामाजिक प्रकृति** का उन्मीलन होता है। कलाकृति और व्यावहारिक वस्तु, दोनों ही प्रकृति के

१. के० डोलगोव, 'आब्जेक्ट एंड सब्जेक्ट', पृ० ६२, "आर्ट एंड सोसायटी", मास्को, १९६८।

विशिष्ट सामाजिक स्वरूप की देन हैं और दोनों में ही मानवीय श्रम (सर्जनात्मक/उत्पादक) लगा है और दोनों का ही कोई सामाजिक रूप (अभिव्यंजना/उपयोगिता) भी है। इसलिए कलात्मक प्रत्यक्षीकरण की उभयात्मक प्रक्रिया में प्रकृति का मानवीयकरण तथा सामाजिक मनुष्य का सौंदर्यतात्त्विक विषयीकरण होता है।

ये दोनों करणीयताएं शाश्वत और निर्विकल्प न होकर सापेक्ष तथा सामाजिक-ऐतिहासिक हैं और 'सौंदर्यात्मक आदर्शों' के घेरे में घटित होती हैं। सौंदर्यात्मक आदर्श नैतिक आदर्श या सामाजिक-राजनीतिक आदर्श से भिन्न है। यह मनुष्य के सौंदर्यबोधात्मक कार्यकलापों का प्रमुख नियामक है। वेशभूषा, रुचि, फैशन, अंतर्कक्ष-सज्जा आदि भी इसमें शामिल हैं। सौंदर्यबोधात्मक आदर्श का मनुष्य के संवेगात्मक-सौंदर्यबोधात्मक अनुभव से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। अतः यह सौंदर्यतात्त्विक प्रत्यक्षीकरण का सर्वोच्च आशंसापरक-संवेगपरक प्रमानक है। अतः यह मूर्त्त और दृश्य, साकार और ठोस है। अतः यह सामाजिक विकास के मूलभूत आकृतिबंधों तथा प्रवृत्तियों का प्रतिबिंबन करता है।

सौंदर्यात्मक आदर्शों का विधान एक तो सीधे जीवन के अनुप्रभावों से आता है। ये अनुप्रभाव मूर्त्त सौंदर्यात्मक अंकन बन जाते हैं। दूसरा स्रोत कलाकृतियां हैं जहां कलाकार का लौकिक संज्ञान कलात्मक बिंबों में साकार हो जाता है। इस तरह सौंदर्यबोधात्मक अनुप्रभाव और कलात्मक बिंबों का जो समन्वय और संस्करण होता है, वह **सृजनात्मक 'कल्पना'** की पद्धति है और उसका परिणाम ही **सौंदर्यात्मक आदर्श** है।[1] यहां यथार्थता और संभावना, वास्तविकता और कल्पना की कैटेगरियों का अनुपम संयोग है। निष्कर्ष यही है।

वस्तुतः सौंदर्यात्मक आदर्श एक प्रारूप (माडल) है। यह वास्तव में अस्तित्वमान वस्तुओं एवं संबंधताओं का एक आकृतिबंध है जो उनमें बिंब, भाव, अनुभव, माप, रूपविधान, संगति, सौंदर्य आदि की यथासंभव श्रेष्ठतम संभावनाओं को संचित तथा उपलब्ध करता है। अतः एक ओर इसमें यथार्थता और संभावना की एकता है, तो दूसरी ओर विषयवस्तु एवं रूपविधान, मात्रा एवं गुण, सारत्व एवं संघटनादि के द्वंद्वात्मक संघर्ष भी हैं। अतः एकता और संघर्ष, एकान्विति और द्वंद्व के नियम से सौंदर्यात्मक आदर्शों का मूर्त्त सामाजिक एवं ऐतिहासिक विधान होता है। इसलिए इसमें प्रत्यक्षीकरण और सर्जना का संयोग होता है और इसीलिए 'यह व्यक्ति, या वर्ग, या संपूर्ण समाज की संपूर्णता और परिपूर्णता की अवधारणा है जिससे अनुप्राणित होकर मनुष्य अपना भी पुनर्निर्माण करता है।' इस भांति सौंदर्यात्मक आदर्श कलाकृति के सर्जन और मनुष्य के अनुरंजन के लिए [मानो सुपरि-गठन (सुपर स्ट्रक्चर) के अंतर्गत ही] मूलाधार की भूमिका निबाहते हैं।

जिस तरह दो स्रोतों (जीवन के सीधे अनुप्रभाव तथा कलात्मक बिंब) से सौंदर्यात्मक आदर्शों का विधान होता है उसी तरह उनका प्रभावन भी दो प्रकार से

1. ओ० लार्मिन, 'एस्थेटिक आइडियल'(पृ० ४६, ५१); "आर्ट एंड सोसायटी", मास्को, १९६८।

होता है : यथार्थता के सीधे प्रतिबिंबन से (जैसे चित्रकला, शिल्पकला, रंगमंच में); तथा यथार्थता के परोक्ष प्रतिबिंबन से (जैसे संगीत, काव्य, नृत्य में)।

इस तरह सौंदर्यात्मक आदर्श ठोस सामाजिकार्थिक रूपायनों से अनुमानित होते हैं। वे निर्विकल्प और शाश्वत नहीं होते। उनका विन्यास वर्ग तथा समाज-व्यवस्था के समतुल्य होता है। उनके विन्यास में एक आयाम यथार्थता के जीवंत **प्रतिबिंबन** का, तथा दूसरा संवेगात्मक-विचारधारात्मक **आकलन** का होता है। यही उनकी प्रकृति और संस्कृति है।[1] वर्गों और व्यवस्थाओं से अनुरूपित अतीत के सौंदर्यात्मक आदर्शों में भी मानवीय व्यक्तित्व के कुछ सामान्य मानवीय तत्त्व रहे हैं जिन्हें ऐतिहासिक कालों में सिद्ध किया गया है। सामान्य मानवीय तत्त्वों का आविर्भाव तभी संभव है जब कलाकृति एक स्वायत्त संरचना हो, तथा सौंदर्यात्मक आदर्श की धुरी में एक सिद्ध कलाकृति भी हो। कलावस्तु और सौंदर्यानुभूति की स्वायत्तता वस्तुतः विषय और विषयी के बीच के स्वायत्त संबंधों से ही उपजती है। मार्क्सीय सौंदर्यबोध के अनुसार कलात्मक मूल्यों के अनुभव के क्षणों में, या अन्य मानवीय कार्यकलापों के विषय में, या वृहत्तर संदर्भों में तो दोनों (विषय एवं विषयी) में से प्रत्येक अपेक्षतया स्वायत्त होता है।

कलात्मक बिंब—कलात्मक प्रत्यक्षीकरण—सौंदर्यात्मक आदर्श—सिद्ध कलाकृति—इनके चतुष्टय का एकतान सौंदर्यव्यापार का यह दिग्दर्शन अब हमें आगे ले जा सकता है।

(ख) कलात्मक प्रत्यक्षीकरण की प्रकृति तथा प्रवृत्ति

कलात्मक बिंब और कलात्मक यथार्थता के संलयन का अनुपम दृष्टांत **नृत्य** है : विशेष रूप से कत्थक, भरतनाट्यम, कथकली (और बेले) आदि !

पहले इन नृत्यों का विकास मंदिरों तथा राजसभाओं में हुआ था तथा इनकी दर्शक-मंडली सम्राटों-सामंतों की होती थी। आजकल इनकी अनुष्ठान-भूमि मंदिरों तथा दरबारों के बजाय रंगमंच है, और दर्शक टोली सामंतों के बजाय सामान्य आशंसकों की हो गयी है। आजकल प्रस्तुतीकरण की प्रधानता हो गयी है। अतः प्रकाश-संयोजन, अंग-सज्जा, वेशभूषा, ध्वनि-संयोजन आदि के अभिनवीकरण के साथ-साथ नयी-नयी विचारवस्तुओं (थीम्स) तथा नयी-नयी शैलियों का ग्रहण हुआ है। अतः आज 'सौंदर्यात्मक आदर्श' बदले हैं। इसके लिए पहले उदयशंकर जैसे, और अब प्रताप पवांर तथा नरेंद्र शर्मा जैसे नृत्यलिपिकार (कोरियोग्राफर) सामने आये। नृत्यलिपिकार के साथ-साथ संगीतकार की भूमिका गुंथी। अल्ला रक्खा और लतीफ अहमद खान (तबला), रविशंकर (सितार), बिरजू महाराज (सरोद) आदि ने संगीत-बिंबों का संयोग कराया। इस भूमिका पर आजकल प्रताप पवांर-प्रिया पवांर की कत्थक-जुगलबंदी, नरेंद्र शर्मा-कुमकुम-माथुर का 'कामायनी'-नृत्यनाट्य का प्रस्तुतीकरण एकबारगी

१. देखिए, ए० खार्चेव, 'एस्थेटिक्स एंड मोरालिटी' (लेख), वही, पृ० ९५।

नर्तकों के शरीर को ही कलात्मक बिंब में रूपांतरित कर देता है।

नृत्यलिपिकार और संगीतकार के सहयोग से स्वयं नर्तक और नर्तकी (के शरीर) ही कलात्मक बिंब हो जाते हैं। उनके शरीर का सौंदर्यबोध (नखशिख-वर्णन के विपरीत) लगातार स्वास्थ्य (योग), ताल (रिद्‌मिक्स) तथा क्रीड़ा (एथलेटिक्स) से संस्कारित रहता है। मुद्राएं (जेस्चर्स) विषयवस्तु बनती हैं। उदाहरणार्थ पवांर-दंपती का शारीरिक सौष्ठव, अंगों का सहज समन्वय तथा सामंजस्य, और आमद, तोड़े, टुकड़े, तत्कार आदि की बंदिशों ने मिलकर उनकी कथक जुगलबंदी में कथानक को भी पिरो दिया है। इसी तरह नरेंद्र शर्मा और कुमकुम माथुर ने 'कामायनी' के कथात्मक बैले की नृत्यरचना की है। ज़रा आगे बढ़कर प्रिया पवांर के 'अभिसारिका' नृत्य की थोड़ी तुलना गालिना उलानोवा के 'रोमियो-जुलिएट' नामक बैले से करें जहां वह नृत्य को ही प्रेम का मूर्त्तरूप बना देती है अर्थात् उसका संपूर्ण नृत्य कलात्मक बिंबों का एक सिलसिला बन जाता है और एक गत्यात्मक-परिवर्तनशील प्रत्यक्षीकरण भी! इसी तरह माया प्लिसेत्सकाया जैसी चपलचरण बैलेरीना के 'हंसनृत्य' में हम मानवशरीर का हंस में कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) होना बेहद तीव्रता से महसूस करते हैं। तब वह प्रोकोफिएव के संगीत तथा चायकोव्स्की की नृत्य-लिपि से तराशी हुई हंसिनी बनकर अपूर्व लालित्यपूर्ण नृत्य करती है और साक्षात् श्रृंगारभाव का ही मूर्त्तरूप हो जाती है। सोनल मानसिंह और संयुक्ता पाणिग्रही भी ऐसी बिंबधारा होकर मुद्रावाहित होती हैं।

इस तरह नृत्य के प्रत्यक्षीकरण में विषय और विषयी का, विषयवस्तु और रूपविधान का, वस्तु और बिंब का अद्‌भुत संलयन होता है। नृत्य में नर्तक (का शरीर) ही एक गतिमान-रूपांतरित-सृजनात्मक बिंब बन जाता है और संपूर्ण नृत्य-नाट्य श्रम और क्रीड़ा, कला और जीवन, यथार्थता और कल्पना का समन्वयबिंदु बन जाता है। इसीलिए हमने सबसे विलक्षण और सर्वसमावेशी कला-बिंबरूपों का यह उदाहरण सर्वप्रथम चुना।

इसकी तुलना में काव्यक्षेत्र के कलात्मक बिंब का उदाहरण दूसरा पक्ष उद्‌घाटित करता है। प्रतिनिधि-उदाहरण के लिए 'कामायनी' में वर्णित श्रद्धा के नील रोम वाले मेषशावक के बिंब को लें। उसकी संपूर्णता 'स' है। यह 'स' प्रसाद को, प्रसाद के महाकाव्य के पाठक को, प्रसाद की छायावादी संचेतना को, तथा (विभिन्न क्षेत्रों वाले) एक शिकारी को, एक प्राणिशास्त्री को, एक चित्रकार को भिन्न-भिन्न प्रतीत होगा (क्योंकि प्रतिबिंबन के पश्चात् मूल्याकलन पृथक्-पृथक् होगा)। इन विभिन्न प्रतिबिंबों को १-स, २-स, ३-स, ४-स, ५-स और ६-स से अभिहित किया जाए। इस योगक्रम में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अंतर्मुखी वैयक्तिकता तथा सामाजिक अवस्था के अनुसार 'स' में से भेद बतलाता है तथा दूसरे गुणों की अपेक्षा किसी एक खास गुण या मूल्य, या लक्षण, या प्रभावन का चयन करता है।

क्योंकि [∵] १-स + २-स + ३-स + ४-स + ५-स + ६-स ··· + x-स = 'स'

[∴] इसलिए 'स' = सौंदर्यात्मक आदर्श + सांस्कृतिक पैटर्न + सामाजिक व्यवस्था।

इसलिए सौंदर्यात्मक 'स'' में गैर-सौंदर्यशास्त्रीय संदर्भ प्राथमिक महत्त्व के होंगे लेकिन कलात्मक सर्जना समकालीन सौंदयशास्त्रीय परिकल्पना के ऊपर ही होगी और सौंदर्यबहिर्भूत तत्त्वों की उत्प्रेरणा कायम रहेगी।

इसलिए एक व्यक्ति संपूर्ण 'स' के किसी एक अंश का ही प्रत्यक्षीकरण करता है। मेष-शावक (भौतिक तथा जैविक तथा सौंदर्यात्मक) की संपूर्णता तथा चयन, दोनों के लिए---इंद्रियबोध के अतिरिक्त--- किसी जटिल दर्शन अर्थात् सैद्धांतिक दृष्टि-कोण का दखल होता है जो वर्ग-समाज के विकास तथा यथार्थता के अंतर्विरोधों से अनुकूलित है। इसलिए हम संपूर्ण यथार्थता का पूरी तरह इंद्रियबोध कभी नहीं प्राप्त कर पाते; हम अक्सर उसके किसी चुने हुए भाग के सीधे संपर्क में रहते हैं। संपूर्ण प्रतिबिंबन प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया से भी कुछ स्वायत्तता रखता है क्योंकि यह देशकालबहिर्भूत भी हो सकता है। तथापि १-स, २-स, ३-स आदि उसके अंश हैं। अतः हमारा चुनाव और ग्रहण प्रत्यक्षक की अंतर्दृष्टि तथा अभिप्रेरणा (मोटि-वेशन), वर्ग तथा सौंदर्यात्मक आदर्श पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त प्रत्यक्षीकरण-क्रिया में दिये गये विवरणांकों (१-स से x-स तक) आदि से परे भी हमारा मस्तिष्क यात्रा करता है। कहीं भी नीले रंग या चार फुदकते पांव, घनी रोमराजि वाले नन्हे पशु को देखकर हम इस कला-अभिप्राय की कल्पना कर सकते हैं (स्मृति-साहचर्य); मेष-पालिका श्रद्धा के आधार पर हम चरवाहों की संस्कृति की दशा (सांस्कृतिक पैटर्न) तथा मेष के आद्य प्रतीक (आर्केटाइप) का भी अनुमान कर सकते हैं; मेष-वर्णन के आधार पर कवि प्रसाद के यथार्थ-वर्णन तथा सौंदर्यचर्या (रूपात्मक गुणपुंज) का भी अंदाज लगा सकते हैं। इससे भी परे की यात्रा में हम डायोनीशस देवता के आदिम उन्मत्त विलास अथवा गोद में मेष लिये ईसा के प्रतीक (मिथक) का भी अनुहरण कर संकते हैं। इसके भी और परे हम अतिरंजित तथा गलत प्रत्यक्षीकरण की भूमि पर 'फांतासी' गढ़ सकते हैं जो भ्रांतियां तथा मरीचिकाएं उत्पन्न करती हैं। अतः आज के सौंदर्यबोध में भ्रांत प्रत्यक्षीकरण (इल्यूजन, हैलुसिनेशन) भी ऊहा-पूहा जाता है (जैसे कवि मुक्तिबोध का सशक्त 'ब्रह्म-राक्षस')। इसलिए वस्तुगत यथार्थता का अनुचिंतन सही हो सकता है, गलत भी; संकीर्ण हो सकता है, व्यापक भी। कर्त्ता या विषयी प्रत्यक्ष व्यक्ति है और वर्ग भी; प्रगतिशील हो सकता है और प्रतिक्रियावादी भी; मानवतावादी हो सकता है और पाशविक भी; लड़ाकू हो सकता है और स्वप्नमुग्ध भी। अतः वस्तुगत यथार्थता ऐंद्रियक अनुभवों तथा वस्तुनिष्ठता के प्रति एक **अंतर्दृष्टि** ही नहीं, अपितु एक **दृष्टि-कोण** तथा सैद्धांतिक **विचारदर्शन** भी प्रस्तुत करती है। यथार्थवाद यथार्थता का यथातथ्य चित्रण नहीं है; बल्कि इन तीन प्रस्तुतियों का अनुपम सहकार है।

यथार्थवाद में ऐतिहासिक रूप से गतिशील तत्त्वों (परंपरा, संस्कृति, प्रथाएं, संस्थाएं, मूल्य, संबंधता आदि) की संचेतना का भी समावेश होता है। इसलिए यथार्थवाद केवल वर्तमान-केंद्रित और बाह्य-प्रत्यक्षीकरण-आश्रित नहीं है, बल्कि यह 'ऐतिहासिकता' से उजागर है। इसलिए सौंदर्यबोध, सौंदर्यदृष्टि तथा सौंदर्यदर्शन भी

मानव-श्रम की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत एक परिवर्तमान परिणाम है। ऐतिहासिकता की धारणा मानवीय श्रम एवं सामाजिक क्रांति (परिवर्तन/प्रगति) का भी समावेश करती है। मानव अपनी **माप** अथवा अनुकूल **उपयोग** के अनुरूप भौतिक दुनिया को ढालता है। इसलिए वस्तुसंरचना में अनुपात और मानदंड, तथा सौंदर्यतात्त्विक क्रिया में निश्चित यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण उपस्थित रहता है। इसलिए मनुष्य की श्रम-प्रक्रियाएं वस्तुओं का उत्पादन तथा कलाकृति का सृजन, दोनों ही करती हैं। कलाकृति के सृजन में मानवीय श्रम (उत्पादन क्षमता के स्थान पर) क्रीड़ा-क्षमता की अभिव्यक्ति बन जाता है। इस भांति उत्पादन-संबंधों और सांस्कृतिक पैटर्नों के अनुकूल भी 'सौंदर्यात्मक आदर्श' और कलात्मक मूल्य ढलते हैं। इनके मुताबिक ही यथार्थवाद में उस रुख अथवा रुझान, रुचि और झुकाव का संश्लिष्ट अभ्युदय होता है जिसे कला के सामाजिक लक्ष्य संचारित करते हैं। अतः कला भी सामाजिक परिवर्तन या क्रांति के प्रति अपनायी जाने वाली एक प्रवृत्ति या सोद्देश्यता का संचालन करती है। इसलिए यथार्थवाद ऐतिहासिकता से उजागर होने के साथ-साथ कभी भी अप्रतिबद्ध, तटस्थ, या निरपेक्ष नहीं होता, बल्कि **सोद्देश्यता** के प्रयोजन को उजागर करता है। इसलिए यथार्थवादी कला मनुष्य की **मुक्तिदायिनी** भी है। यथार्थता का रिश्ता मनुष्य के **व्यक्तित्व** एवं अस्तित्व, दोनों से है।

यथार्थवाद यथार्थता का यथातथा चित्रण नहीं है, बल्कि कला का एक झुकाव (ट्रेंड) है जो यथार्थता के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ अनुभव करने वाले कृती के मस्तिष्क को भी पेश करता है। यह ऐसी "मानवीय क्रिया है जिसके अंतर्गत संपूर्ण मनुष्य द्वारा अपने सर्वांगीण अस्तित्व का सर्वांगीण ढंग से ग्रहण होता है।"[१] संपूर्ण मनुष्य की धारणा वस्तुगत यथार्थता को सामूहिक प्रत्यक्षीकरण एवं सामाजिक चेतना से जोड़ देती है और उसे झुकावरक बना देती है। अतः यथार्थवाद—वस्तुगत सामाजिक यथार्थवाद—ऐतिहासिकता तथा सोद्देश्यता से मंडित है और यह जीवन तथा समाज तथा आदर्श का भी प्रत्यक्षीकरण करता है। यह एक तात्कालिक **क्षण** को ऐतिहासिक अवस्था से संबंधित करके 'सुपरिगठन' (संस्कृति) को नये आयाम देता है। यह ऐतिहासिक **पूर्ण** को ग्रहण करने के कारण अतीत का पुनरुत्पादन तथा भविष्य का प्रक्षेपण भी करता है। यह **सत्य** के प्रति यथातथ्यवादी नज़रिये के बजाय द्वंद्वैतिहासिक दृष्टिकोण ग्रहण करता है, तथा उसकी विधाओं को अतीत-वर्तमान-भविष्य के सातत्य में परखता है। इस प्रकार ऐतिहासिकता और यथार्थता के बीच हम प्रत्यक्षीकरण के समतुल्य कायम करते हैं। इस भांति यथार्थवाद वस्तुगत यथार्थता को क्षणिकता एवं क्षुद्र वस्तुगत अस्तित्व से बाहर काढ़कर इतिहास-प्रवाह के संज्ञान में अभिरंजित कर देता है।

ज्ञाता, पर्यवेक्षक, वैयक्तिक इंद्रियबोध तथा विशिष्ट सामाजिक संबंधों के कारण सत्य कभी भी तटस्थ तथा यथार्थता कभी भी अप्रवृत्त नहीं हो सकती। विशेष

१. कार्ल मार्क्स, "इकॉनामिक एंड फिलॉसाफिक मैनुस्क्रिप्ट ऑफ १८४४" (मास्को १९६१), पृ० १०५।

रूप से वर्गीय समाज में तो ये और भी जटिल तथा भ्रामक हो जाते हैं। अतः सामाजिक यथार्थता ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण सत्य का प्रदर्शन तथा असत्य का उन्मूलन करती है; अर्थात् यह **सत्य को अचल अथवा तटस्थ न मानकर उसे इतिहास-प्रवाह में गतिमान तथा पर्यवेक्षक के ज्ञान के कारण पक्षधर मानती है।**

इस भूमि पर हम 'नीलरोम वाले मेषशावक' के उदाहरण के नतीजों को दुबारा दोहराते हैं : (१) हम यथार्थ का 'पूरी' तरह से इंद्रियानुभव कभी नहीं करते; हम 'पूर्ण' में-से चयन करके किसी पक्ष को चुनते हैं ; (२) यह चयन प्रत्यक्षक के रुझानों, उसके वर्ग तथा सामाजिक दशा पर भी आश्रित है; और (३) सभी प्रत्यक्षीकरण निर्णय और प्रवृत्ति के साथ संलग्न होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रत्यक्षक —चाहे कलाकार हो अथवा सहृदय—एक (काव्य, नृत्य में) से अनेक (वास्तु, संगीत में) भी हो सकता है; वह एक समूह (अष्टछाप, प्रगतिवादी) से एक वर्ग (लोक, सामंत) भी हो सकता है क्योंकि वह सामूहिक भावना तथा वर्गीय अभिरुचियों से भी तो संचालित होता है। इसके अलावा वह 'पूर्ण'—जो कला में वस्तु, वातावरण, जीवन, समाज, चिंतन आदि सभी का समावेश कर लेता है—के कई पक्षों का प्रत्यक्षीकरण कर सकता है यदि वह हिरावल है, यदि उसका माध्यम भिन्न है, यदि वह एक समूह या वर्ग की जागरूकता या प्रतिबद्धता भी लिये है।

माध्यम की दृष्टि से पत्थर के माध्यम (वास्तु और शिल्प) को लें। पाषाण के माध्यम से काम शनैः-शनैः और मंथर-मंथर होता चलता है और शिल्पी या निवेशकार हरहमेशा पत्थर के गुणों का अनुभव करता रहता है और दीर्घकालिक अंतराल तक अपने उपचेतन में विषयवस्तु का सृजनात्मक प्रत्यक्षीकरण करता रहता है। शिल्प में प्रत्यक्षीकरण की अभिव्यंजना के कई प्रतिरूप हैं—यथार्थीकरण, अन्यथाकरण (डिस्टार्शन), अमूर्त्तीकरण, विराटीकरण, लाघवीकरण, आदि। शिल्प में आकृति और मुद्रा का संयोग ताल, गति, भाव आदि का भी ग्रहण कर लेता है। हाथी गुंफा के शिल्प-पटल या मामल्लपुरम् के रथशिल्प इस संयोग और प्रतिरूपण के दृष्टांत हैं।

प्रत्यक्षीकरण में चयन और प्रवृत्ति की उत्तम प्रतिनिधि चित्रकर्त्री अमृता शेरगिल (१९१३–१९४१) हैं। उनके समकालीन बंगाली भद्रलोक पुनरुत्थानवादी थे : अवनींद्रनाथ ठाकुर और उनके चेले, जैसे नंदलाल, बसु, असितकुमार हाल्दार, क्षितींद्रनाथ मजूमदार, अब्दुल रहमान चुग़ताई आदि। भारतीय शरीर-रचनाशास्त्र के अपने माप हैं जिनका अनुग्रहपूर्ण गठन अजंता के भित्तिचित्रों तथा शुंग-गुप्त-शिल्प में हुआ है। बंगाली पुनरुत्थानवादियों (१९०५–१९३०) ने उसे ग्रहण करके मानो समकालीन जीवन का तिरस्कार कर दिया। इस आत्मछल वाली रूढ़ि से अमृता शेरगिल तुरंत बाहर आ गयीं। उन्होंने बासोहली और अजंता के 'बिंबों' को चित्रकार गागिन (फ्रेंच) के चमकीले रंगों तथा आकृतिरूपों से समन्वित कर दिया। अतः उनका प्रत्यक्षीकरण दो 'सांस्कृतिक आदर्शों' का कांत संयोग कराता है। उनकी निजी प्रणय-असफलता तथा भारत की उपनिवेशी गरीबी ने उनकी अंतर्दृष्टि में उदासी और व्यथा का

रुझान भी पाग दिया। अतः वे आधुनिकों में सबसे ज्यादा आधुनिक और भारतीयों में सबसे ज्यादा सामाजिकतया सचेतन भारतीय सिद्ध हुई।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्यक्षीकरण **चिति** (साइके) की वैयक्तिकता, **माध्यम** की प्रकृति तथा **वस्तुनिष्ठता** की अवस्था—इन तीनों से संचालित-संस्कारित होता है तथा कुछ क्षणों (सूर के पद या निराला के गीत) से लेकर कुछ शताब्दियों (अजंता), कुछ वंशों (महाबलीपुरम्), कुछ शैलियों (मथुरा, अमरावती) तथा कुछ रूपबंधों (जैनचित्र, भरहुत-सांची की यक्षिणियां) आदि तक विस्तार पाता है। इसीलिए प्रत्यक्षीकरण में संवेग और विचार के अतिरिक्त सत्य भी मंडित होता है। सत्यता-ज्ञान कलाकार या आशंसक की दृष्टि को जाने-अनजाने ऐतिहासिकता तथा विचारधारा की सर्वांगीणता से भी प्रतिपादित करता है। इस तरह प्रत्यक्षीकरण का महान् प्रश्न एक 'व्यापक' और, प्रकारांतर से, **'संपूर्ण संदर्भ'** के आयत्तीकरण का है। मार्क्सवादी दर्शन सौंदर्यतत्त्व को दो क्षेत्रों में संचरणशील करता है: (क) वर्तमान सौंदर्यशास्त्रीय परिकल्पनाओं के ऊपर अतीत की सौंदर्यशास्त्रीय उपलब्धियों का उत्प्रेरण करता है [आइडियोजेनेटिक] तथा (ख) प्रदत्त सौंदर्यशास्त्रीय क्षेत्र में सौंदर्यबहिर्भूत तत्त्वों का उत्प्रेरण करता है [एलोजेनेटिक]। इस **व्यापक संदर्भ** को भी वह प्रकारांतर से **संपूर्ण संदर्भ** [मरे क्राइगर प्रणीय 'कांटेक्स्चुअल यूनिट'] के मंडप में बदल देता है अर्थात् एक ओर कला की अविच्छिन्न सत्ता 'सुपरिगठन' (अर्थतत्त्व, नीतितत्त्व, राजनीतितत्त्व, कानून, दर्शन आदि) पर निर्भर करती है तो दूसरी ओर वह सुपरिगठन को प्रभावित भी करती है। परस्पर निर्भरता की यह पद्धति जटिल अंतर्संबंधों तथा जटिल सैद्धांतिक दृष्टिकोण वाली है।'[2] अतः मार्क्सवादी पद्धति सौंदर्यानुभूति एवं ऐंद्रियक प्रत्यक्षीकरण को सौंदर्यसंभूत-बहिर्भूत तत्त्वों से तथा 'सुपरिगठन' से संलग्न करती है। फलतः सामाजिक-ऐतिहासिक दशाओं में जीने वाला कोई सामाजवर्गीय कलाकार संपूर्ण वस्तु और उसके सर्वांगीण अनुचिंतन 'स' को सर्वाधिक जानेगा। ऐसी स्थिति में यदि वह उस संपूर्ण को नहीं भी जान पाये, तो कम-से-कम उसे गलत नहीं जानेगा; या जितना भी जानेगा, प्रवृत्त्यात्मक अथवा चयनात्मक रूप में जानेगा। यदि वह 'ऐतिहासिकता'-प्रवाह की चेतना में परिपाक करके यथार्थता को अतीत एवं भविष्य में भी परखता है तो वह दोनों कालखंडों में—'वस्तु' की अनुपस्थिति में ही—सृजनात्मक, सही तथा सौंदर्यतात्त्विक प्रत्यक्षीकरण करता है। कलात्मक यथार्थता की यह बहुत बड़ी देन है जो इतिहास का पुनर्निर्माण, वर्तमान का सही अभिज्ञान तथा भविष्य का निश्चित प्रमाण पेश करती है। यथार्थता की **कलात्मक प्रवृत्ति**, इसी बिंदु पर, यथार्थता की **वस्तुगत प्रकृति** से बहुत व्यापक तथा भिन्न हो जाती है। हम पहले ही इस बिंदु को 'प्रयाणबिंदु' कह चुके हैं।

१. देखिए, रमेशकुंतल मेघ, 'आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण', पृ० ४२४-४३०, अक्षर प्रकाशन नयी दिल्ली, १९६९।

२. स्तेफ़ान मोराव्स्की, वही, पृ० ३।

एक आदमी द्वारा गृहीत तथा सृजित प्रत्यक्षीकरण बहुधा वैयक्तिक तथा विलक्षण तो होता ही है।

भिन्न-भिन्न लोगों के प्रत्यक्षीकरण एकसमान नहीं हैं। भिन्न-भिन्न कालों तथा वर्गों के प्रत्यक्षीकरण भी एकसमान नहीं होते। प्रत्यक्षीकरण के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि व्यक्ति या वर्ग के, समाज या काल के सांस्कृतिक पैटर्न क्या हैं अर्थात् धार्मिक, सौंदर्यात्मक और सामाजिक मूल्य क्या हैं ?

व्यक्तिधुरी में चितिमूलक अनुचिंतन (साइकिक रिफलेक्शन) या प्रत्यक्षीकरण व्यक्तित्व के घटकों तथा ध्यान एवं अभिरुचियों से संचालित होता है। प्रत्यक्षीकरण के अंतर्गत कोई संपूर्ण पैटर्न अपने-अपने अंशों के समावेश द्वारा भी प्रभावित होता है (जेस्टाल्ट मनोविज्ञान)। व्यक्तित्व के किसी अभिप्राय से संलग्न प्रत्यक्षीकरण अपेक्षया तत्परता से होता है, जबकि अरुचि की दशा में उसकी अवहेलना होती है। मनोविज्ञान में इसे क्रमशः 'प्रत्यक्षात्मक सूक्ष्मग्रहण' और 'प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा' कहते हैं। अपशकुन और अश्लीलता से जुड़े शब्दों के प्रति दूसरी प्रतिक्रिया तथा नये अनुभवों और अप्रचलित शब्दों के प्रति पहली प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। प्रियार्थक शब्दों में प्रत्यक्षीकरण का प्रवेग बढ़ जाता है। विशेष रूप से व्यक्तित्व की वैयक्तिक वृत्तियाँ ही प्रत्यक्षीकरण को दो विधियों से तब्दील करती हैं : एक ओर दमन तथा कुंठा से; दूसरी ओर खुलाव और अतिकर्मता से। इसीलिए प्रत्यक्षीकरण दीर्घ एवं तात्कालिक, दोनों ही दशाओं में निर्णयों एवं मूल्यों से संयुक्त होता है। व्यक्ति की **अभिवृत्ति** (एटीच्यूड) तथा **अभिप्रेरणा** (मोटिवेशन) प्रत्यक्षीकरण को गत्यात्मक और परिवर्तनशील बनाती हैं जिससे वैयक्तिक प्रत्यक्षीकरण (तात्कालिक एवं दीर्घ, दोनों अवस्थाओं में) भी समाज-संस्कृति के व्यापक और संपूर्ण पैटर्न में समाहित होता है। यह व्यक्ति के विशिष्ट सामाजिक अनुभव पर निर्भर करता है, उसके मूल्यचक्र द्वारा चुना जाता है, तथा संवेगों द्वारा पुनरुत्थानित होता है। इसीलिए **एक ही** बहिर्गत स्थिति में, विभिन्न सामाजिक एवं संवेगात्मक घटकों के कारण, भिन्न-भिन्न लोगों का प्रत्यक्षीकरण **भिन्न-भिन्न** हो जाता है। वैयक्तिक अभिप्रेरणा तथा अभिवृत्ति, और वर्गीय हित तथा सामाजिक अनुभव—इन दो संचालकों द्वारा ही प्रत्यक्षीकरण 'बिंब' से आगे अनुभव, अवधारणा, अनुचिंतन, विचार, विचारदर्शन आदि में रूपांतरित हो जाता है।

अभिप्रेरणा के अलावा कामना और कल्पना भी तो प्रत्यक्षीकरण को सृजनात्मक तथा आवेगात्मक बनाती है। सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षीकरण में तो वस्तु की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है; अपितु कामना और कल्पना उसे एक नया चारित्र्य दे देती है जिसमें संवेग और सौंदर्य का संयोग हो जाता है। अतएव सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षीकरण की प्रकृति संवेगात्मक-अलंकारात्मक हो जाती है। दीर्घकालीन अभिप्रेरणाएं तो अस्थायी अतृप्त इच्छाओं से न जुड़कर सामाजिक अभिप्रायों तथा वैयक्तिक मूल्यों से जुड़ती हैं। कलाकृति में इनका प्रतिरूपण शब्द-संसार की संरचना तथा विषयवस्तु के दृष्टिकोण में होता है। इसीलिए बहिर्मुखी संसार (यथार्थता) का अंतर्मुखी बिंब

(प्रत्यक्षीकरण) एक द्वंद्वात्मक इकाई है और इसीलिए हम 'कलात्मक बिंब' में सात-आठ अंतर्विरोधों का दिग्दर्शन करा चुके हैं।

सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण में दो प्रमुख तत्त्व हैं : कलाकृति की सामग्री (शब्द, रंग, पाषाण, स्वर आदि) की विभिन्नता, तथा विषयी (कलाकार, आशंसक) की स्थितियों (सामाजिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक) की विभिन्नता। इन दोनों के अंतर्गत ही प्रत्यक्षीकरण की **विधियां** क्रियाशील होती हैं जिन्हें 'अभिवृत्तियां' (एटीच्यूड्स) किया गया है। इन्हें व्यक्ति की चिति (साइके) तथा कौशल (स्किल) से संबद्ध कहा जाता है। किंतु इन्हें **व्यक्तित्व के मिथक** की रचना से जोड़ना विद्रूपता होगी, चाहे जितने भी फेनोमेना मौजूद हों जिनका अभी तक संज्ञान न किया जा सका हो। मिथक आत्मनिष्ठ विचार एवं वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया के बीच की रेखाएं गड़बड़ा कर यथार्थता के सही बिंब को बिगाड़ देती है। इसी तरह संज्ञान (काग्निशन) और सूचना के बीच भी अंतर करना होगा क्योंकि संज्ञान से ही एक 'अंतर्मुखी बिंब' का जन्म होता है, न कि सूचना से।

सृजनप्रक्रिया के दौरान कलाकार यथार्थता के प्रति अपनी **अभिवृत्ति** को विकसित करता है, नये सांचे में ढालता है, और नवोद्घाटित करता है। अतः वर्तमान और मूर्त्त वस्तु वह प्रयाणबिंदु है जहां से कलाकार यथार्थता का विशिष्ट पुनरुत्पादन करता है : चितिमूलक, अनुचिंतनात्मक, प्रतिबिंबात्मक। अतः यथार्थता की अभिव्यंजना के लिए वह अन्यापदेश (एलीगरी), व्यंग्य (सेटायर), रूपक, प्रतीक आदि का प्रयोग करता है। यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण के लिए ही अभिव्यंजनात्मक तथा अलंकरणात्मक साधनों का व्यवहार होता है ताकि परंपरा-परिपाटियां और रूढ़ियां टूटें। इसके लिए किमाकार (ग्रोटस्क) बिंब, व्यंग्यात्मक बिंब, फांतासीय बिंब आदि की भी सहायता, सफलता और सार्थकता के साथ, ली जाती है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने अनेक तरह से यथार्थ और फांतासी ('अंधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस') का मेल किया है; निराला ने यथार्थ और विद्रूपता का संयोग किया है ('कुकुरमुत्ता'); राजकमल चौधरी ने यथार्थता और भयंकरता को जोड़ा है ('मुक्तिप्रसंग'); सौमित्र मोहन ने यथार्थ और फूहड़ता को टकराया है ('लुकमान अली') और धूमिल ने यथार्थ तथा व्यंग्य का संघात किया है ('पटकथा')। नयी कहानियों में भी ऐसे तकनीक चहुंव्यापी हो गए हैं जिनमें यथार्थ और संत्रास-आतंक का सहभाव अंकित हुआ है और उसके अंतराल से किमाकृत (गोटस्क) बिंबादि फैले हैं। निर्मल वर्मा ('लंदन की एक रात'), सिद्धेश ('अनुपस्थित' शहर), विमल ('बीच की दरार'), विभुकुमार ('सही आदमी की तलाश), दूधनाथसिंह ('रीछ') आदि ने यथार्थ और भयंकर के कई अनेक रूपात्मक अभियोजन किये हैं। आधुनिक यथार्थता की जटिलता, असंज्ञानात्मकता, भयानकता को समझने तथा उभारने के लिए उसे फांतासी में रूपांतरित करने वाली ये अनेक पद्धतियां व्यक्ति के निरीक्षण के हाशियों से प्रमाणित हैं। स्वयं मुक्तिबोध भी फांतासी को 'सृजन की कन्या' मानते थे। किंतु फांतासी को ही यथार्थता मानने की भ्रांति और मिथक आत्मनिर्वासित कलाकार के व्यक्तिगत

अनुभव को अप्रामाणिक, तथा जीवंत वर्तमान को मिथक बना डालता है। इस खतरनाक बिंदु पर संज्ञान में अमल (अभ्यास) की भूमिका का पूर्ण निषेध हो जाता है। और, इसी बिंदु से मुखौटों वाले कलाकारों तथा नकाबों वाली रूपवादी कला से हमारी सार्थक लड़ाई शुरू होती है : कला से आत्मनिर्वासन, तथा स्वयं की आत्महत्या के विरुद्ध ! मैनरिज़्म और रूपवाद के खिलाफ !! कला में व्यक्तिगत अनुभव, जीवन का वैयक्तिक निरीक्षण एवं संज्ञान की अभ्यासजन्य भूमिका—इन तीनों का **विकल्प** एक भी नहीं है। केवल इसी **संकल्प** को तेज़ करने के लिए ही आधुनिक कल्पना (यथार्थ और उसके अन्य अतिरंजित रूप) में फांतासीय बिंबों, क्रिमाकृत बिंबों, व्यंग्यात्मक बिंबों आदि का सहकार स्थापित होता है !

(ग) आवेग (पैशन) और रुझान

जैसा कि हम कह चुके हैं कि प्रत्यक्षीकरण के मूलभूत घटक **अभिप्रेरणा** (मोटिवेशन) और **संवेग** (इमोशन) हैं जो विशिष्ट **अभिवृत्तियों** (एटीच्यूड्स) से रंजित होकर विविध रूपों में पुनरुत्पादित होते हैं। अभिप्रेरणा और अभिवृत्ति के संदर्भों को हम ले चुके हैं।

संवेग (इमोशन) और विशेषत: **आवेग** (पैशन) प्रत्यक्षीकरण के वाणी-गजरे हो जाते हैं। आवेग संवेगों की सिद्धावस्था है। आवेग की अवस्था ही कलाकार को निर्बंध बनाती है; उसमें खुलाव तथा अतिकर्मता का अनुष्ठान करती है, तथा कलाकार को रुझानों की ओर इस तरह मोड़ती है कि वह प्रतिबद्ध विचारों तथा सही विचारों का अभिषेक करके, भावों का वरण करके, तथा वस्तुओं को अपने दृष्टिकोण में ढालकर उन्हें पहले 'शक्ति' अथवा 'गतिशील बिंब' के रूप में स्वीकार करने लगता है। जिस कलाकार, या सहृदय में, जनसमूह या संस्कृति में जितनी आवेगशील संवेदना तथा अनुभूति होगी उसमें सौंदर्यात्मक आदर्श का उतना ही समृद्ध लोक होगा, रोमांटिक अंतर्दृष्टि होगी तथा कलाकृतियां उतनी ही अधिक प्रवृत्त्यात्मक और रागात्मक होंगी। "ऐंद्रियक होने की वजह से इंसान एक आवेगशील प्राणी है। आवेग उसकी मूल शक्ति है जो तीव्रता से विषय (या वस्तु : : आब्जेक्ट) की ओर मुड़ी रहती है।"[1] अस्तु, आवेगों की यही दिशोन्मुख तीव्रता **'प्रवृत्त्यात्मकता'** (टेंडेंशियसनेस) का भी स्रोत है। इसलिए प्रवृत्त्यात्मकता का, विचारों से पूर्व, आवेगों से परिपाक होना लाज़िमी है। मार्क्सीय ज्ञानमीमांसा में हम इस महासूत्र को भी अक्सर भूल जाया करते हैं।

कलाकृति में आवेग ही 'प्रवृत्त्यात्मकता' के बोधक होते हैं। यही कलाकार को आंतरिक जड़ता से बचाते हैं तथा कलाकृति में सचाई का अभिषेक करते हैं। आवेग का मतलब भोला-भोंदू, लाचार, और निरर्थक, पक्षपातपूर्ण अथवा मिट्टी का माधव

१. मार्क्स : 'फिलॉसाफिकल एंड इकॉनामिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ १८४४', पृ० १५८।

हाना नहीं है।[1] यह कलाकार की अनुभूतियों तथा सिद्धांतों, दोनों को ही नीर-क्षीर की तरह कर देता है। इलिया एहरेनबर्ग ने लिखा है, "यह पूरी तरह स्वाभाविक है कि सभी लोगों की तरह कलाकार कुछ चीज़ों से प्रेम करे और कुछ से घृणा। यदि वह अपने समसामयिकों से किसी प्रकार भिन्नता रखता है तो उसे उसका मुंहफटपन कहने के बजाय अनुभूतियों की जिज्ञासा कहेंगे। लेखक न्याय, तर्क और भ्रातृत्व की ओर मुड़ सकता है; दूसरी ओर वह सामाजिक असमानता, मूर्खता और राष्ट्रीय दंभ की ओर भी झुक सकता है।···दान्ते ने अपने समसामयिकों की उत्सुकता में हाथ बंटाया, अपने समय के राजनीतिक संघर्षों में भाग लिया और अपनी कई कविताएं उन्हें समर्पित कीं। प्रवृत्त्यात्मकता ने उन्हें वर्जित करने की अपेक्षा 'डिवाइन कॉमेडी' लिखने के लिए सहायता की, जो हमें अब भी मथ देती है, यद्यपि तेरहवीं सदी का नागरिक तूफान अब अतीत की बात बन गया है।[2]

कलात्मक प्रत्यक्षीकरण के अंतर्गत संवेगों से आवेगों में छलांग की दशा में जितनी ऊंची भूमिका **विचारों** की होती है, उतना ही गहरा रेला **रुझानों** का होता है। रुझान (मार्क्स के शब्दों में) 'अंतर्निहित सोद्देश्यता' के विधायक हैं। रुझान संज्ञानात्मक मूल्यों से संबंधित हैं तथा कलाकार की इच्छाओं-आस्थाओं एवं अंतर्दृष्टि की वैयक्तिकता में प्रस्फुटित होते-होते—सामाजिक चेतना से संस्कारित होकर—प्रवृत्त्यात्मकता और सोद्देश्यता, विचारधारा और दर्शन आदि में पल्लवित-पुष्पित हो उठते हैं। अतः सर्वप्रथम रुझान ही अभिवृत्ति होकर कला को मूलगामी सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अपनाये जाने वाली दिशा (रुख) का संचालन करते हैं।

कलाकारों में कुछ विशेष 'विषयों' के प्रति रुझान पाया जाता है; जैसे, पल्लव-वंशीय राजाश्रित एवं 'किरातार्जुनीय'-कार कवि भारवि को गोप-गोपियों के जीवन से विशेष अनुराग है (वे उक्त महाकाव्य में कृषक नारियों को मदभरे नयनों से देखते हैं) जबकि पंडितकवि माघ सामंतकुमारों के प्रति ही आकर्षित हैं; कविता-कामिनी के पंचबाण बाणभट्ट को दीर्घसमासवृत्तों का प्रयोग भाता है तो दण्डी यथार्थ-वाद के कायल हैं; अमृता शेरगिल के ग्रामीण जीवन वाले चित्र बहुत ही सुंदर और प्रवृत्त्यात्मक हैं, जामिनीराय के चित्रों में लोक-कलाओं के ग्रहण का आग्रह है तो आलमेलकर के ग्राम्यचित्रों में बाहरी तटस्थता और अंतर्निहित सोद्देश्यता झिलमिलाती है; मन्नू भंडारी की कहानियों में युवती मास्टरनियों के संत्रास-घुटनपूर्ण जीवन को उभारने के प्रति रुझान है; निरुपमा सेवती युवती-मन की ईर्ष्या तथा जीवन की विद्रूपता की ओर रुख करती हैं तो सुधा अरोड़ा, दीप्ति खंडेलवाल, मृदुला गर्ग और मणिका मोहिनी आदि का रुझान किशोरियों के अंतर्लोक में घुसने का है। इस तरह **प्रवृत्त्यात्मकता** में स्पष्ट तथा सुसंगत दृष्टिकोण नहीं मिल पाते, जैसा कि **प्रतिबद्धता** में होता है। प्रवृत्त्यात्मकता अपने मूलगामी उत्स पर रुझान और इच्छाओं से जुड़ी है

१. इलिया ऐहरेनबर्ग : 'द राइटर एंड हिज क्राफ्ट' (भारतीय संस्करण), पृ० १५।
२. वही, पृ० १३, १।

और निश्चित यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण को एक प्राथमिक, किंतु निर्णायक, बंकिमता या वक्रता प्रदान कर देती है।

प्रवृत्त्यात्मकता किस प्रकार की हो, इस पर मार्क्स-एंगेल्स ने एक सूत्र दिया है :

> '....'शेक्सपियरकरण' अधिक करना चाहिए, क्योंकि फिलहाल मैं समझता हूं कि व्यक्तियों को समयचेतना का मात्र रट्टू तोता बनाने वाला 'शिलरवाद' एक खास भूल है।...शिलर के पीछे शेक्सपियर को नहीं भुलाना चाहिए।"[1]

यह सलाह फर्डीनेंड लासाले को दी गई थी जो एक अकुशल कलाकार होने के नाते शिलरवादी रुझान को नहीं समझ सके थे। लेकिन उपर्युक्त सूत्र से दो बातें स्पष्ट हैं : एक तो केवल कुशल कलाकार ही कामयाबी से शिलरकरण कर सकते हैं; दूसरे शिलरकरण को ग्रहण करने के साथ-साथ शेक्सपियरकरण भी किया जाए अर्थात् शेक्सपियर के प्रमुख गुणों को ग्रहण किया जाए, जिनमें से पहला उनकी व्यापक मानवता और दूसरा उनकी सहिष्णुता की भावना है।

मार्क्स-एंगेल्स के लिए शिलर-बोध और शेक्सपियर-बोध दो रुझानों के साथ-साथ दो दृष्टिकोणों तथा दो कला-व्यवहारों के प्रतिनिधि हैं।

गोएथे के अभिन्न मित्र फ्रेडरिख शिलर[2] (१७५६-१८०५) जर्मन दार्शनिक कलाकारों की कड़ी में वह कलापरक चिंतक हैं जो जर्मन समाज की व्यावहारिक समस्याओं के हल के बजाय उस दार्शनिक कल्पना में आनंद पाते हैं जो स्वर्गिक तुषार में उड़ानें भरती है। वे बहुत हद तक कांटवादी आदर्शों के कुहासे में भटक जाते हैं (यह बात उनकी आरंभिक रचनाओं के लिए ज्यादा सही है।—र० कुं० मेघ)। अत: यदि शिलर संसार का विचारों में रूपांतर करते हैं तो शेक्सपियर विचारों का संसार में रूपांतरण करते हैं। मार्क्स को शेक्सपियर में यही व्यावहारिक,

१. मार्क्स : फर्डीनेंड लासाले को प्रेषित पत्र : १९ अप्रैल, १८५९।
एंगेल्स : फर्डीनेंड लासाले को प्रेषित पत्र : १८ मई, १८५९।

२. मिना कात्स्की को प्रेषित पत्र में एंगेल्स ने जिस नाटक— इंट्रीग एंड लव' : ७८४—की प्रवृत्त्यात्मकता की प्रशंसा की है उसमें सभापति वॉन वाल्टर के बेटे फर्डीनेंड और एक बूर्ज्वा परिवार की साधारण युवती लुइसे मिलरीन की प्रणयकथा है जिसमें सारे देश की परिस्थिति, सभी साधारण नागरिकों की इच्छाकांक्षाएं, पीड़ाएं और शोषकों के जुल्म अंकित हुए हैं। इस 'बूर्ज्वा त्रासदी' में एक ओर दो सरल युवाओं की पवित्र तथा शालीन प्रेम-कथा है जिसमें साधारण प्राकृतजन के जैसी लुइसे और उसके पिता, राजसभा का लोकगायक आदि महिमा-मंडित हैं तो दूसरी ओर सामंतीय समाज की क्रूरता, राजसभा के षड्यंत्र, सामंतीय निर्विकल्पता, पिछड़ापन आदि अंकित किया गया है। दरबारी समाज के पतन का प्रतीक वॉन वाल्टर है जो किसी भी नीचता तक गिर सकता है। अतएव इस कृति में शिलर ने दो प्रेमी दिलों की दास्तां ही नहीं कही, बल्कि अपने जमाने की अत्यंत ज्वलत राजनीतिक समस्याओं को उठाया, पतनोन्मुख सामंतीय समाज तथा उभरते हुए बूर्ज्वा-समाज की तुलना की और दरबारी सामंतों की क्रूरता तथा अत्याचारों का पर्दाफ़ाश किया (यह 'समयचेतना' का मार्क्सीय समतुल्य है)।

क्रियाशील मूलभूत सिद्धांत समासीन लगा। शिलर एक रिपब्लिकन तथा एक महान् कलाकार की उभय क्षमताओं से युक्त थे। इसीलिए वे जितना विशाल कैनवास ले सके उसका तो एक कोना भी फर्डीनेंड लासाले का चर्चित नाटक ('फ्रेंज़ वॉन सिकिन्जेन') नहीं छू सका। शिलर अपने समय की बांझ शताब्दी से क्षुब्ध थे किंतु उनकी सबसे बड़ी कमी संतुलन का अभाव थी। वे पात्रों को उनकी मनोवैज्ञानिक तथा नैसर्गिक दृष्टियों से जुदा करके उन्हें अपने सिद्धांतों का सपाट उपदेशक तथा तोता-वक्ता बना देते थे। इसलिए मार्क्स ने शिलर की इस ज़्यादती को इंगित किया है जो अकुशल कलाकारों के हाथों तो बेहद अनगढ़ और भदेस बन जाती है।

इसके विपरीत शेक्सपियर (१५६४-१६१६) ने अपने जमाने (समयचेतना) के कुलीनों और प्राकृतजनों (प्लेबियन) के समाज का **बहुपक्षीय** अनुशीलन किया है। यद्यपि शेक्सपियर कोई दार्शनिक विचारक नहीं थे, फिर भी जीवन की सभी घटनाओं में उनकी मर्मस्पर्शी पैठ थी। प्रारब्ध और आदतें, आकृतियां और वेशभूषा, भाव और आवेग, प्रेम और घृणा, दया और धूर्तता, हास्य और रुदन, गंभीरता और उथलापन, सम्मान और दूषण, दरिद्रता और शान-शौकत, स्वास्थ्य और बीमारी, विदूषक और चक्रवर्ती सम्राट्, चरित्र और स्थितियां, पशु और पक्षी, खेल और द्वंद्वयुद्ध, सड़क की हलचलें और आकाश का रूमानी चंद्रमा, जटिल राज-पाट और मामूली घटनाएं, सूचनाएं और षड्यंत्र, प्रेत और पिशाचनियां, शक्ति और कमज़ोरी, कुलीन और प्राकृतजन, अतीत और वर्तमान—ये सभी उनके दिमाग में रौशन बिंबों की मानिंद झिलमिलाते हैं और उचित मौकों पर कलाकृतियों में अंकित हो उठते हैं। इतनी 'व्यापक मानवता' को आधार मानने के कारण ही उनकी कला में उस युग के ऐतिहासिक करिश्मों की हलचलें उभरी हैं और इसी वजह से मार्क्स उनके (ईस्किलस के पश्चात्) परम भक्त थे।

यथार्थता गत्यात्मक तथा परिवर्तनशील है। यह निषेधों, विरोधों तथा असंगतियों की द्वंद्वात्मक एकता है। बीज में अंकुर निकलता है, पौधे में फूल खिलते हैं और असंख्य बीजों को उत्पन्न करके फूल नष्ट हो जाता है। मनुष्य भी शिशु होता है, युवा होता है, वृद्ध होकर नष्ट हो जाता है। शेक्सपियर का प्रत्यक्षीकरण-अनुचिंतन, तत्कालीन 'सांस्कृतिक पैटर्न' तथा 'सौंदर्यात्मक आदर्श' के अनुकूल, मनुष्य तथा समाज तथा इतिहास का 'संपूर्ण' प्रकट करता है; अनजाने में ही उसमें अंतर्विरोधों को अभिव्यक्ति मिल जाती है, और स्वतः ही ऐतिहासिक ढंग से सामंजस्य का सापेक्ष सत्य गोचरीभूत हो उठता है। इस तरह उनकी कला जीवंत 'पूर्ण' को पेश करती है जिसे द्वंद्वन्याय के मुताबिक 'वस्तुओं का सारत्व' कहेंगे। उनमें एक ओर निर्मल सांस्कृतिक पैटर्न के अनुकूल वह **यथार्थवाद** है जिसमें भाग्य, प्रेत, पिशाच आदि की भी अंधविश्वासी दुनिया है तो दूसरी ओर **कान्त कल्पना** की कालिदासीय उड़ानें हैं। एक ओर वे 'व्यापक मानवता' को ग्रहण करते हैं तो दूसरी ओर नन्ही से नन्ही पीड़ा के प्रति 'सहिष्णुता की भावना' के साथ डूबते-उतराते हैं। इसी कारण से वे सुखांतिक तथा दुःखांतिक, दोनों ही किस्म के कुशल संतुलन प्राप्त करके यूनानी

त्रासदीकारों की परंपरा की अगली पंक्ति में अपना अभिषेक कराते हैं। उनकी सुखांतिकियों (कॉमेडी) में दो अनिंद्य सुंदरी कुलीन युवती नायिकाएं हुआ करती हैं जो बाद में अपने प्रेमियों से ब्याह रचा लेती हैं। उनकी त्रासदियों में एक नायक हुआ करता है जिसकी भाग्यवश मृत्यु हो जाती है। उसकी यंत्रणाओं के दौरान प्रतिशोध, हत्याएं और विध्वंसों का तांडव होता है, तथा संयोग एवं अतिप्राकृतिक तत्त्वों के मेल से उसका अंत हो जाता है। इस तरह अगर सुखांतिकी एक मधुर तथा खुशहाल दुनिया पेश करती है तो त्रासदी कालाकलूटा तथा पश्चातापों से भरा-रिसता हुआ समाज! सुखांतिकी का केंद्र एक आदर्शीकृत नायिका होती है, तो त्रासदी का केंद्र एक दुखांतभोगी नायक (प्रेमकथाओं को छोड़कर)। मुख्य चरित्र सामंत ही हैं जिनका नवोदित बूर्ज्वाओं से संघात हो रहा है। तथापि शेक्सपियर की कला में आदमी अदना नहीं मालूम होता; वह एक क्षुद्र और लघुमानव नहीं लगता। इसमें मनुष्य और समाज की 'पूर्णता' मानो साक्षात् होकर खड़ी हो जाती है। यही **'शेक्सपियरकरण'** है। कालिदास, तुलसीदास, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, राहुल, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, नागार्जुन, रेणु जैसे लेखकों की रुझानें तथा प्रवृत्तियां अंतर्मुखी मानवीय और राष्ट्रीय परंपराओं का वहन करती हैं। उनमें युगबोध-समाजबोध और सौंदर्यबोध के बीच एकतान व्यापार कायम हो जाता है।

(घ) प्रारूपता (टिपिकलनेस) और प्रवृत्त्यात्मकता (टेंडेंशियसनेस)

शेक्सपियर पर मार्क्स की टिप्पणी का निरूपण हम कर आए हैं। शेक्सपियर ने एक विशिष्ट (इतिहास) तथा वैयक्तिक (संज्ञान) यथार्थता का ग्रहण किया है जिसमें ऐतिहासिक **'प्रारूपता'** (टिपिकलनेस) तथा समकालीन **'वैयक्तिकता'** (इंडिविजुएलिटी), दोनों ही हैं। यह सही है कि शेक्सपियर न तो सामंत-बूर्ज्वा थे और न ही किसी दर्शन से प्रतिबद्ध, किंतु एक तो उनके कृतित्व में संपूर्ण ऐतिहासिक वर्ग की सचेत युगचेतना का अप्रतिबद्ध प्रतिबिंबन है; तथा दूसरे, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की सीमा तथा विस्तार में **प्रारूपिक** (टिपिकल) चरित्रों और घटनाओं की तलाश है। इस तरह **'प्रवृत्त्यात्मकता'** के बाद अर्थात् रुझान-आवेग-अभिवृत्ति के घेरे के पश्चात् **'प्रारूपता'** अर्थात् संज्ञान और चयन का वृहत्तर वृत्त खिंचता है। अतः प्रारूपिक घटनाएं और चरित्र नवीनता और मौलिकता के, व्यापक अनुभव और सामाजिक चेतना के, विचारधारा और सोद्देश्यता के भी आधार हैं।

यदि प्रवृत्त्यात्मकता यथार्थवाद का आवेगशील और जीवंत ग्रहण करती है तो प्रारूपता उसका विवेकपूर्ण तथा विचारात्मक स्वीकार करती है। एंगेल्स ने प्रारूपता की स्थापना प्रकृत्वाद (नेचुरलिज़्म) के विरोध तथा विकल्प में की थी। उनका मूल उद्देश्य **'चरित्र और स्थिति की प्रारूपता'** संबंधी धारणा को **'विवरण की वास्तविकता'** संबंधी स्वीकृति से जोड़ना रहा है।

इसके लिए उन्होंने एक मॉडल रचा : **"मेरी समझ में यथार्थवाद, विवरण के**

सत्य के अलावा, प्रारूपिक परिस्थितियों में प्रारूपिक चरित्रों की सही-सच्ची पुनर्रचना को सूचित करता है ।"[1]

इस सूत्र को यथातथा ग्रहण करने पर कठमुल्लापन होगा क्योंकि एंगेल्स का पहला उद्देश्य तो प्रकृत्वाद की जैविकता का विरोध करके यथार्थवाद की सामाजिकता की प्रतिष्ठा था; दूसरा उद्देश्य सामाजिक गत्यात्मकता के अंतर्गत उदीयमान सामाजिक तत्त्वों (विवेक, विचार, निश्चय आदि) का ग्रहण करना था तथा तीसरा उद्देश्य विचारधारा का कलात्मक वरण करना था। इसलिए प्रारूपिक चरित्र और प्रारूपिक परिस्थितियां हमेशा एकसाथ उपस्थित हों, यह कोई अनिवार्य नहीं है। इनमें से केवल एक ही उपस्थित हो सकती है, और इनके बिना भी वैयक्तिकता के द्वारा शेक्सपियरकरण किया जा सकता है। प्रारूपता का मूल लक्ष्य तो नयी यथार्थता की **नवीनता** की अभिव्यक्ति तथा सामाजिक चेतना की **वैयक्तिकता** की अभिवृत्ति का सामंजस्य है। अतः प्रारूपिक चरित्र और घटनाएं भी जब वैयक्तिक चरित्र और घटनाएं होकर प्रस्तुत होती हैं तभी वे कलात्मक वरण और मानवीय विवेक का अंग बनती हैं। इसलिए 'प्रारूपीकरण' की समस्या भी फांतासीकरण, सामान्यीकरण या अन्यथाकरण की समस्याओं में से एक है जो चितिमूलक प्रत्यक्षीकरण का ही रूपांतरण है। ये सभी यथार्थवाद के सौंदर्यानुचिंतन हैं।

'प्रारूपीकरण' (टिपिकलाइज़ेशन) आदर्शवादी **निरपेक्षीकरण** (एब्सोलूटाइज़ेशन) के बिल्कुल विरुद्ध है। प्रारूपीकरण में संवेदना और विचार की एकता को स्वीकार किया गया है। इसमें आवेगों तथा स्वप्नों की भूमिका के साथ-साथ, आकांक्षाओं और स्वप्नों की भी स्वीकृति है। इसीलिए एंगेल्स द्वारा **'विवरण के सत्य'** का तात्पर्य है : कृत्रिम विवरणों द्वारा सत्य को न ढंकना, न छिपाना; फिज़ूल के विवरणों का त्याग करना; विस्तृत विवरणों के बीच से एक ऐतिहासिक पूर्ण को उसी तरह खोज निकालना जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वृक्षों से सहयोग के गहन वन को जान लेना। **'प्रारूपिक चरित्रों की सत्यतापूर्ण पुनर्रचना'** का तात्पर्य कृति में यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण न होकर कलाकार की निजी जीवन-दृष्टि और सामाजिक चेतना का द्वंद्वग्रहण भी है। **'प्रारूपिक चरित्र'** और **'प्रारूपिक परिस्थितियों'** का अर्थ है कि चरित्र अपवाद न हों, एकांतिक व्यक्ति न हों, बल्कि ऐसे हों जो व्यक्ति और समाज, यथार्थ और इतिहास, दोनों युगलों का प्रतीक हों। वे अपने ही नहीं, बल्कि समाज के किसी संबंध, घटना या जीवन-दृष्टि या चेतना से जुड़े हों, उसके वाहक हों। प्रारूपिक परिस्थितियां भी इसी तरह ऐसी चुनी हुई हों जो अनावश्यक तत्त्वों की सिवार छांटकर परिवर्तन-क्रम को देख सकें; जो विशिष्ट वातावरण, कार्य-व्यापार या चारित्रिक परिवेश का उद्घाटन कर सकें। इस भांति प्रारूपता यथार्थवाद का ही एक विशिष्ट स्वरूप है जो वस्तुगत सत्य को प्रकट करने के साथ-साथ ऐतिहासिक प्रवाह तथा सामाजिक संबंधों को भी स्पष्ट करता है। इस तरह यथार्थ

१. अप्रैल, १८८८ में मार्गरेट हार्कनेस को लिखा गया पत्र।

सत्य भी हो जाता है। और; यथार्थ सच्चाई तटस्थ न होकर प्रतिबद्ध है, पक्षधर है जो भविष्य के स्वप्न तथा निर्माण से जुड़ती है। प्रारूपता यथार्थ से आंखें मिलाने का तेजस्वी प्रमाण है जो हमें पूरी तरह से इसमें शामिल करती है। यह प्रत्यक्षीकरण को सार्थक बनाती है। यह हमें भयानक यथार्थ से साक्षात्कार करने की भी ताकत देती है।

बहुधा प्रारूपता अलंकृत होकर नहीं आ पाती। प्रारूपता की भाषा अक्सर **सपाट-बयानी** की भाषा हो जाया करती है। मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, रघुवीर सहाय, शलभ श्रीरामसिंह, धूमिल ('मोचीराम'), कुमार विकल ('वापसी'), हरिहर द्विवेदी ('खत'), नंद चतुर्वेदी, श्रीहर्ष, विजेंद्र, ज्ञानेंद्रपति आदि की भाषा ऐसी ही है जिसमें बिंब की अलंकृत शक्ति के बजाय बिंब की कर्मोद्धत ऊर्जा है। ये कवि बड़े ही सहज और स्वाभाविक ढंग से परिवेश से संबंधित हो जाते हैं और परिवेश की चुनौतियों का वरण तथा सामना करते हैं। इसलिए ये मैनरिज़्म तथा मुहावरेबाज़ी के छद्म से भी औसतन आज़ाद हैं।

इस तरह **'प्रारूपता'** (टिपिकलनेस) एक ओर तो कला को कलाबाज़ों की अकुशलता से बचाती है, दूसरी ओर सार्थक प्रत्यक्षीकरण की इन्वाल्व्ड चीज़ों को चुनती है, तीसरी ओर कला में ऐतिहासिक विशिष्टता का समावेश करती है, चौथी ओर यथार्थता में वैयक्तिकता एवं नवीनता का उत्प्रेरण करती है, पांचवीं ओर समाज के परिवर्तमान तत्त्वों को पहचान लेती है, छठी ओर बिखरे हुए खंड-खंड यथार्थ को जोड़कर संपूर्ण की जांच करती है और अंततः गहरे अनुभव के साथ-साथ ज्ञानमीमांसा (विचारधारा एवं विवेक) को भी कला का अभिन्न अंग बना देती है। सारांश में : **प्रारूपता यथार्थता की कलात्मक प्रकृति** का व्यापक अनुसंधान और अनुरंजन है। यह दूसरा प्रमुख आयाम है। यह एक 'प्रकट ज्ञान' है।

इसके पूर्व हम कलात्मक यथार्थता के प्राथमिक आयाम अर्थात् **प्रवृत्त्यात्मकता** के रुझान-केंद्र तथा आवेग-केंद्र का दिग्दर्शन कर चुके हैं। प्रवृत्त्यात्मकता सामान्यतः 'अप्रकट संज्ञान' है।

हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि संवेग (पैशन) की दशा में ही कलाकार की प्रवृत्त्यात्मकता स्वयंसिद्ध और मूल्यवान् होती है।

वस्तुतः कलात्मक यथार्थ दो प्रकार का है। पहले में **भौतिक वस्तुओं** एवं **इंद्रियप्रदत्त अनुभवों** द्वारा अर्थान्वयन होता है और दूसरे में **संस्कृति** ही विषयवस्तु बन जाती है। किसी विशेष युग का **'सांस्कृतिक पैटर्न'** तथा कलासृजन का **'सौंदर्यात्मक आदर्श'**, ये दोनों ही ऐतिहासिक यथार्थ के विधायक हैं। ये दोनों ही विशिष्ट युग के लोगों के लिए मात्र यथार्थ न होकर सांस्कृतिक एवं सौंदर्यबोधात्मक यथार्थ हो जाते हैं क्योंकि एक विशिष्ट काल में विशिष्ट संभाग के लोगों तथा कलाकारों को वैसा ही **सौंदर्यसांस्कृतिक यथार्थ** स्वीकृत था। यथार्थता की वही समज्ञ सत्य की भी बुनियाद थी। यह बात विशेष युग के लिए ही लागू होगी; अन्य परवर्ती युगों में भी उसी गुजरे हुए सौंदर्यसांस्कृतिक पैटर्न की थोथी अनुकृति अयथार्थ हो जाएगी।

कलात्मक यथार्थ तथा वस्तुगत यथार्थ के इस भेद पर मार्क्सवादी सौंदर्य-बोधशास्त्र विशेष ज़ोर देता है। उदाहरण के लिए; वाल्मीकि के समय में हनुमान, स्वर्णमृग, जटायु, ताड़का, दशानन, दैवी शक्तियां, राक्षसदल आदि उस संस्कृति के अंगरूप में थे। यदि वे उस समय के वस्तुगत सत्य का अंग नहीं भी थे तो भी प्राचीन भारतीयों के सांस्कृतिक पैटर्न के अंतर्गत मिथकचेतना का भाग थे और उसी रूप में विश्वास के साथ स्वीकृत थे। लेकिन यदि प्रेमचंद या सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भी वाल्मीकि-कालीन इन आध्यात्मिक भ्रांतियों का शिकार होते, तो फिर यह था तो मनोवैज्ञानिक अवर्नमिलता (एब्नार्मलिटी) सिद्ध होती अथवा अयथार्थता! कला-सृजन के लिए प्रेमचंद के समय में वाल्मीकि का दृष्टिकोण अनुपयुक्त हो गया; कला की ज़रूरतें बदल गईं; यथार्थता के क्षितिज विस्तृत हो गये; और सौंदर्य-सांस्कृतिक आदर्शों एवं सामाजिकार्थिक संबंधों में बुनियादी तब्दीलियां हो गईं। यहां हमने होवार्ड फास्ट के एक उदाहरण का पुनश्च अवदान किया है। होमर-काव्यों का मार्क्सीय विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं: "यह मानना गलती होगी कि यथार्थता की साहित्यिक प्रकृति खुद ही यथार्थता की वस्तुगत प्रकृति से ठीक-ठीक मेल कर लेती है। यदि यह बात होती तो सामान्य वैज्ञानिक प्रणालियों की शुरुआत के पहले वास्तविक महत्त्व का साहित्य ही नहीं होता; तथापि हम जानते हैं कि पुराने ज़मानों में महान् तथा शौर्यवान साहित्य रचा गया है। इस दृश्यमान अंतर्विरोध का उत्तर इस बात में निहित है कि यथार्थता की सूझ-बूझ चाहे कितनी भी सीमित क्यों न रही हो, तिस पर भी वह संस्कृति की यह बुनियाद प्रदान करती ही है, और संस्कृति खुद एक यथार्थता हो जाती है जिसे कलाकार को अंगीकार करना तथा कलासृजन के लिए कार्यान्वित करना पड़ता है। और, यदि इस पर उसकी पकड़ दृढ़ता तथा सच्चाई के साथ हो जाती है तब उसकी कला उस विशिष्ट संस्कृति के आगे भी जीवित रहेगी जिसने उसे (कला को) उत्पन्न किया।"[1]

अतएव यथार्थता की पहली प्रकार की अभिव्यक्ति में लेखक अपने मतों को प्रकट करता है और यदि अकुशल हुआ तो कलाकृति में भद्दापन तथा नीरसता ला देता है। दूसरी प्रकार की अभिव्यंजना में कलाकार **सौंदर्यसांस्कृतिक पैटर्न** तथा जनता की (लोक) कला की संपदा का चित्रण एक 'समाज-प्रतिनिधि' होकर करता है तथा अपने विचार सीधे ढंग से प्रगटाता है। इस अभिव्यंजना में भी यथार्थता छन कर आ ही जाती है क्योंकि ऐसी कलाकृतियों में समाज एवं जीवन के अंतर्विरोधों का जीवंत चित्र **'रेम्ब्रांवादी'** रंगों में चटक-छटक खिलता है (आगे देखें)। यथार्थवाद की महत्तम विजयों में से यह भी एक है कि समाज में अंतर्निहित द्वंद्वात्मकता को 'स्वतःस्फूर्त (स्पांटेनियस) प्रवृत्ति' के द्वारा भी आप प्रगटा लीजै। अतः **प्रवृत्ति** का अप्रकट संज्ञान और **प्रतिबद्धता** की सोद्देश्य प्रारूपता, दोनों ही कला में मूल्यों का अभिषेक करती हैं; पहले कलात्मक-संज्ञानात्मक मूल्यों का, और फिर

१. होवार्ड फास्ट: 'लिट्रेचर एंड रियलिटी', पृ० १७; पी० पी० एच० संस्करण (दिल्ली)।

वैचारिक एवं दार्शनिक मूल्यों का ! पहली तरह के यथार्थवाद की ओर संकेत करते हुए एंगेल्स ने कहा है—"जिस यथार्थवाद की ओर मैं संकेत करता हूं वह तो लेखक के मतों के बावजूद भी झलक सकता है" (मार्गरेट हार्कनेस को प्रेषित पत्र, अप्रैल १८८८)। इसी रुझान वाले और सोद्देश्य यथार्थसंगम के परिवेश में ही कृतियां अमर हो जाती हैं। इस तरह यथार्थवाद की पहली मंज़िल में भौतिक वस्तुओं तथा इंद्रियों की आपसी क्रिया से रचाया गया प्रत्यक्षीकरण है; दूसरी मंज़िल में प्रत्यक्षक की चिति तथा संस्कृति के रुझानों, एवं अभिवृत्तियों तथा अभिप्रेरणाओं का महत्त्व हो जाता है; तीसरी मंज़िल में 'पूर्ण' यथार्थता (एक नहीं) की खोज में विचार एवं विवेक के दृष्टिकोण शामिल हो जाते हैं; चौथी मंज़िल में 'सौंदर्यसांस्कृतिक पैटर्न' तथा 'सौंदर्यात्मक आदर्श' मिलकर **कलात्मक यथार्थता** की विशिष्टता एवं विलक्षणता का उन्मीलन करते हैं; और पांचवीं मंज़िल में गोपित एवं अप्रकट मतों का प्रकाशन तक भी वांछित यथार्थता पेश कर सकता है। इस भांति **सामाजिक यथार्थता** ने पदार्थ एवं चिति (साइके), दोनों के सत्यों का ऐतिहासिक, कलात्मक और ज्ञानमीमांसात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसीलिए वैयक्तिक तथा सामूहिक, दोनों ही प्रकार की भावाभिव्यंजना और शैलीरचना में **प्रवृत्त्यात्मकता** मिल सकती है! और, इसीलिए हम संकेत कर आए हैं कि सामाजिक यथार्थता प्रवृत्त्यात्मक आवेगों की स्थिति से उठकर सोद्देश्यता तथा सामाजिक विकास के विवेक को भी कलाबंध में बांध लेती है। प्रवृत्त्यात्मकता एक ओर आवेगों को विशिष्ट रुझान देती है, दूसरी ओर उन्हें अभिवृत्तियों से आगे विचारों के रूप में ढाल देती है, और तीसरी ओर संस्कृति के सामाजिक एवं कलात्मक संबंधों को भी स्पष्ट करती है। प्रवृत्त्यात्मकता ही कला को **शुद्ध सौंदर्यबोध** की संकीर्णता से बाहर निकालकर सामाजिक-सांस्कृतिक सुपरिगठन में ला खड़ा करती है। एंगेल्स ने प्रवृत्त्यात्मक कविता (टेंडेंज़ पोएज़ी) पर अपना मत प्रकट करते हुए मिन्ना कात्स्की को २६ नवंबर, १८८५ के एक पत्र में लिखा था, "मैं प्रवृत्त्यात्मक कविता का बिल्कुल भी विरोधी नहीं हूं। त्रासदी के जनक ईस्किलस और सुखांतिकी के जनक ऐरिस्टोफ़ेनीज़, दोनों ही यकीनन प्रवृत्त्यात्मक कवि (टेंडेंज़ पोएटेन) थे। ठीक इसी तरह दान्ते और सेर्वान्ते थे। शिलर के 'क्रैफ़्ट एंड लव्ज़' का प्रधान गुण यही है कि वह जर्मन भाषा का पहला प्रचारात्मक राजनीतिक नाटक है। आधुनिक रूसी और नार्वेइयन लोग भी, जो श्रेष्ठ उपन्यास लिख रहे हैं, प्रवृत्त्यात्मक (टेंडेंज़डिच्टर) हैं।" यहां प्रवृत्त्यात्मकता का पूरा तात्पर्य खुल पड़ता है। यह मनुष्य के आवेगशील और विवेकवान प्राणी होने की महत्तम पहचान है।

प्रवृत्त्यात्मकता में सौंदर्यबोधात्मक अभिवृत्तियों के साथ-साथ राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक आदि गैर-सौंदर्यतात्त्विक अभिप्रेरणाओं तथा मतों का भी समावेश होता है, किंतु आवेगों एवं अनुभूतियों के माध्यम से आने पर ही वे कलात्मक एवं जीवंत हो पाते हैं। फलतः अभिव्यक्ति में थोथा सिद्धांत-निरूपण, या पात्रों के मुंह में सीधे उपदेश भरने की भद्दी (धार्मिक एवं राजनीतिक) कला की गुंजाइश नहीं रहती। यदि लेखक मसीहा की तरह पाठक को ज़ोर-ज़बर्दस्ती से

उपदेश ठुंसाता है तो वह एक ओर तो परिस्थितियों तथा कार्यव्यापार से उत्पन्न नैसर्गिक तथा अप्रकट प्रवृत्त्यात्मकता का गला घोंटता है, और दूसरी ओर मानो कलाविहीन दस्तावेज़ रचता है। प्रगतिवादी और अस्तित्ववादी कृतियों को ऐसे ही ढकोसले में फंसना पड़ा है। अतः प्रवृत्त्यात्मकता का मतलब सीधे और सधे-बंधे उपदेश या फार्मूले उछालना नहीं है, बल्कि कलाकार के रुझानों को कलात्मक बिंबों, आवेगों और संवेगात्मक चिंतन(-अनुचिंतन) के माध्यम से एक मूलभूत शक्ति के रूप में प्रत्यक्षगोचर कराना है। कबीर और भूषण के, तुलसी और मीरां के काव्य भी प्रबल प्रवृत्त्यात्मक तथा निपट अलबेले हैं किंतु उनमें सौंदर्यसामाजिक पैटर्न तथा कवि-रुझान, दोनों वैयक्तिक तथा प्रारूपिक शक्ति से महिमामान हो उठे हैं। उनकी रचनाओं को समझना लगभग असंभव है, अगर हम उनके दर्शन तथा विचारों की उपेक्षा करें। उन कलाकारों के दार्शनिक विचारों तथा सामाजिक संबंधों को जाने बिना हम उनकी कलाकृतियों का अनुरंजन तथा सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। अतएव **प्रवृत्त्यात्मकता** ही कलाकार को 'शुद्ध सौंदर्य' की निर्विकल्पता से बाहर निकालकर, उनके आवेगों, उच्चादर्शों या सिद्धांतों समेत, उनके समय के उदीयमान सामाजिक तत्त्वों तथा ह्रासोन्मुख स्थितियों, दोनों को प्रकट करती है। उन्हें थाली का बैंगन न बनाकर इतिहासबद्ध, भविष्योन्मुख, प्रतिबद्ध आदि भी बनाती है। केवल गंभीर तथा वास्तविक प्रवृत्त्यात्मकता ही 'कलाकृति के अंतर्गत एकीकृत हो पाती है।'

इस भांति प्रारूपता और प्रवृत्त्यात्मकता ही एक संपूर्ण प्रत्यक्षीकरण 'स' का सर्वाधिक अन्वेषण तथा अभिनवीकरण करती हैं। ये वैयक्तिकता तथा मौलिकता की संपादक हैं।

(ङ) राफ़ेलीकरण और रेम्ब्रांकरण

यथार्थता के कलात्मक ग्रहण के प्रस्थान-बिंदु पर भी कलाकार की 'अंतर्निहित सोद्देश्यता' सौंदर्यदृष्टिभेदक हो जाती है। एंगेल्स के प्रारूपता-संबंधी सूत्र के सह-वर्त्तन में मार्क्स का निम्नलिखित[1] क्रांतदर्शी सूत्र भी प्रस्तुत किया जा सकता है :

> **"···यथार्थता में 'राफ़ेलवादी सौंदर्यदृष्टि' का परित्याग तथा 'रेम्ब्रांवादी सौंदर्यदृष्टि' का ग्रहण किया जाए।"[2]**

१. फरवरी १८४८ की फ्रांसीसी क्रांति से संबंधित दो पुस्तकों की आलोचना में मनुष्यों एवं घटनाओं के सत्यतापूर्ण चित्रण के प्रसंग में।

२. राफ़ेल (१४८३-१५२०) उस इटैलियन रिनैसां के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार थे जिसकी मार्क्स ने प्रशंसा की है। उनके नारी-चित्रों में अद्वितीय सौंदर्य तथा लावण्य का भराव है—जिनमें 'सिस्टाइन मेडोना' प्रमुख है। अपने पुरुष-चित्रों में माइकेल एंजिलो से प्रभावित होकर भी वे विद्रोही दृष्टि स्वीकार नहीं कर सके। पोप के महल में बनाये गये इनके भित्ति-चित्रों में शाही शान-शौकत, सामंतीय परिवेश और अलंकृति-बहुलता मिलती है।

रेम्ब्रां वॉन रिज्न (१८०६-६९) महान् डेनिश चित्रकार थे जिन्होंने राष्ट्रीय परंपरा को

[शेष अगले पृष्ठ पर]

अर्थात् 'राफ़ेलवादी सौंदर्यदृष्टि' में सारी चित्रात्मक सत्यता गायब हो जाती है क्योंकि उसमें शान-शौकत और अनावश्यकताओं—जैसे सामंत नर-नारियों के शिरों पर प्रभामंडल, कामदार जामों और राजशाही जूतियों आदि—का अंकन होता है तथा वास्तविक रूप प्रायः विलुप्त हो जाता है।

लेकिन 'चटकीले' रेम्ब्रांई रंगों में घटनाओं तथा घटनापूर्ण (इवेंटफुल) लोगों का अंकन अंतिम रूप से अनावश्यक अलंकृतियों का परित्याग करके किया जाता है जिससे बहुविध मानवता का चित्रण होता है और उनके (घटनाओं तथा लोगों के) 'सजीव' गुण झलक पड़ते हैं।

अतएव अनावश्यक अलंकृति का परित्याग और सजीव गुणों से युक्त वास्तविकता का ग्रहण ही **यथार्थता की कलात्मक प्रकृति** को आलोकित करता है।

उपर्युक्त कारणों से, आरंभ से ही, मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र के अंतर्गत यथार्थता के चित्रोपम एवं वृत्तिमूलक यथार्थरूप अर्थात् **प्रकृत्वाद** को अवांछनीय माना गया है।[1] इसी उपक्रम में कलात्मक प्रत्यक्षीकरण की प्रणालियों तथा प्रकारों के

[पिछले पृष्ठ का शेष]

उदात्त तक पहुंचाया। उनके चित्रों में भावनाओं की गहराई, ऊंची सादगी तथा सच्चाई भरी हुई चिति के दर्शन होते हैं। मनुष्य की अंतरंग दुनिया का उद्घाटन करने में वे चित्रकला के शेक्सपियर माने जाते हैं। छाया-आलोक के संयोजन के द्वारा नन्ही मानव-आकृतियों में (जिन पर मुगल शहजादे दाराशिकोह के निजी अलबम के भारतीय चित्र-फलकों की लघु मानव-आकृतियों का भी असर है) उन्होंने जीवन की संपूर्णता भर दी है। 'डाएने', 'आवारा बेटे की वापसी', 'व्यभिचार में पकड़ी गई नारी' आदि शीर्षक वाले चित्रों में चटक छाया-आलोक के तकनीक एवं माध्यम से ही उन्होंने महाकाव्यात्मक गुणों की अभिव्यंजना की है।

१. प्रकृत्वाद का जन्म फ्रांस में हुआ और तब वह तत्कालीन प्रभाववादी चित्रकला का ही एक रूप था। एमील ज़ोला (१८४०-१९०२) प्रमुख प्रकृत्वादी हैं। मोपासां (१८५०-१८९३) तथा आल्फोंस दाउदे भी कुछ-कुछ प्रकृत्वादी कलाकार माने जा सकते हैं। इन्होंने विज्ञान के सत्यों और जैविक तथ्यों को ज्यों-का-त्यों साहित्य में अंगीकार किया, तथा तथ्यों का इतनी तफसील से विवरण दिया कि अतिरंजकता और अनावश्यकता छा गई। एक ओर इन्होंने इन तथ्यों को अलंकरण के निमित्त इस्तेमाल किया तो दूसरी ओर वस्तुओं के ऐतिहासिक परिवर्तन की सूझ खो दी। अतः ये कोई विश्लेषण या अवधारण नहीं कर सके। इन्होंने जीवन के कुत्सित, घृणित, पतित, निकृष्ट, भ्रष्ट, अश्लील, अनैतिक भूमिगत संसार को उद्घाटित करने में, निरंकुशता और दायित्वहीनता के दायरे में, असौंदर्यात्मक सौंदर्यदृष्टि का प्रगटाव किया। यथार्थता को कील में जकड़कर और अचल बनाकर इन्होंने उसे पूर्णतः अशक्त बना डाला तथा (घोर अनुभववादी होने के कारण) स्वयं समाजप्रवाह में बद्धमूल हो गये। कला में यद्यपि इन्होंने निचले वर्गों के लोगों का वर्णन स्वीकार किया लेकिन उनमें शारीरिक अंगों का सूक्ष्म वर्णन, नंगी वास्तविकता, निम्न और तुच्छ यथार्थ का ही बोलबाला हो गया। तथापि इन्होंने निम्न स्तर के लोगों के जीवन को समाज में पेश किया तथा कुरूपता को भी कला में स्थान देकर सौंदर्यबोध को नयी चुनौतियां दीं। अतिरंजना और भयानक बिखंडता ही इनके कृतित्व के ह्रास का कारण बनीं। ज़ोला ने एक नायिका 'नाना' के सौंदर्य का तो अत्यंत मनोरम वर्णन किया है लेकिन इसके साथ ही नैतिकता का पूर्ण लोप कर दिया है।

अंतर्गत 'शेक्सपियरकरण' और 'रेम्ब्रांकरण' को प्रधानता दी गई है। दोनों के ही अभिकर्त्ता क्रमशः रिनैसां-प्रभामंडल के नाटककार तथा चित्रकार थे और दोनों ही सामंतवादी सूत्रबंधों की सबसे कमजोर कड़ी थे। दोनों की कलाओं में तत्कालीन 'सौंदर्य-सांस्कृतिक पैटर्न' तथा 'सौंदर्यात्मक आदर्श' का संपूर्ण प्रत्यक्षीकरण (पुनरुत्पादन एवं नवसृजन) हुआ है तथा दोनों ही 'ऐतिहासिक यथार्थता' की सोद्देश्यता का प्रकटाव करते हैं; दोनों का कृतित्व प्रवृत्त्यात्मक है, प्रारूपिक है; दोनों ही कला और विचार और विवेक की त्रयी कायम करने में सफल हुए हैं; दोनों ने रूपविधान और विषय-वस्तु की द्वंद्वात्मक एकता सिद्ध की है; दोनों ने सौंदर्यानुभूति की प्रकृति तथा मानव-शास्त्रीय आदर्शों का सामंजस्य कराकर वैयक्तिकता में ही संपूर्ण मानवशक्तियों को संस्थापित किया है और दोनों ने अपनी कलात्मक विश्वदृष्टि को ज्ञान की अन्य दार्शनिक पद्धतियों से उलझाया नहीं है क्योंकि दोनों में ही बौद्धिक, रागात्मक एवं ऐंद्रियक तत्त्वों का मिश्रण है जिसे मार्क्स **सजीव** और **वास्तविक** इंसानियत की निशानी मानते हैं। दोनों ने ही सौंदर्यानुभूति के मूल में प्राकृतिक प्रवृत्ति के अस्तित्व की अपेक्षा **आवेग** और **आदर्श** को प्रमुखता दी है। दोनों के कलात्मक प्रत्यक्षीकरण यथार्थवाद की ऐतिहासिक विशिष्टता एवं प्रारूपता से महिमामंडित हैं।

अतः स्पष्ट है कि मार्क्सवादी अनुचिंतन में कलाकृति के अंतर्गत कलात्मक (रूप एवं संरचना संबंधी) तथा संज्ञानात्मक (प्रत्यक्षीकरण संबंधी) मूल्यों को भी प्रमुखता दी गई है और उन्हें व्यापक रूप से 'सुपरिगठन' तथा 'सामाजिक चेतना' के परिप्रेक्ष्य से जोड़ा गया है ताकि मोह एवं भ्रांतियों एवं मिथकों से हमारा उद्धार हो सके! संज्ञान (काग्निशन) के केवल किसी एक विच्छिन्न या विखंडित पक्ष के **निरपेक्षीकरण** (काफ़्काई कल्पना, आयोनेस्को की फांतासी, बैके की फूहड़ता) अथवा **गौरवीकरण** (अकविता में सेक्स की जिघासा, इतिहास का निषेध, विचार की अस्वीकृति, सत्ता से विद्रोहाभास, आदि) हमेशा की तरह आज भी एक खास किस्म के रोमांटिसिज़्म में जा डूबता है क्योंकि यह वास्तविक यथार्थता की अतियुक्त अतिरंजना करके यथार्थ—विशेषतः भयानक और आतंककारी यथार्थ—से आंखें मिलाने का पाखंड करता है और प्रत्यक्षीकरण को व्यर्थताबोध, निरर्थकता-बोध, मृत्यु-बोध, निष्कासन-बोध से मंडित कर देता है। ऐसा दृप्तस्फीत प्रत्यक्षीकरण असार्थक होता है जो कि हमें शब्दार्थ से आगे केवल अंधकार में छलांग लगवा देता है तथा भाषा में मुहावरों-लतीफों-लफ़्फ़ाजियों का एक मोहक छल पैदा करता है। इसलिए शेक्सपियरकरण और रेम्ब्रांकरण के प्रत्यक्षीकरण-प्रकार वस्तुतः **कलात्मक बिंब एवं सौंदर्यात्मक आदर्श** के सापेक्ष विधायक हैं। आज इन्हें क्रमशः संपूर्णीकरण और सामान्यीकरण, तथा प्रारूपीकरण और विशदीकरण की प्रक्रियाओं से भी अभिहित किया जा सकता है। आज फांतासी और अतिरंजना का टिपिकल तथा सांप्रतिक व्यापार मुक्तिबोध ('अंधेरे में') तथा राजकमल चौधरी ('मुक्तिप्रसंग'), और निराला ('कुकुरमुत्ता'), सौमित्र मोहन ('लुकमान अली'), सकलदीपसिंह ('आकस्मिक'), धूमिल ('पटकथा'), विद्याधर शुक्ल ('महानगर'), श्रीराम शुक्ल ('मरी हुई औरत के साथ संभोग)' की

कृतियों में देखा जा सकता है जो **निरालाकरण** तथा **मुक्तिबोधकरण** की भूमि से शनैः-शनैः रेंगता हुआ एक हाहाकारी यंत्रणावाद तथा मुखौटों-नकाबों वाले विद्रोहाभास में भी अपने चुसे हुए फनफनाते फण पछाड़ रहा है।

इस तरह आज भी **संज्ञान** के चितिमूलक स्रोत का, और यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण से जन्मे विशिष्ट एवं प्रारूपिक **कलात्मक** बिंबों के स्वरूपों का वही महाप्रश्न मौजूद है—वैसा ही शाश्वत, नया, वैयक्तिक और वर्तमान!!

× × ×

सौंदर्यबोधात्मक बिंब के रचनाधर्म और जीवन के सत्य की समकालीन सार्थकता के बाद हम अधिकाधिक गहराई और गरिमा में अनुप्रवेश करेंगे। अगले अध्याय में हम 'चिति' के प्रतीक और प्रत्यक्षीकरण के बिंब के आगे की इकाई का दिग्दर्शन करेंगे। अतः अब हमारी धुरी में 'विचार' होगा।

८

सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया में विचार की सृजनात्मक एवं उत्पादक दिगंत-गाथाए !

यदि प्रतीक 'चिति' (साइके) के गहन नीले सिंधु में अदृश्य तड़फड़ाती मछलियों की तरह हैं तो विचार[1] (आइडिया) 'चेतना' की दृश्यवान कंपकंपाती लौ के समान हैं। दोनों का आविर्भाव संज्ञान (काग्निशन) से ही होता है, दोनों की आर्केटाइपल भूमि भी महाराग है लेकिन दोनों में अंतर है, एकता है; विरोध नहीं है। इसलिए हमने रूपक का आसरा लेकर जो उपरला प्रकथन किया है, उसमें खूबियां तथा खतरे, दोनों ही हैं। तथापि, शुरू करना इसी ढंग से लाज़िमी लगा। पूर्ववर्ती अध्याय में हम यह संकेत कर चुके हैं।

(१) 'प्रतीक' और 'विचार' के शोभन प्रपंच

प्रतीक और विचार—ये दोनों मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के सूक्ष्म औज़ार हैं। कर्मक्षेत्र [illegible] ूदने पर ये हथियार भी बनते हैं। प्रतीक [illegible] विचार के सर्वप्रथम वाहक मनुष्य और उसके शब्द हैं। किंतु एक आकस्मिक [illegible] लांग विचारों के लिए एक विराट् माध्यम पेश करती है—मानवजीवन तथा सामाजिक संस्थाओं का माध्यम ! तब विचारों के वाहक कर्म (कला एवं तकनालाजी) हो जाते हैं। फिलहाल ऐसे निरूपण का मौका अभी नहीं है।

पंचेंद्रियों के धरातल पर जो प्रत्यक्षण (पर्सेप्शन) एवं प्रभावन (इंप्रेशन) उभरता है उसे हम अगर 'बिंब' न कहकर—अर्विन पेनोफस्की के एक पारिभाषिक में—'संमूर्त्ति' (आइकन) कहें तो आरंभ की कई दिक्कतें दूर हो सकती हैं। इस भूमि पर हम शब्दार्थ-इकाई के परे जाकर शब्दविचार या विचारकर्म की अर्थवत्ता का भी

१. फिलहाल 'विचार' की एक स्थानापन्न परिभाषा ली जा रही है : "प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के बाद के धारणात्मक ज्ञान वाले चरण में 'विचार' की अवस्थिति है।"

प्रतिभास कर सकते हैं। आरंभ में हम यह स्पष्ट कर दें कि साहित्य एवं काव्य में तो हम शब्द की सीढ़ी बहुत दूर तक नहीं छोड़ पाते किंतु कला और कर्म और तकनालाजी में हम उन्हें छोड़ भी देते हैं (विटगेंस्टाइन ने कहा है कि शब्द तो मात्र सीढ़ियां हैं। जब हम उनका व्यवहार कर चुके होते हैं तो छोड़ देते हैं)। कर्म-विहीन शब्दों या शब्दार्थों में—साक्षात्, प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट अमल वाले अर्थ के बजाय—संमूर्त्ति (आइकन) द्वारा विशिष्ट यथार्थता का वैयक्तिक प्रतिबिंब होता है। संमूर्त्ति केआगे प्रतीक, अर्थभ्रांति, मिथक आदि का भी द्योतन होता है। इसलिए ऐसे शब्द सामान्यीकरण में 'वक्रता' फैलाते हैं जिससे विचारधर्मी 'कर्म' की उद्भावना के बजाय अलंकार, वक्रोक्ति, व्यंजना, अतिशयता, शोभा आदि का आविर्भाव होता है। अतः वैयक्तिक आवेग, वैयक्तिक सृजन और कर्मबहिर्भूत अर्थांतरन्यासों से जुड़े कला-साहित्य के 'अधिभाषिक' शब्द कुहरा और विभ्रम, रहस्य और रमणीयता, अप्रामाणिकता और असामूहिकता, सम्मोहन और शक्ति फैलाते हैं।

अतः ज्ञान की समस्या में **शब्द** की भूमिका महत्तम है। इससे ऊंचे स्तर पर इतर **माध्यम** की समस्या है क्योंकि शब्द अर्थ के आगे विचार, कर्म, आदि के सर्जक सिद्ध हुए हैं। कला-शब्द तो जितना सघन, रहस्यात्मक और रमणीय कुहरा फैलाते हैं उतने ही वे जवाबदेही से दूर होकर विचित्र और विलक्षण, अकेले और अगम्य हो जाते हैं। इसका यह कारण है कि वे अधिभाषा वाले हैं; मूलतः और अंततः अनुभवन तथा प्रभावन के वृत्त में रहते हैं। किंतु मानव-जीवन के कर्म तथा सामाजिक संस्थाओं के नियोजन के लिए शब्द तो विचार और कर्म, क्रांति और विवेक के वृत्त में उभरते हैं। अतः हम शब्दार्थ के आगे 'शब्द-विचार' और 'शब्द-कर्म' का पूर्वकल्पन तो कर ही सकते हैं। साहित्य-शब्द की प्रतिबद्धता महाभाव के बिंदु पर होती है किंतु विचार-शब्द तो सामाजिक कर्म के बिंदु पर केंद्रित है। दोनों का मूल उद्गम एक ही है—फेनामेना का प्रत्यक्षीकरण !

आखिर शब्द है क्या ? कम-से-कम 'शब्द-विचार' के एकांश विचारों के वाहन (वेहिकल) तथा वाहक (राइडर) दोनों ही हैं। जिस तरह हाथ के लिए औज़ार एवं अनुभव के लिए बिंब हैं उसी तरह विचारों के लिए शब्द हैं। अतः औज़ार और विचार और बिंब (अर्थ) में अपने-अपने ढंग से यथार्थता का ग्रहण होता है। सभी प्राणियों में अकेले मनुष्य ही संमूर्त्ति को धारणा (कांसेप्ट) में ढालने का सामर्थ्य रखता है सेरिब्रल कोर्टेक्स के कारण।

यथार्थता **एक** नहीं, अपितु संश्लिष्ट या **संपूर्ण** है क्योंकि इसमें खंडों के विशिष्ट संबंधों का योग है। इसलिए एक विशिष्ट इतिहास-खंड में, एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था में, या एक विशिष्ट वर्गीय संबंधों में यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण के विभिन्न तथा विकसनशील प्रकार होंगे। अतः यथार्थता ऐतिहासिक, सामाजिक और वैयक्तिक है। यथार्थता के ये अंदरूनी अंतर्विरोध हैं जिनके निराकरण में ही क्रमशः दर्शन, धारणाओं और बिंब के स्तर पर उभरते हैं। अतः यथार्थता एक न होकर संपूर्ण है, स्थायी न होकर परिवर्तनशील है, निर्विकल्प न होकर द्वंद्वात्मक है।

इसीलिए हमने सभी इंद्रियों के योग से उभरने वाले प्रत्यक्षण के लिए 'बिंब' के बजाय 'संमूर्ति' का इस्तेमाल किया है ताकि प्रत्यक्षण के अनेकान्वित होने का तथ्य संदीप्त होता रहे।

प्रतीक और विचार की चर्चा यथार्थता के ग्रहण के प्रकारों से भी जुड़ी है।

प्रतीक मूलतः ठोस प्रत्यक्ष या फेनामेना से जुड़े ही रहते हैं; यद्यपि शब्दार्थत्व के ऐकिक नियम वाले गणित को छोड़ देते हैं। शोभा की अमूर्त्तता दर्शाने को कमल मूर्त्त होगा, अथवा उसकी चपलता का अनुभावन कराने को चंचल हरिण का यथार्थ विद्यमान होगा। इस तरह शोभा के अनेक अमूर्त्त गुणधर्म एक शब्द को अर्थ-अनुभव-अनुभूति के सातत्य से बांधकर प्रतीक-शक्ति से अभिमंत्रित कर देते हैं। किंतु प्रतीक का एक प्रबलतम अंतर्विरोध है। यह निर्णय, अभ्यास और प्रमाण से अछूता रहकर भी इंद्रजाल फैलाने में समर्थ है। इसके अलावा प्रतीक किसी वस्तु, या स्थिति, या घटना की द्वंद्वात्मक संपूर्णता तथा संश्लिष्टता को विच्छिन्न अथवा पृथक्-पृथक् करके केवल एक, या दो, या कुछ को ढूंढ़ने का धुंधला कुतूहल पैदा करते हैं। इस तरह वे विचार और कर्म की संश्लिष्टता में विवेकभ्रम फैलाते हैं। इस तरह प्रतीक **प्रत्यक्षात्मक ज्ञान** और **धारणात्मक ज्ञान** की संधि में समासीन होते हैं (धारणात्मक ज्ञान की भूमि पर विचारों' का प्रादुर्भाव होता है)। इस ढंग से प्रतीक खतरनाक हैं। तथापि प्रतीक की खूबियां भी हैं। वे एक या कुछ कोणों अथवा बिंदु पर अनुभव की एक्स-किरणों को पुंजीभूत करके उस पक्ष का गहराई और बारीकी और विविधता से अनुभावन कराते हैं; एक नयी यथार्थता का उद्घाटन करते हैं; एक नयी मानसिकता का प्रतिबोध जगाते हैं। इस भांति प्रतीक फांतासी एवं संभावना के द्वारा यथार्थता का अधिग्रहण कराते हैं : वे हमारी नयी चेतना के किसी एक महीन तंतु को झनझना देते हैं। इस तरह वे चिति के इष्टभावक हैं; और, चेतना के एकनिष्ठ संवर्धक भी। अतः प्रतीक दोहरे धर्म वाले हैं; खतरनाक और खूबियों वाले ! प्रतीक का अर्थस्कंध संमूर्त्त यथार्थता के पंचेंद्रिय-धनुष को थामे हुए है। लेकिन, विचार ?

क्या कुहरे में डूबे हुए झिलमिलाते प्रतीक, तथा विचारों से दिपदिपाती धारणाएं एक ही स्वभाव की हैं ? नहीं। ये गुणात्मक परिवर्तन की सीढ़ियां हैं।

(२) 'विशुद्ध विचारवादी' तथा 'नितांत अनुभववादी' दृष्टिकोणों की विसंगतियां

प्राचीन भारतीय सौंदर्य-दिगंत में भरतमुनि ने विविध-रूपी **'भाव'** (वृहत्तर वृत्त में रस) तथा **'धर्म'** (वृहत्तर वृत्त में अभिनय का नाट्यधर्म तथा समाज का लोकधर्म) की संयुजता को लिया है। सामंतीय दर्शनों में ज्ञानधुरी के अंतर्गत 'प्रज्ञा' और 'प्रमा' की समस्या उठाई गई है। शताब्दियों के क्रम में अनुभव-केंद्र पर भाव तथा धर्म, एवं विवेककेंद्र पर प्रज्ञा तथा प्रमा का आयत्तीकरण हुआ है। ये दो चरण ज्ञान के विकास तथा विचार के इतिहास के भी परिचायक हैं। यहां दूसरे चरण पर अर्थात् धारणात्मक चरण पर हम 'विचार' के आधार पाते हैं। अतः सामान्यतः

और अस्पष्ट तौर पर भाव एवं धारणा, दोनों ही को 'विचार' के अंतर्गत परिलक्षित किया गया। इसीलिए रसशास्त्र और रसदर्शन, शब्दब्रह्म और रसब्रह्म की समलक्षणता (कन्वर्जेंस) के लिए नाना मतवादों ने जन्म लिया। मूल रहस्य तो दो अवस्थाओं के संबंधन तथा परिवर्तन का है। आदर्शवादी चिंतनधारा में विचार विशुद्ध (सात्त्विक) एवं पवित्र (अलौकिक) होता हुआ 'निर्विकल्प विचार' में खो गया और अनुभव तथा प्रत्यक्षण की प्राणभूमि छोड़ता गया। आनंद, चैतन्य, ब्रह्म, रस, आत्म, शून्य आदि की एकधर्मी परिणति आदर्शवादी धारा के उपहार हैं जो यथार्थता तथा भौतिकता को अस्वीकार करते हैं। आनुष्ठानिक कलाओं (नाट्य, नृत्य) में विचार लौकिक तो बने रहे लेकिन अमूर्त्त क्षेत्रों में वे 'शून्यत्व' में विलीन हो गए।

कुछ ऐसे ही अमूर्त्तीकरण की नींव प्लेटो ने डाली थी। भरतमुनि ने शुरुआत भाव से की थी; लेकिन प्लेटो ने **निर्विकल्प विचार** से। इसलिए वे (आइडिआ) स्थिर, स्थायी, अपरिवर्तनशील, अमूर्त्त, अभौतिक हो गये। प्लेटो ने सात घटक गिनाये जो तथ्य को आवृत्त करते हैं—**विचार, भौतिक तत्त्व, आत्मा (साइके), पूर्णकामना (इरोस), संगति, गणितीय संबंध** तथा **ऐश्वर्य**। अतः यथार्थता की प्रकृति की धारणा के ग्रहण के लिए प्लेटो ने 'इंद्रियों' के स्थान पर 'विचार' को साधन माना। अरस्तू ने इस धारणा का संशोधन करके कहा कि विचार इंद्रियों के माध्यम से ही मूर्त्त होते हैं, उनमें जीवन और गति आती है। अतएव 'एक तथा पूर्ण तथ्य' का अनुमान लेकर चिंतन करने वाले इन प्राचीन विचारकों (भरत, प्लेटो, अरस्तू) आदि का नज़रिया अंततोगत्वा आदर्शवादी रहा। वे भाव बनाम विवेक के द्वैताद्वैत में 'विचार' को समाहित करते हैं।

कम से कम यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि 'मात्र ज्ञान' की धारणा सामंतीय संस्कृति का सत्ताधीश विचार है; अन्यथा ज्ञान हमेशा अनुभव और प्रत्यक्षीकरण से ही आविर्भूत माना जाता रहा है और विचार का अभ्युदय क्रिया-कलाप से स्वीकार हुआ है। पश्चिम की दर्शन-परंपरा में विचार को फेनामेना (कांट), आइडिया (शोपेनहाअर, लॉक); सेंस-डेटम (मूर) आदि के रूप में भी समझा गया।

विचार का एक आंतरिक अर्थ (धुन) तथा दूसरा बाह्य अर्थ (मालकोश राग) लक्षित करते हुए राइल ने भी यही संकेत किया कि विचार का तात्पर्य मेरे मस्तिष्क में 'कोई चीज़' नहीं, बल्कि एक 'अर्थ' भी है। आदर्शवादी ब्रेडेल विचार को 'निर्विकल्प' अनुभव का एक खंड मानते हैं, तो शोपेनहाअर संकल्प के कर्म में प्रव्यक्त अर्थात् 'सार्थक' होने को, अर्थात् संघटना (फेनोमेना) का रूप होने को 'विचार' मानते हैं। इस तरह वे विचार और संघटना को संबंधित करते हैं। विचार संकल्प में प्रकट होकर कर्म तथा अर्थ बनते हैं। इस तरह शोपेनहाअर ने यथार्थता की व्यवस्था को विचार के चतुरंग से बुन डाला। यह अवश्य स्वीकार किया गया कि अपने आप में विचार पूर्ण नहीं हैं। उन्हें बाह्य से संबद्ध होना ही पड़ता है। विचार बाह्य (यथार्थता) के विशेषण धर्म को निबाहते हैं। मूर के अनुसार किसी वस्तु के

'जानने पर' या 'उसके प्रति सचेतन' होने पर अथवा उसका 'अनुभावन करने' पर ही 'विचार' का विश्लेषण होता है। मूर अनुभव को अभ्यास तक नहीं ले जाते। उनके बहुत पहले डेविड ह्यूम ने प्रभावना (इम्प्रेशन) को प्राथमिक तथा विचार को उससे व्युत्पादित बताया था। प्रभावना को भाव के तथा 'विचार' को ध्यान के समीप लाकर यह दर्शन-चक्र अनुभव बनाम विवेक के अंतर को विरोध के रूप में ही समझाता रहा है। इनको एक के बजाय दो मानकर, संपूर्ण के बजाय विभाजित मानकर, संश्लिष्ट के बजाय खंडित मानकर सही प्रश्न ही नहीं उठाया गया। इससे 'विशुद्ध विचार' और 'अनुभववादी भौतिकता' के दृष्टिकोण पनपे। इस तरह अंततोगत्वा यह प्रश्न आदर्शवादी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण से परखने पर केंद्रीभूत हो गया।

त्रिपक्षी द्वंद्व न्याय (डायलेक्टिस) के स्थान पर द्वैत न्याय (डाइयेड) के संघात में हम विचार की ऐतिहासिक एवं वर्गीय प्रकृति भी समझ सकते हैं।

विशुद्ध विचार के समर्थकों ने उसे पवित्र बनाते-बनाते निर्विकल्प (विचार) बना डाला। यह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण है जो भौतिक (तथा ऐंद्रियक) धरातल पर विचारों के उद्भव की कल्पना तक नहीं कर सकता क्योंकि इसके अनुसार विशुद्ध एवं पवित्र एवं निर्विकल्प विचार से ही भौतिक जगत् की सृष्टि होती है। आधिभौतिक चिंतन का आधार यही है। इसमें प्रत्यक्ष ज्ञान का निषेध और सामाजिक यथार्थता का दोहरा नैतिकरण (भ्रांतिवाद) है। इसी कड़ी में ऐहिक विवेकवादी (सेक्युलर रेशनलिस्ट) भी आते हैं जो केवल तर्कशील (रीज़न) की यथार्थता को ही मंजूर करते हैं और अनुभव की यथार्थता को अस्वीकार। अतः पवित्र विचार और विवेकी विचार के साधक स्वयं विचार के माध्यम अर्थात् मानवीय प्रत्यक्षीकरण और सामाजिक संस्थाओं को ही छोड़ देते हैं। नतीजा यह होता है कि वे लोग शनैः-शनैः इस 'ऐहिक विश्व से ही नफरत करने लगते हैं क्योंकि विचार को फूहड़ बनाते-बनाते यह विश्व अवश्यंभावी तौर पर उसे (विचार को) आच्छादित कर डालता है।' इस दृष्टिकोण के रूपायन वाले विभेद विशुद्ध विवेकवाद, आदर्शवाद, दुस्साहसिकतावाद आदि हैं।

इस वैषम्य में हमें शुद्ध अनुभववादी (प्रैग्मैटिस्ट) नजर आते हैं जो विचार से विवेक, निर्णय एवं निष्कर्ष का बहिष्कार करके केवल अनुभव—तात्कालिक तथ्य—में जीते हैं। वे विचार से ही नफरत करने लगते हैं (शुद्ध विचारवादी ऐहिक विश्व से नफरत करते हैं)। उन्हें जीवन तथा संस्थाओं में कहीं भी विचार की उपस्थिति और उसके प्रकार्य ज्ञानगोचर नहीं होते। उनके लिए इस अंधकारपूर्ण विश्व में केवल अविवेकशीलता (इर्रेशनलिटी) है; और इतिहास तथा सत्त्व के बजाय केवल क्षण और अस्तित्व ही वास्तविक हैं। इस दृष्टिकोण के रूपायन शुद्ध अनुभववाद, यांत्रिक भौतिकवाद, अवसरवाद हैं। आधुनिक पूंजीवादी विश्व की संस्कृति का विचारवृत्त यही है। संकट और संक्रांति के युग में, अथवा आत्मनिर्वासन और अंतर्मुखता की स्थिति में, अथवा कर्म एवं दर्शन से विच्छेदन में तो अनुभव एवं विवेक की एकता विघटित होकर विरोध बन जाती है। संस्कृति के मूल्य के केंद्र

के बजाय मंडी का कीमत का कानून सारे 'सुपरिगठन' पर लागू हो जाता है। सोरोकिन ने यह दशा गोचरताप्रधान (सेंसेट) सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में पाई है जहां चिति (साइके) के स्थान पर भोग (इरोस) की प्रतिष्ठापना हो जाती है। स्पेंग्लर ने सांस्कृतिक ऋतुचक्र में इसे शिशिरावस्था कहा है। टायन्बी के अनुसार जीर्णता तथा विकीर्णता की इस अवस्था में सामाजिक व्यवस्था तथा समाज की आत्मा, दोनों में बंटवारा हो जाता है जिससे अधिकारीवर्ग एवं सर्वहारावर्ग के दो विरोधी व्यवहारों एवं विचार-पद्धतियों का संघर्ष होता है। इसे सांतायन बर्बरतावाद एवं आलोकवाद (हैलेनिज़्म) की शक्तियों का संघर्ष, तो ह्वाइटहैड पाशविक आवश्यकता तथा मानवीय विचार की स्थितियों का दोलायमान क्रम बताते हैं।

अतएव संसार को समझने में विशुद्ध विवेकवादी तथा नितांत अनुभववादी, आदर्शवादी अथवा यांत्रिक भौतिकवादी, अवसरवादी तथा दुस्साहसिकतावादी आदि दृष्टिकोण अधूरे, एकांगी और असत्य हैं क्योंकि ये सभी ज्ञान और कर्म को, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी को, शरीर और मानस को अलग-थलग कर देते हैं। अल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहैड के शब्दों में : "स्पष्ट रूप से लक्षित प्रत्येक संक्रमण काल में एक ओर तो बीते हुए संवेग तथा आदतन गूंगे व्यवहार का पैटर्न होता है और दूसरी ओर आदत के एक नये संश्लेष का आगमन। इन दोनों के बीच में अराजकता का क्षेत्र पड़ता है : या तो गुजरता हुआ खतरा होता है, अथवा एक विलंबित हुल्लड़ होता है जिसमें क्षय की दैन्यता एवं युवा ज़िंदगी का आवेग उभरता है। इन कर्मताओं के बाबत हमारे अनुमान से तो हर चीज़ हमारी आलोचना के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, हमारा **विचारों का इतिहास** हमारे **इतिहास के विचारों** (इतिहास संबंधी विचारों) से व्युत्पन्न होता है अर्थात् वह हमारे बौद्धिक दृष्टिकोण की उपज है।"[१] बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ मात्र 'गूंगे अमल के पैटर्न' की ऐसी संगति अंततोगत्वा ढाक के तीन पात ही कायम रखती है। विचार केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की उपज नहीं हैं।

इसलिए यह स्पष्ट है कि ज्ञान को कर्म से, अंतर्मुखी को बहिर्मुखी से, सामाजिक सत्त्व को चेतना से पृथक् करके हम सही विचार, पूर्ण यथार्थता और नये समाज को नहीं पा सकते। इसलिए आदर्शवाद या यांत्रिक भौतिकवाद, अस्तित्ववाद और अनुभववाद आदि के द्वारा संसार को समझने तथा विचारों को कार्यान्वित करने की पद्धति गलत है।

बहिर्मुखी प्रक्रिया का विकास अंतर्विरोधों तथा संघर्षों से परिपूर्ण है। अनुभव पर टिका **प्रत्यक्षात्मक ज्ञान** संज्ञान का पहला चरण है और यह पृथक्-पृथक् पक्षों से संबंधित (बिंब) है, फेनामेना से जुड़ा (प्रतीक) है, और पूरे परिव्याप्त जगत् के बजाय अलग-अलग वस्तुओं के बाहरी अंतर्विरोधों को प्रकट करता है। इसलिए प्रत्यक्षात्मक ज्ञान अनुभवात्मक है, तात्कालिक है, आंशिक है और भोगात्मक है। इसीलिए हमने

१. 'एडवेंचर ऑफ़ आइडियाज', मेंटर पेपरबैक, १९५९, पृ० १५।

छठे अध्याय में कहा है कि प्रतीक का जन्म चिति में होता है (वे कर्म के एजेंट नहीं हो सकते) और वे अनुभव को ऐतिहासिक बोध तथा समकालीन मानसिकता में ढालते हैं। यह सही है कि अनुभव की भूमि ही विचारों के सूत्रीकरण की प्राक्‌भूमि है। सूत्रीकरण की वेला में विचार विशुद्ध होता है; वह स्वयं एकोहं विचार भी होता है। अतः अनुभव प्रत्यक्षीकरण को उन्मीलित करते हैं। अनुभव पर आश्रित प्रत्यक्षात्मक ज्ञान बाहरी, तात्कालिक और पृथक्-पृथक् पक्षों से संबंधित है।

इसके बाद ज्ञान की शुरुआत अभ्यास या अमल (प्रेक्टिस) से होती है। संज्ञान का यह दूसरा चरण **धारणात्मक ज्ञान** का है जो उच्चतर है तथा धारणाओं (कांसेप्ट्स) को आविर्भूत करता है। यह एक विवेकपूर्ण (रेशनल) ज्ञान की अवस्था है जहां 'अनुभव' (प्रत्यक्षात्मक ज्ञान) सहसा बदलकर विचार हो जाते हैं। इस तरह हमें मूल आधार यह मिला कि अनुभव और तर्कशील (रीज़न) की द्वंद्वात्मक एकता कायम रहती है। उनमें एक सातत्य है तथा विकास की एक उच्चतर दशा है। धारणात्मक ज्ञान की इकाई 'विचार' (आइडिया) है।

अतः ज्ञान की डायलेक्टिस में विचार परिव्याप्त जगत् के **आंतरिक** अंतर्विरोधों को उद्घाटित करता है (जबकि अनुभव पृथक्-पृथक् वस्तुओं के बाहरी अंतर्विरोधों को उद्घाटित करता है। विचार में अनुभव की निचली तथा विवेक की ऊंची अवस्थाओं का सामंजस्य भी होता है। सूत्रीकरण के बाद रूपायन (ट्रांसफ़ार्मेशन) के क्षण में विचार सुस्पष्ट होता है, अंतःकरण को अलोकित करता है। यह दशा **'रूपकान्वयन'** (मेटामार्फोसिस) की है।

किंतु विचार के इस रूपकान्वयन के लिए एक माध्यम अनिवार्य है। यह **माध्यम** मानवजीवन और सामाजिक संस्थाएं ही हैं जो विशुद्ध विचारवादी दर्शन में अशुद्ध मानी गई हैं। किंतु यथार्थ में यह माध्यम ही एक विराट् सत्य है। अतः विद्यमान तथा उत्तरजीवी होने के लिए विचार को इस अशुद्ध माध्यम में ढलना ही पड़ता है; अन्यथा वह विनष्ट हो जाएगा। ये अशुद्ध माध्यम ही विचार को कलाकृति और अपोलोयान, कविता और कंप्यूटर, खजुराहो और भिलाई मिल में रूपकान्वित करते हैं। अशुद्ध माध्यम जीवन और उसका अनुभव, समाज और उसकी संस्थाएं, संस्कृति और उसके प्रकार्य ही हो सकते हैं। माध्यम में सिद्ध होने की यह निश्चयता ही विचार को **'भौतिकीकृत'** (मेटिरियलाइज़) करती है। यहां विचार शब्दार्थ का वाहन छोड़कर कर्म के वाहक हो जाते हैं। यही उनका उन्मेष तथा उत्कर्ष है। अतः अपने अस्तित्व को निरंतर रखने के लिए प्रत्येक रचनात्मक विचार बारंबार रूपकान्वित तथा भौतिकीकृत हुआ करता है। मानवीय ज्ञान की प्रगति तथा बहिर्मुखी प्रक्रिया के विकास को समझने की यह दृष्टि द्वंद्वात्मक भौतिकवादी संदृष्टि है। यह संदृष्टि ही बाह्य संसार के **नियमों** को समझने तथा **विचारों** की उनसे संगति स्थापित करने के प्रमुख प्रश्न को सुलझाती है। अतः द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा ही हम एक ओर तो विचार में अनुभव एवं तर्कशील की एकता स्थापित कर सकते हैं, दूसरी ओर आदर्शवादी एवं यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से संघर्ष कर सकते हैं, तीसरी ओर

विचार एवं कर्म का सामंजस्य पा सकते हैं तथा चौथी ओर धारणात्मक एवं प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के गुणात्मक अंतर को भी स्पष्ट कर सकते हैं। इस तरह **रचनात्मक-संश्लिष्ट विचार** की हमारी धारणा एक द्वंद्वात्मक पद्धति है जो "किसी प्रवस्तु को उसकी संपूर्णता में, तथा उसके सारत्व एवं अंतर्निहित नियमों को पूर्णतया (अद्वयतः नहीं) प्रतिबिंबित करता है, जो ऐंद्रियक प्रत्यक्षीकरण के तथ्यांशों को चुनकर सही प्रत्यक्षीकृत ज्ञान ग्रहण करता है, सही प्रत्यक्षीकृत ज्ञान से विवेकपूर्ण ज्ञान में छलांग लगाकर धारणाओं एवं सिद्धांतों की पद्धतियां भी रचता है।"[1] अतः आगे हम विचार की इस रचनात्मक एवं द्वंद्वात्मक संरचना को ही आधार बनाएंगे।

(३) विचारों के संदर्भ में मनुष्य एवं उसके स्वैच्छिक कर्म

विचारों के संदर्भ में **मनुष्य** और उसकी **दशा** क्या है ?

इस सूक्ति पर तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रतीक और विचार मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के सूक्ष्म औजार हैं; तथा कार्यक्षेत्र में कूदने पर विचार हथियार भी बन जाते हैं। विचार तब तक रचनात्मक नहीं होते जब तक कि वे समाज की जड़ तक तथा व्यक्ति की चिति तक नहीं धंसते; जब तक कि सामाजिक अनुभवों एवं अभ्यास से प्रमाणित नहीं होते अर्थात् जब तक कि वे रूपांतरकारी एवं भौतिकीकृत (कर्तृ एवं कर्म) नहीं होते। विचार संस्कृति के पैटर्न बुनते हैं और संस्कृति एक विचार-धारा (आइडियोलाजी) का चक्र है। एक समाज में अधिकारी तथा दलित वर्गों की अलग-अलग संस्कृतियां होती हैं और उनके हित तथा श्रेय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः विशुद्ध विचार की तरह 'मात्र मनुष्य' की धारणा भी भ्रामक है। एक मनुष्य इतिहास और समाज के वृत्त में ढला हुआ विशिष्ट सामाजिक व्यक्ति है। विशिष्ट व्यक्ति और सामूहिक मनुष्य अकेले या सामान्यतः अपने सामाजिक अमल में कई तरह के काम करते हैं, संघर्ष करते हैं, हितों की रक्षा के लिए जत्थेबंद होते हैं; अपनी भावना के लिए एकांतशोभित होते हैं। इस तरह अपनी खुशियों-पीड़ाओं, असफलताओं-सफलताओं से अनुभव प्राप्त करते हैं। इसके बाद वे कुछ अवधारणाएं बनाते हैं। इस उपक्रम में कभी-कभी, अचानक, वे अनुभव के 'गहरे अर्थ' (विचार) पा लेते हैं; कभी अचानक विचारों के मुताबिक अपने जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर बिल्कुल नया जन्म पा लेते हैं। इस तरह से व्यक्ति या लोगों में पहले बहिर्लक्ष्यी पदार्थ से अंतर्मुखी चेतना का, तथा अस्तित्व से विचारों का उन्मेष होता है। इस चरण में यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य के विचार बाह्य जगत् के अनुरूप हैं अथवा नहीं। अतः अगले चरण में पुनश्च पदार्थ की ओर, विचारों से पुनः अस्तित्व की ओर प्रत्यावर्तन होता है जिसमें पहले चरण के ज्ञान की समझ को लागू किया जाता है। अतः अनुभव को सामाजिक अमल एवं अभ्यास में लागू करके ही मनुष्य जो सीखता है वह (अब) निर्णय (जजमेंट), निष्कर्ष (इन्फरेंस), सिद्धांत (थियोरी) भी बनता है। यही

१. दे० 'ऑन प्रेक्टिस, माओ, १६३७।

अनुभव की कसौटी है।

उपर्युक्त द्वंद्वात्मक पद्धति ही सिद्ध करती है कि मानवजीवन तथा सामाजिक संस्थाओं से संभूत यथार्थता को हम एक बुनियादी ज़मीन (अभ्यास-कर्म-अभ्यास) पर से परखते हैं। अगर कर्म की वह बुनियादी ज़मीन ही छोड़ दें, अगर द्वंद्वात्मक भौतिकवादी विश्वदृष्टिकोण से इतिहास के विचारों की पहल ही नामंज़ूर कर दें तो विशुद्ध विचार अथवा अनुभववादी विचार वाला मोहभ्रम फैलेगा। यह वस्तु को फेनामेना के संदर्भ से काटकर केवल भ्रांति फैलाने वाला मैटाफिज़िकल चिंतन है जो द्वंद्वात्मक नहीं है।

अतएव विचार के स्पष्टीकरण एवं विशदीकरण के लिए, संमूर्त्तीकरण और सामान्यीकरण के लिए हमें पुनः ठोस अनुभव और संमूर्त्तनों की भूमि पर उतरना पड़ता है। अतएव विचार अपने भावन के लिए संमूर्तनों एवं प्रतीकों का सहयोग लेता है। इसके प्रतिलोम में कभी-कभी संमूर्ति और प्रतीक भी उछलकर जब यथार्थता का संपूर्ण प्रत्यक्षीकरण करा देते हैं तो विचारों का अवधारणीकरण तथा अमूर्त्तीकरण ज़्यादा शक्तिमान तथा सौंदर्यसंबंधक हो जाता है। तदपि सामान्यतः होता यही है कि विचार के लोक में संमूर्ति तथा प्रतीक का धुंधलापन और अनुभव क्रमशः निर्वैयक्तिक और निर्मल होता जाता है। उसके अनुपात में अमूर्त्तन (एब्सट्रैक्शन) उभरते हैं। जितनी गुणात्मक श्रेष्ठता पर अमूर्त्तन उभरते हैं, उतनी संमूर्त्तता (कांक्रीटनेस) तिरोभूत होती है। अतः अंतर्वर्गों (कैटेगरीज़) की वैयक्तिक संख्याएं कम होती हैं—अतः उच्चतर धरातल पर 'सौंदर्य' एक हो जाता है, क्रांति का चरित्र अंतर्राष्ट्रीय हो जाता है; पूंजीवादी व्यवस्था में मूल्य का नियम सार्वत्रिक हो जाता है; कार्य के अंतर्गत कला और टैकनालाजी का समन्वय हो जाता है; इत्यादि-इत्यादि। अतः विचार से विराट् अमूर्त्तन की यात्रा—ऐहिक सामान्यीकरण की परिधि में—विचारधारा, मूल्य और वैश्वकों (यूनिवर्सल्स) की प्रतिपत्ति भी करा सकती है।

अतएव कला और टैकनालाजी में, कला और दर्शन में, अर्थ के प्रत्यक्षण और विचार की अवधारणा में, अनुभव तथा सामाजिक अमल की एक ऐसी आधारभूमि है जो केवल लांघी ही नहीं, लंबी छलांग से उल्लंघित भी की जाती है। अतः संमूर्त्ति से प्रतीक, अथवा प्रतीक से विचार—इन दोनों प्रकार के उन्मेष होते हैं। संमूर्त्ति-प्रतीक-विचार की त्रयी मानव के मानस के सबसे महान् औज़ार और उपकरण हैं।

इतिहास-संबंधी विचार के अभाव में आम लोग अनुभव तथा प्रत्यक्षीकरण करने के बावजूद भ्रमित और अस्पष्ट होते हैं। यह भी व्यक्ति का एक आंतरिक अंतर्विरोध है लेकिन अगर एक शब्द-विचार उन्हें सूर्य की तरह स्पष्टता तथा दिशा दे देता है, लौ की तरह उन्हें अग्निदीक्षा से कुंदन बना देता है तब यह शब्द-विचार कर्म में, किम्वा आंदोलन में बदल जाता है। यह उन लोगों का हो जाता है और वे लोग इस विचार द्वारा रूपांतरित हो जाते हैं क्योंकि विचार एक 'भौतिक शक्ति' बन जाता है। इस तरह 'शब्द' अर्थ की अपेक्षा अभ्यास से, स्वानुभव से, नवोदित चेतना से प्रमाणित होने पर शब्दार्थक के बजाय शब्दकर्मी हो जाते हैं। शब्द और अर्थ और कर्म की

इस विचित्र आधुनिक चुनौती को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि इससे हमारी मूल प्रकृति तथा संस्कृति में ही क्रांति का धारा-प्रवाह विवर्तित हो चलेगा। विट-गेंस्टाइन और चौम्सकी ने इसी शब्द-सिंधु-बांध को खोलने में पहल की है।

आखिर मनुष्य क्या है ?···वह समाज में रहने वाला एक सामाजिक मनुष्य है जिसने प्रकृति को मानवीकृत किया है। वह ब्रह्मांड के जैविक विकास में सर्वाधिक विकसित बुद्धियुक्त प्राणी है। गेलिलियो से पहले सृष्टि के केंद्र में पृथ्वी थी। गेलिलियो ने सूर्य को ब्रह्मांड-केंद्र में प्रतिष्ठित किया। रिनैसां ने मनुष्य-केंद्रित जगत् को स्वीकार किया। बाद में विचारक मनुष्य और कर्मी मनुष्य, व्यक्ति मनुष्य और वर्गीय मनुष्य के संश्लेष से 'सामाजिकतया जागरूक और समाज-निर्माता मनुष्य' का आविर्भाव होता है—कर्म एवं क्रांति में विकसित होने वाले 'नये मनुष्य' का !

यह मनुष्य औज़ार का व्यवहार करने वाला एक प्राणी है। औज़ार उसके हाथ के ही प्रसार हैं। विचार उसके मस्तिष्क के औज़ार हैं। वह मर जाता है। लेकिन निर्माण (कृतियां व मशीनें व वस्तुएं) बचे रहते हैं। उसके हाथ भी खत्म हो जाते हैं, दिमाग भी नहीं बचता। लेकिन तुलना में कूची और सोयुज़ यान, माइक्रोस्कोप और 'रघुवंश' बचे रहते हैं। उसकी जिह्वा मिट जाती है किंतु पुस्तकें बची रहती हैं। अत: मनुष्य औज़ारों और विचारों का व्यवहारकर्त्ता एक सामाजिक प्राणी है। वह इनका इस्तेमाल इसलिए करता है कि उसके बृहद् मस्तिष्क (cerebral cortex) में पूर्ण विकसित स्नायुमंडल है; स्वरयंत्र (लेरिंक्स) ने उसे विविक्त अक्षरों को उच्चरित करने की शक्ति दी है; मेरुदंड ने उसे सीधा खड़ा करके उसके दोनों हाथ विमुक्त कर दिये हैं ताकि वे रचना एवं उत्पादन कर सकें; पार्श्ववर्ती के बजाय सम्मुख स्थित दोनों नेत्रों ने उसे प्रत्यक्षीकरण तथा समाधि (चिंतन) की क्षमताएं दी हैं। इसी वजह से मनुष्य सामाजिक यथार्थता को भी प्रत्यक्षीकृत एवं अवधारणीकृत करता है, प्रकृति को जीतता है, आवश्यकता को पूर्ण करके स्वतंत्र होता है एवं स्वतंत्र समाज का निर्माण भी करता है। इस उपक्रम में शब्द उसके विचारों के वाहन तथा वाहक, दोनों ही हैं। चौम्सकी ने मानबीय भाषा के शब्द का प्रमुख लक्षण **'सर्जनात्मकता'** माना है। यह मनुष्य की ही विलक्षणता है। शब्द 'खुली-समाप्तता' (ओपेन-एंडेड-नेस) वाले हैं क्योंकि वे अनेक और अनिश्चित अर्थों तथा संकेतों (विचारों तथा प्रतीकों) को प्रसारित करते हैं। पशु की सांकेतिक ध्वनिभाषा से यह एक मूल अंतर है। चौम्सकी के मतानुसार इसका मूल कारण मनुष्य का 'मानस' है जिसकी अनेक विशिष्ट लक्षणाएं हैं। ज्ञान की उपलब्धि में मानस मनुष्य को एक ऐसा स्वतंत्र कर्मक (एजेंट) भी बना देता कि वह पर्यावरण की बाहरी उत्तेजनाओं की अवहेलना भी कर सकता है (यद्यपि यह जरूरी नहीं है कि वह पर्यावरण से प्रभावित भी नहीं हो)। स्पष्ट यह है कि चौम्सकी तत्काल (इमिडियेट) के अतिक्रमण (ट्रांसेंडेंस) की समस्या को अपनी विवेकशील 'कार्टेजियन भाषिकी' के आधार पर निरूपित कर रहे हैं। अतिक्रमण करने पर ही अनुभव को चेतना एवं चिंतन में तब्दील किया जा सकता है। इसके द्वारा ही आत्मलक्ष्यी तथा स्वार्थसाधक मनुष्य निर्वैयक्तिक एवं

सामाजिक होता है। अतः ज्ञान की डायलेक्टिस में 'अतिक्रमण' की क्रांतदर्शी भूमिका होती है। अतिक्रमण करके ही आदमी विचारों की प्रामाणिकता पाता है और, तब वह विचारधारा से 'प्रतिबद्ध' होता है। **सचेतन विचार** की सही परिणति मनुष्य की 'प्रतिबद्धता' है। इसी तरह **सचेतन कर्म** की परिणति मनुष्य की 'विमुक्ति' है। समाज के बाहरी अंतर्विरोधों की तरह मनुष्य के आंतरिक अंतर्विरोधों का भी एक विचित्र मानस-लोक है।

मनुष्य (व्यक्ति) के अंतर्विरोधों का हाशिया सूक्ष्म एवं सारांशगर्भित है जो सारत्व (एशेंस) से संबंधित है। मार्क्स के बाद माओ तथा चे ने इस पर सर्वाधिक द्वंद्ववादी चिंतन किया है। अस्तित्ववादी खेमे में तो 'मनुष्य के निराशावादी बिंब' को लेकर कियर्केगार्ड से आगे सार्त्र तथा हर्बर्ट मार्क्यूस तक ने इस पर विचार किया है। सिद्धांत और अमल, चेतना और चर्या, श्रम और क्रीड़ा, कार्य और सृजन, सुख और सुरक्षा आदि के आंतरिक अंतर्विरोधों के बीच यह चिरंतन आदमी घिरा है।

भावलोक में वह **भय** तथा उसकी चरमपरिणति मृत्यु के अंतर्विरोधों से जकड़ा हुआ है जो सारी मनोविक्तियों का जाल फेंककर एक स्वस्थ और नर्मिल मनुष्य के आविर्भाव को रोकता है। भय (आतंक, संत्रास, खौफ, दहशत, यंत्रणा, दर्द और मृत्यु) इंसान में आत्म-गौरव, आत्मविश्वास, आत्ममंथन, आत्मज्ञान को उभरने नहीं देता। भय चेतना को सुंदर और सशक्त और सहज नहीं करने देता। संत्रासपूर्ण भय चैतन्य और व्यक्तित्व का हत्यारा है! भय सर्वाधिक तो राज्य की विशाल हिंसा, शासन के संतापन (टार्चर) और अधिकारी वर्ग के आतंक (टेरर) में पनपता है। उसके वृत्त में मृत्यु के हत्या व शोषण के अलावा आत्महत्या तथा आत्मबलिदान वाले भी दो रूप हैं। दोनों पक्ष ही जीवन को समाप्त करते हैं। किंतु आत्मबलिदान मृत्यु को विचार-लक्ष्य का निमित्त बनाकर मनुष्य की त्रासदी को सार्थक बना देता है। मनुष्य शहीद हो जाता है। इसी तरह सत्ता की हिंसा से लड़ने में संगठन का; और व्यवस्था के संतापन-आतंक को खत्म करने में क्रांति का अभ्युत्थान होता है।

दूसरा आततायी है **स्वार्थ; निजी स्वार्थ**! सामूहिक हितों या स्वार्थों से ही विचार की रचना होती है। कार्ल मानहाइम ने स्वार्थ से विचार से विचारधारा से यूटोपिया के विन्यास का एक क्रम प्रस्तुत किया है ('आइडियालाजी एंड यूटोपिया')। वस्तुतः निहित स्वार्थ अमानवीयकरण, असामाजिकीकरण और पाशविकीकरण का उत्पादक भयानक दैत्य है जो पूंजी और संपत्ति के अल्लादीनी दीवे को रगड़ने से विराट् रूप धारण करता है; भोग और बर्बरता में लुभाकर शैतान मैफिस्टोफिलीज़ की तरह इंसान को उल्टे खूंखार वहशी पशु बना देता है। स्वार्थ सभी सामाजिक संबंधों को जिंस (कमोडिटी) और संपत्ति (प्रापर्टी) के वृत्त में जकड़कर शोषण तथा उत्पीड़न, घृणा तथा दासता में बदल डालता है।

स्वार्थ और भय हमारे संपूर्ण व्यवहार-चक्र के परस्पर प्रेम, सम्मान, सहानुभूति, सहयोग, सहकार, अनुकंपा आदि के आधार विच्छिन्न करके उसके संवेग की धुरी ही तोड़ डालते हैं। अतः 'प्रतिबद्धता' और 'अतिक्रमण' का उन्मेष न होने पर

न तो विचार की भूमिका समझ में आती है, और न ही विचार की रूपांतरकारी शक्ति का आभास होता है।

अतएव **भय** एवं **स्वार्थ** से उद्धार ही मनुष्य को अंदर से स्वतंत्र बना सकता है क्योंकि व्यक्ति की सनातन आवश्यकता प्रेम और सहयोग है।

प्रेम बनाम मृत्यु, स्व बनाम परत्व के अंतर्विरोधों से ऊपर उठने पर वैयक्तिक संबंधों के कुछ आधुनिक अंतर्विरोध हैं; और वे फूहड़ता (एब्सर्डिटी) हैं। जैसे पंजाबी कवयित्री अमृता प्रीतम के लिए रतिशय्या पर मांसल जिस्म में तत्ता लहू और श्रीकाकुलम में क्रांतिकारी वेंपटापु सत्यनारायण को गोली से मारकर गिराया गया तत्ता लहू—एक ही हो गये—मात्र तत्ते ! उनके लक्ष्य तथा धर्म मिटा दिये गये। सही-गलत की पक्षधरता से इनकार !

दूसरी मिसाल : जलंधर शहर के 'रेशमा' होटल के उद्घाटन पर पहले एक धर्मग्रंथ का अखंड पाठ हुआ और दूसरे ही दिन से उसी स्टेज पर कैबरे की एक हसीना अर्द्धनग्न नाच करने लगी। दोनों का लक्ष्य एक ही रहा—लाभ। किंतु दोनों के साधन परस्पर विरोधी हैं। एक ही लक्ष्य के लिए धर्मग्रंथ और नर्तकी का इस्तेमाल !

वैयक्तिक विलक्षणता तथा सामूहिक संगठन के बीच वाले अंतर्विरोध में विचार मर जाते हैं तथा व्यक्ति को त्रिशंकु बना देते हैं। जैसे, समाज में सिफारिशों और धांधागर्दी के खिलाफ आक्रोश दिखाते हुए कुछ विद्रोही युवक और नवयुवा लेखक। किंतु अपने लिए वैसी ही सिफारिशों अथवा प्रतिष्ठाओं के लिए तिकड़म भी करने वाले। वे असफल या असमर्थ होने तक विद्रोही हैं। किंतु सफल और सुरक्षित होने पर मूक-बधिर ! वे सब-कुछ केवल इसलिए करते हैं कि बस अकेले वे बच जाएं, अकेले उनकी उन्नति होती चले ! यह मुखौटों-नकाबोंवाला दोहरा तथा दोगला आचरण है जो सार्वजनिक नैतिकता और व्यक्तिगत बर्बरता के अंतर्विरोध को नंग-धड़ंग करता है।

अगला अंतर्विरोध आत्मनिर्वासन बनाम सामूहिक प्रतिकर्म का है। यह प्रमुख अंतर्विरोध है। इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि व्यक्ति स्वयं को अकेला तथा विलक्षण मानता हुआ स्वतंत्रता के एक मिथक में घुटता है, और संघर्षशील भीड़ों-समूहों को एकसाथ गुलाम रोबोट तथा अराजक पशु समझता है। इसके फलस्वरूप उसमें निराशावादी बनाम आशावादी, रोमांटिक बनाम यथार्थवादी, संशयवादी (स्केप्टिसिज़्म) बनाम अज्ञेयवादी (एग्नोस्टिसिज़्म) नज़रिये डूबते-उतराते हैं। आत्मनिर्वासन से विमुक्त होने का एकमात्र रास्ता सामूहिक तथा सृजनात्मक कर्म है। आत्मनिर्वासन एक सृजनात्मक चेतना भी बनकर आत्मबोध उत्पन्न करता है (बार्टोल्ट ब्रेश्ट) तथा व्यक्ति को हरावल (वैंगार्ड) बनाकर उसके विचारों को ऐतिहासिक अनिवार्यता भी बनाता है। आत्मनिर्वासन जीवन तथा अमल से जुड़कर आत्मबोध और समाजकर्म बन जाता है। मानवीय गलतियां तथा असफलताएं और समाज में ऐतिहासिक बुराई की समस्या—ये दोनों भी अवश्यंभावी हैं तथा यथार्थता का अंग हैं। विचारों की सचेतन कर्मता को इनसे संघर्ष करना ही पड़ता है। इन्हें

बर्बर आवश्यकता (ह्वाइटहैड), अंधेरी दुनिया (कियर्केगार्ड), अंधी यथार्थता (फ़्रायड) कहा गया है। वस्तुतः ये अनुभूत यथार्थता का उच्छलन रोककर उसे महान् विचार बनने से रोकती हैं और अंततोगत्वा महान् विचार को नृशंस फांतासी में अन्यथाकृत (डिस्टार्ट) कर देती हैं। 'आधुनिक कल्पना' का स्वरूप यही है।

अतः नये विचार तथा सही विचार के सृजन (लोकधारण की बात, अभी नहीं) के लिए 'नये मनुष्य' की दीक्षा पहली शर्त है। नये मनुष्य की बुनियादी शर्त है कि वह एक विमुक्त इंसान हो। नये विचार सही अभ्यास से आते हैं; सही विचार ही एक विमुक्त मनुष्य बनाते हैं और विमुक्त मनुष्य ही नये इंसान होने की संभावना रखता है; अगर उसे अवसर मिले तथा उसमें तदनुकूल संचेतना भी हो। एक अकेले इंसान की विमुक्ति अकेलापन और आत्मनिर्वासन, आत्ममोह और अहंपूजा का महाभ्रम है। विमुक्ति हमेशा चुनौतियों का सामना करने, सामाजिक अमल में सही विचार लागू करने तथा सामाजिक प्रतिभाग लेने से ही हो सकती है। सामूहिक पार्टीसिशपेन तथा परिपूर्ण प्रतिबद्धता द्वारा ही इंसान सामाजिक तथा विमुक्त बनता आया है। इस बनने में वह सचेतन (कांशस) रहे अर्थात् विचारबद्ध रहे। बिना विचारबद्धता के विमुक्ति सार्थक नहीं है।

इसकी तुलना में जब एक हिप्पी की तरह या एक निराला की तरह विमोहयुक्त विमुक्ति होती है तो वह सामूहिक सहकार तथा परिपूर्ण आवेष्टन (इन्वाल्वमेंट) वाली नहीं होती। वह व्यक्ति के कुछ खंडों को, समाज की संस्थाओं एवं आवश्यकताओं से विमुक्त करती है। पंडितराज जगन्नाथ प्रणयी के रूप में विमुक्त होकर भी सामंतीय प्रवक्ता के रूप में बंदी रहे। ऐसी विमुक्ति अंतर्मुखी और पलायनवादी, रोमांटिक (आत्ममुग्ध) तथा प्रतिभानशाली (एडवेंचरिस्ट), और बहुधा ऊब, अभाव, अकेलापन, निष्क्रियता अथवा विभ्रम की देन होती है। यह व्यक्ति की विमुक्ति के बजाय व्यक्तिवाद की पूजा की धुरी वाली है। अतः सचेतनतः विमुक्त व्यक्ति स्वयं का रूपांतर पहले करता है। जब तक वह स्वयं का रूपांतर नहीं कर सकता, तब तक वह सामाजिक रूपांतर कैसे करेगा ? जब तक वह सही विचारों को सामाजिक अमल में लागू करके सफलता नहीं दिखा सकता तब तक वह समाज के नियमों को कैसे समझ सकता है ?

सामाजिक समग्रता तथा सामूहिक प्रतिभागिता के दृष्टांत प्रेमचन्द हैं। उदात्त भाव द्वारा उद्धार के दृष्टांत प्रसाद हैं; निजी सचेतन यंत्रणा की मिसाल गजानन माधव मुक्तिबोध हैं। प्रेमचन्द और गोर्की, निराला और मुक्तिबोध की सही समझ या संपूर्ण अंतर्लीनता ने उन्हें विमुक्त किया—सफल नहीं, लाभान्वित नहीं। उनका बलिदान और नैतिक त्याग ही उनकी विमुक्ति के पुरस्कार हैं (न कि कोई रायल्टी, या उपाधि, या पुरस्कार, या दौलत)। यह उनका मूल्यमंडल है जो मंडी के मूल्यों का विरोधी है। एक पूरे समाज के सभी बिंदुओं से, अपने जीवन तथा कृतित्व में, प्रेमचन्द सक्रिय और सचेतन होकर जुड़े हैं। अतः उनके अनुभव में सोफिया के हृदय के लाल कनेर तथा होरी के विचारों का विस्फोटक हथगोला प्रामाणिक एवं

सामान्यीकृत हैं। प्रेमचन्द और गोर्की, काडवेल और सुब्बाराव (पाणिग्रही और सार्त्र भी) सामाजिक पार्टीसिपेशन से प्राप्त विचारों तथा कर्मों द्वारा विमुक्त हुए हैं। इस उपक्रम में वे स्वयं संपूर्ण व्यक्तित्व से रूपांतरित हुए हैं। उनके अनुभव तथा विचार का विश्व एक पूरा समाज और देश, और शोषित जन हैं।

आखिर एक इंसान जब इतने लंबे और विविध अनुभवों तथा कुर्बानियों के बाद अपना आत्मनिर्वासन भंग करता है और एक कृती या कर्मी बनकर उभरता है अर्थात् सामान्य से 'सामान्यीकृत विशेष' बनता है तो यह उसके विचार एवं कर्म की मैत्री से घटता है जो नयी परिस्थितियों तथा सामाजिक अमल द्वारा सुदृढ़ हुई है। अर्थात् चेतना के नये अज्ञात बंद कमरे झटके से खुल जाते हैं और चिति-लीला के विचार रूपी कमल अपनी भौतिक जड़ से जुड़ जाते हैं। अतः विमुक्त व्यक्ति ही नये विचारों का धारण कर सकता है क्योंकि वह प्रयाण (डिपार्चर) तथा अतिक्रमण (ट्रांसेंडेंस), दोनों करता है। ये दोनों प्रक्रियाएं नये विचारों के उपागम (एप्रोच) पेश करती हैं।

इसे स्पष्ट करने को एक मामूली मिसाल लें। एक अपेक्षाकृत ज़्यादा तथा गहरे अनुभवों की चेतना लेकर, तथा अपने 'स्व' (स्वार्थ) और 'अहं' (अंतर्मुखता) को विसर्जित करके ही एक कामगर या कलाकार, कर्म या विचार, कृति या चीज़, जन्म लेती है। अगर कर्मी और कृती उत्पादन (प्रोडक्शन) या सृजन (क्रियेशन) में पुनः अपने घोंघे या बंद कमरे, अपनी कोठी या खुदगर्ज़ी के दायरे में बंध जाता है तो वह संस्थान-प्रतिष्ठान की आवश्यकताओं एवं संस्थानों का लाभांश भोगने वाला बनकर आत्मकेंद्रित या आत्मछली हो जाता है। ऐसे में उसका कर्मी या कृती छिन जाता है और वह छद्म तथा छल के द्वारा नये तथा सही मनुष्यों एवं विचारों का अभ्युत्थान रोकने वाले की भूमिका निबाहता है। वह धोखा या मिथक, फांतासी या भटकाऊ पोलेमिक्स का चक्र चला देता है। आंदोलनों में हज़ारों आदमी आते हैं किंतु कर्मी या कृती के रूप में कुछ अनजाने व्यक्ति उभर पड़ते हैं क्योंकि वे आंदोलनों के आदर्शों, या कारणों, शक्तियों और श्रेष्ठताओं के पुंज तथा भाजन होकर हज़ारों लोगों की संचित धुरी बनते हैं। किंतु संभवतः कभी आगे चलकर उनमें से कुछ बिक भी जाते हैं, भयभीत होकर भ्रम फैलाते हैं, स्वार्थी होकर छद्म करते हैं, और मोहभंग की स्थिति में छूट जाते हैं। अतः नये विचार और नये आदमी कालांतर में अपकर्ष (डिजेनेरेशन) को भी प्राप्त होते हैं अगर वे पुरानी संस्थाओं तथा पुराने आदमियों, यथास्थित समाज तथा परंपरावादी सत्ता की गोद में जाने-अनजाने बैठ जाएं।

इसलिए चाहिये यह कि मनुष्य के विचार और कर्म में एकता और संघर्ष निरंतर होता रहे; मनुष्य का रूपांतर बहुविध तथा निरंतर हो जो क्रमशः संपूर्ण रूपकान्वयन में गुणात्मक हो जाए। ईमानदारी सभी क्षेत्रों में होगी, विद्रोह सारे पूंजी-वादी समाज की सभी संस्थाओं एवं समस्त आवश्यकताओं से होगा। अतः अकेला और आतंकित, बेकार और मूढ़जाग्रत, अंतर्मुखी और विभ्रमित स्वार्थी मनुष्य न तो नया हो सकता है, और न ही नये विचारों के अभ्युदय का दिग्दर्शन कर सकता है।

संक्रमण वाले कालों तथा समाजिक संकटों के मौकों पर दंड और आतंक,

पतन और भोगविलास, स्वार्थ और शोषण का संहार-तांडव तथा प्रलय प्रमुखतः उभर आता है और, अस्थायी तौर पर ही सही, विचार तथा सामाजिक नियम उखड़-पुखड़ गये-से लगते हैं। सारे वातावरण में आत्मनिर्वासन का भोग चिपचिपा जाता है। किंतु आत्मनिर्वासन की चेतना लेकर कुछ व्यक्ति और अल्पसंख्यक समूह [कलाकार-दल या क्रांतिकारी] चुनौती स्वीकार करके तांडव और प्रलय के खिलाफ सृजन और क्रांति की शक्ति उत्पन्न करते हैं। आर्नल्ड टायन्बी उन्हें 'सर्जनात्मक व्यक्ति तथा अल्पसंख्यक' मानते हैं जो जनता के सामान्य स्तरों को अपने विचारों द्वारा खींच लेते हैं। वे तत्काल से 'प्रयाण करके' मंथन करते हैं और फिर संसार में 'वापस आकर' अपूर्व वेग से सृजन और निर्माण में जुट पड़ते हैं। किंतु टायन्बी यहां इतिहास के सामाजिक आधार की अवहेलना करते हैं और इस नियम को उपेक्षित कर देते हैं कि सर्जनात्मक व्यक्ति सामाजिक शक्तियों के संगम-बिंदु भी हैं।

विचार की डायलेक्टिक्स में यहां एक बिंदु यह भी उभरता है कि अप्रत्यक्ष अनुभव (अतीत का, विदेशों का, अन्य का) किस तरह विश्वसनीय हो सकता है। कालिदास का अनुभव, या गांधार देश के कुषाणों का अनुभव, या रूसी क्रांति का अनुभव, अथवा तुम्हारा अनुभव मेरे लिए किस तरह विश्वसनीय है ? उससे उपजा ज्ञान किस तरह प्रामाणिक है ?? यह सही है कि प्रामाणिक ज्ञान सीधे अनुभव से आविर्भूत होता है, किंतु यह भी सही है कि मेरा अप्रत्यक्ष ज्ञान अन्य लोगों का तो प्रत्यक्ष ज्ञान होगा ही। अतः अगर अप्रत्यक्ष ज्ञान हमारी आवश्यकता से संगति रखता है तथा बहिर्गत यथार्थता और ऐतिहासिक भौतिकवाद का वैज्ञानिक प्रतिबिंब पेश करता है, तो वह प्रकारांतर से सीधा अनुभव हो जाता है। अतः सभी प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से अविच्छिन्न होता है। प्रत्यक्ष अनुभव, तथा यथार्थता को बदलने वाले अमल में व्यक्तिगत सहकार को अस्वीकार करने वाला मत भौतिकवादी नहीं है। इसीलिए हम 'सर्वज्ञता' की धारणा को दंभ समझते हैं, अगर वह विविध अभ्यासों से निरंतर परिपक्व न हो।

किंतु कई विश्वकोशकारों या संग्राहक सर्जकों की मिसालें मिलती हैं जो मौलिक तथा विलक्षण के बजाय परंपरा-संग्राहक तथा संस्कृति-अभियंता रहे थे। उन्होंने एक ओर यथार्थता के पूर्ण ग्रहण की कोशिश की तो दूसरी ओर यथार्थता और चिंतन को सहवर्ती बनाने का संकल्प पेश किया। उनके ग्रंथों में एक ओर मानवीय ज्ञान के आंदोलन का विकास मिलता है, तो दूसरी ओर वैयक्तिक विचारों के अंतर्विरोध तथा प्रवर्तनादि भी। उनके कृतित्व में जो विचार उभरे हैं वे इतिहास और सामाजिक व्यवस्था के माध्यम से संस्कारित हुए हैं; उनमें बहिर्गत यथार्थता की पकड़ गहरी और अधिक गहरी होती गयी है। अंततोगत्वा उनके कृतित्व में उनके लोकपक्षी आधिकारिक वर्ग की संस्कृति की विचारधारा का ही प्रतिबिंब जगमगा उठा है। आधुनिक युग में केवल मार्क्स का कृतित्व ऐसा है। अतीत काल में तो ऐसे कई सर्जनात्मक व्यक्तित्व तथा सर्जक-समूह भरे पड़े हैं।

इटैली के रिनैसां के क्वाट्रोसेंटो-चित्रकारगण बुद्धिजीवियों की अपेक्षा कारीगर

थे। उन्होंने उस पर्यावरण में कला-साधना की, जिसमें शारीरिक श्रम को गुलामों के लिए सुरक्षित रखा गया था और फलतः चित्रकारों से भी घृणा की जाती थी। अतः उन्होंने जो निर्वसन मानवशरीर (बोटिचेली, माइकेल एंजिलो) रचा, वह क्लासिकी ग्रीक शिल्प से भिन्न था। भक्तिकाल के निर्गुण संत भी शूद्र कारीगर-वर्गों से आये थे। कबीर, धन्ना, पीपा, रैदास आदि ने भी जिस सहज भक्त-मनुष्य की प्रतिष्ठा की, वह विद्वान् ब्राह्मण कवियों की कल्पना से भिन्न है। ऐसे समूह एक ही **बीज-विचार** को चित्रकला, काव्य, नाट्य, आयुर्वेद, शिल्प आदि में लागू करके उसे अनेक माध्यमों द्वारा संशोधित-परिवर्तित करते हैं। प्राचीन काल की संस्कृति में भरतमुनि इसके दृष्टांत हैं।

संश्लिष्ट कला में विचार (भाव) एवं (कर्म अनुष्ठान) की द्वंद्वात्मक एकता करने वाले भारतीय कलारथियों की पंक्ति में हमें भरत और भर्तृहरि, क्षेमेंद्र और भोज, भट्टनायक और रुय्यक जैसे प्रतिपादक मिलते हैं जिन्होंने केवल नाट्य या व्याकरण, काव्यशास्त्र या वास्तुशास्त्र को ही केंद्र नहीं बनाया। भरत ने तो कलाओं का एक सौंदर्यतात्त्विक विश्वकोश ही रच डाला और उसे अनुष्ठान (यज्ञ, अभिनय) से प्रमाणित भी कर दिया; भर्तृहरि ने व्याकरण और श्रृंगार-रस का समायोजन किया; क्षेमेंद्र ने औचित्य-विचार और सौंदर्यतिलक के साथ-साथ लोक-धंधों पर भी विचार किया; भोज ने कला-विद्या के साथ-साथ वास्तुशास्त्र का भी समाहार किया; भट्टनायक ने साधारणीकरण के विचार को नाट्य के आगे काव्य पर भी लागू किया; रुय्यक ने अलंकारक्रीड़ा तथा सहृदयलीला को संग-संग उद्घाटित किया। किंतु उपयुक्त गुणधर्मों के बावजूद इन छहों सौंदर्यदार्शनिकों की पुंजीभूत ज्ञानराशि—सीधे तथा परोक्ष ज्ञान से उपजी होकर भी—सामंतीय विचारों से मंडित होकर युग की आधिकारिक विचारधारा में तिरोभूत हो जाती है। भरत यथेष्ट अपवाद हैं; किंतु शेष तो परंपराभंजक होकर भी अंततोगत्वा (अपने समृद्ध प्रत्यक्षीकृत ज्ञान के साथ अपने समय की यथार्थता को भ्रान्ति के घेरे में फेंकते-फेंकते) अपने सृजनात्मक विचारों को सामंतीय आदर्श वाले 'निर्विकल्प विचार' (ब्रह्म, पुरुष, सत्त्व आदि) में अमूर्त्तीकृत कर डालते हैं। अतः उनके महान् विचार उनकी ही पारलौकिक फांतासियों के मायाजाल में उलझ जाते हैं। आदर्शवादी विचारों की त्रासदी का यह स्वरूप सार्वभौम है। इसीलिए ज्ञान की समस्या को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से ही ग्रहण करना अपनी अनिवार्य बात है।

तो, सृजनात्मक व्यक्ति तथा सृजनात्मक समूहों में विचार की भूमिकाएं उपर्युक्त हैं।

अब सर्वहारा-वर्ग तथा जनसमूह में विचार की चुनौती उभरती है। यहां विचारों की एक व्यवस्था की संरचना होती है जिसे 'विचारधारा' (आइडियोलाजी) कहते हैं। अतः सर्वहारा-वर्ग तथा जनसमूह में विचारधारा की भूमिका अब समाज का रूपांतर तथा रूपकांतर कर देती है। यहां विचारपुंज एक सुपरिगठन (सुपर-स्ट्रक्चर) की विविधरूपेण संस्कृति के नाना स्वरूपों में लौ की तरह जगमगाते हैं।

उनके रूपांतर तथा कायाकल्प से नयी-नयी संभावनाएं तथा सफलताएं प्राप्त होती हैं। यहां विचार निर्णयप्रधान तथा निष्कर्षप्रधान होकर कर्मों एवं संघर्षों को पूरे वेग से उभारते हैं। यहां विचारों का माध्यम—एक व्यक्ति या एक वस्तु के बजाय—एक वर्ग तथा एक सामाजिक व्यवस्था हो जाती है। यहां शब्द-विचार शब्द-कर्म में भौतिकीकृत हो जाते हैं। यहां विचार आत्मनियमन, सामाजिक नियम, सामूहिक कर्म और सामाजिक आंदोलन से समर्थित होते हैं और, अनुक्रम में, उन सभी का संस्कार करते हैं। सारांश में, यहां विचार कर्मकों और प्रक्रियाओं के ज़रिये इतिहास की धुरी बन जाते हैं। यह इनकी सिद्धि है। विचार इतिहास-अंकुर तभी बनते हैं जब वे जीवन तथा अमल में सही और सच्चे और परिपूर्ण साबित होते रहें। और, ऐसे विचार ही, सृजनात्मक सामाजिक विकास में, **भौतिक शक्ति** बन जाते हैं क्योंकि सर्वहारा-वर्ग तथा जनसमूह उनका पूर्ण अंगीकार कर लेता है। इसका मतलब यह हुआ कि अब 'सुपरिगठन' पहल करके 'मूलाधार' को तब्दील कर सकता है। जब एक उन्नत मूलाधार (समाजवादी व्यवस्था) पर भी अतीत की एक पिछड़ी हुई संस्कृति एवं विचारधारा (सुपरिगठन) चढ़ी रहती है अर्थात् जब यथार्थता के मुकाबले चिंतन पिछड़ जाता है, तो नये क्रांतिकारी वर्ग की विचारधारा तथा जनता की संस्कृति की अगुआई होती है और सुपरिगठन भी रूपांतरित हो जाता है।

विचारधारा किसी एक संस्कृति-रूप की वैचारिकता न होकर समूचे सुपरिगठन के विभिन्न सांस्कृतिक रूपों का सामान्य चिंतन-विषय और विचारों का एक विश्वदृष्टिकोण है। इस तरह कला और नीतिशास्त्र, दर्शन और अर्थशास्त्र, राजनीति और कानून में एक ही विचारधारा विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

विचारधारा का चरित्र वर्गीय होता है। बहुधा अधिकारी वर्ग की विचारधारा युग की प्रमुख विचारधारा के रूप में प्रभावशाली होती है और कलाकृतियां, संविधान, धर्मशास्त्र आदि सभी प्रकट एवं प्रच्छन्न रूप से उसका ही प्रसार एवं संस्थापन करते हैं। इसी तरह मामूली कर्मी और कृती भी बहुधा अधिकारी वर्ग की विचारधारा के प्रति जागरूक होकर 'प्रतिबद्धता' अथवा, अचेतन बने रहकर, 'प्रवृत्त्यात्मकता' का ग्रहण करते हैं। कालिदास सामंतीय संस्कृति से जागरूकतया प्रतिबद्ध हैं तो तुलसी में अनजाने ही सामंतीय आदर्शों की प्रवृत्त्यात्मकता परिलक्षित होती चलती है। किंतु अपने वर्ग में ही रहकर कबीर जैसे विचारक-कवि उभरते हुए शोषितों की विचारधारा की प्रतिशक्ति उभारते हैं; अथवा स्वयं को वर्गावरोहित करके तोलसतोय किसानों में भी घुलते-मिलते हैं, अपने साबित अंतर्विरोधों के साथ।

इसीलिए मार्क्स और एंगेल्स ने अनुश्रुत विचारधारा को एक भ्रांति, किंतु एक आवश्यक भ्रांति, माना है क्योंकि इसका उद्भव उत्पादन के उस सामाजिक संगठन से होता है जो मनुष्य के लिए एक स्वाधीन तथा वस्तुगत कानूनों और ताकतों की एक अज्ञेय व्यवस्था प्रतीत होती है। यह सही है कि सामाजिक आधार का प्रतिबिंब होने के नाते विचारधारा सत्य की साझेदारी करती है। किंतु यह सत्य मिथ्या रूपों में अभिव्यंजित होता है। सत्ताधारी वर्ग के विचार ही शासक विचार

हो जाते हैं और सार्वभौम प्रामाणिकता का झूठा दावा करते हैं। इस दावे का आधार —सार्वभौम, अधिवर्गीय तथा सार्वजनीन मानवतावाद और सृजनात्मक—'मिथ्या चेतना' है क्योंकि विचारों का आर्थिक मूलाधार से असली संयोजन और, फलतः उनकी सीमाएं तथा निषेध भी चेतना में प्रवेश नहीं पाते। इसके अलावा विचारधारा में इतिहास का अनुभव भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित होता रहता है, परंपराओं, रूढ़ियों, संस्थाओं, रीति-रिवाजों, लोकतत्त्वों आदि के रूप में। उनमें भी मनुष्य की यातना और अभिलाषा, स्वप्न और यथार्थता संकलित हुई हैं। उनमें भी स्वतंत्रता, न्याय, सुख, सौंदर्य, शिवत्व के मूल्य झिलमिलाते हैं। इसलिए उनकी विचाराधारात्मक अभिव्यक्ति धर्म और दर्शन, कला और नीति, राजनीति और क़ानून आदि में होती है। इस तरह सामाजिक दशाओं को मनुष्य के श्रम तथा मनुष्य के विचार, दोनों से जोड़ने का महासूत्र विचारधारा है।

निष्कर्षतः विचारधाराएं **मिथ्या चेतनाएं** हैं। मार्क्सवादी दर्शन इस झूठेपन की चेतना से जाग्रत करता है। अतः झूठ और गलती सुधार ली जाती है। यह सुधार एक 'उच्चतर सत्य' के संदर्भ में ही हो सकता है। वह वैयक्तिक तथा तात्कालिक न होकर एक बहिर्मुखी ऐतिहासिक संदर्भ है। अतएव मार्क्सवाद 'विचारधारा' को जब **सही सामाजिक चेतना** के रूप में उन्मीलित करता है तब वह अनिवार्यतः भौतिक 'मूलाधार' में समाविष्ट हो जाती है (आदर्शवादी दृष्टिकोण इसे 'चैतन्य' में तिरोभूत करता है)। अतः विचारधारा मूलाधार-सापेक्ष है। यह एक महत्तम सूत्र है।

आर्थिक व्यवस्था (मूलाधार) का विरोध भी तो पहले विचारधारात्मक क्षेत्रों —कला, दर्शन और राजनीति—में ही सुगबुगाता है क्योंकि अनेक विचारधारात्मक क्षेत्र अपेक्षतया यथार्थता से क्रमशः दूर और दूरतर होते चलते हैं: क़ानून और संगीत, राजनीति और कला के बीच का अंतर इसे स्पष्ट करता है। अतः सही विचारधारात्मक विचार मानव मूल्यों को यथार्थता में रूपांतरित कर देते हैं। तब वे भौतिक शक्ति हो जाते हैं क्योंकि विचारधारा से यथार्थता में, दर्शन से क्रांतिकारी अमल में संक्रमण हो सकता है। यह यथार्थ और जीवंत संभावना है। अगर क्रांतिकारी वर्ग भौतिक हथियार के रूप में कुंठित हो जाते हैं (जैसा कि सामंतीय तथा समृद्ध देशों में होता है) तो विचारों का 'भौतिकीकरण' नहीं होता अर्थात् अंधी यथार्थता, बर्बर शक्तियों एवं आतंकित जगत से विक्षुब्ध होकर स्वतंत्रता, विवेक, सौंदर्य, न्याय, नीति आदि की धारणाएं पुनः मात्र दार्शनिक चिंता बन जाती हैं और पुनः मानवीय विमुक्ति तथा मनुष्य का सारत्व केवल चिंतन में अनुभूत किया जाने लगता है क्योंकि कर्म की कसौटी लुप्त हो जाती है। इसके उपरांत दर्शन पुनः सामाजिक अमल की चुनौती स्वीकार करके, उत्पीड़क यथार्थता का विरोध करके, सामाजिक परिवर्तन की पहल करता है। इस तरह "बहुधा एक सही विचार तभी प्राप्त किया जा सकता है जब भौतिक पदार्थ से चेतना की ओर, तथा फिर भौतिक पदार्थ की ओर उन्मुख होने वाली प्रक्रिया को कई बार दुहराया जाए; अर्थात् अमल से ज्ञान की ओर, तथा फिर अमल की ओर मुखातिब हुआ जाए। ज्ञान की मार्क्सवादी थ्योरी,

ज्ञान की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी थ्योरी ऐसी ही है।"[1] (माओ) यहां शब्दविचार शब्दार्थं को लांघ कर शब्दास्त्र हो जाते हैं। यहां एक दूसरी ही सोशियोलिंग्विस्टिक्स की शुरुआत होती है जो भाषा-व्यवस्थाओं तथा उनको दैनिक व्यवहार में लागू करने के बीच के संबंधों को खोजती है।

इस तरह नये मनुष्य के **विमुक्त मनुष्य** बनने पर सही विचार आते हैं, और **सही विचार** इतिहासनिर्मात्री जनता के बीच में भौतिक शक्ति अर्थात् उसकी **विचार-धारा** बन जाते हैं जो मनुष्य का रूपांतरण तथा समाज का परिवर्तन करने की शक्ति रखते हैं।

(४) नया मनुष्य और नयी सामाजिक संस्थाएं

हम नये मनुष्य और विमुक्त मनुष्य को समानधर्मा बता चुके हैं। हम आत्मनिर्वासन की सृजनात्मक तथा दासतापरक, दोनों अवस्थाएं भी निर्दशित कर चुके हैं। हम विचारधारा और सामाजिक वर्ग के रिश्ते भी बूझ चुके हैं। इस तरह एक 'विमुक्त व्यक्ति' के सही **विचार** तथा एक संघर्षशील वर्ग या 'जनता' की सही **विचारधारा** जब एकतान हो जाती है तब रिनैसां और क्रांति का, संस्कृति और क्रांति का, क्रांति और नीति का अभ्युत्थान होता है।

आधुनिक (औद्योगिक) युग की सबसे बड़ी समस्या यही है कि इंसान किस तरह मशीन के साथ तथा किस तरह आपस में क्रमशः उत्पादन-संबंध और सामाजिक संबंध कायम करें कि दोनों क्षेत्रों में आत्मनिर्वासन नहीं हो और उन्हें **खुशी** तथा **जीवन की सार्थकता** प्राप्त हो। महत्तम प्रश्न यही है कि किस तरह मनुष्य की तात्त्विक शक्तियों तथा उसके बहुआयामी संवर्धन की क्षमता का उन्मेष हो, अर्थात् किस तरह एक निष्क्रिय तथा अविवेकी जन(-समूह) को (आत्म-)निर्वासन की दशा से रूपांतरित करके विमुक्त और सृजनात्मक बनाया जाए!

मानव-जीवन के संदर्भ में हम इस प्रश्न को मूलतः ले चुके हैं। अब **सामाजिक संस्थाओं** के संदर्भ में विचारों की भूमिका को परखेंगे।

एडम स्मिथ और कीन्स और रोस्टोव तक की परंपरा ने पूंजीवाद का एक आदर्श प्रारूप (माडल) पेश किया है जिसमें वैज्ञानिक-तकनालॉजिकल क्रांति के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवादी-प्रतियोगिताधर्मी पूंजीवाद तथा राज्य-कल्याणकारी एकाधिकारी पूंजीवाद का संगम है। इस मॉडल ने अपेक्षाकृत ज़्यादा लोगों के जीवनीय स्तर को ऊंचा उठाया है; उत्पादक घटकों का निपुणतम उपयोग किया है; उपभोक्ताओं की सारी मांगों की पूर्ति के लिए माल पैदा किया है तथा आर्थिक गतिविधि और तकनीकी उन्नति भी प्राप्त की है। किंतु इस मॉडल ने कल्याणकारी राज्य को युद्धकारी राज्य में तथा राष्ट्रीय उत्पादन के संवर्धक पूंजीवाद को उपनिवेश-लुटेरे साम्राज्य-वाद में भी बदला और विकसित किया है। ये पूंजीवाद के असंतुलित विकास की

१. दे०, 'सही विचार कहां से आते हैं?'

सर्वोच्च दशाएं हैं जहां स्वदेश में केवल मुनाफे का अभिप्रेत तथा उपनिवेश में राष्ट्रीय उत्पीड़न और राष्ट्रीय लूट का प्रयोजन होता है। अतः मुनाफे (शोषण) और सुदक्षता (प्रतियोगिता) पर आधारित इस व्यवस्था के दर्शन में मनुष्य साध्य न होकर साधन है; आर्थिक वृद्धि ही असली लक्ष्य है न कि मानवीय विकास। अतः इस व्यवस्था में मनुष्य की समस्या, उसके विकास और विमुक्ति की समस्या को समझने के लिए हमें सामूहिक संचार (मास-कम्युनिकेशन) तथा सामूहिक दीक्षा के भौतिक एवं विचार-धारात्मक अवगुंठन को चीरना होगा।

हर्बर्ट मार्क्यूस के अनुसार इस व्यवस्था की संस्थाएं इतना दमन करती हैं कि वह मनोविज्ञान और सामाजिक कर्मों तक की गहराइयों में धंस गया है। इसी तरह इस व्यवस्था की आवश्यकताएं और उनकी संतुष्टियां ऐसी हैं कि उन्होंने एक दमन-कारी समाज पैदा किया है जिसमें केवल भौतिक प्रोत्साहन मनुष्य को स्वार्थी बनाता है, केवल लाभ शोषक बनाता है, केवल प्रतियोगिता अमानवीय बनाती है, केवल उत्पा-दन भोग्यपशु बनाता है। अथाह दरिद्रता और अपार ऐश्वर्य की दशा में मानसिक विचारों तथा उससे ज़्यादा सौंदर्यतात्त्विक बोधकता पर असर पड़ता है। इस दशा में भी दर्शन और कला या तो गुलामी के अथवा विमुक्ति के साधन के रूप अनिवार्य होते हैं क्योंकि इनका सीधा रिश्ता मानवीय संवेदना तथा बोधकता से है। अतः हमारा प्रयाणबिंदु इस दमनकारी व्यवस्था की संस्थाओं और आवश्यकताओं से विमुक्ति का है अर्थात् हम इस व्यवस्था की संस्थाओं तथा दमन की प्रत्यक्ष-परोक्ष पद्धतियों का उन्मूलन करें।

हम यह जानते हैं कि एक समृद्ध-संपन्न (एफ्लुएंट) समाज का मॉडल अमेरिका है जहां एक ओर आवश्यकताओं की संतुष्टि है तो दूसरी ओर स्वतंत्रता का विनाश; एक ओर उत्पादन (लूट) है तो दूसरी ओर विनाश (युद्ध); एक ओर कल्याणकारी राज्य का दावा तो दूसरी ओर युद्धकारी राज्य का प्रमाण। अतः यहां संस्थाएं और आवश्यकताएं, दोनों ही पूंजीवादी मुनाफाखोरी तथा शोषण के शासन में हैं।

अतः मार्क्यूस कहते हैं कि मानवीय संवेदना (सेंसिटिविटी) और बोधकता (सेंसिबिलिटी) की विमुक्ति के लिए लाजिमी यह है कि हम इस उत्पीड़क समाज की पुरानी आवश्यकताओं तथा तृप्तियों का उन्मूलन करें।

ऐसे उन्मूलन के बाद नयी आवश्यकताएं तथा संतुष्टियां उभरेंगी। नयी आव-श्यकताएं पूंजीवादी समाज की दमनकारी तथा आक्रमणकारी आवश्यकताओं से स्वतंत्र होंगी। नयी संतुष्टियां भी दमन की प्रणालियों तथा संस्थाओं का उन्मूलन करेंगी, अर्थात् गुलामी से विमुक्त कराएंगी, अर्थात् एक नया मनोविज्ञान और सौंदर्यबोध उद्‌बुद्ध करेंगी।

निश्चित रूप से हमारी नयी संतुष्टियां ऐसी होंगी जो केवल चेतना को ही नहीं, बल्कि अवचेतन को भी दमन (भय) और स्वार्थ (लोभ) से विमुक्त करेंगी।

निश्चित रूप से हमारी नयी संतुष्टियां उस मनोविज्ञान का तिरस्कार करेंगी

जो दमन और अविवेक (साइकियाट्री और साइकोएनालिसिस) की धारणाओं के द्वारा व्यवस्था में उत्पीड़न का साधक है। हमारी नयी संतुष्टियां उस सौंदर्यबोध का भी विलयन कर देंगी जो आत्मानंद, समाधि, क्रीड़ा, अलौकिकता, विलक्षण वैयक्तिकता आदि पर आधारित होगा।

सिग्मंड फ़्रायड (१८५६-१९३९) के समय में प्रमस्तिष्कीय (सेरिब्रल) स्नायु-मंडल का शरीरशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त नहीं था। अतः उन्होंने 'अवचेतन' के बीज-विचार के इर्दगिर्द पुरानी ग्रीक मिथकों तथा समकालीन अमानवीय-क्षयग्रस्त यूरोपीय भोगवाद के दोहरे आधार पर एकांगी आदर्श व प्रादर्श की संपूर्ण मनोगाथा गढ़ डाली। सामाजिक उत्पीड़न के बजाय कुंठा की, व्यवस्था के दमन के बजाय अवचेतन की, शोषण और आतंक की सामाजिक विकृति के बजाय दो मूलवृत्तियों (इंस्टिंक्ट्स) की शाश्वत रचना करके फ़्रायड ने सेक्स और स्व (इरोस) तथा शोषण और विनष्टता (थैन्टास) को, अर्थात् अविवेकी शक्ति (इदम्) तथा दमनकारी शक्ति (अहं) को, अर्थात् सुखकामी सिद्धांत और यथार्थता नियोजित सिद्धांत को एक शाश्वत नियति का रूप दे दिया। दूसरे, उन्होंने **दमन और अवचेतन** को शाश्वत मानवीय प्रकृति तथा सभ्यता का चरित्र घोषित कर दिया। सामाजिक संघर्ष के बजाय 'इरोस' का अंतर्युद्ध ही केंद्रस्थ हो गया। यह युद्ध तो जैविक है; ऐतिहासिक और सामाजिक नहीं। आगे थैंटास अर्थात् युद्ध के विरुद्ध इरोस की लड़ाई को प्रतिबद्ध करके उन्होंने मानवीय चेतना का भौतिक आधार तथा सांस्कृतिक नियोजन छिन्न-भिन्न कर दिया। इस तरह फ़्रायड ने सभ्यता (इरोस) और बर्बरता (थैंटास) की ही एकता कायम कर दी—उत्पादन तथा विध्वंस की एकता! फ़्रायड ने अविवेकी को केंद्र में संस्थापित कर दिया। फ़्रायड ने मनुष्य की विमुक्ति की उन शक्तियों का संकेत तक नहीं किया जो व्यवस्था के अंतर्गत दमन के सातत्य को चीरने के लिए अनिवार्यतः उभरती हैं। फ़्रायड ने आदिम आवश्यकताओं की स्वतंत्र संतुष्टि को ही सभ्यता का शाश्वत ध्येय माना। इस तरह फ़्रायड का मनोविज्ञान इस दमनकारी पूंजीवादी व्यवस्था के गौरवान्वयन का प्रच्छन्न साधन है जो मनुष्य की अकेली मनोहत्या करता है और सभ्यता को बर्बरता का पर्याय समझता है।

इसलिए निश्चित रूप से मानवीय चेतना की विमुक्ति एक अकेले व्यक्ति की निजी मनोसौंदर्यात्मक चेष्टा कतई नहीं है। यह तो समूचे मानवीय अस्तित्व तथा पर्यावरण का रूपांतर करने वाली एक शक्ति है जिसे उन्मुक्त किया जा सकता है। यह रूपांतर दमनकारी पूंजीवादी व्यवस्था या अविकसित देश में केवल कुछ दशाओं को सुधार और राहत, सुविधाएं और भत्ते आदि के द्वारा बदलने से नहीं होगा, बल्कि पूरे समाज को आमूलचूल बदलने से ही होगा। यह सब कुछ क्रांतिकारी विचारों तथा उसकी भौतिक शक्ति अर्थात् संघर्षशील वर्गों के द्वारा ही हो सकता है; और हुआ है। अतएव विचार (अवचेतन नहीं) का गुणात्मक विकास विमुक्ति की डायलेक्टिक्स भी है: सामाजिक क्रांति और मानवीय विमुक्ति की सांझी डायलेक्टिक्स! क्यूबा और वियतनाम जैसे छोटे देशों, तथा 'गण लोकतंत्र चीन' जैसे विशाल देशों

में यह यूतोपिया यथार्थ एवं वास्तविक हो गई है' (अलबर्टो मोराविया)। अतः हम भी इन्हें प्रामाणिक तथा विश्वसनीय आधार बना सकते हैं।

इन समाजवादी देशों में **प्रगति** तथा **आर्थिक संवृद्धि** का एक दूसरा मॉडल है क्योंकि उसमें विचारों की रूपांतरकारी भौतिक शक्ति, तथा आत्मनिर्वासन से विमुक्त मनुष्य, ये दो मूलबिंदु हैं।

इस माडल के अंतर्गत निजी संपत्ति का सामाजिकीकरण, तथा प्रतियोगिता के बजाय सामूहिक सहकारिता, ये दोनों नींव हैं। इस मॉडल से पूंजीवादी असंतुलित विकास न होकर एक ऐसा विकास हुआ है जहां शारीरिक और मानसिक श्रम, शहर और देहात, तकनालॉजी और कला, विलास और भुखमरी के बीच के शत्रु-अंतर्विरोध मिट रहे हैं। इस मॉडल में श्रम के विभाजन (विशेषज्ञीकरण) के बजाय श्रम के ऐकीकरण (सामान्य योग्यता) को, तथा राष्ट्रीय आउटपुट के बजाय मनुष्य के उन्मेष को लक्ष्य बनाया गया है।

इस मॉडल में निजी मुनाफे के प्रयोजन के बजाय **जरूरत** की सहजता की, तथा भौतिक प्रोत्साहन के बजाय **नैतिक प्रोत्साहन** (मॉरेल इन्सेंटिव) की विकासमान प्रेरणाएं प्रबुद्ध रहती हैं। अतएव जिन्स के बजाय मनुष्य को प्रमुखता मिलती है। चीन, अंगोला और क्यूबा में भी राष्ट्र का लक्ष्य जनता के भौतिक कल्याण के स्तर की उन्नति है किंतु यह भी स्वीकृत किया गया है कि अगर **प्रत्येक** आदमी **एकसाथ** उन्नत नहीं होता, अगर **कोई भी** आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अकेले पिछड़ जाता है, तब यह विकास और वृद्धि सार्थक नहीं है। अतः प्रतियोगिता और शोषण से उठे हुए कुछ सुदक्ष (या एफ़ीशियेंट) टैकनोक्रेट, या धुरंधर विद्वान, अथवा श्रेष्ठ समूह (एलीट) विकास को ऊपर से नीचे नहीं फैलाते; बल्कि नीचे की विशाल जनता के सभी मनुष्य तथा सबसे ज़्यादा अनगढ़ आदमी समाजवादी अर्थदर्शन के प्रतिपाद्य हैं। इसीलिए इस मॉडल में **विचारों के रूपांतरण** अर्थात् **नये मनुष्य** के निर्माण को आर्थिक-सांस्कृतिक विकास की मूलधुरी स्वीकारा गया है। अतः इस मॉडल में मनुष्य के रूपांतर का लक्ष्य सर्वोच्च है, यद्यपि इससे अस्थायी तौर पर आर्थिक वृद्धि में रुकावट आती है तथापि श्रम के विभाजन के शोषणकारी राक्षस और विशेषज्ञता के स्वार्थी मिथ्या देवता हमेशा के लिए कूच कर जाते हैं।

मार्क्सीय द्वंद्वन्याय के अनुसार केवल विविधधर्मा संघर्ष के द्वारा ही प्रगति होती है। संघर्षशील प्रगति ही उत्साह, शक्ति और सृजनात्मकता के सप्तसिंधुओं को निर्बंध उद्वेलित करती है। पूंजीवादी विकास-दर्शन स्थायित्व, वर्गीय हितों के बीच समझौतों तथा कानून-व्यवस्था के माहौल में प्रगति की अपेक्षा रखता है। किंतु इस मॉडल में जनता का सक्रियात्मक सहकार्य ही उन्हें संज्ञान देता है कि वे अपनी ऊर्जा को सृजनात्मक तथा उत्पादक ढंग से व्यवहृत कर सकें। इस तरह **संपूर्ण** विकास की प्रक्रिया **में प्रत्येक** आवेष्ठित होता है, **एक भी** विकासक्रम में पीछे नहीं छूटता, तथा असंतुलित विकास नहीं होता। इस तरह सचमुच विमुक्त मनुष्य का अभ्युदय होता है। ऐसा मनुष्य और समाज उपभोक्ता (कंजम्पशन) तथा मंडी (मार्केट) के पतनचक्र से छूट जाते

हैं। ऐसा माडल दरिद्रता और पवित्रता के वृत्त में रहकर भी मनुष्य को सहज और स्वतंत्र बनाता है क्योंकि इसमें अति उत्पादन तथा अति जनसंख्या के पाटों में पिसती गरीबी, दैन्यता, अकाल, युद्ध, शोषण और उत्पीड़न नहीं होता। ऐसा मनुष्य मात्र उत्पादक और उपभोक्ता नहीं है जो साम्राज्यवादी वृत्त में युद्ध तथा शोषण के लिए मनुष्यों का भी उत्पादन तथा उपभोग करता है। अतः इस मॉडल की संरचना में **आवश्यकता** ही मनुष्य की सहज दशा है और **सभी** की आवश्यकता की पूर्ति एक पवित्र कृत्य है चाहे उसमें गरीबी भी रहे। किंतु आवश्यकता से परे अर्थात् मानवीयता से परे **इफ़रात** है (शोषण और भोग है)। यह इफ़रात ही अमानवीय है। अतः साधारण लोग विचारों की असाधारण शक्ति से रूपांतरित होकर दौलत के अवमानवीयकरण के मोहक भोग को समाप्त कर देते हैं। यह साधारण मनुष्य दौलत की अमानवीयता तथा पूंजीवादी व्यवस्था के आतंककारी दमन से विमुक्त है। अतः यह नयी आवश्यकताओं तथा नयी संतुष्टियों से निर्मित विमुक्त मनुष्य है!! और यह विचारों से रूपांतरित नया मनुष्य भी है!!! यह नया मनुष्य अमूर्त (ईश्वरांश) **आत्मन्** नहीं है; और न ही एक अनंत **सहृदय** है!!

(५) कला और तकनालॉजी के संलयन में विचारों की छलांग

नया मनुष्य नयी आवश्यकताओं, नयी तृप्तियों या संतुष्टियों वाला है। उसकी संवेदना और बोधकता भी दमन तथा असंतुलन से विमुक्त हैं। अतः उसका मनोविज्ञान और सौंदर्य-दर्शन उसकी तथा उसके समाज की स्वतंत्रता और संपूर्णता के साधक हैं। वे भी नितांत भिन्न तथा नये हैं।

यह नया मनुष्य संत्रासकारी भय और व्यक्ति-केंद्रित स्वार्थ से, उपभोग और मंडी के विनिमय से, पूंजीवादी व्यवस्था की संस्थाओं तथा आवश्यकताओं से, श्रम-विभाजन और आत्मनिर्वासन से, तथा आदर्शवादी और यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से आज़ाद हो चुका है। **इस मनुष्य की निःस्वार्थ आवश्यकता ही नैतिकता है, विज्ञान है, कला है और स्वतंत्रता है!!** यही हमारा महत्तम सूत्र है। अब हम इसकी व्याख्या कर सकते हैं।

उन देशों में समाज-निर्माण तथा क्रांतिकारी रूपांतरण की ऐसी अवस्था में ही —अभ्यास एवं संघर्ष के द्वारा—विमुक्त मनुष्य का अभ्युदय हुआ है। केवल ऐसी उभयात्मक अवस्था में ही **कार्य** (वर्क) एक नयी द्वंद्वात्मक एकता स्थापित करता है।

अंतर्मुखी अभिव्यंजना वाले कार्य (सृजन), नैतिक प्रोत्साहन वाले कार्य (विश्वासपूर्ण निर्णय) तथा भौतिक प्रोत्साहन वाले कार्य (उत्पादन)—इन तीनों प्रकारों में मनुष्य की चरितार्थता भिन्न-भिन्न है। इस भिन्नता को लेकर ही कला-रचना और औद्योगिक उत्पादन, नैतिक बलिदान और अमानवीय शोषण के बीच अंतर तथा विरोध समझ में आता है। पाशविक **आवश्यकता** तथा जीवनाधारक **विवशता** के रूप में कार्य शोषण और आतंक का जनक है। यह कार्य श्रम-शक्ति तथा

सृजन-ऊर्जा में बिखर जाता है, शारीरिक श्रम तथा मानसिक श्रम के बीच विरोध उत्पन्न करता है, तथा मनुष्य को एक विनिमय की जिन्स में और वस्तु को निर्माता से स्वतंत्र एक माल के रूप में बदलकर उन्हें पृथक् कर देता है। ऐसा कार्य उत्साह और उल्लास से हीन एक यांत्रिक आवृत्ति मात्र है जो न तो मानवीय चेतना को विकसित करता है, न नैतिक दायित्व को उद्‌बुद्ध करता है; और न ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सृजनात्मक विकास करता है। ऐसा कार्य एक दमनकारी व्यवस्था में असंतुलित प्रगति एवं आर्थिक वृद्धि कर सकता है : अस्थायी तौर पर। अतः चे के अनुसार पूंजीवादी संसार में कार्य एक दुर्भाग्यपूर्ण **आवश्यकता** तथा दुःखद **कर्त्तव्य** अर्थात् एक प्रेतग्रस्तता (ऑब्सेशन) की तरह है।

कर्मी (कृती तथा कामगर) और कृति (कला तथा उत्पादन) की एकता की स्थिति में कार्य की प्रकृति में रूपकांतरण (मेटामार्फोसिस) हो जाएगा। इसके साथ ही नयी आवश्यकता तथा संतुष्टि ऐसी चेतना की विभूति उत्पन्न करेगी जिसमें कार्य एक सृजनात्मक कृत्य हो जाए। यह परिवेश कार्य को सृजनात्मक तथा नया बनाता है। चे ग्वेवारा के अनुसार ऐसा कार्य मनुष्य की सर्वोच्च **गरिमा**, मनुष्य का सामाजिक **कर्त्तव्य** तथा सच्चा मानवीय **आनंद** भी होगा। अतएव मानवीय गरिमा, सामाजिक कर्त्तव्य तथा मानवीय आनंद के गुणधर्मों वाला त्रिमुखी कार्य ही एक सृजनात्मक कृत्य होगा जिसमें श्रम एवं सृजन, उपयोगिता और लालित्य, क्रीड़ा और कला का उत्तरोत्तर समन्वय होता चलेगा।

कला में कार्य का औसत चरित्र स्वैच्छिक होता है। नैतिक कर्त्तव्य से युक्त अर्थरचना में भी कार्य का चरित्र ऐच्छिक होता है। अत: ऐच्छिक कार्य ही श्रम (उत्पादन) एवं सृजन (कला) का अंतर दूर करता है। अत: सृजन एवं उत्पादन—कला और उद्योग—**ऐच्छिक कार्य** के द्वारा यथासंभव एकता स्थापित करते हैं।

ऐच्छिक कार्य विचारों की रूपांतरकारी शक्ति द्वारा ही अनुप्राणित हो सकता है क्योंकि यह बलिदान का श्रम तथा सुंदरता का संघर्ष भी है। अत: ऐच्छिक कार्य की निरंतरता तभी कायम रह सकती है जबकि विचारों की भौतिक शक्ति समाज का कायाकल्प करती चले।

इस दूसरी शर्त के घेरे में कार्य एक दूसरी दशा को प्राप्त करता है : वह **स्वतंत्र कार्य** हो जाता है। ऐसे कार्य की दशा में मनुष्य की जिन्स (कमोडिटी) वाली हैसियत खत्म हो जाती है, तथा नयी समाजवादी व्यवस्था में वह स्वतंत्र कार्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्य का एक नियतांश स्वीकार करता है। इस तरह रूपांतरकारी विचारों से ऐच्छिक एवं स्वतंत्र कार्य का उन्मेष होता है जो पाशविक आवश्यकता तथा अस्तित्व की विवशता का अतिक्रमण करके श्रम एवं क्रीड़ा एवं कला एवं तकनालॉजी के चतुरंग का संगम कर देता है।

इस तरह नयी चेतना के उन्मेषक **विचार** और स्वतंत्र **कार्य** के द्वारा निस्संदेह एक ऐसी **'नयी यथार्थता'** का आविर्भाव हो सकता है जिसे हम सौंदर्यतात्त्विक-तकनालॉजिक सातत्य के द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। इस यथार्थता के अंतर्गत (विचारों

के संदर्भ में) समाज की रचना दोहरी है : (i) एक तो उत्पादक शक्तियों के द्वारा तथा (ii) दूसरी सृजनात्मक कल्पना (या सर्जक विचार) के द्वारा ! यह एक यथार्थ यूतोपिया है जिसके अंतर्गत कार्य और क्रीड़ा, आवश्यकता और स्वतंत्रता, तकनीक और कला की समलक्षणता कायम हो सकती है। निस्संदेह यहां समाजवादी और पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्थाओं की समलक्षणता (कान्वर्जेंस) नहीं है बल्कि यह नये समाज तथा नये संबंधों के संदर्भ से जुड़ी हुई एक द्वंद्वात्मक अस्मिता (डायलेक्टिकल आइडेंटिटी) है जिसमें उपर्युक्त अंतर्वर्गों (केटेगरीज़) का एक गुणात्मक निषेध (क्वालिटेटिव निगेशन) भी होता है। हम इसे स्पष्ट करना अनिवार्य समझते हैं, अन्यथा यह स्थापना हर्बर्ट मार्क्यूस और आस्कर लैंग की विचारधारात्मक प्रयाण की दशा से, अथवा रिचार्ड एलेन और रेमंड आरोन की उभय समाज-व्यवस्थाओं की समलक्षणता वाले सिद्धांत से भी जोड़ी जा सकती है। और यह अनुचित है।

विचार-संदर्भ में अब अंतिम प्रश्न **तकनालॉजी** तथा **मानविकी** के संबंधों का है।

मार्क्सवाद के प्रवक्ताओं मार्क्स तथा एंगेल्स ने इस विचार का विरोध किया है कि मनुष्य **संस्कृति** के परिणामों का परित्याग करके प्रकृति में प्रत्यागमन करे। आदिम मानवसमाजों में कला और विज्ञान और जादू में समलक्षणता थी किंतु कालांतर में जादू से ही विज्ञान का उद्‌भव हुआ।

इतिहास-क्रम में मनुष्य एवं समाज ने अपने श्रम तथा उत्पादन-साधनों से प्रकृति को अपनाया है। **विज्ञान** तथा **उद्योग** इस उपक्रम में ही सामाजिक उत्पाद्य हैं और उनकी यह उभयभाविता ही इन्हें परस्पर विरोधी नहीं बनाती। लेकिन **विज्ञान और कला** के बीच विरोध की ऐसी स्थिति व्युत्पन्न होती है। और, उपर्युक्त चारों में से उद्योग को कला एवं विज्ञान से संस्कारित तथा संशोधित करने की व्यापक विधि तकनालॉजी है। ऐसी स्थिति पूंजीवाद-पूर्व युग में नहीं थी। किंतु पूंजीवादी ऐलियेनेशन के फलस्वरूप वैज्ञानिक संस्कृति तथा मानविकी संस्कृति के बीच खाई बढ़ गई। एक मानवीय समाज (मार्क्स) या एक स्वस्थचित्त समाज (एरिक फ्रॉम) में कला एवं विज्ञान के बीच विभाजन की पशुता कायम नहीं रह सकती।

पूंजीवादी समाज में विज्ञान और तकनालॉजी उत्पादन और उपभोग के पूंजीवादी विशाल साधन हो जाते हैं किंतु साथ-साथ मानव को निर्वासित (एलियेनेट) भी कर देते हैं। इस प्रक्रिया में **कला** का विघटन **आत्मनिर्वासन की कला** में हो जाता है। इसलिए आज कला आत्मनिर्वासन को समाप्त करने का और वैचारिक रूपांतर का सर्वाधिक मानवीय साधन भी हो सकती है। कला की इस क्रांतिकारी संभावना पर ज्योर्जी लुकाक्स ने अपने सौंदर्यबोधशास्त्र की तथा बार्टोल्ट ब्रेश्ट ने अपने महाकाव्यात्मक रंगनाटक की धारणा निर्मित की है। समाजवादी देशों में 'बैले' तथा 'आपेरा', और रंगमंच की सफलता इसी का द्योतक है।

कारीगरी, सामूहिक निर्माण, अभ्यास और संतुलन से परिपक्व कलाकृति; या वास्तु तथा रंगनाटक जैसी सामूहिक कलाएं आज उद्योग की तथा व्यापक परिधि में

समा गई हैं। अत: इनमें तकनालॉजी का उपयोग हो सकता है; इनमें विज्ञान और कला का क्रांत संयोग हो सकता है। वास्तव में तकनालॉजी तो एक प्रविधि है जो सिद्धांत को अमली समस्याओं से जोड़ कर करने या गढ़ने में मानव की क्षमता को बढ़ाती है। इस तरह कलाकार के **उपकरण** (छेनी, कूची, रंग, स्याही आदि) तत्कालीन वैज्ञानिक **ज्ञान** की देन हैं। अजंता के भित्तिचित्रों के अकार्बनिक रंग तथा राजपूत कलम के मसालेदार रंग विभिन्न शैलियों को जन्म देते हैं। अत: एक नये समाज में तकनालॉजी मानव-जाति को विमुक्त कर सकती है (निकोलस शोफ्फर)। तकनालॉजी द्वारा प्रदत्त नयी विधियां तथा सामग्रियां कला के वृत्त में—कम-से-कम नये रूपों की उद्भावना कर रही हैं—रेडियो, टेलीविज़न, फिल्म, परिक्रामी रंगमंच आदि ऐसी ही विराट् आधुनिक कलाएं हैं। इस तरह वह एक ही विचारधारात्मक चेतना है जो एक ओर तो दार्शनिकों के जहन में दार्शनिक व्यवस्थाएं बुनती है तो दूसरी ओर मज़दूरों के हाथों से दुर्गापुर का इस्पात मिल और चंडीगढ़ बनवाती है। "भौतिकीकृत होने के लिए विचारों को मनुष्यों की सहायता (उपकरण) की ज़रूरत होती है जिससे वे औजारों, मानवीय छवियों, बिंबों, प्रतीकों, भवनों आदि के द्वारा कार्य करते हैं। इन सबको अधिकाधिक विशद भौतिक सामग्री की आवश्यकता होती है ताकि (इनके द्वारा) वर्द्धमान जटिलता और सर्वांगीणता की अभिव्यंजना हो सके।"[१]

इस तरह तकनालॉजी, या प्रणाली, या प्रक्रिया एक विचार को कई सांस्कृतिक रूपों अथवा कई कलात्मक शैलियों में प्रस्तुत कर सकती है। वात्स्यायन का कामसूत्र, सिद्धों की महामुद्रा-साधना तथा खजुराहो के मंदिरों में उत्कीर्ण मिथुन-दल मध्यकालीन 'काम' संबंधी विचार के ही विभिन्न रूप हैं। किंतु मूल्यचक्र में संभवत: एक समान महत्त्व के होकर भी खजुराहो के शिल्पलोक और 'गीतगोविंद' के भावलोक के पीछे कार्य, अभ्यास और नियोजन के बीच आकाश-पाताल का अंतर है। अत: माध्यमों के भेद से विचार कमोबेश संश्लिष्ट और सर्वांगीण, व्यापक और गहरे, उदात्त और लघु, मूर्त और अमूर्त आदि भी होते हैं। प्रत्येक अनुकूल माध्यम सार्थक को बचा रखता है तथा नवीनता का अन्वेषण करता है। इसलिए विचार की विराटता और प्रभावकता के लिए **माध्यम** तथा **पद्धति** की संयुक्त भूमिका ही सर्वधर्मा है। सार्त्र ने **पद्धति की समस्या** पर गहरा चिंतन किया है। काव्य की अपेक्षा राजनीति में रूपान्वित हुआ, अथवा आयुर्वेद की अपेक्षा वास्तुशास्त्र में भौतिकीकृत हुआ विचार विभिन्न माध्यमों के अंदरूनी अंतर्विरोधों का भी उद्घाटन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ओर तो माध्यमों के भेद से विचार में भी गुणात्मक परिवर्तन आता है, तो दूसरी ओर सुपरिगठन के विभिन्न विचारधारात्मक रूपों के बीच भी अंतर्विरोध होते हैं (राजनीति और कला, कला और विज्ञान, नैतिकता और कानून, धर्म और अर्थतत्त्व के बीच)।

एक महान् व्यक्ति जैसे शहीद भगतसिंह के अग्रगामी विचार की झकझोरने

१. लेवी ममफोर्ड : 'दि कंडीशन आफ़ मैन', पृ० ७१, सेकर एंड वारबर्ग १९६३।

वाली शक्ति, तथा रूसी क्रांति की उथल-पुथल मचा देने वाली शक्ति के बीच भी गुणात्मक स्तर हैं। विचारशब्द की प्रतिबद्धता भी होती है। इसीलिए मार्क्स के शब्द और गांधी के शब्द के संवाहकों में वैयक्तिक तथा वर्गीय दूरियां हैं।

अगर एक ही विचार अनेक समजातीय माध्यमों (राजनीति और अर्थशास्त्र, दर्शन और कला) को एक साथ चुने तो उसका रूपकान्वयन पुंजीभूत होता है तथा विचार को अधिक प्रामाणिक, निर्णायक तथा परिवर्तनकारी बना देता है। एक संश्लिष्ट यथार्थता की समझ को खोलने वाला ऐसा विचार विचारधारा को तेज़ी से प्रवाहित करता है।

एक दूसरी मिसाल शब्द की लें।

वैयाकरणों से परे भरतमुनि ने भी शब्द की प्रबल लड़ाई लड़ी है। उन्होंने शब्द को अभिनय-अनुष्ठान-अनुकीर्तन से जोड़कर उसे 'नाट्यशब्द' में रूपांतरित कर डाला। ऐसे शब्द की शक्ति अपौरुषेय वेद की तरह हो गई। इसीलिए नाट्यशब्द के धारक माध्यम को पंचमवेद (नाट्य) बनाने का निष्कर्ष भरतमुनि को निकालना पड़ा। कई शताब्दियों के बाद जब भट्टनायक ने उसी संकुचित हो गए नाट्यशब्द का अनुकीर्तन पुनः काव्यशब्द के अधिशेष रूप में भी किया तो शब्दशक्तियों के नये-नये स्वरूपों की अनुभूति हुई। अतः संपूर्ण शब्द-दर्शन में क्रांति आई। अभिनवगुप्त ने भी ऐसी ही नयी शब्दसिद्धि में चमत्कार एवं आनंद का अनुभव किया था। यह अनेक माध्यमों के संयोजन की ही देन रहा है।

आज का शब्द कई माध्यमों से गुजरता हुआ एक संश्लिष्ट तथा बहुमुखी प्रभावनशक्ति संचित करता है। काल के अंतर्गत कवि के माध्यम से गुज़रा शब्द सौशब्द्य है। वही धुन और राग में ढलकर संगीत शब्द है। वही अभिनेता के सर्वांगीण अभिनय से उपजा अनुभूत रूपकात्मक शब्द है। वही फिल्म में छविमान किया हुआ 'सोनोरमिक' शब्द है। वही टेलिस्टार उपग्रह द्वारा विश्व में प्रतिच्छायित किया हुआ ब्रह्मांडीय शब्द है। इस तरह यह 'संश्लिष्ट शब्द' अपने इन पृथक्-पृथक् शब्दरूपों की अपेक्षा अधिक भौतिक और अतिरिक्त गुणात्मक है। ऐसे शब्द-विचार अनुभव और धारणा को तत्क्षण समरस बना देते हैं।

किंतु अनेक विचारधारात्मक रूपों के शब्दों के चरित्र में, आंतरिक अंतर्विरोधों के कारण, टकराहट होती है। राजनीतिक शब्द-विचार (क्रांति, राज्य, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता), आर्थिक शब्द-विचार (पूंजी, शोषण, मुनाफा, उत्पादन, उद्योग), नैतिक शब्द-विचार (बलिदान, कर्त्तव्य, दायित्व, शुभ, सही), दार्शनिक शब्द-विचार (सत्य, मनुष्य, ज्ञान, विवेक), कलात्मक शब्द-विचार (आधुनिकताबोध, अभिव्यंजना, प्रतिबद्धता, शिल्प, सृजन) आदि-आदि यथार्थता के विभिन्न दृष्टियों वाले वाहक हैं जो यथार्थता की जटिलता, संश्लिष्टता तथा स्पष्टता को प्रकाशित भी करते हैं। किंतु माध्यम भी इन शब्द-विचारों की शक्तियों तथा संबंधों की मात्रा एवं गुण के 'रजिस्टर' हैं। राजनीतिक शब्द सर्वाधिक विस्फोटक हैं; काव्य-शब्द सर्वाधिक मायावी! आर्थिक शब्द दैनिक कर्मों से जुड़े हैं तो दार्शनिक शब्द चेतना के निर्णायक नियम हैं। ये

विविधधर्मा विचार-शब्द ही मनुष्य की सामाजिक चेतना को जागृत करके उसका पूर्ण विचारधारात्मक रूपांतर करते हैं।

इस रूपांतरण में ज्ञान की पहली प्रत्यक्षीकृत अवस्था से दूसरी धारणात्मक अवस्था में 'छलांग' (लीप) लगाने की प्रक्रिया घटती है। माओ के अनुसार छलांग का अर्थ है कि विचार भौतिक पदार्थ (मैंटर) में तथा भौतिक पदार्थ विचार में रूपांतरित हो सकते हैं अर्थात् मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन में अंतरविनिमय हो सकता है। हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में भी ऐसी छलांगें लगा करती हैं। अभ्यास या अमल के परीक्षणों के जरिये ही इंसान का ज्ञान छलांग लगाता है। अपने सामाजिक अमल में लोग कई तरह के कर्म करते हैं संघर्ष करते हैं, अपनी सफलताओं तथा असफलताओं से अनुभव प्राप्त करते हैं। इसके बाद में धारणाएं बनाते हैं। अतः धारणात्मक ज्ञान ही विचारों का प्रतिरूप है। इस प्रकार पहले बहिर्गत पदार्थ से अंतर्मुखी चेतना का, अस्तित्व से विचारों का उन्मेष होता है। लेकिन इस चरण में यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य के विचार वस्तुगत बाह्य जगत् के अनुसार हैं कि नहीं। इसलिए दूसरे चरण में चेतना से पुनः पदार्थ की ओर, विचारों से पुनः अस्तित्व की ओर प्रत्यावर्तन होता है जिसमें पहले चरण के ज्ञान को सामाजिक अमल में लागू किया जाता है। अपने सामाजिक संघर्ष में जूझती हुई सामाजिक शक्तियों के संदर्भ में मनुष्य—अभ्यास के द्वारा—जो कुछ सीखता है, वही उसके विचारों की कसौटी बनता है। अतः अनुभव से पहली छलांग और अभ्यास से दूसरी छलांग लगाकर मनुष्य पहले विचार, फिर सही विचार हासिल करता है! ज्ञान की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी थ्योरी इस प्रक्रिया को बार-बार दुहराने की अनिवार्यता का आदेश देती है। इस छलांग का तात्पर्य यह भी है कि हम विचारों से परे निर्विकल्प विचारों की आदर्शाधिभौतिक दिशा में एक उल्कापिंड की तरह बर्बाद न हो जाएं बल्कि सामाजिक अमल अर्थात् मानवीय जीवन एवं सामाजिक संस्थाओं के चक्र में संघर्षशील एवं रचनाशील हों। इसका अर्थ यह है कि "विचार तब तक रचनाधर्मी नहीं होते जब तक कि वे समाज की जड़ तक नहीं धंसते अर्थात् 'भौतिकीकृत' नहीं होते।"[1] अतः अमल और सिद्धांत, भौतिक पदार्थ और चेतना विरुद्धों की एकता हैं और ये परस्पर एक-दूसरे में रूपांतरित हो सकते हैं।

'छलांग' की अंतर्गति का स्वरूप अचानकता है। अचानक छलांग ही अमूर्त्तन और संमूर्त्तन को जोड़ती है जिसमें-से विचार उभरते हैं।

मैंने 'चंपा के इस फूल' के संमूर्त्तन (आइकन) का पहला सामान्यीकरण 'चंपा के फूल' में किया। इसके बाद मैं 'फूल' की धारणा पेश कर सकता हूं। किंतु फूल की प्राक् धारणा से 'हृदय' या 'कपोल' का प्रतीक भी संलक्षित हो सकता है तथा अधिक पूर्णता की स्थिति में 'भोलेपन' का विचार भी आविर्भूत हो सकता है। इससे अधिक भी 'पवित्रता' (मूल्य) का विचार-निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है।

१. लेवी ममफोर्ड, वही, पृष्ठ ७१।

तथापि ये सभी अमूर्त्तन (एब्सट्रैक्शन) क्रमशः उन्मीलित नहीं होते।

इनके अचानक परिवर्तन की उच्चतर अगली दशा की मिसालें भी ली जा सकती हैं।

संमूर्त्तित 'वहीदा रहमान' का पहला साधारणीकरण एक 'सुंदर रमणी' के रूप में; फिर एक 'श्रेष्ठ अभिनायिका' के रूप में; फिर एक 'सौंदर्य भावना' के रूप में होता है। इसके बाद विचारों का विभाजन विचारधारात्मक दृष्टिकोणों में हो सकता है और 'दिव्य सौंदर्य', 'रोमांटिक सौंदर्य', 'मादक सौंदर्य' या किसी भी 'उपाधियुक्त सौंदर्य' के रूप में हो सकता है। इसी विचित्र लड़ी में अगला अवधारण 'सौंदर्य के चरम मूल्य' के रूप में हो सकता है। अतः अचानक परिवर्तन की इस डायलेक्टिक्स में इन नाना प्रकार के रूपांतरों की समझ अपेक्षित है क्योंकि ये एक ही अंतर्विरोध के कई पक्षों को प्रकट करते हैं!

इसीलिए यह चिरंतन सवाल भी उठता है कि क्या विचार कालातीत या समय से स्वतंत्र हो सकते हैं?

विचार एक स्थिति तथा कालखंड में पूर्णज्ञान के क्रमशः संचित पुंज तो हो सकते हैं, किंतु सभी दशाओं तथा संपूर्ण इतिहास में शाश्वत और अपरिवर्तनशील नहीं हो सकते। यह सही है कि इतिहास कालबद्ध है तथा विचार अपेक्षाकृत कालातीत हैं! किंतु क्या सभी विचार कालातीत हैं? क्या विचार काल एवं कला (संस्कृति) में व्युत्पन्न नहीं होते? विचारों का जन्म देश-काल के अक्ष में ही होता है किंतु देश-काल-संभूत विचार कब और क्यों देश-काल-बहिर्भूत हो जाते हैं?

पहली शर्त तो उनके संपूर्ण तथा एक द्वंद्वात्मक एकता होने की है। प्राकृतिक और सामाजिक नियम, मानवीय वृत्तियां, मानवीय अनुभव के प्रतिलेख आदि सामाजिक नियम होकर ही कालातीत होने की संभावना रखते हैं: सभी विचार नहीं; और सभी दशाओं में, कुछ विचार नहीं भी! इसके लिए अंश और अंशी के द्वंद्वन्याय को लागू करना होगा। इसके अलावा पुनर्मूल्यांकन तथा अंतर्मूल्यांकन के उपक्रमों में जीवंत विचार बार-बार जन्म-पुनर्जन्म पाते हैं; बारंबार वे मृत्यु तथा वर्धता को जीतकर शिशु और अमृत हो जाते हैं। ऐसे विचार अर्थों की केंचुल तजकर शब्द-विचार के सहस्र फण वाले शेष हो जाते हैं क्योंकि इनकी सार्थकता और अर्थवत्ता विवेक और व्यहार की वह कसौटी है जिस पर ये क्षणे-क्षणे नवीनता को प्राप्त होते हैं। बारंबार बदलते हुए अर्थों तथा अनुभवों को **धारणीकृत** करते हुए तथा उनका **अतिक्रमण** करके शब्द (विचार तथा कर्म से संपृक्त होकर) अब शब्द-विचार एवं शब्द-कर्म के युग्म हो जाते हैं। ऐसे शब्द ही विचार, विवेक, तर्क, मूल्य, नियम, निष्कर्ष आदि तथा संमूर्त्ति, प्रतीक, मिथक, आर्केटाइप आदि होते हैं!

पुनश्च: संस्कृति तथा उत्पादन के दोनों विशाल तंत्रों में भी एक अकेला विचार-शब्द गुंथा है: 'मुनाफ़ा'! यह नये समाज, पवित्र व्यक्ति तथा गरीब मनुष्य—तीनों का नृशंस हंता है।

आज तकनालॉजी उन्हीं आवश्यकताओं का अति उत्पादन करती है जिन्हें

मुनाफे और शोषण की व्यवस्था कायम रखने के लिए परिव्याप्त होना चाहिए। तकनालॉजी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग कराती है जो इफ़रात में मनुष्य को अमानवीय बना डालती हैं। किंतु क्यूबा और चीन में तकनालॉजी पवित्र और निर्धन जनता की मांगों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति इस तरह करती है कि सर्वप्रथम मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो।

एक 'जेनुइन' समाजवादी व्यवस्था में दरिद्रता मनुष्य को पवित्र तथा मानवीय बनाये रखती है। ऐसी व्यवस्था में दरिद्रता और प्रगति भी साथ-साथ चल सकती हैं क्योंकि सांस्कृतिक क्रांति ने दरिद्रता की अत्यंत विवेकशील तथा तकनालॉजिकल प्रगति को विमुक्तिधर्मी बनाया है। विमुक्त तथा स्वतंत्र कार्य ने कृषक-समाजों तक को तकनालॉजिक विमुक्ति प्रदान की है। अलबर्टो मोराविया के अनुसार निम्न बुर्जुआ चरण के बगैर ही मानवीय दृष्टि से खरे किसान आदमी को अनगढ़ गरीबी तथा दस्तकारी समाज से सीधे तकनालॉजिकल सभ्यता की विवेकशीलता में ले आना ही कम्युनिस्टों की सांस्कृतिक क्रांति की खूबी है (दे० 'दि रेड बुक एंड दि ग्रेट वाल', पेंथर बुक्स)। सांस्कृतिक क्रांति ने सही विचारों को विराट् भौतिक शक्ति में तब्दील करके यूतोपिया को भी यथार्थ बना दिया !

मनुष्य बाह्य वस्तुओं के संपूर्ण ज्ञान को तुरंत नहीं पा जाता क्योंकि उसके सामाजिक अमल और सामाजिक संबंधों तथा वैज्ञानिक प्रगति की सीमा है। बारंबार अमल और विवेक द्वारा ही एक मनुष्य पर्याप्त रूप से यथेष्टपूर्ण ज्ञान पा जाता है। इस प्रक्रिया में विमुक्त तथा संघर्षशील व्यक्ति उस क्षेत्र में आ ही जाता है जहां ज्ञान सूचनाओं और समझों की मात्र एक संचित राशि होकर—उसे ढाले बिना—बिखरती या ढलती नहीं है। अब ज्ञान एक विचार और एक कर्म, एक दंश और एक खड्ग, एक हिलोर और एक लौ, एक छटपटाहट और एक अग्निदीक्षा होकर मनुष्य को, उसे, तुम्हें, मुझे ढालता है। ज्ञान के इस स्वरूप के सामने मैं तुम्हारे साथ ऊर्ध्वबाहु वेदव्यास की तरह नंगा खड़ा हूं। इस अवस्था में तो निष्पक्ष, निस्पंद और निष्क्रिय बने रहने की बात ही मानो गैर-ईमानदारी है। यह तो सही विचारों का ज्ञान है। यह हमारे-तुम्हारे फेफड़ों के प्रत्येक कोश में, मस्तिष्कों के प्रत्येक स्नायु-तंतु में, शरीरों की प्रत्येक धमनी में दीये जलाता है, तीर चुभाता है, फुंफकार कर डसता है, हथियार देकर अंधेरे से बाहर खींच-घसीट ले आता है। यह विचार अभिव्यक्ति को सभी इंद्रजालों से छुड़ाकर आदिम तेज में देदीप्यमान होता है। आजकल हम-तुम-सब ज्ञान के ऐसे विचाररूप के सामने आ खड़े हैं जहां अगर व्यवहार एवं प्रतिबद्धता की कसौटी प्रस्तुत न हो तो संसार बर्बर, यथार्थता अंधी, कार्य झमेला, व्यक्ति नंगा या पाखंडी, मुखौटों या कवचों वाला, कायर या कुटिल, तथा जनता नपुंसक या निष्क्रिय लगेगी। विचार चेतना के इस स्तर पर पहुंच गए हैं कि वे भौतिक शक्ति में स्फुरित: मिल रहे हैं। इसे बांधने पर घुटन, फूहड़ता, पाखंड, व्यर्थता और शून्यता ही अभिलक्षित होगी। अब लगेगा कि ज्ञान का उदात्त स्तर प्रतिबद्ध ज्ञान वाला है। प्रतिबद्ध विचार प्रतिकर्म को अनुप्रेरित करता है। हम-तुम विमुक्त मनुष्य के आनंद का अनुभव करते

हैं। विचार की यह स्थिति चिंतन से आगे कूदकर चरित्र से जुड़ती है। यहां ज्ञान भौतिक हो जाता है। यही ज्ञान तो प्रतिबद्धता और विचारधारा है—मेरी, तुम्हारी तथा समाज की ! अब तो यह भी सही नहीं लगता कि केवल भावना का आवेश सोने नहीं देता। अब ज्ञान की चुनौती और आह्वान भी हमें-तुम्हें सबको अहर्निश जगा देते हैं। समर्थ और साहसी प्रतिबद्ध ज्ञान की नियति ही यह है कि वह अभ्यास तथा कर्म से जुड़े। वह कला और तकनालॉजी, श्रम और क्रीड़ा को एकतान कर दे; वह प्रतिबद्ध ज्ञान से विचारधारा और कर्म-दर्शन बने; वह यथार्थता का प्रतिविन्यास करे। किंवा वह स्वयं यथार्थता हो। मनुष्य के विचार की सिद्धावस्था यही है !

फिलहाल, अब इसके आगे शेष बचता भी क्या है ?

उत्तर साक्ष्य

'आनंद' के मरने पर 'आतंक' का पुनरुत्थान

अरस्तू और भरत के उन सौंदर्यप्राश्निकों को साथ लेकर स्वयं हमें ही बताना होगा कि अब 'आनंद' मर जाता है तथा आतंक का बारंबार पुनरुत्थान और अभ्युत्थान होता है।

वैदिक काल में कमनीय कांति वाला वही उशना कवि **सोम** भी मौजूद था—भावप्रधान ! सोम सौंदर्य के लिए ही उत्पन्न हुआ था। वह स्वयं तो चंद्रधर्मा था किंतु अपनी सौम्यधाराओं से सूर्य को प्रकाशित करता रहता था। सोम पवमान **अमृत** तथा **आनंद** का पर्याय था। वह **ऋत्** से भी विमुक्त था। सोम ही रस (मधु) था। सोम ही अमृत था (अतः सोम ही रस था, अमृत था और आनंद था)। बाद में यह भी संस्थापित हुआ कि आनंद आत्मा था, ब्रह्म (रसरूप ब्रह्म) था। वैदिक आर्य-जीवन की आवश्यकताएं ऐश्वर्य (खानपान, धनसंपत्ति, वीरसंतान, स्वास्थ्य और दीर्घायु) तथा विजय (शत्रुदलन) थीं। देवता इंद्र व्यभिचारी भावों वाला सुंदर और प्रचंड युद्ध करने वाला भयंकर, दोनों था। उसका सखा रुद्र भी शक्तिशाली था तथा भयंकर पशु की तरह मारता था। उस युग में कोमल भावनाएं नहीं थीं। इंद्र ही लिंगोपासना के आर्य-पूर्व सूत्रों को शिश्नदेव के, तथा वैदिक युग की कबीलाई विध्वंसकारी उथल-पुथल को रुद्र के साथ जोड़ता है। पशुत्व (मुक्ति) तथा पाश (मुक्त दशा की नियंत्रित प्रकृति) का यह संयोग कबीलाई चुनौतियों तथा प्राकृतिक संघर्षों की तत्कालीन ऐतिहासिकता को आद्य मिथकों द्वारा उद्घाटित करता है।

कालांतर में (वैदिक युग से मौर्यकाल तक) भी धर्ममूल भारतीय समाज को किसी विप्लवकारी ऐतिहासिक चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। वह घुमंतू गोत्र-समाज शनैः-शनैः कृषक वर्ण-समाज में ढलकर स्थिर-सा हो गया। अतः हिंदू सामंतों के सुदीर्घ मध्यकाल (भरत से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक) में दर्शन एवं संस्कृति में "आत्मन्=आनंदम्=रसम्" का समीकरण ही वैयक्तिक मुक्ति तथा

सामाजिक चेतना का महावाक्यसूत्र बन गया। रस के आनंद में सुषुप्ति तथा योग जैसी एकाग्रता स्वीकृत हुई। रसास्वाद में मानवीय अनुभवों की वैयक्तिक विलक्षणताओं के स्थान पर अनेक वैश्वक पक्षों को ही लिया गया जिससे इतिहास के यथार्थ तथा भौतिकवादी जगत से संप्रेषण स्थगित हो गया। रसनिष्पत्ति के लिए कर्म-बहिर्भूत तथा लौकिक चेतना-बहिर्भूत 'सुषुप्ति' एवं 'समाधि' को शर्त माना गया जिसमें तन्मीयभवनयोग्यता, वीतविघ्नप्रतीति, निर्विघ्नसंविद्‌विश्रांति, संविश्च्चमत्कार, विगलित वेद्यांतर जैसे पदांशों ने ऐसे जीवंत ऐंद्रियक अनुभव का अमूर्त्तीकरण-अलौकिकीकरण कर डाला। यद्यपि रसानंद झटिति प्रत्यय से क्षणिक है तथापि वह शाश्वत है; यद्यपि स्थायीभाव का परिपाक है तथापि वह ब्रह्मानंद-सहोदर है; यद्यपि विभावानुभावसंचारी से निष्पत्त है तथापि स्वायत्त और सत् (शुद्ध) है; यद्यपि पात्रों के द्वंद्वों और संबंधों का साक्षात् भावना-व्यापार है तथापि अखंड प्रतीति है। अतः महारस को आनंदरूप मान लिया गया। उसके आध्यात्मिक अंतर्विरोध बने रहे। तथापि विभावों के कारण उसके श्रृंगारादि विभेद स्वीकृत हो गए। तथापि सभी रसों की आनंदरूपता भी मानी गई, त्रिगुणातीत ब्रह्म (आनंद) की भांति। मध्यकाल में मानवीय चेतना का चैतन्य (आत्मन्) के रूप में अमूर्त्त विराटीकरण हो गया। यदि आत्मन् चित्‌रूप एवं आनंदरूप है तो काव्य की आत्मा भी चित्‌रूप एवं आनंदघन हुई।

तथापि शरीर (शिश्नपूजा) और आत्मन् के बीच, सुंदर इंद्र और भयंकर इंद्र के बीच दो दार्शनिक विश्वदृष्टियों की एकता एवं संघर्ष झिलमिला उठते हैं। इन्हें अंततः 'आत्मन्' एवं 'आनंदम्' के एक ही संवर्ग में तिरोभूत कर डाला गया। मम्मट (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध) ने रस और आनंद का समन्वय कर डाला क्योंकि रसानंद में इंद्रियां सीमा नहीं हो सकतीं क्योंकि वे अधिकरण मात्र रहती हैं।

प्रकारांतर से रुद्र के शिव हो जाने पर दार्शनिक दृष्टि से भी उनमें सुंदर और भयंकर की, भोगी और योगी की, नारी और पुरुष की, आतंक और आह्लाद की, मिथक और भाषा की, नाद (डमरू) और रूप (ज्वाला) की बहुद्वैतपरक समरसता क़ायम हुई। इससे भारतीय मनोविज्ञान में चिति, शक्ति, शिव, पुरुष, हरिहर, अर्द्धनारीश्वर) की दार्शनिक धारणाओं के, तथा आर्य एवं अनार्यों के बीच के सामाजिकार्थिक संबंधों वाले समाजशास्त्र के कुछ नये आयाम खुले। मानो मनुष्य का आदिम भय ही आह्लाद हो गया। एक हिंदू मिथक में रुद्र का संहार (मृत्यु) सदाशिव नटराज के (तांडव) नृत्य में अनुग्रहीत हो गया। नटराज के नृत्य की मौलिक 'भुजंगत्रसित' मुद्रा ने अनेक प्रतीतियों एवं मुद्राओं को ताल/लय में बदलते-बदलते एक संपूर्ण नाट्यकर्म तथा नृत्य-सौंदर्य रच डाला। मनुष्य की भाषा भी पशुलोक की ध्वनियों से आगे कढ़ आई। हमारे ब्रह्मांड का महानट तथा रंगनाट्य का नट, एक हो गए।

ऐसी दो शाश्वत यथार्थताओं का द्वंद्व, दो विराट पक्षों का अंतर्विरोध ताल लय के द्वारा सौंदर्य के प्रतीकात्मक रूपों में ढला। इसी में 'आश्चर्य' है। आश्चर्य

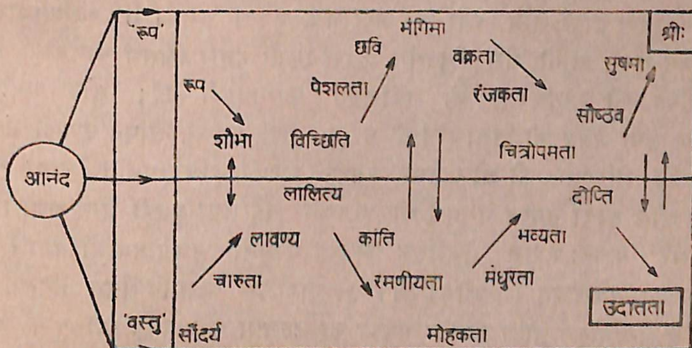
में आनंद भी है और आतंक भी। क्रमशः दोनों ही अपने सौंदर्य तथा भय के प्राथमिक स्वरूपों से विराट् हैं; दोनों में ही 'विराट्रूपता' है; तथा दोनों में (अर्थात् आनंद और आतंक में) 'अनिर्वचनीयता' है। अतः आश्चर्य (विराट्) की अनुभूति के प्रभाव में **उदात्त** (सब्लाइम) और **भयानक** (टेरिफिक), दोनों का सहकार है। आनंद का **विस्मय** तथा आतंक का **संत्रास** मिलकर ही उदात्त का संविधान करते हैं। आनंद-आतंक एक अभिवाह (फ्लक्स) की दशा में हैं। योद्धा कृष्ण के विराट् रूप के सामने उल्लसित अर्जुन भीत होते हैं तो योगी शिव के रौद्र रूप के सामने शांत रति भी भयभीत होती है। शिव की जटा में वही **सोम** (चंद्रमा) सुशोभित है तथा कटि-तट पर वही नाग लिपटा है। अमृत भी कंठ में है (शितिकंठ) तथा ज़हर भी (नीलकंठ)।

अतः उदात्त में 'विस्मय' एवं 'विमूढ़ता', दोनों ही अर्तनिहित है। आनद का 'उदात्त' तथा आतंक का 'भीषण', दोनों ही मानवीय चिति को झटका लगाते हैं। किम्वा ये हमें 'विस्मय-विमूढ़' कर डालते हैं।

यथार्थता विश्वमानवता को हमेशा से अध्यात्मकेंद्रित सौंदर्य के इहलौकिक नास्ति-पक्ष की ओर ले जाती रही थी जिसे मध्यकालीनों ने अनिष्ट और बुराई, पाप और अशुभ आदि कहा। ग्रीक जीवनशैली में वह 'त्रासदी' बना। मुक्त इच्छा या चैतन्य हमें सौंदर्य के स्वस्ति-पक्ष की ओर ले जाता रहा था जिसे हमारे मध्यकालीनों ने पुण्य और शुभ, गुण और आत्मा आदि कहा। हिंदू जीवन-शैली में वह 'सौभाग्य' बना।

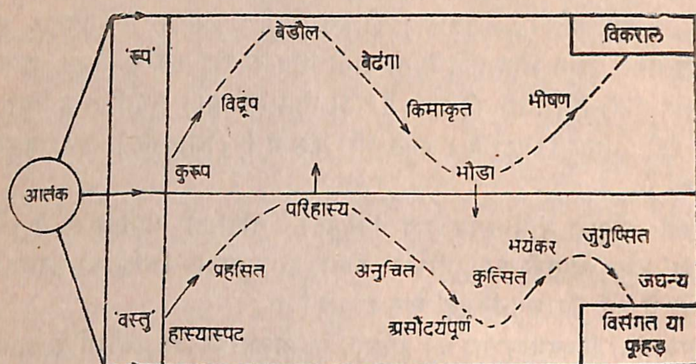
× × ×

क्लासिकी सौंदर्यबोधशास्त्र के परिमापी (रेंज) 'अस्ति पक्ष' के अंतर्गत धुरी सुखात्मक सौंदर्य की है जिसमें आदर्श, दिव्य एवं गणितीय सौंदर्य आदि शामिल हैं। यह सौंदर्यतत्त्व सुखात्मक, संतुष्टिकारक एवं आह्लादक है। **आनंद** इसका शीर्ष है जिसमें महारस, महाभाव, महामुद्रा, दिव्यराग एवं उज्ज्वल रस अभिव्यंजित हैं। इसके 'रूप' तथा 'वस्तु' के हाशिये नीचे दिए जाते हैं—



आधुनिक सौंदर्यबोधशास्त्र के परिमापी भौतिकवादी 'नास्ति पक्ष' के अंतर्गत दुःखात्मक सौंदर्य की भी एक अन्य अतिरिक्त धुरी है जिसमें विकृत (डिफार्म्ड), कुरूप

(अगली), फूहड़ (एब्सर्ड), किमाकृत (ग्रोटस्क) तथा जघन्य आदि भी शामिल हैं। यह सौंदर्यतत्त्व दुःखात्मक, विक्षोभकारी तथा विमूढ़कारी है। इसका शीर्ष आतंक है। इसके 'रूप' एवं 'वस्तु' के हाशियों में निम्नलिखित अन्यथाकरण (डिस्टार्शंस) प्रस्तुत हैं—



उदात्तता तथा फूहड़ता, दोनों ही अनिर्वचनीय हैं। दोनों की नाभि विस्मयाकुल भय (आव्) है। तथापि दोनों ही आधुनिकता के अनुषंग हैं।

इस तरह एस्थेटिक्स के सौंदर्य-तत्त्व में आनंद और आतंक की द्वंद्वात्मक एकता एवं संघर्ष के सिद्धांत मंडित होते रहते हैं।

आधुनिक युग तथा आधुनिक (प्रगामी) समाजों में मनुष्य की बौद्धिक जिंदगी और संस्कृति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गए। ज्ञान के प्रागनुभववादी (ए-प्राइऑरी) रूप को अलविदा की गई। वैज्ञानिक एवं तकनॉलाजिकी क्रांति ने अणु की ऊर्जा को संवाहित कर लिया, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर काबू पाकर अंतरिक्ष युग का समारंभ कर दिया तथा, सामाजिक विषमता और शोषण को पूंजीवाद द्वारा फैलाया है एवं समाजवाद द्वारा खत्म किया है। आरंभिक बूर्ज्वा समाज में व्यक्तिवाद का गौरवान्वयन रूसो, ह्यूगो, शैले, ह्विटमैन द्वारा किया गया जिसमें मानवीय विवेक तथा व्यक्ति की स्वतंत्रेच्छा को सर्वोत्तमता प्रदान की गई; और अबौद्धिक, रहस्यात्मक तथा अज्ञेय को तिलांजलि दी गई। व्यक्ति का अकेलापन उसकी संपूर्णता बना, उसकी अस्मिता की खोज तथा उसका करुणोल्लसित प्रगीत माना गया। किंतु क्षयःशील बूर्ज्वा समाज में एक ओर नवकुबेर बढ़े तथा दूसरी ओर अधोलोक के नायक उभरे। फलतः महान् रोमांटिक व्यक्ति मामूली लघुमानव हो गया। पहले का सृजनात्मक अकेलापन (परकीयकरण) फूहड़तापरक आत्मनिर्वासन (सेल्फ-ऐलियेनेशन) में अन्यथाकृत होता गया। मनुष्य का उल्लास एक फूहड़ व्यक्ति के आतंक तथा यातना से विस्थापित हो गया। पाशविक व्यक्तिवाद के नुमाइंदों के रूप में सफेद कॉलर वाले सामाजिक-आर्थिक अपराधी, हत्यारे, लुटेरे, मस्तान, तस्कर आदि बलवान हो गए। इसी के साथ तमंचेबाज़ 'हॉरर कामिक्स' के इंद्रजाल, गार्थ, फैंटम,

टार्ज़न जैसे अतिमानव किशोरों की व्यक्तिपूजा के लक्ष्य हो गए। त्रासदी की करुणा की जगह फूहड़ता की हताशा ने ले ली। तेज़ इतिहास-प्रवाह ने जटिल समाजों को भय के बोध से आच्छादित कर डाला। अब संस्कृति के इतिहास में पतन, आतंक, विध्वंस, समाप्ति आदि भी प्रमुख घटक हो गए। निजी संपत्ति के कारण **अपराधों** का फैलाव हुआ। सामाजिक अन्यायों के कारण **हताशा** एवं **हिंसा** की प्रतिक्रियाएं हुईं।

निजी संपत्ति वाला समाज हमारा भी नैसर्गिक तथा यथार्थ सामाजिक मॉडल बना जिसमें मनुष्य की प्रकृति में निजी मुनाफा ही प्रमुख बना रहा। इस मॉडल में अहं-वाद तथा व्यक्तिवाद की प्रमुखता है। सामूहिकतावादी मॉडल में मनुष्य की इच्छाएं तथा आवश्यकताएं बदल जाती हैं। अतः **मनुष्य की प्रकृति** के संदर्भ भी बदल जाते हैं। अतः एक वर्गीय समाज में **'प्रगति' की प्रकृति** अंतर्विरोधों से परिपूर्ण तथा अनियमित होती है। स्रष्टाकारी मनुष्य भ्रष्टाचारी मनुष्य होता जाता है। सामाजिक निराशावाद प्रगति के बजाय 'सर्वनाश' (मृत्यु और विध्वंस) के भावों को फैलाता है। आनंद और आतंक पैदा करने वाला 'सृजनात्मक भय' विलीन हो जाता है। उसके एवज़ में संत्रास और यातना उत्पन्न करने वाला 'अंधा भय' छा जाता है जो तहलका मचाता है, निष्क्रियता फैलाता है तथा व्यर्थता में जकड़कर मानवीय क्षमताओं की इति की घोषणा कर देता है। लगता है कि कोई प्रगति नहीं हुई; कि यह सभ्यता अधोपतन तथा विघटन के चरण में आ गई है। "पूंजीवादी समाजों में **काम** (वर्क) ऐसी अपरिहार्य आवश्यकता है कि जिसमें सृजनोल्लास तथा शालीन विचार-धारात्मक उत्तेजना गायब है। **श्रम** में बाध्यता का सिद्धांत लागू होता है जिससे स्वतंत्र सृजनात्मकता खारिज हो जाती है। वस्तुतः यह मेहनत की बेगार है जो मजूरी वाले श्रमिकों पर बांधी गई सामाजिक संबंधों की ऐसी ज़ंजीर है जो--मार्क्स के पदांश में--जुपीटर द्वारा प्रोमेथियस को बांधी गई श्रृंखला से भी ज्यादा मजबूत है।"[१]—मनुष्य की ऐसी निष्क्रियता ही उसकी ऐंद्रियक पूर्णता, क्षमताओं तथा दक्षताओं को विकसित नहीं होने देती।

इसलिए हमारे वर्गविभाजित समाज में मार्शल, या कीन्स, या मार्क्स, या गांधी से अनुवाचित 'प्रगति' (आधुनिकीकरण) का एक ऐसा **मिश्रित मॉडल** बना है जो उसके अंतर्विरोधों तथा असमानताओं को उजागर करता है। यह इतना जटिल है और इतिहास-प्रवाह इतना तेज है कि चारों ओर भय की भावना घर कर गई है, राज्य की 'सफेद हिंसा' ने जिंदा रहने का भय पैदा कर दिया है। अतः एक ओर इतिहास (अतीत) की ज्ञातता विलुप्त हो गई है जिससे 'सांस्कृतिक क्षति' हुई (अर्थात् 'संस्कृति के इतिहास' में प्रायः पतन, आतंक, विध्वंस, यंत्रणा, संत्रास, विद्रोह आदि आ गए), तथा दूसरी ओर इतिहास-प्रवाह में निश्चयवादी भविष्य से विश्वास उठ गया जिससे मुक्ति या उद्धार की अनेक अलौकिक, रहस्यात्मक, तांत्रिक, यौगिक, जादू-टोने वाली अधिमान्यताएं प्रसारित हो गईं। अधोपतन, मृत्यु और विनाश की ओर

१. खो० मोमजान, "दि डायनेमिक ट्वेंटियेथ सेंचुरी", प्रोग्रेस, मास्को, १९६८, पृ० १७५।

उल्लासहीन बहाव ने अंधा भय फैला दिया। खुशी के लिए मनुष्य के संघर्ष का प्रोमेथियसीय [रचनात्मक] भय विलुप्त होता गया। डायोनीसस पुनः शहरों में आ गया अर्थात् 'निषेधवाद' ने संदीप्त विचारधाराओं को व्यर्थ घोषित किया तथा 'निराशावाद' ने हिंसा एवं विकृति में सने हुए सैक्स को ही व्यक्तिवाद की सर्वांगीणता सिद्ध कर डाला।

भारत का पूंजीवादी विकास दो संरचनाओं के सह-अस्तित्व में घट रहा है: एक ओर औद्योगिक एकाधिकारवादी-सामंतवादी पूंजीपति हैं जो जी० एन० पी० का पच्चीस से तीस प्रतिशत का उत्पादन करते हैं तो दूसरी ओर छोटे किसान तथा छोटे दस्तकार हैं जो जी० एन० पी० का पचास से साठ प्रतिशत पैदा करते हैं। तिस पर भी सामंतवादी पूंजीपति समूचे देश के झुकाव तथा विकासपथ पर नियंत्रण रखते हैं, श्रम की उत्पादक शक्ति के सर्वोच्च अधिकारी हैं तथा सर्वाधिक कोश-संचयन के स्वामी हैं। इस व्यवस्था में अमीर (उच्च मध्यवर्ग तथा समृद्ध वर्ग) ज्यादा अमीर हो रहे हैं तथा गरीब ज्यादा गरीब। कालेधन की समानांतर अर्थरचना से शोषण और स्वार्थ और भोग ही मनुष्य के सामाजिक संबंधों की धुरी हो गए हैं। परिजातभक्षी कुबेर-घराने केरल तथा महाराष्ट्र और दिल्ली में लगभग अश्लील फिल्मों तथा विलासी होटलों के निर्माण के लिए वितदान करते हैं। क्या संपत्तिशाली जातियों (वर्णों) तथा वर्गों पर प्रत्यक्ष धावे के अलावा, तीस सालों की संसदीय प्रणाली के अनुभवों के उपरांत, समूचे सामाजिक ढांचे को बदलने का और कोई रास्ता अभी भी बचा है?

'वर्ण' (हरिजन-दहन) और 'वर्ग' (औद्योगिक श्रमिक और खेत मजूर) के नानाविध संघर्ष घुलमिल गए हैं। नारी और शिशु भी अत्याचार के केंद्र बनते जा रहे हैं। क्या दौलत, प्रतिष्ठा तथा सत्ता के संस्थापित पैटर्नों को रूपांतरित करने का कोई अन्य रास्ता भी बचा है, सिवाय इसके कि हम आमने-सामने होकर उन विश्वासों तथा संरचनाओं पर धावा बोलें जो एक रूढ़ सामाजिक श्रेणीतंत्र बन चुके हैं, जो सनातन संस्थाओं की स्वीकृति पा चुके हैं तथा जो (संपत्ति, नारी, भूमि, अंधविश्वास, विवाह आदि) पुनीत भी मान लिए गए हैं? प्रगति या विकास के इन सामाजिक अवरोधों को कैसे तहस-नहस किया जाए? अंधा भय, अंधा सैक्स-उन्माद, अंधा करने वाली विचारधाराओं की फांतासियों से सामान्य जनता, संस्कृतिकर्मी, समाज और संस्कृति ढंक-से गए हैं। ऐसी मानवीय दशाओं में आनंद मर जाता है, मनुष्य की विमुक्ति यंत्रणाओं द्वारा कुचल दी जाती है, संस्कृति युद्ध और सैक्स में ग़र्क हो जाती है।

भारत में सर्वाधिक बाल-श्रम की शक्ति है और यहां के रचनासंसार में ('आपका बंटी' जैसे अपवाद को छोड़कर) मातृ-शिशु बिंब लगभग गायब हैं। हमारे उपभोक्ता-समाज में सैक्स तथा हिंसा, और इनके जघन्य मेल वाला संत्रास, हमारी चिति में धंस गए हैं। वे फांतासियों (मोहस्वप्नों), मोहभ्रमों (इल्यूजंस), मोहाभासों (फैलेसीज) का इंद्रजाल फैला रहे हैं तथा जनचित्त पर सर्वग्रासी असर डाल रहे

हैं। हालीवुड से आई 'ओमेन' जैसी फिल्म में थार्न अपने बेटे पर शैतान का पंजा छुड़ाने के लिए उसको छुरा मारने का अनुष्ठान करता है। 'दि एक्सोर्सिस्ट' में मां प्रेतबाधाग्रस्त अपनी मुग्धावस्था की बेटी को संभालती है। दोनों फिल्मों के बालपात्र भूत-प्रेतों से ग्रस्त हैं। हिंदी में 'जादू-टोना' फिल्म भी ऐसी नकल पर बनी।

आखिर इनकी इतनी लोकप्रियता का सांस्कृतिक रहस्य क्या है? आतंक!

इनमें एक ऐसे 'अज्ञात का भय' है, एक ऐसी यथार्थता है जो, इस यथार्थता के परे, फांतासी है। यह फांतासी गुह्यतंत्रमंत्र (ओकल्ट) वाली है। इन फिल्मों में यथार्थता और फांतासी के बीच की संबंधता इस प्रकार स्थापित की जाती है कि यह लगे कि इस संसार के परिज्ञान में विवेक व्यर्थ है। इसलिए परोक्ष रूप से अंधविश्वासों का सहारा लेने का प्रयोजन थोपा जाता है। सौंदर्यबोध की दृष्टि से इनमें विश्वास बनाम अविश्वास, विवेक बनाम अविवेक के द्विकर्मी विरोधों का इस तरह संयोजन किया गया है कि वे आधुनिकताबोध के भय के दायरे में समा सकें। इनके कूट-संकेत ये ही हैं—'तुम आत्म-निर्वासित हो, तुम्हारे साथ भी यह सब घटने की संभावना है।' इस तरह ऐसे विधारूप हमारे अवचेतन भय का भरपूर कलात्मक शोषण कर रहे हैं। ब्रूस ली की 'एन्टर दि ड्रेगेन' (फिल्म) में तो यह चरम पर हैं।

ऐसी कलाविधा में अब न तो अतिमानव और न ही अतिदानव दृष्टिगोचर होते हैं। केवल संत्रास के बिंबों द्वारा, झाड़फूंक, ओझा, तंत्रमंत्र के प्रतिबिंबों द्वारा यथार्थ को ही भयानक फांतासी में रूपांतरित कर दिया जाता है। संत्रास एवं आतंक उत्पन्न करने की चालें (जैसे अंधेरे किले, दालानों पर चीखें, तूफानी रात में उल्लू और सियार की आवाजें, श्मशान और कब्रों की सैर आदि) भी इस तरह बुनी-गूंथी जाती हैं कि अविश्वास का संज्ञान धुंधला होता जाए। तनाव बढ़ते हैं; झटके लगते हैं; छुटकारा मिलता है—ऐसी त्रिपर्णा प्रक्रिया द्वारा सामाजिक दर्शक आतंकित किया जाता है (सौंदर्यबोध की दृष्टि से)। फलतः वह 'विस्मयविमूढ़' हो जाता है। तो, आज अपना यह सामाजिक आनंद के बजाय आतंक का अनुभव क्यों करता है?

हमारे समकालीन समाज में एक 'सफल आदमी' अपने अवचेतन में संकुचित भी है। अतः वह आत्मनिर्वासित तथा संत्रस्त भी है। उसके घर-बाहर के संबंध एकतरफ़ा, उसका ऐंद्रियक प्रत्यक्षीकरण अपारदर्शी, उसकी करुणा अहंकेंद्रित तथा आक्रामकता आत्महंता हो गई है। अतः वह इन सबके प्रति अचेतन होकर अपनी सामाजिक स्थिति में कार्य करता है। उसके अंदर आक्रामकता (हिंसा) जमी हुई है। किंतु इस अभ्यंतरीय 'हिंसा' को, कुंठा को, वासना को 'फांतासी' में पलायन करने पर छूट मिलती है। (गजानन मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' शीर्षक कविता में फांतासी को सृजन की कन्या तथा यथार्थ के विराटीकृत दर्पण के रूप में इस्तेमाल किया है)। इस फिल्म-विधा में फांतासी का जन्म दमन, वंचना तथा अंतर्वैयक्तिक हिंसा से होता है। अतः यह निषेधपरक है।

संत्रास/असमंजस वाले ऐसे गत्यात्मक कलारूप में अनुभव की तीव्रता और गहराई इस प्रकार उभारी जाती है कि सामान्य दर्शक खुद को वशीभूत, भयभीत,

शक्तिहीन तथा शून्यवत् महसूसता है। वह खलास और साफ बुहारा हुआ-सा होकर निकलता है। यद्यपि उसकी हिंसा का शमन नहीं होता तथापि उसका विवेक, उसकी चेतना और उसकी विचारधारा में व्यर्थता प्रतीत होने लगती है; प्रत्युत उसकी फांतासी का ढांचा अप-नर्मिल हो जाता है। वह यथार्थ जगत् के प्रति उदासीन होता जाता है।

आतंक एवं फांतासी का यह शोषण वाला तथा मुनाफाखोर सौंदर्यबोधात्मक प्रयोग स्वयंसिद्ध है।

मुक्तिबोध ने आतंक और आनंद, दोनों को फांतासी द्वारा प्रकाशित किया है। उनकी कविताओं में आया त्रासद और यातना से भरा वातावरण अंदर धंसते ही अपने संदर्भों तथा प्रतीकों के अर्थ खोलने लगता है जिसमें आत्मसंघर्ष तथा आत्मान्वेषण है। कवि ने बनमानुषी संस्कारों की ग्रस्तता ('दिमागी गुहांधकार का औरांग-उटांग'), अतीत के ज्ञान की इतिहास-दुश्मनी ('ब्रह्मराक्षस'), रक्तालोक-स्नात पुरुष का आत्मसाक्षात्कार ('अंधेरे में') आदि का उन्मेष मनुष्य के 'संपूर्ण उद्धार' तथा मानवीय समाज में क्रांति के लिए किया है। इसी तरह 'एक चूहे की मौत' (१९७१) में संगठन के आतंक तथा व्यवस्था की फूहड़ता का संयोजन हुआ है। 'मुरदा घर' (१९७४) में चारों ओर आतंक और अत्याचार, हिंसा और सैक्स इस प्रकार आए हैं कि चवन्नी वाली सस्ती रंडियों, भिखारियों और मजदूरों का खौफ़नाक संसार आतंकमय आश्चर्य को विस्फारित करता है। चमेली और जब्बार जेलों की त्रासदी भोगते हैं तो, रोज़ी, मैना और जमीला के चरित्र काली, नंगी तथा अंधी दुनिया के नर्क को भोगकर भी आदमी बने रहने की लड़ाई चलाते रहते हैं।

भारतीय फिल्म-माध्यम में आतंक के सौंदर्यबोधानुभव तथा त्रासदी के सामाजिक प्रयोजन का समन्वय निर्देशक श्याम बेनेगल की 'मंथन' शीर्षक मूवी में है। इसमें उच्च वर्गों तथा वर्णों की पूंजीवादी व्यवस्था तथा निम्न वर्गों तथा हरिजन ग्वालों की सहकारी व्यवस्था के बीच वर्ग-संघर्ष उभरा है, तथा ग्रामीण निहित स्वार्थों (मिश्रा) एवं अमलाशाही (पुलिस, कानून) के शोषण से मुक्ति की लड़ाई को कलात्मक आयाम दिए गए हैं। हरिजन ग्वालों का प्रतिनिधि फूट एवं दया की राजनीति का भंडाफोड़ करता है। सामाजिकार्थिक शोषण की पराकाष्ठा में सत्ता और व्यवस्था एकजुट हैं : हरिजन ग्वालों की झोंपड़ियों में आग लगवा दी जाती है। हिंसा, अत्याचार और शोषण का तांडव चलता है। हरिजन ग्वालिन के लिए उसका पति ही सैक्स का शोषक है। इस फिल्म में अत्याचार और उसका प्रतिवाद परस्पर स्पर्धा करते हैं। इसके पहले बेनेगल ने 'अंकुर' में सामाजिकार्थिक शोषण दिखाने के लिए सैक्स का भी भड़कीला उपयोग किया था। विरूपता, विद्रूपता, विडंबना, जिघांसा, जघन्यता आदि की सौंदर्यानुभूतियां यहां हमें आतंक की क्रांतभूमियां प्रदान करती हैं।

इसी क्रम में सैक्स (रति) का सौंदर्यातंकपूर्ण अनुभव—'चेतना' फिल्म के बाद—केरल के निर्देशक आई० वी० शशि की हिंदी में रूपांतरित फिल्म 'मन का आंगन' है जो सैक्स के नंगे, उद्दीपक, भोगतृषित प्रतीकों तथा बलात्कार एवं हत्या

के प्रसंगों का भरपूर इस्तेमाल करती है। आतंक और अश्लीलता, अपराध और गोपनीयता की इस स्थिति में सौंदर्यानुभूति हमें विश्रांत तथा तन्मय नहीं करती; बल्कि तीव्र भावोच्छ्वासों का संचार करती है तथा अतिरिक्त चौकन्ना बनाए रखती है। इसमें शरीर एवं हावभाव के प्रदर्शन से पूर्ण 'सैक्स की लहर' वाली धारावाहिक स्वकीय-परकीय-विपरीत-विकृत-आत्मपीड़नरत परपीड़नरत-सामूहिक यौनरत-वासना की अर्धपरिपक्व अनुभूतियां हैं। एक नपुंसक पति के साथ ब्याही नायिका (जया भारती) उसे छोड़कर दूसरे, फिर तीसरे पुरुष (मित्र, प्रेमी) के पास भटकती रहती है। यहां नारी का एक पृथक् चरित्र सामने आया है जो आक्रामक भी है। यहां नारी की चिति के लुभावने गुह्य रहस्यों को खोलने की मनोसुंदर चेष्टाएं एवं चर्वणाएं भी हैं: आर्केटाइपल प्रतीकों एवं बिंबों के द्वारा। कमलादत्त की 'मछली सलीब पर टंगी', सांत्वना निगम की 'बोझ', दीप्ति खंडेलवाल की 'विषपायी' तथा 'निर्बंध', 'सुकीर्ति गुप्ता की 'समानांतर', मृदुला गर्ग की 'कितनी मौतें' आदि कहानियों में नारी-चिति के उद्घाटन यौन एवं आतंक के ध्रुवांतों पर हुए हैं।

पहले भी कल्पना-फांतासी के पैराडाइम पर ऐतिहासिक-तिलिस्मी-जासूसी इतिवृत्तरूपों में यातना (टार्चर) तथा आतंक (टेरर) की विचिकित्सा होती रही है। सामान्य दर्शक या भोक्ता या सहृदय से इनका परत्व रहा है किंतु आज यातना रोज़मर्रा के यथार्थ और जीवित मनुष्यों के साथ घट रही है। नृशंसताएं रोंगटे खड़े कर देती हैं और यह बताती हैं कि अत्याचारियों की अंतरात्मा कितनी मर चुकी है, कि वे कितने दर्दनाक तथा धोखेभरे अधोपतन में अपने इंसानी शिकारों को झोंक सकते हैं। 'लखनऊ की कब्र' (किशोरी लाल गोस्वामी), 'गढ़कुंडार' (वृंदावनलाल वर्मा), 'दिव्या' (यशपाल) आदि में इनका मनोरथ रोमांस एवं रोमांच, कामना एवं करुणा रहा था। आज सारे संसार में यातना (टार्चर) एक संस्था बन गई है। तानाशाही तथा अधिकारवादी राज्यसत्ताओं में वास्तविक और काल्पनिक विरोधियों के खिलाफ़ यातना का इस्तेमाल पुलिस और जासूसों द्वारा किया जाता है। इसका लक्ष्य अन्य फरार विद्रोहियों के बाबत गुप्त सूचनाएं प्राप्त करना, तथा आतंक और विभीषिका फैलाना होता है। राजनीतिक क़ैदी शातिर अपराधियों से भी ज्यादा खतरनाक समझे गए क्योंकि उनमें विचारधारात्मक दृढ़ता और राजनीतिक आदर्शवाद की अद्भुत दीप्ति होती है जिससे कि वे यातनाएं झेलते जाते हैं। **शारीरिक यातना** के कई रूप हैं: जैसे, लगातार लाठियों, लोहे की छड़ों, चमड़े के गीले पट्टों, जूतों, घूंसों से कूटना; हाथ-पांव कई तरह से तोड़-मरोड़कर कई पीड़ाभरे ढंगों से कई घंटों-दिनों तक बांधना-लिटाना-लटकाना; लंबी लोहे की छड़ में लाल मिर्च का लेप पोतकर गुदा में ठूंसना ('हैदराबादी गोली'); योनि में लोहे की नोक वाली छड़ी भोंकना; कई लोगों अथवा प्रशिक्षित कुत्तों द्वारा महिला-बंदियों के साथ बलात्कार; बिजली के तेज झटके; बर्फ की सिलों पर लिटाना; नाखूनों पर कीलें ठोकना; जलते हुए सिगारों से स्तनों तथा छाती पर गहरे दाग़ों का हार बनाना ('मंगलसूत्र') इत्यादि। **मनोवैज्ञानिक यातना** के लिए मादक द्रव्यों के इंजेक्शन देना, आंखों के सामने ही

माता अथवा बहन से बलात्कार करना या गोत्रव्यभिचार कराना, साइकेडेलिक रोशनियां; आंखों के सामने ही शिशु, या बहिन, या माता, या पत्नी को नंगा करके उसे तिल-तिल तड़फाना; नाटकों या रचनाओं पर प्रतिबंध लगाना; आदि।

अतः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि योजनाबद्ध यातना तथा नृशंसता राज्य की नीति का ही एक साधन हैं। सत्तारूढ़ लोगों द्वारा किसी भी प्रकार के 'प्रतिरोध' तथा 'विसम्मति' को कुचलने के लक्ष्य के लिए यातना को साधन बनाया जाता रहा है। 'भय की मूलभूत संस्कृति' का लक्ष्य बुद्धिजीवियों, क्रांतिकारियों, कलाकारों, विरोधियों और फिर जनवृंदों में असुरक्षा तथा आतंक फैला देना है ताकि राज्यसत्ता बरकरार रहे। यातना का लक्ष्य बंदी (विद्रोही) की प्रतिरोध की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालना है। क़ानून के शासन के चलाने वाले ही यातना के शासन को चलाते हैं। एंथनी स्टॅर्र ने मानवीय आक्रामकता को निरूपित करते हुए कहा है कि नृशंस आततायी इस दृष्टि से अनुपूर्वी क्रम वाले लोग हैं कि वे सत्ता के ढांचे को स्वीकार करते हैं तथा उसको प्राप्त करते हैं। वे ऐसे लोग हैं जो अंतरात्मा के बिना महज़ आदेशों का पालन करते हैं। मेरी टाइलर की 'भारतीय जेलों में पांच साल' (१९७७), अथवा सोल्झेनित्सिन कृत 'दि गुलाग आर्किपेलागो' में यातना के भारतीय तथा विदेशी संदर्भ प्रकट हुए हैं। 'एमनेस्टी इंटर्नेशनल' की रपट (१९७९) में बताया गया है कि संसार के लगभग साठ देशों में राज्यसत्ता क़ायम रखने के लिए यातना का (गैर-कानूनी) नृशंस और पाशविक व्यवहार आम तथा खुला है। पिछले दस वर्षों में लगभग पांच लाख राजनीतिक हत्याएं हुई हैं जहां कैदी या तो बिना मुकद्दमा चलाए गोली से मार दिए गए अथवा नज़रबंदी की लंबी अवधि में 'प्रकृत्या' मर गए, अथवा गुप्त ढंग से अचानक 'गुमशुदा' हो गए। 'एमनेस्टी इंटर्नेशनल' ने आगे बताया है कि संसार के सैकड़ों बच्चे या तो मार डाले गए या राजनीतिक बंदी बनाए गए क्योंकि उनके वालदैन प्रतिबद्ध थे। वियतनाम, चिली, इंदोनीसिया, कंपूचिया, यूगांडा आदि में बाल-यातना अमानवीय ऊंचाइयों को छू चुकी है, उसी तरह जैसे कि 'दि एक्सोर्सिस्ट', 'दि ओमेन', 'दि गॉडफादर' में। हमारे देश में कवि भैरव भारती (उज्जैन), नाटककार सत्यदेव व्रत (इलाहाबाद), अभिनेत्री स्नेहलता रेड्डी (बंगलूर) तथा सैकड़ों कम्युनिस्ट (मा०) तथा नक्सलवादी बंदी आदि बेहद नज़दीक के ऐसे ही सक्षम अनुभव हैं। 'थैंक्यू मिस्टर ग्लॉड', 'घासीराम कोतवाल' जैसे नाटक अमानवीय यंत्रणा तथा यातना का अनुभव कराते हैं।

तो, 'जेलों की उप-संस्कृति मुश्किल से उपचार करती है, यदाकदा मानवीय बनाती है तथा मर्यादा को कभी नहीं पुनःस्थापित करती।···आज के जेल तनाव तथा यातना के, परकीयकरण और परपीड़न के, लौहदंड और बेगार के मालगोदाम हो गए हैं जिसमें इंसान नरपशु की प्रक्रिया से गुजरता है।' सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश वी० आर० कृष्ण अय्यर ने बंगलूर में इंडियन सोसायटी आफ क्रिमिनालॉजी के सम्मेलन (१९७९) में उक्त विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि 'अवमानवीयकरण वाले उपचारों को तथा वन्य जीवन को सृजनात्मक ढंग से आत्माभिव्यक्ति, आत्मसम्मान एवं

आत्मसिद्धि द्वारा स्थानापन्न करना चाहिए।' अपराधों को समाप्त करने के लिए अंतिम उत्तर तो सामाजिक न्याय है। सामाजिक न्याय का लक्ष्य पर्यावरणमूलक अन्याय को समाप्त करना है जो मूलतः निजी संपत्ति की व्यवस्था के लिए विभिन्न रूपों में उभरता है। दहेज के लिए नारीदहन, बलात्कार के लिए नारी-हत्या, न्यूनतम मजूरी मांगने के लिए समूह हरिजन-वध (पिपरा, पारसबीघा, आदि में) सामाजिक अपराध हैं। ये सभी परंपरागत अनुश्रेणीबद्ध भारतीय समाज के प्रचलित सुदीर्घ अभ्यास हैं क्योंकि आत्मा की अमरता और कर्मफल में विश्वास के कारण यहां मानवीय अधिकारों तथा मानवीय प्रतिष्ठा को सभी उत्तरोत्तर आरोही स्तरों से नीचे रौंदकर कुचला गया है। आज भारतीय अपराधविज्ञान में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अपराधों की प्रकृति तथा जटिलता को लेकर नये अंतर्विरोध तीव्र हो उठे हैं। अतः दंडसंहिता को सृजनात्मक ढंग से पुनः प्रस्तुत करने की आवश्यकता है ताकि सामाजिक रूपांतरण हो सके। न्याय मानवीय अधिकारों तथा सामाजिक दायित्वों से जुड़कर क्रांतिवाही भी हो सकता है। अब तो संस्थासंभूत मानववाद तथा आमूल परिवर्तन-वाद (रेडिकलिज़्म) ही न्याय के भय तथा क्रांति की वेदना को एकतान कर सकेंगे। हमें अब साहित्यिक-सौंदर्यबोधात्मक तथा दैनिक अनुभवों के बीच सेतु बनाना होगा जिसमें शब्दविचार, शब्दकर्म, अथवा शरीर भी माध्यम हों। हमारे पर्यावरण में जो भी त्रासबिद्ध होगा उसमें क्रांति का अनुभव भी अनिवार्यतः शामिल होगा।

आधुनिक त्रासदी में दैनिक त्रासदियां—वास्तविक जीवन के असली त्रासदीय मसले—भी शामिल होंगी। त्रासदी के क्लासिकी तथा रिनैसाई विचारबोध भिन्न थे। उनके माध्यम कलाकृतियां थीं। आज खौफ़नाक दैनंदिन अनुभव हमारे शरीर-माध्यम को भी एक कृति के जैसा दरजा देते हैं। त्रासदी की क्लासिकी तथा रिनैसाई धारणाओं में बुनियादी सवाल था—'सामाजिक 'न्याय' या 'भाग्य' में से कौन प्रमुख है ?' ग्रीकों के लिए यूक्लिड की ज्यामिति तथा भाग्य के संरचना-जाल एक-जैसे रहे जिन्हें कोई भी मानवीय प्रयास उनके अपने गणितीय निष्कर्षों से नहीं बदल सकते ('ओडिपस रैक्स')। उन त्रासदियों में अतिप्राकृतिक उथल-पुथल (प्लेग, भूतप्रेत आदि) से विनाश की गति शुरू होती थी। अपराध के उद्घाटन के बाद प्रतिशोध; और फिर सुव्यवस्था! उस प्रशांत व्यवस्था में आतंक और आनंद का सहक्रम तथा अनुक्रम था। आज **दैनंदिन त्रासदी की समस्या** ने उन विचारबोधों को ज़्यादा प्रासंगिक नहीं रहने दिया। आज दैनंदिन त्रासदियों की समस्या ने ही **बुराइयों की ऐतिहासिक समस्या** को भी उजागर किया जो पहले के नाट्य प्रारूपों में ब्रह्मांडीय रहस्य थे अर्थात् अलौकिक अभिशाप या न्याय के रूप में थे।

आज हमारे सामाजिक इतिहास में बुराई (ईवल) की धारणा भी आवश्यक है क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं कि मानवीय क्षमता के निषेध-पक्ष इतने प्रबल हो चुके हैं कि स्रष्टाकारी मनुष्य भ्रष्टाचारी आदमी भी हो गया है। राज्यसत्ता और समाज-व्यवस्था के शोषण तथा अन्याय, आतंक तथा प्रलोभन, आदि ने व्यवस्था से अराजकता, भाविता से आधिकारिता, मान्यता से भूख, सामुदायिकता से परकीयकरण

(अर्थात् संप्रेषण एवं संघत्व की क्षति) की ओर प्रयाण किया है। एक भूखा गृहस्थ, हरिजन होने के खिलाफ चेतना वाला हरिजन, एक बहका आनंदमार्गी कापालिक, एक निरवलंब बच्चा, एक परित्यक्त पत्नी, एक बंधुआ मजूर, एक झोंपड़पट्टी की वेश्या, एक बेरोजगार मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी, एक मानमर्दित कलाकार आदि ऐसे कोई भी कार्य कर सकते हैं जो किसी सुविधाभोगी को नाराज़ कर दें। ये सभी 'काव्यात्मक न्याय' के लिए भी खतरे हैं क्योंकि इतिहास के क्रांतिपरक अभिलेख नैतिक गद्य में लिखे जाते हैं। ऐसे परिवेश में वेदना (सफरिंग) भीषणतर होती जा रही है। क्रांतिकारी निष्ठा के बिना 'संपूर्ण उद्धार' की कोई भी मशाल नहीं जलती। इसके परे फक़त 'गोदो' का इंतज़ार है। क्रांतिकारी निष्ठा कोई प्रीतिभोज नहीं है। यह त्रासदीय यथार्थता के वृत्त में कोरमकोर इहलौकिक घटना है। इसमें अथाह और अंतहीन वेदना है। तथापि इसमें रचनात्मकता का आह्लाद भी है। माइकेल एंजिलो अथवा तुलसी, फ्रांसिस्को गोया अथवा डाइगो राइवेरा, अमृता शेरगिल तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय ने एक साथ व्यथा और आह्लाद को भोगा। जब समकालीन और तात्कालिक (विशिष्ट) ऐतिहासिक दशा ही अस्तित्ववादी मुहावरों में 'प्रारब्ध' (या भाग्य) हो जाती है तब ऐतिहासिक क्रांति की मांग कुंठित हो जाती है। छठे दशक के अधिकांश नवलेखन में रचनाधर्मी लोगों की 'यातना' पर अंधे भय तथा अंधे विचारों की पट्टी बांध दी गई थी। क्रांतिपथ प्रमुखतया त्रासदीय पथ होता है (लेनिन, भगतसिंह, चे ग्वेवारा, गांधी, लोहिया, चारु मजूमदार)। वास्तविक क्रांति के द्वारा भी कई लोगों का मोहभंग होता है (डांगे, अज्ञेय, मानवेंद्रनाथ राय)। वे यह मानने लगते हैं कि यातना (सफरिंग) द्वारा ही क्रांति की रक्षा की जाए, अथवा यदि यातना से बचना है तो (किसी बहाने से) क्रांति से भाग लिया जाए। मार्क्स ने हमेशा गहरी तथा त्रासदीपूर्ण फांकदार अव्यवस्था के बीचोंबीच क्रांति की अवश्यंभाविता के संदर्शन किए हैं। अतः क्रांति को त्रासदीय परिदृश्य में ही देखा जाए। क्रांति और त्रासदी का प्राचल एक ही है। त्रासदी का आशय निराशावाद कतई नहीं है।

यदि मानवीय अनुभव इतिहास के अंतर्गत होते हैं तो उनके चाहे जो भी आत्यंतिक अर्थ हों, वे किसी भी भांति से वास्तविक प्रकृति तथा ऐतिहासिक दशा को परिलक्षित करते हैं। कबीर तथा तुलसी के अनुभव, निराला तथा धूमिल के अनुभव, निर्मल वर्मा तथा मेहरुन्निसा परवेज़ के अनुभव ऐसे भी हैं। चेतना की ऐसी संरचनाओं के विश्लेषण में कई दिक्कतें आती हैं। अर्थभ्रांतियों तथा मिथ्याचेतना के संदर्भ आड़े आ जाते हैं। करुणा तक पहुंचने वाली त्रासदी तथा आनंद तक आरोहण करने वाले महाकाव्य की संरचनाएं अब तलक विखंडित हो चुकी हैं। त्रासदी का ढांचा छिन्न-भिन्न हो चुका है: त्रासबद्ध कुलीन नायक फूहड़ लघु नायक बन गया है, दुर्भाग्य चक्र चलाने में नेमेसिस के बजाय निरर्थक कर्म में अनुबद्ध (इंगेज्ड) सिसिफस आ गया है, मृत्यु में बलिदान के स्थान पर बारंबार भद्दे ढंग से ज़िंदा रहकर मृत्युबोध है, संबंधों और कार्यों की कारणता के स्थान पर उनकी विसंगति (फूहड़ता) थापी गई है; क्रांति की यंत्रणा के स्थान पर मूल्यहीनता है; इत्यादि। इस तरह प्रकारांतर

से पिछले दो दशकों का सौंदर्यबोधात्मक संसार त्रासदी के विघटन से उत्पन्न चेतना की फूहड़ (एब्सर्ड) संरचनाओं का ऐसा संसार रहा है जहां आतंक और भीषणता, मृत्यु और विध्वंस के नाना भांति के बोध अस्तित्वमान रहे हैं। हम मानते हैं कि यातनाएं (सर्फरिंग) नैतिकता-दुश्मन नहीं हैं; वे अनिवार्य हैं। किंतु संतापन (टार्चर) नैतिकता-दुश्मन हैं। यातनाएं सामाजिक अन्याय से भी बहुत ज्यादा तथा गहरी पर्तों में व्याकुल रहती हैं। अतएव आज हमारे सौंदर्यबोध की संवित् **यातना** है। उसकी परिणति **आतंक** है। अतः आज मानववाद की सामंतीय तथा पुनरुत्थान-वादी भ्रांतियों के विरोध में भी केवल त्रासदी का सौंदर्यबोध ही संघर्ष कर सकता है। यह इतिहास में बुराई/त्रुटि की धारणा को धुरी बनाता है जिससे यह सामंतीय-आध्यात्मिक सुख/भोग की वर्गविहीन सर्वमानवतावादी अमूर्त धारणा से बिल्कुल परे स्थित है। ग्रीक त्रासदी का त्रासबिद्ध गुनाह (ट्रेजिक गिल्ट) नैतिक गुनाह भी होता था। आज फूहड़ता एवं उपभोक्तावाद के अंतर्गत यह सैक्स एवं हिंसा का सहकारी है। फलतः सांस्कृतिक एवं कलात्मक प्रतीक-रूपों के नैतिक हाशिये गड़बड़ा और मानवीय संबंध लड़खड़ा गए हैं। ग्रीक त्रासदी में 'मृत्यु' और 'विनाश' साथ-साथ रहे थे जबकि आधुनिक त्रासदी में मूलतः 'मृत्यु' एवं 'क्रांति' का संग है। इसके समानांतर **व्यर्थता की त्रासदी** अर्थात् त्रासदीय धूर्तता एवं फूहड़ता भी है। हमारी आधुनिक त्रासदी तो **अवश्यंभाविता की त्रासदी** है। हम इन सभी के सह-अस्तित्व को झेल रहे हैं। **क्रांति** और **त्रासदी** अर्थात् त्रासदी की क्रांति और क्रांति की त्रासदी—भी तो नये-नये किस्म के परकीयकरणों (ऐलियेनेशंस) को जन्म दे रही हैं।

समाज में **सामूहिक उद्धार** के साथ-साथ ही मनुष्य के **संपूर्ण उद्धार** (टोटल रिडेंपशन) का अन्योन्याश्रय है। वस्तुतः दोनों प्रकार के 'उद्धारों' के लिए इतिहास ही स्रोत तथा रंगस्थल रहा है। मार्क्स ने कहा है कि जब मानवता की 'संपूर्ण हानि या क्षति' (टोटल लॉस) हो जाए तो फिर मुक्ति केवल 'संपूर्ण उद्धार' द्वारा ही होगी। रेमंड विलियम्स ने ऐसी संस्थति को 'लंबी क्रांति' तथा जयप्रकाश नारायण ने 'संपूर्ण क्रांति' कहा है।

वस्तुतः संपूर्ण उद्धार के लिए क्रांति के अलावा, अर्थात् क्रांतिकारी थियौरी और त्रासदीय कल्पना के संयोग के अलावा, कोई और रास्ता नहीं है। **क्रांतिकारी विचारधारा** और **त्रासदीपरक कल्पना**, दोनों ही मनुष्य के संपूर्ण उद्धार के लिए परस्पर होड़ लगाती हैं। यही व्यक्ति, या समूह, या वर्ग की आत्म-परिपूर्णता का साधना-मार्ग है। यही आतंक का महानुभव है!!

हम इसे दोबारा दुहरा दें कि आज अस्तित्व के उल्लंघन में त्रासदी है। यह उल्लंघन यातना, यंत्रणा, व्यथा, वेदना, आतंक द्वारा होता है। किंतु निर्विकल्प रूप में मृत्यु, हत्या, आत्महत्या, बलिदान आदि द्वारा भी इसके प्रतिरूप परिलक्षित होते हैं। दोनों ही दशाओं में हम असीमित अर्थों में विराट् के सम्मुख आ खड़े होते हैं जहां विस्मय और आतंक की सत्ता है। यह मात्र यातना (भयानक, करुण, रौद्र रसादि) से बेहद अगली दशा है। यह मध्यकाल से आगे का फेनामेना है। यहां ही आह्लादमय आतंक तथा आतंक-

मय आह्लाद के सौंदर्यानुभव भी हैं। ऐसी ही दशा को मीरा या महादेवी वर्मा ने, सुकरात या सैफ़ो ने, मंसूर या हब्बा खातून ने प्राप्त किया था।

यह व्यथा-वेदना (एगॅनी-सर्फरिंग) व्यक्ति के जीवनवृत्त से परे और आगे तक देदीप्यमान होती है। यह तो विचारों की शमा या लौ है जो स्वयं स्रष्टा के शरीर को लौ बना देती है। अतः इतिहास के त्रासदीय तथ्य केवल कुछ कलाकृतियों, या मनुष्यों या कालांश में नहीं घुलते। इनके लिए **आतंक का आधुनिक भरतसूत्र** प्रस्तावित होता है।

हम रस-सौंदर्य तथा रसानंद के अलौकिक (अतिमानवीय) तथा अमूर्त्तीकृत (साधारणीकरण वाले) आकृतिबंध से छूट चुके हैं। यह सही है कि मुक्ति/उद्धार हमारे **आतंक** को खारिज नहीं कर देता। उनके रिश्ते बराबर बने रहते हैं और वे रिश्ते त्रासदीपरक हैं। मनुष्य के समाप्त होने पर भी मानव-कार्य निरंतर जारी रहता है जिसमें 'आह्लाद' और 'आतंक' के अर्थात् **क्रांति** और **त्रासदी** के नये-नये समस्यासूत्र निष्पन्न होते रहते हैं। आतंक के क्रोड़ में आह्लाद का अन्वेषण हमेशा से ही सांस्कृतिक प्रतीकों और सौंदर्यसृष्टि के लिए चुनौती देने वाला अनुभव रहा है। तमाम शुद ॥



अनुक्रमणिका

●●

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से नीचे)	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	हुई	हुआ
३	२१	में तन्मयीभवन	में, तन्मयीभवन
१०	३०	जसे	जैसे
१२	१२	तद्भत	तद्भूत
१४	२१	स्मय	विस्मय
१६	६	सुलझता	सुलझाता
२७	२६	औक	और
२८	२१	पू०	प०
३०	३१	अनतिक	अनैतिक
४१	२	का	को
४२	अंतिम	लकाश्च	लुकाच
५३	८	किया	किया गया
७३	२४	ठोसों	ठोसों (सालिड्स)
७६	३१	काय	कार्य
८०	२८	त्रासद	त्रासबिद्ध
८८	२१	अकौशल	कौशल
९६	२६	और (कभी-कभी)	और, (कभी कभी)
९८	३६	ले	ले,
१०३	१३	शोध	शोथ
१०५	३१	बर्क	बर्क ने
११२	११	चित्तात्मक	चित्रात्मक
१३४	२०	होता	होती
१३५	१३	(२) या	(२)
१४०	१६	को मानते	मानते
१७५	६	से	से वे

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से नीचे)	अशुद्ध	शुद्ध
१८४	६	अंतरभूति	अंतरानुभूति या समानुभूति
१८८	७	साकार	साकारता
	३०	दा	दो
१९१	५	प्लेखाकोव	प्लेखानोव
२०५	१२	कंपोजीशन	कंपोजीशनल
२०८	६	वे बिना	के बिना
२२५	३६	में कालिदास	में । कालिदास
२३८	१५	करौली	कांकरौली
	२८	स्थूल	स्थल
२५६	८	करना	कराना
२६०	३	उभरा	उभारा
२७३	२३	(२)	(ख)
२८४	६	को	में
२८६	२७	के	की
२९५	१	भूगाल	भूगोल
२९७	१४	करता है ।	करता है :—
३००	२६	मिश्रकीय	मिथकीय
	३	कला-	काल
३०७	आरेख में	i, ii, iii, iv	आरेख के ऊपर पटरी के दायें I, II, III, IV लिखें
३०९	८	परिवर्त···रूपांतरण	'परिवर्त···रूपांतरण'
३१३	१२	आषा	भाषा
३१५	३	प्रीति	प्रतीति
३२३	५	विकास	विकास वाले
	१३	नतिक	नैतिक
	२७	प्रतीक	प्रतीक :—
३२८	३०	छाया	छाया,
३३४	६	सरसता	समरसता
३३५	११	होने के	होने वाले
३३८	१	दपण	दर्पण
	१२	अद्भुत	उद्भूत
३३९	१५	यथार्थता	यथार्थता का
३५०	२२	झुकावरक	झुकावपरक

पृष्ठ	पंक्ति (ऊपर से नीचे)	अशुद्ध	शुद्ध
३५६	१८	कला को	कला की
३५७	२७	७८४	१७८४
३६१	१	यथार्थ	यथार्थ की
३८१	१	(पाणिग्रही और	पाणिग्रही (और
३८३	१०	एवं (कर्म अनुष्ठान)	एवं कर्म (अनुष्ठान)
३९२	अंतिम पंक्ति	तथा व्यापक	यथाव्यापक
३९९	११	सुंदर और प्रचंड	सुंदर, और प्रचंड
४००	६	तन्मीयभवन	तन्मयीभवन
	२६	चिति, शक्ति	चिति (शक्ति
	अंतिम दो	ताल लय	ताल/लय
	११	ावमूढ़ता	विमूढ़ता
४०१	११	अर्तनिहित	अंतर्निहित
	११	आनद	आनंद
४०४	६	दा सरचनाओं	दो संरचनाओं
	६	ह	है
	१४	परिजातभक्षी	पारिजात-भक्षी
४०८	५	प्रति-ोध	प्रतिरोध
४१०	१३	, अज्ञय	—